ॐ

परमात्मने नमः

प्रवचन नवनीत

(भाग-३)

(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के खास प्रवचन)

प्रकाशक

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

भावनगर

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान :

वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट

५८०, जूनी माणेकवाड़ी,

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी मार्ग,

भावनगर-३६४००१

फोन : (०२७८) २५१५००५

श्री कुन्दकुन्दकहान परमागम प्रवचन ट्रस्ट

१७३/१७५, मुंबादेवी रोड़, मुंबई-४०० ००२

पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट

कहान नगर, लाम रोड़

देवलाली-४२२ ४०१

श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट

'विमलांचल' हरिनगर

अलीगढ़

फोन : (०५७१) ४१००१०/११/१२

प्रथमावृत्ति प्रत : १००० (पूज्य भाईश्री शशीभाई की ७४वीं जन्मजयंती)

पृष्ठ संख्या : ८ + ५८० = ५८८

लागत मूल्य : १०५/-

विक्री मूल्य : २०/-

टाईप सेटिंग :

पू□ा इम्प्रेशन्स

प्लोट नं. १९२४-बी,

६, शांतिनाथ बंगलोझ,

शशीप्रभु मार्ग, रूपाणी सर्कल,

भावनगर-३६४००१

फोन : (०२७८) २५६१७४९

मुद्रक :

□ागवती ऑफसेट

१५/सी, बंसीधर मिल कंपाउन्ड

वारडोलपूरा,

अहमदाबाद

फोन : ९८२५३२६२०२

प्रकाशकीय

प्रत्यक्ष परमोपकारी, मुमुक्षुओं के तारणहार, निष्कारण करुणामूर्ति, स्वानुभवविभूषित, अध्यात्मयुगसृष्टा, अध्यात्मसंत परम पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के, अध्यात्म के परम रहस्यों को प्रकाशित करनेवाले विशिष्ट प्रवचनों का संकलन '**प्रवचन नवनीत**' भाग-३ को हिन्दी में प्रकाशित करते हुए हमें अत्यंत हर्ष हो रहा है।

सद्धर्मतीर्थ के स्तंभरूप भगवत् कुन्दकुन्दादि आचार्य - मुनि भगवंत व अन्य सत्पुरुषों के हृदय में प्रवेश करके हमारे पूज्य गुरुदेवश्री ने उनके गम्भीर आशय / हार्द को यथार्थरूप से प्रकाशित किया, जिससे हमलोगों पर अनुपम उपकार किया है। उनके प्रति अहोभावरूप उपकृतमुमुक्षुहृदय का चित्र निम्न पंक्तियों मे दर्शनीय है।

'**श्रुत तणा अवतार छो, भरत तणा भगवंत छो;**
अध्यात्ममूर्ति देव छो, ने जगत तारणहार छो' ***-पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन***

ऐसे इस अनहद उपकारी, महाप्रतापी, करुणासागर, युगपुरुष ने ४६ सालों तक जैनधर्म के आध्यात्मिक सिद्धांतों का विवेचन अति स्पष्टरूप से सरल व लोकभोग्य भाषा और शैली में अपूर्व भवांतकारी प्रवचन-गंगा बहाई। जिसमें परमागमों की कुछएक गाथाएँ और सत्पुरुष के वचन, जो मुमुक्षुओं को कल्याण हेतु अत्यंत उपकारभूत होने से पूज्य गुरुदेवश्री को अत्यंत प्रिय थे। उन पर उन्होंने १४३ विशिष्ट मंगलकारी प्रवचन दिये थे। जो मुमुक्षु जगत के लिए आत्मार्थ पुष्टिदायक नवनीतरूप सारभूत ऐसे विषयों का प्रकाशन हो ऐसी निष्कारण कारुण्यवृत्ति से हुए प्रवचन, जिन्हें हम 'महा प्रवचन' की संज्ञा दें तो वह सार्थक ही होगा। इन प्रवचनों के दौरान अनेकबार वे फरमाते थे कि : '**ये व्याख्यान बहुत सूक्ष्म हैं ! यह बारह अंग का सार है ! टेप पर से सभी व्याख्यान छपेंगे।**'

पूज्य गुरुदेवश्री के निष्कारण करुणा सभर उक्त विकल्प को साकार करने का, इतना ही नहीं वर्तमान एवम् भावि मुमुक्षु जगत को अध्यात्म के सारभूत विषयों के अभ्यास हेतु अमूल्य साधन उपलब्ध कराने का, शुभ संकल्प - वीतराग देव, गुरु, शास्त्र, धर्म-धर्मात्माओं के प्रति अनन्य निष्ठावान, सिद्धांतनिष्ठ अध्यात्मरसिक आत्मज्ञ पूज्य शशीकान्त म. शेठ (पूज्य भाईश्री) की प्रशस्त प्रेरणा से - श्री वीरनिर्वाणोत्सव-२५१८ के शुभ दिन पर श्री सोनगढ़ तीर्थधाम में किया गया था; उस मंगल अवसर पर उपस्थित श्री सद्गुरु प्रेमी मुमुक्षुओं ने बहुत ही हर्षोल्लासपूर्वक इसकी सराहना की थी। इतना ही नहीं उसमें

सहायक होने की अनेक प्रकार से अपनी भावनाएँ भी व्यक्त की थी।

अतः वीर सं. २५१९ में '**प्रवचन नवनीत-१**' का गुजराती संस्करण प्रकाशित हो पाया। तत्पश्चात् क्रमशः भाग-२, ३, ४ गुजराती में तो उपलब्ध है ही। ट्रस्ट के अनुरोध पर भाग-३ का हिन्दी में शब्दशः अनुवाद करने का महत्त्वपूर्ण योगदान डॉ. पूर्णिमाबहन भाटिया (आग्रा) ने दिया है। अतः हम इनके आभारी हैं।

इस मंगल अवसर पर 'श्री प्रवचनसार' के मूल प्रणेता भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य, परिशिष्ट रचयिता आचार्यवर श्री अमृतचंद्राचार्यदेव रचित ४७ नय पर पूज्य गुरुदेवश्री ने प्रवचन किये हैं, ऐसे इन सर्व महापुरुषों को एवं प्रवचन के दौरान जिन-जिन महात्माओं के वचनामृतों का उद्धरण किया है, ऐसे श्री वीरसेनस्वामी, श्री समंतभद्रस्वामी, श्री पूज्यपादस्वामी, श्री कार्तिकेयस्वामी, श्री योगीन्दुदेवस्वामी और श्री जयसेनस्वामी आदि आचार्य भगवंतों को एवम् स्वानुभवविभूषित प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन, पुरुषार्थमूर्ति पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी, पंडित बनारसीदासजी, कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी, पंडित राजमलजी, पंडित जयचंदजी, आचार्यकल्प पंडित टोडरमल्लजी इत्यादि सर्व संपूज्य महात्माओं को उपकृत हृदय से कोटि-कोटि वंदन करते हैं।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु प्राप्त हुई दानराशि अन्यत्र दी गई है, उन दाताओं के भी हम आभारी हैं। इस ग्रंथ के प्रवचनों को आद्य-अंत देखने के लिये श्री दीपकभाई महेता, भावनगर के और अपने समय का जिन जिन मुमुक्षुओं ने योगदान दिया है उन सबके हम आभारी हैं। ग्रंथ के सुंदर टाइपसेटिंग के लिए 'पूजा इन्प्रेशन्स', व सुंदर मुद्रण कार्य के लिए 'भगवती ऑफसेट' का भी हम आभार व्यक्त करते हैं।

अंततः जो कुछ अच्छा व सुंदर है वह पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रताप से है। उन्हें पुनः निम्न पंक्तियों द्वारा कोटि-कोटि वंदन करते हैं।

'**सतत दृष्टिधारा बरसाते चैतन्य के प्रदेश-प्रदेश सहज महान दीपोत्सवी की क्षणे-क्षणे वृद्धि करते श्री गुरुदेव को अत्यंत भक्तिभावे नमस्कार** !' (-पूज्य श्री सोगानीजी)

सत्पुरुषों का प्रत्यक्ष योग जयवंत वर्तो !

त्रिकाल जयवंत वर्तो !

भावनगर
कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा, दि-०५-११-२००६
(श्रीमद् राजचंद्र जन्मजयंती दिन)

ट्रस्टीगण
वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट
भावनगर

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी प्रतिदिन प्रातःकाल में ४ बजे उठकर चिदानंद भगवान एवं वीतरागी परमात्माओं का स्मरण करके '**नित्य स्वाध्याय**' करते थे। यह मौखिक स्वाध्याय निम्न प्रकार से था।

१. समयसार की १ से १६ गाथाएँ (मूल गाथाएँ)
२. समयसारजी की ४७ शक्तियाँ (व्याख्या सहित)
३. प्रवचनसारजी के ४७ नय (व्याख्या सहित)
४. अलिंगग्रहण के २० बोल (प्रवचनसारजी की १७२ गाथा)
५. अव्यक्त के छः बोल (समयसारजी की ४९ वीं गाथा)
६. श्रीमद् राजचंद्रजी के १० बोल (स्वद्रव्य अन्यद्रव्य भिन्न भिन्न देखो आदि)
७. २४ तीर्थंकर
८. पंच बाल ब्रह्मचारी तीर्थंकर



पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचनों का मुमुक्षु समाज अधिक लाभ लेवें इस हेतु से एक मुमुक्षु परिवार, मुंबई की ओर से विशेष आर्थिक सहयोग प्राप्त होने से इस ग्रंथ की कीमत कम रखी गई है।

'प्रवचन नवनीत' भाग-३ के प्रकाशनार्थ प्राप्त दानराशि

श्रीमती चंद्रिकाबहन शशीकान्तभाई शेठ, भावनगर ११,०००/-

हे परमकृपालु गुरुदेव ! आप के गुणों की क्या महिमा करुँ ! आप के उपकारों का क्या वर्णन करुँ ! असली स्वरूप के ज्ञान के दातार अपूर्व महिमा के धारक श्री गुरुदेव के चरणकमल की सेवा-भक्ति निरंतर हृदय में बसी रहे, परम-परम-उपकारी श्री गुरुदेव के चरणकमल में इस सेवक के वारंवार भावभीगी भक्ति से कोटि कोटि वंदन हो, नमस्कार हो। - पूज्य बहिनश्री

`मैं ज्ञानमात्र हूँ'

सुखधाम अनंत सुसंत चही,
दिनरात रहे तद्ध्यान महीं;
प्रशांति अनंत सुधामय जे,
प्रणमुं पद ते वरते जयते.

पावन मधुर अद्भुत अहो ! गुरुवदनथी अमृत झर्यां,
श्रवणो मळ्यां सद्भाग्यथी नित्ये अहो ! चिद्रस भर्यां.
गुरुदेव तारणहारथी आत्मार्थी भवसागर तर्यां,
गुणमूर्तिना गुणगणतणां स्मरणो हृदयमां रमी रह्यां.

हुं एक, शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञानदर्शनमय खरे;
कंई अन्य ते मारुं जरी, परमाणुमात्र नथी अरे.

सहजात्मस्वरूप सर्वज्ञदेव परमगुरु

श्री सर्वज्ञवीतरागाय नमः

शास्त्र स्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमोनमः।।१।।
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलङ्का।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान्।।२।।
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रुगुरुवे नमः।।३।।

।। श्रीपरमगुरुवे नमः, परम्पराचार्यगुरवे नमः।।

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनःप्रतिबोधकारक्, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री समयसारनामधेयं, अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य आचार्यश्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचितं, श्रोतारः सावधानतया श्रृणवन्तु।।

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलंम्।।१।।
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम्।।२।।



ॐ

परमात्माने नमः

प्रवचन नवनीत

भाग - ३

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत

श्री प्रवचनसार : गाथा १७२

श्री अमृतचंद्र आचार्यदेव विरचित संस्कृत टीका

(ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन)

अथ किं तर्हि जीवस्य शरीरादिसर्वपरद्रव्यविभागसाधनमसाधारणं स्वलक्षणमित्यावेदयति-

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं।।१७२
अरसमरूपमगन्धमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम्।
जानीह्यलिंगग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम्।।१७२।।

आत्मनो हि रसरूपगन्धगुणाभावस्वभावत्वात्स्पर्शगुणव्यक्त्यभावस्वभावत्वात् शब्द-पर्यायाभावस्वभावत्वात्तथा तन्मूलादलिंग्राह्यत्वात्सर्वसंस्थानाभावस्वभावत्वाच्च पुद्गलद्रव्य-

विभागसाधनमरसत्वमरूपत्वमगन्धत्वमव्यक्तत्वमशब्दत्वमलिंग्राह्यत्वमसंस्थानत्वं चास्ति। सकलपुद्गलापुद्गलाजीवद्रव्यविभागसाधनं तु चेतनागुणत्वमस्ति। तदेव च तस्य स्वजीवद्रव्य-मात्राश्रितत्वेन स्वलक्षणतां बिभ्राणं शेषद्रव्यान्तरविभागं साधयति। अलिंग्राह्य इति वक्तव्ये यदलिंग्रहणमित्युक्तं तद्बहुतरार्थप्रतिपत्तये। तथाहि (१) न लिंगैरिन्द्रियैर्ग्राहकतामापन्नस्य ग्रहणं यस्येत्यतीन्द्रियज्ञानमयत्वस्य प्रतिपत्तिः। (२) न लिंगैरिन्द्रियैर्ग्राह्यतामापन्नस्य ग्रहणं यस्येतीन्द्रिय-प्रत्यक्षाविषयत्वस्य। (३) न लिंगादिन्द्रियगम्याद्धूमादग्नेरिव ग्रहणं यस्येतीन्द्रियप्रत्यक्ष-पूर्वकानुमानाविषयत्वस्य। (४) न लिंगादैव परैः ग्रहणं यस्येत्वनुमेयमात्रत्वाभावस्य। (५) न लिंगादेव परेषां ग्रहणं यस्येत्यनुमातृमात्रत्वाभावस्य। (६) न लिंगात्स्वभावेन ग्रहणं यस्येति प्रत्यक्षज्ञातृत्वस्य। (७) न लिंगेनोपयोगाख्यलक्षेन ग्रहणं ज्ञेयार्थालम्बनं यस्येति बहिरर्थालम्बनज्ञानाभावस्य। (८) न लिंगस्योपयोगाख्यलक्षणस्य ग्रहणं स्वयमाहरणं यस्येत्यनाहार्यज्ञानत्वस्य। (९) न लिंगस्योपयोगाख्यलक्षणस्य ग्रहणं परेण हरणं *यस्येत्याहार्यज्ञानत्वस्य। (१०) न लिंगे उपयोगाख्यलक्षणे ग्रहणं सूर्य इवोपरागो यस्येति शुद्धोपयोगस्वभावस्य। (११) न लिंगा-दुपयोगाख्यलक्षणाद्ग्रहणं पौद्गलिककर्मादानं यस्येति द्रव्यकर्मासंपृक्तत्वस्य। (१२) न लिंगेभ्य इन्द्रियेभ्यो ग्रहणं विषयाणामुपभोगो यस्येति विषयोपभोक्तृत्वाभावस्य। (१३) न लिंगात्मनो वेन्द्रियादिलक्षणाद्ग्रहणं जीवस्य धारणं यस्येति शुक्रार्तवानुविधायित्वाभावस्य। (१४) न लिंगस्य मेहनाकारस्य ग्रहणं यस्येति लौकिकसाधनमात्रत्वाभावस्य। (१५) न लिंगेनामेहनाकारेण ग्रहणं लोकव्याप्तिर्यस्येति कुहुकप्रसिद्धसाधनाकारलोकव्याप्तित्वाभावस्य। (१६) न लिंगानां स्त्रीपुन्नपुंसकवेदानां ग्रहणं यस्येति स्त्रीपुन्नपुंसकद्रव्यभावाभावस्य। (१७) न लिंगानां धर्मध्वजानां ग्रहणं यस्येति बहिरंगयतिलिंगाभावस्य। (१८) न लिंगं गुणो ग्रहणमर्थावबोधो यस्येति गुणविशेषानालीढशुद्धद्रव्यत्वस्य। (१९) न लिंगं पर्यायो ग्रहणमर्थावबोधविशेषो यस्येति पर्यायविशेषानालीढशुद्धद्रव्यत्वस्य। (२०) न लिंगं प्रत्यभिज्ञानहेतुर्ग्रहणमर्थावबोध - सामान्य यस्येति द्रव्यानालीढशुद्धपर्यायत्वस्य।। १७२।।

यहाँ 'यस्येत्याहार्यज्ञानत्वस्य' के बदले 'स्येत्यहार्यज्ञानत्वस्य' ऐसा पाठ होना चाहिये ऐसा लगता है।

हिन्दी अनुवाद

तब फिर जीव का, शरीरादि सर्वपरद्रव्यों से विभाग का साधनभूत, असाधारण

स्वलक्षण क्या है, सो कहते हैं :-

छे चेतनागुण, गंध-रूप रस-शब्द व्यक्ति न जीवने।
वली लिंगग्रहण नथी अने संस्थान भाख्युं न तेहने ।।१७२।।

अन्वयार्थ : (**जीवम्**) जीव को (**अरसम्**) अरस, (**अरूपम्**) अरूप, (**अगंधम्**) अगंध, (**अव्यक्तम्**) अव्यक्त, (**चेतनागुणम्**) चेतनागुणयुक्त, (**अशब्दम्**) अशब्द, (**अलिंगग्रहणम्**) अलिंगग्रहण (लिंग द्वारा ग्रहण न होने योग्य) और (**अनिर्दिष्टसंस्थानम्**) जिसका कोई संस्थान नहीं कहा गया है ऐसा (**जानीहि**) जानो।

टीका : आत्मा (१) रसगुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से, (२) रूपगुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से, (३) गंधगुण के अभावरूप स्वभाववाला होने से, (४) स्पर्शगुणरूप व्यक्तता के अभावरूप स्वभाववाला होने से, (५) शब्दपर्याय के अभावरूप स्वभाववाला होने से, तथा (६) इन सब के कारण (अर्थात् रस-रूप-गंध इत्यादि के अभावरूप स्वभाव के कारण) लिंग के द्वारा अग्राह्य होने से और (७) सर्व संस्थानों के अभावरूप स्भाववाला होने से, आत्मा को पुद्गलद्रव्य से विभागका साधनभूत (१) अरसपना, (२) अरूपपना, (३) अगंधपना, (४) अव्यक्तपना, (५) अशब्दपना, (६) अलिंगग्राह्यपना, और (७) असंस्थानपना है। पुद्गल तथा अपुद्गल ऐसे समस्त अजीव द्रव्यों से विभाग का साधन तो चेतनागुणमयपना है; और वही, मात्र स्वजीवद्रव्याश्रित होने से स्वलक्षणपने को धारण करता हुआ, आत्मा का शेष अन्य द्रव्यों से विभाग (भेद) सिद्ध करता है।

जहाँ 'अलिंगग्राह्य' कहना है वहाँ जो 'अलिंगग्रहण' कहा है, वह बहुत से अर्थों की प्रतिपत्ति (प्राप्ति, प्रतिपादन) करने के लिये है। वह इस प्रकार है :- (१) ग्राहक (ज्ञायक) जिसके लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा अतीन्द्रियज्ञानमय है' इस अर्थ की प्राप्ति होती है। (२) ग्राह्य (ज्ञेय) जिसका लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार 'आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं है' इस

अर्थ की प्राप्ति होती है। (३) जैसे धुंएँ से अग्नि का ग्रहण (ज्ञान) होता है, उसीप्रकार लिंग द्वारा, अर्थात् इन्द्रियगम्य (इन्द्रियों से जानने योग्य चिह्न) द्वारा जिसका ग्रहण नहीं होता वह अलिंगग्रहण है। इस प्रकार 'आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का विषय नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (४) दूसरों के द्वारा - मात्र लिंग द्वारा ही जिसका ग्रहण नहीं होता वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा अनुमेयमात्र (केवल अनुमान से ही ज्ञात होने योग्य) नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (५) जिसके लिंग से ही पर का ग्रहण नहीं होता वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा अनुमातामात्र (केवल अनुमान करनेवाला ही) नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (६) जिसके लिंग के द्वारा नहीं किन्तु स्वभाव के द्वारा ग्रहण होता है वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (७) जिसके लिंग द्वारा अर्थात् उपयोगनामक लक्षण द्वारा ग्रहण नहीं है अर्थात् ज्ञेय पदार्थों का आलम्बन नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा के बाह्य पदार्थों का आलम्बनवाला ज्ञान नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (८) जो लिंग को अर्थात् उपयोग नामक लक्षण को ग्रहण नहीं करता अर्थात् स्वयं (कहीं बाहर से) नहीं लाता सो अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा जो कहीं से नहीं लाया जाता ऐसे ज्ञानवाला है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (९) जिसे लिंग का अर्थात् उपयोग नामक लक्षण का ग्रहण अर्थात् पर से हरण नहीं हो सकता (अन्य से नहीं ले जाया जा सकता) सो अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा के ज्ञान का हरण नहीं किया जा सकता' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (१०) जिसे लिंग में अर्थात् उपयोग नामक लक्षण में ग्रहण अर्थात् सूर्य की भाँति उपराग (मलिनता, विकार) नहीं है वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा शुद्धोपयोगस्वभावी है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (११) लिंग द्वारा अर्थात् उपयोग नामक लक्षण द्वारा ग्रहण अर्थात् पौद्गलिक कर्म का ग्रहण जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा द्रव्यकर्म से असंयुक्त (असंबद्ध) है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (१२) जिसे लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण अर्थात् विषयों का उपभोग नहीं है सो अलिंगग्रहण है; इस प्रकार 'आत्मा विषयों का उपभोक्ता नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (१३) लिंग द्वारा अर्थात् मन अथवा इन्द्रियादि लक्षण के द्वारा ग्रहण अर्थात् जीवत्व को धारण कर रखना जिसके नहीं है वह अलिंगग्रहण

है; इस प्रकार `आत्मा शुक्र और आर्तव को अनुविधायी (अनुसार होनवाला) नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (१४) लिंग का अर्थात् मेहनाकार (पुरुषादि की इन्द्रिय का आकार) का ग्रहण जिसके नहीं है सो अलिंगग्रहण है; इस प्रकार `आत्मा लौकिक साधनमात्र नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (१५) लिंग के द्वारा अर्थात् अमेहनाकार के द्वारा जिसका ग्रहण अर्थात् लोक में व्यापकत्व नहीं है सो अलिंगग्रहण है; इस प्रकार `आत्मा पाखण्डियों के प्रसिद्ध साधनरूप आकारवाला - लोकव्याप्तिवाला नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (१६) जिसके लिंगों का अर्थात् स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेदों का ग्रहण नहीं है वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार `आत्मा द्रव्य से तथा भाव से स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक नहीं है' इस अर्थ की प्राप्ति होती है। (१७) लिंगों का अर्थात् धर्मचिन्हों का ग्रहण जिसके नहीं है वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार `आत्मा के बहिरंग यतिलिंगों का अभाव है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (१८) लिंग अर्थात् गुण ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध (पदार्थज्ञान) जिसके नहीं है सो अलिंगग्रहण है; इस प्रकार `आत्मा गुणविशेष से आलिंगित न होनेवाला ऐसा शुद्ध द्रव्य है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (१९) लिंग अर्थात् पर्याय ऐसा जो ग्रहण, अर्थात् अर्थावबोधविशेष जिसके नहीं है सो अलिंगग्रहण है; इस प्रकार `आत्मा पर्यायविशेष से आलिंगित न होनेवाला ऐसा शुद्ध द्रव्य है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (२०) लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोधसामान्य जिसके नहीं है वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार `आत्मा द्रव्य से नहीं आलिंगित ऐसी शुद्ध पर्याय है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।।१७२।।

प्रवचन : दि. ७-१२-१९७७

'प्रवचनसार' गाथा - १७२ के ऊपर का शीर्षक : '**तब फिर, जीव का, शरीरादि सर्वपरद्रव्यों से विभाग का साधनभूत, असाधारण स्वलक्षण क्या है,...:-**' कैसा है आत्मा ? कि : शरीरादि से भिन्न चीज है। शरीर, वाणी, मन, राग, द्वेष, इन्द्रियाँ ये सब परद्रव्य हैं; उनसे विभाग अर्थात् भेद करने का, विभाग करने का साधनभूत, असाधारण स्वलक्षण क्या? उसको भिन्न जानने का लक्षण क्या ? पर से भिन्न जानने के लिये उसका (स्व)लक्षण क्या ? - यह शिष्य का प्रश्न है। यह बहुत सूक्ष्म बात है। शिष्य का यह प्रश्न है कि : यह शरीर, वाणी, मन - पर से आत्मा भिन्न है तो उसे जानने का असाधारण लक्षण जो कि उसमें ही हो, अन्य में न हो ऐसा लक्षण क्या ? आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? इस आत्मा को जाने बिना जो कुछ किया जाय वह सब संसार है। पूरे दिन पुण्य-पाप के परिणाम तो करता ही है। कमाना, खानापीना, व्यवसाय ये तो पाप के ही (परिणाम) हैं, और दया, दान, व्रत, भक्ति, सुनने का अवसर आदि मिला हो तो ये परिणाम पुण्य है, परंतु इन दोनों परिणाम से भिन्न (जानने का) लक्षण क्या? क्योंकि ये दोनों ही चीज (पुण्य व पाप) उसमें नहीं है कि जिसके द्वारा आत्मा जानने में आये, आत्मज्ञान होवे और अतीन्द्रिय आनंद का स्वाद आये तब उसे धर्म होता है; (तो) वह क्या चीज है ? '**सो कहते हैं:**' आहा..हा...! आचार्य स्वयं कहते हैं कि, इस प्रकार तू जान ! मैं कहता हूँ इस प्रकार आत्मा को जान !

अब, यहाँ अपने को 'अलिंगग्रहण' लेना है। नीचे है न...! ''**अलिंगग्रहण' कहना है वहाँ जो 'अलिंगग्रहण' कहा है,...**' 'अलिंगग्राह्य' अर्थात् आत्मा लिंग से-चिह्न से जाना नहीं जाता, ऐसा इसमें कहना है। यह (आत्मा) लिंग द्वारा जाना नहीं जाता,

लिंग द्वारा वह जानता नहीं, ऐसा इसमें कहना है। फिर भी `अलिंगग्रहण' शब्द का प्रयोग क्यों किया ? कि : `**...वह बहुत से अर्थों की प्रतिपत्ति (प्राप्ति, प्रतिपादन) करने के लिये है।**' `अलिंगग्रहण' शब्द का एक ही अर्थ है ऐसा नहीं। `अलिंगग्रहण'में से बहुत सारे अर्थ निकलते हैं। (यहाँ) बीस तो कहेंगे। `अलिंग' कहना है (अर्थात्) लिंग द्वारा, मन द्वारा, इन्द्रियाँ आदि द्वारा जाने नहीं और जानने में आये नहीं, ऐसा कहना है। फिर भी `अलिंगग्राह्य' शब्द नहीं कहकर`अलिंगग्रहण' शब्द आपने कहा, उसका हेतु क्या ? मूलपाठ में कुन्दकुन्दाचार्य का शब्द `अलिंगग्गहणं' है। (टीकाकार) अमृतचंद्र आचार्य ने ऐसा कहा कि, `वह बहुत से अर्थों की प्रतिपत्ति' (करने के लिये है)। इस `अलिंगग्रहण' में बहुत से अर्थ गर्भित हैं। इसमें बहुत से अर्थों की प्राप्ति है। इसमें से बहुत से अर्थों का भाव निकलता है। एक `अलिंगग्रहण' बहुत से अर्थों की प्राप्ति, प्रतिपादन करने के लिये है। `**वह इस प्रकार है :-**' यह तो इसका उपोद्घात किया। अब, इसका अर्थ। पहला बोल :

`**ग्राहक (ज्ञायक) जिसके लिंगो के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार `आत्मा अतीन्द्रियज्ञानमय है' इस अर्थ की प्राप्ति होती है।**' १.

ग्राहक माने ज्ञायक। यह `अलिंगग्रहण' का विषय, बहुत सूक्ष्म बात है। `ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन' है न...! ज्ञेय माने आत्मा ज्ञेय है, वह किसी प्रकार जानता है और वह किस प्रकार जानने में आता है ? ऐसा कहने के लिये यहाँ `अलिंगग्रहण' शब्द का प्रयोग किया है। यह (आत्मा) ज्ञेय वस्तु है वह किस प्रकार जानने में आये और वह किस प्रकार जानता है ? ऐसा जो यह ज्ञेय - `भगवानआत्मा' उसे `अलिंगग्रहण' कहना है (फिर भी) `अलिंगग्रहण'में से बहुत से अर्थ (निकलते हैं), एक ही अर्थ नहीं (किन्तु) बहुत से अर्थ, निकलते हैं, अतः आपने यहाँ `अलिंगग्रहण' शब्द कहा। लिंग द्वारा जानने में न आये, जाने नहीं ऐसा कहना है। फिर भी कुन्दकुन्दाचार्य भगवान ने जो "अलिंगग्रहणं" शब्द का प्रयोग किया तो अमृतचंद्राचार्य कहते हैं कि : (इसे) बहुत से अर्थों में कहना है इसलिये `अलिंगग्रहण' शब्द का प्रयोग किया है।

यह तो यदि ध्यान रखे तो समझ में आये ऐसा है.. हाँ। नहीं तो यूँ ही एक शब्द भी चूक गये तो बात पकड़ में नहीं आयेगी। यह तो बिलकुल अपूर्व, अतीन्द्रियग्राह्य

और अतीन्द्रिय से जाननेवाला उसकी, यहाँ व्याख्या करनी है। आ..हा..हा...! मूल रकम बात है। आत्मा किस प्रकार जानने में आये और आत्मा किस प्रकार जानता ? - यह बात, उसने अनंत काल से जानी ही नहीं है। जगत की सारी चतुराई कर डाली परंतु अंदर वस्तु यह भगवान आत्मा सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव ने (देखा है वैसा पहचाना नहीं है)।

(यह) ज्ञेय अधिकार है न...! ज्ञेय अधिकार है वह सम्यक्दर्शन का अधिकार है। पहला ज्ञान अधिकार वह जानने का - ज्ञान का अधिकार, और फिर चरणानुयोग का अधिकार वह चारित्र-चरणानुयोग की क्रिया का अधिकार, और यह ज्ञेय अधिकार यह सम्यग्दर्शन का अधिकार। तो सम्यग्दर्शन में आत्मा किस प्रकार जाना जाय और सम्यग्दृष्टि आत्मा को किस प्रकार जाने ? ऐसी सूक्ष्म बातें हैं ! कुछ समझ में आया ?

ग्राहक (अर्थात्) ज्ञायक, वह जाननेवाला भगवान, जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला ऐसा जिसका त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव - यह आत्मा, `**जिसके**'; ज्ञायक जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला ज्ञायक, जिसके; भगवान ज्ञायकस्वरूप जिसके; `**लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता...**' आहा..हा...! यह ज्ञायक ऐसा जो भगवानआत्मा, उसे इन्द्रियों के द्वारा, वह इन्द्रियों के द्वारा जानता नहीं है, जानना होता नहीं है। ऐसी बात है !

बाहर की दया पालन करो और व्रत करो... इनमें बेचारे उलझ गयें और मर गयें ! (ये सारी) राग की क्रिया (आश्रवतत्त्व) हैं। यह (आत्मा) क्या तत्त्व है और इसका जानना किस प्रकार होता है ? `जिसका जानना किस प्रकार हो ?' - यह दूसरे बाल में आयेगा। कुछ समझ में आया? ये तो भगवान के कानून हैं, सूक्ष्म हैं। बापू ! वह अतीन्द्रियज्ञान का पुंज प्रभु, उसका जानने का कार्य किस प्रकार हो; और वह अतीन्द्रियज्ञानमय प्रभु ज्ञायक, जिसका ज्ञान किस प्रकार हो? - यह अनंत काल में इसने कभी भी अंतर से निर्णय किया नहीं है। (और) इसके बिना सारे व्रत और तप और भक्ति और पूजा कर करके भटककर मर गया है !

`प्रवचनसार' गाथा-७७ में कहा न...! कि : पुण्य के भाव और पाप के भाव दोनों में जो अंतर माने वे घोर संसार में भटकनेवाले हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति, तप के परिणाम यह पुण्य, यह ठीक है; और हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोगवासना

ये पाप, ये बुरे हैं; ऐसा कोई माने तो वे घोर संसार में भटकनेवाले हैं, निगोद व नर्क में वे जानेवाले हैं। कुछ समझ में आया ?

(पुनःश्च) इसी (उक्त) गाथा का सार 'परमात्मप्रकाश' दूसरे (अधिकार) की गाथा-५५ में है। यही बात है। देखो ! 'जो णवि मण्णइ जीउ समु पुण्णु वि पाउ वि दोइ। सो चिरु दुक्खु सहंतु जिय मोहिं हिंडइ लोइ।।' क्या कहते हैं ? कि : 'जो जीव पुण्य व पाप इन दोनों को समान (-दोनों बराबर हैं -) नहीं मानता' (-अर्थात्) चाहे कोई दया, दान, व्रत, तप, भक्ति के भाव करे, चाहे तो हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग के भाव करे, परंतु दोनों ही भाव एक समान बंध के कारण और भटकने के (भवभ्रमण के) कारण हैं, (इस प्रकार समान नहीं मानता - "वह जीव मोह से मोहित होता हुआ" - (अर्थात्) मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्व में घुट गया है, वह भ्रमणा में धूस गया (है) ये शुभभाव दया, दान, व्रत, तप ये ठीक हैं; और हिंसा, झूठ (आदि) ये बुरे हैं; (ऐसा) माननेवाला भ्रमणा में भूल (डूब) गया (है, वह जीव) - 'दीर्घकाल तक दुःख को सहता हुआ' - पुण्य व पाप दोनों ही एक समान बंध के कारण हैं, दुःखरूप हैं ऐसा नहीं मानकर, दोनों में फर्क माने (तो) वह चारगति के दुःखों को सहन करके परिभ्रमण करेगा; उसे धर्म होता नहीं अर्थात् उसकी मुक्ति होती नहीं। दुःख को सहता हुआ - 'संसार में भटकता है' संसार में 'दुःख को सहता हुआ' इसका अर्थ : इस पुण्यभाव से, बहुत पुण्य हो जाय (तो), स्वर्ग में जाय किन्तु वहाँ भी दुःख है। 'दुःख को सहता हुआ' ऐसा कहा न...? केवल पाप के परिणाम से नर्क व तिर्यंच में जाय, तो 'दुःख को सहता हुआ' ऐसा नहीं कहा। यहाँ तो (कहा :) पुण्य व पाप के फलस्वरूप चार गति में - पाप के कारण नर्क व पशु आदि (गति) मिले; पुण्य के कारण कोई उच्च मनुष्यत्व और देवादि होवे; परंतु ये सभी दुःख को सहन करनेवाले हैं, भटक रहे हैं। आहा..हा...! ऐसी बातें!! अपने यहाँ यही ('प्रवचनसार') गाथा-७७ में आया है :- 'ण हि मण्णादि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं। हिंडदि घरमपारं संसारं मोहसंछण्णो।।' - दोनों गाथाओं का एक ही सार है।

(फिर भी) शुभयोग और अशुभयोग (के विषय में) अभी यही विवाद है न ! भारी आपत्ति। एक पंडितजी ने निकाला है कि : शुभयोग है वह मोक्ष का मार्ग है। तब

दूसरे पंडितजी कहते हैं कि : शुभयोग को मोक्ष का कारण न माने तो मिथ्यादृष्टि है। तब कुन्दकुन्दाचार्य ने शुभभाव को मोक्ष का कारण नहीं माना, हेय माना है तो वे भी मिथ्यादृष्टि ? इन दोनों पंडितों में तकरार पैदा हुयी।

आहा..हा...! यहाँ कहते हैं : दोनों में जो अंतर माने वे घोर संसार में (भटकते हैं)। भाषा तो देखो ! दोनों ही - पुण्य और पाप के भाव बंधन के कारण एक समान हैं। पाप (व) पुण्य (में) अंतर वह तो व्यवहार की अपेक्षा से है परमार्थ अपेक्षा से तो दोनों ही बंधन के कारणभूत (होने से) एक रूप हैं। इसमें जो कोई अंतर माने (वे घोर संसार में भटकेंगे)। अब, आजकल पडितों में यह भारी विवाद है। पहले (विवाद) सोनगढ के नाम से था, अब आपस में चल रहा है। और स्थानकवासी या श्वेतांबर साधु सभी यही प्ररूपणा कर रहे हैं और... यह व्रत करो, उपवास करो, यह करो... वह करो, इसमें आपको धर्म होगा ! (किन्तु) ये सभी क्रियाएँ तो राग की व पुण्य की है। कुछ समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं : ऐसा जो भगवानआत्मा, जो पुण्य-पाप बिना का आत्मा; जिसे लिंगों द्वारा - इन्द्रिय द्वारा जानना नहीं होता। भगवानआत्मा ज्ञायकस्वरूप से बिराजमान; उसे अतीन्द्रियज्ञान द्वारा जानना होता है परंतु इसे इन्द्रियों द्वारा जानना हो ऐसा आत्मा नहीं है। नव तत्त्व में आत्मतत्त्व को (जैसा है) वैसा मानना उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। तो वह आत्मा कैसा है ? कि : वह इन्द्रियों द्वारा जानने का काम नहीं करता।

यहाँ के विरोध के एक पत्र में (लेख में) आया है कि, सोनगढवाले अकाल मृत्यु को नहीं मानते। किन्तु `अकाल' का अर्थ क्या ? जिस समय जिस देह का छूटने का काल है तभी देह छूटेगा; `अकाल' कहा है वह तो (कर्म) प्रकृति की स्थिति पूर्व में इस प्रकार की बाँधी थी और उस प्रकार (प्रकृति के रजकण) उस क्षण छूट जाते हैं, यह अपेक्षा लेकर `अकाल' कहा है; किन्तु समय तो वही है। जिस समय पर देह छूटने का काल है उसी काल में ही छूटेगा। (किन्तु) लोग ऐसे आरोप लगाकर (लिखते) हैं... बस !

`पद्मनंदिपंचविशति' में अनित्य अधिकार में लिया है, वह तो कहा नहीं है ? (जिस प्रकार) अन्यमती में एक `गरुडपुराण' है न...! मर जाने के बाद इसे पढ़ते हैं। (पंडित

को) पढ़ने के लिये बिठाते हैं। इस तरह अपने यहाँ यह 'गरुडपुराण' जैसा 'पद्मनंदिपंचविशति'का में एक अनित्य पंचाशक अधिकार है, वहाँ ऐसी बात पर बल दिया है कि, जिस समयपर, जिस प्रकार से देह छूटनेवाला है वह (उस प्रकार) छूटकर ही रहेगा। उसका समय आगे-पीछे नहीं होता। अब यह तो अभी बाहर की बात रही।

यहाँ तो कहते हैं कि : 'जिसे अर्थात् ज्ञायक आत्मा को लिंगों द्वारा अर्थात् इन्द्रियों द्वारा' - ये पाँच इन्द्रियाँ हैं : कान, आँख, नाक, जीभ व स्पर्श, इनके द्वारा - 'जानना नहीं होता।'

अब, लोगों को यहाँ पर आपत्ति है कि : 'इन्द्रियों द्वारा जानना नहीं होता,' ऐसा माननेवाले एकान्त(वादी) हैं। अरे ! यहाँ कहते हैं कि, 'एकान्त ही है' - इन्द्रियों द्वारा जनाता नहीं है और इन्द्रियों द्वारा जानने का काम करे वह आत्मा नहीं। ये जो इन्द्रियाँ हैं वे अनात्मा-जड़ हैं, इसके द्वारा जो जानने का काम करता है वह ज्ञान ही अनात्मा है, आ..हा..हा...! बहुत सूक्ष्म बातें, भाई! इन्द्रिय द्वारा शास्त्र सुने और उसे ज्ञान हो जाय वह भी इन्द्रिय द्वारा हुआ ज्ञान, उसे आत्मा का जानना नहीं कहते। उसके द्वारा आत्मा जानता है ऐसा नहीं कहते। गजब ! उड़ गयी सारी बातें। यदि सुनने से (जानना) हो, इन्द्रियों द्वारा हो; (तो) कह रहे हैं (कि :) इस प्रकार जानना, आत्मा का स्वरूप ही नहीं है। ऐसी बातें हैं ! शास्त्र कान पड़े और उसके खयाल में आये कि 'यों कह रहे हैं' ऐसी जो ज्ञान की पर्याय, वह इन्द्रिय द्वारा जानना हुआ। इस प्रकार इन्द्रिय द्वारा जानना वह आत्मा का कार्य ही नहीं है। क्योंकि ज्ञायक अनइन्द्रियस्वरूप है। वह अनइन्द्रिय से जानने का कार्य कर सकता है।

'जिसे' इस प्रकार है न...! पहला बोल। अनइन्द्रियस्वरूप स्वयं भगवानआत्मा है। ज्ञायक चैतन्य... चैतन्यप्रकाश की बाढ़ ज्ञायकस्वरूप है। (वह) भगवान इन्द्रियों द्वारा जाननेवाला है ही नहीं। आहा..हा...! ऐसी बात है ! भगवान परमात्मा जिनेन्द्रदेव त्रिलोकनाथ ऐसा फरमाते हैं कि: जो इन्द्रियों द्वारा जानता हो वह आत्मा नहीं।

कान से शास्त्र सुनकर जो ज्ञान हुआ है वह (आत्मा की) पर्याय के उपादान से हुआ, वह श्रवण से हुआ है ऐसा नहीं। फिर भी इन्द्रियों द्वारा जो जानने का

कार्य हुआ वह आत्मा का स्वाभाविक कार्य नहीं है। ऐसी बात है !

अरे ! वीतराग त्रिलोकनाथ क्या कह रहे हैं उसका पता तक नहीं है और यों ही संप्रदाय में बंधकर चलाते रहते हैं, आहा..हा...! जो ज्ञायक वस्तु है, जाननेवाला प्रभु है; वह जाननेवाला लिंग द्वारा जानने का काम करे वह आत्मा नहीं। ऐसी बातें है !

यह तो थोड़ा... इसमें शक्ति की बहुत सुंदर व्याख्या आ गयी है न...! इसे छापनेवाले हैं। ३२० गाथा छापनेवाले हैं। बहुत सुंदर है। साथ ही साथ यह भी इकट्ठा आ जाय (छापने में) इसलिये यह अलिंगग्रहण लिया। बाद में ४७ नय लेनेवाले हैं।

आहा..हा...! भाई! तीनलोक के नाथ, परमेश्वर, जिनेन्द्रदेव, उनके ज्ञान में आया वैसा उन्होंने कहा। इसमें यों कहा कि : जो कोई जाननेवाला है भगवान अंदर, वह जाननेवाला, अनआत्मस्वरूप ऐसी इन्द्रियों द्वारा जानने का कार्य करे वह आत्मा नहीं। आहा..हा...! लोगों को अभ्यास नहीं है (इसलिये) यह सब कठिन लगता है। इसलिये ऐसा शब्द प्रयोग किया है न...! कि : `ग्राहक' (अर्थात्) जाननेवाला `ज्ञायक'। ग्रहण करनेवाला अर्थात् ग्राहक, ग्रहण करनेवाला अर्थात् जाननेवाला अर्थात् ज्ञायक। आहा..हा...!

आजकल ठंडा मौसम है न...! इस वजह से यह सब मिल रहा है, लिखा जा रहा है। ज्यादा लोग हो तब जरा सूक्ष्म पड़ेगा। किन्तु उसे एक बार यह जानना पड़ेगा कि नहीं ? अरेरे! ऐसा मनुष्यपना मिला उसमें वीतराग क्या कह रहे हैं और किसे आत्मा जाने और किस प्रकार जाने? इसकी जिसे खबर तक नहीं है, उसे धर्म नहीं होता, वे चार गति में भटकनेवाले हैं। वे मरकर तिर्यंच-पशु होकर चार गति में भटकेंगे। यहाँ भले ही अरबपति हो, करोड़ों करोड़ों के बंगलें हो, किन्तु वह मरकर पशु होयेगा, तिर्यंच होयेगा, बापू ! आहा..हा...! कहते हैं न कि, पुण्य-पाप में फर्क नहीं है अतः भले पुण्य के कारण कोई स्वर्ग में जाय, और पाप के - माया-कपट आदि के भाव से कोई तिर्यंच में जाय तो किन्तु सब जगह दुःख है। चारों गतियाँ दुःख(मय) हैं। वे सेठिया लोग दुःखी। रंकलोग दुःखी। नारकी दुःखी। तिर्यंच दुःखी। देव दुःखी। आ..हा..हा...! वे सभी दुःख की श्रेणी में पड़े हैं। क्योंकि

वे 'लिंगों के द्वारा जाननेवाले आत्मा को मान रहे हैं' ऐसा मानते हैं, ऐसी दृष्टि मिथ्यात्व है, और इस मिथ्यात्व का फल अनंत भव का जंगल सिर पर है। कुछ समझ में आया ? ऐसी बातें !

जिज्ञासा : ज्ञानी को इन्द्रियज्ञान होता है वह अनात्मा है ?

समाधान : इन्द्रियज्ञान जितना (है) वह आत्मा का ज्ञान नहीं है। यह 'परमार्थ वचनिका' में आया (कि:) परसत्तावग्राही ज्ञान बंध का कारण है। ज्ञानी को उतना परसत्तावलंबी ज्ञान बंध का कारण है।

इसमें 'समयसार' गाथा-३१ देखो : 'जे इन्दिये जिणित्ता' जिसने इन्द्रियों को जीता है अर्थात् जो इन द्रव्यइन्द्रियों द्वारा जानता नहीं, भावइन्द्रियों द्वारा जानता नहीं, उसी प्रकार भगवान की वाणी सुनता है, भगवान को देखता है ये सभी इन्द्रियाँ हैं। जिस प्रकार ये जड़ इन्द्रियाँ हैं, भावेन्द्रियाँ हैं उस प्रकार भगवान की वाणी और भगवान तथा स्त्री, परिवार, कुटुम्ब ये सभी इन्द्रियों के विषय (ये भी) इन्द्रिय हैं, ऐसा कह रहे हैं। आहा..हा...! 'जे इन्दिये जिणित्ता' - जड़ इन्द्रिय माने ये कान आदि; भावेन्द्रिय अर्थात् ज्ञान का जो अंश एक-एक विषय को जाने वह भावेन्द्रिय; और (इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ माने) भगवान और स्त्री-परिवार और देश आदि जानने में आये वे (भी) इन्द्रिय हैं - इन्हें इन्द्रियाँ कहा है। इन तीनों को जो जीते, तीनों का लक्ष छोड़ दे। भगवान की वाणी सुनने का लक्ष छोड़ दे। भगवान के दर्शन करने का लक्ष छोड़ दे। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं, बापू ! इन तीनों का लक्ष छोड़कर इनसे भिन्न जो भगवान ज्ञायक है जिसे यहाँ 'ग्राहक' कहा न ! 'ग्राहक' जाननेवाला... जाननेवाला जो त्रिकाली ज्ञाता-दृष्टा है, उसे जो पकड़ता है वह ज्ञानस्वभाव 'अधिकं' - जड़ और भाव इन्द्रियाँ, भगवान की वाणी और भगवान तथा स्त्री-परिवार-देश, इन सब से भिन्न, ऐसा भगवानआत्मा पृथक होकर अलग है, उसका जो अनुभव करे उसको इन्द्रियों का जीतना कहकर उसे समकिती-जिन कहते हैं। क्योंकि इसका स्वरूप जिनस्वरूप है।

कई बार कहा था न...! 'घट घट अंतर जिन बसै, घट घट अंतर जैन ! मति-मदिरा के पानसौ मतवाला समुझै न !!' 'घट घट अंतर जिन बसै'... भगवानआत्मा जिनस्वरूपी वीतरागमूर्ति अंदर है उसे यहाँ आत्मा कहते हैं। ये (लोग) तो दया पालन

करे सो आत्मा, और हिलेडूले सो त्रस, और स्थिर रहे सो स्थावर (मानते हैं। परंतु) यहाँ तो कहते हैं कि `घट घट अंतर जिन बसै'... इस जिन को जिन्होंने द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और उसका विषय - इन (तीनों ही) का लक्ष छोड़कर तथा उससे भिन्न भगवान ज्ञायकस्वरूप है, जिनस्वरूप है, उसमें एकाग्र होते हैं उन्होंने इन्द्रियों को जीती, उन्हें समकिती-जिन कहा जाता है। ये ऐसी बातें ! अब कहो भाई ! यह क्या एकेन्द्रिय, द्वीइन्द्रिय, त्रीइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय करते-करते जिंदगी बह गयी, तत्त्व क्या है ? इसका तो अता पता तक नहीं !

यहाँ पर यह कह रहे हैं : लिंगों (इन्द्रियाँ) जिनको कि जीतनी है, उनके द्वारा जाने, वह जानना आत्मा का है ही नहीं, ऐसा कह रहे हैं। क्या कहा यह ? जिससे भिन्न होना है, जिनको जीतना है `जिनको जीतना' माने जिनका आश्रय, लक्ष छोड़ना है उसके द्वारा जानने का कार्य करे सो आत्मा नहीं। (आत्मा तो) जिनस्वरूपी भगवान (है)। आहा..हा...! समझ में आया उतना समझना, बापू ! यह तो केवलज्ञानी त्रिलोकनाथ तीर्थंकर के पेट की बातें हैं !

आहा..हा...! जाननेवाला ऐसा जो भगवान, इन्द्रियों द्वारा जानने का काम करता ही नहीं है। (यह तो) वीतराग का ज्ञान, वीतरागी विज्ञान का विज्ञान है ! यह तो शास्त्र का ज्ञान इन्द्रियों द्वारा सुनकर, पढ़कर हुआ... (तो) कह रहे हैं : यह जानना आत्मा का नहीं है। आहा..हा...! गजब बातें हैं !! इन्द्रियों द्वारा जाने सो आत्मा नहीं, ज्ञायक नहीं। क्योंकि ज्ञायकस्वरूप तो स्वयं है और उसे जानना इन्द्रिय द्वारा हो (तो) ज्ञायक कहाँ रहा ? यहाँ तो `जाननेवाला' ऐसा कहा न...? वह जाननेवाला `नहीं जाननेवाले के आश्रय से' काम लेगा ? (-ऐसा नहीं हो सकता)। सूक्ष्म बातें हैं, बापू ! अरे ! वीतराग त्रिलोकनाथ क्या कह रहे हैं ? इसकी खबर तक नहीं है और (माने कि) हमने धर्म किया, सामायिक की और पौषधव्रत किया और प्रतिक्रमण किये ! धूल में भी (कुछ) नहीं है।

यहाँ तो परमात्मा जिनेन्द्रदेव परमात्मा की दिव्यध्वनि में इन्द्रों व गणधरों के समक्ष यह आवाज आयी कि : तू जाननेवाला प्रभु है कि नहीं ? जानने के स्वभाववाला है कि नहीं ? तो जानने का स्वभाववाला जाननहारा, `जो उसमें नहीं है,' ऐसे नहीं जाननेवाले (अर्थात्) `इसे नहीं जाननेवाला' ऐसे ज्ञानशून्य, उनके द्वारा आत्मा जानने

का काम करे, वह आत्मा नहीं ! आहा..हा...! ऐसा काम है !

लोग ऐसा ही कहते हैं : यह तो शास्त्र में आता है न...! 'मतिज्ञान' इन्द्रिय और मन से होता है। ऐसा 'तत्त्वार्थसूत्र' में नहीं आता ? और अब आप यहाँ इन्कार करते हो ! वहाँ कहा है न...! वह तो ज्ञेय यहाँ था उससे (मतिज्ञान) हुआ, ऐसी एक परोक्ष बात उसने बतायी है, उसका ज्ञान कराया है। किन्तु वास्तविक तत्त्व है वह मन और इन्द्रिय द्वारा जाननेवाला नहीं है। आहा..हा...! अब यह उसे विरोध लगता है कि, 'तत्त्वार्थसूत्र' में मतिज्ञान को मन व इन्द्रिय द्वारा कहा। श्रुतज्ञान को मन द्वारा कहा। (परंतु) यह तो बाह्य की बात है। (श्रोता :) निमित्त है ? (उत्तर :) निमित्त है न...! वह इन्द्रिय द्वारा जानता है... ऐसा। किन्तु वह वहाँ व्यवहार की बात की है। आत्मा स्वयं अपने अतीन्द्रिय(स्वभाव) से जाने इस बात को वहाँ गौण करके (उक्त) बात की है। कुछ समझ में आया ? ये (लोग) तो दूसरे शास्त्र की अपेक्षा से इसमें पूरा झगड़ा पैदा करते हैं। भाई ! वहाँ ऐसा कहते हैं कि इन्द्रिय द्वारा मतिज्ञान व मन से श्रुतज्ञान होता है। (और) यहाँ तो कहते हैं कि इन्द्रिय द्वारा जानना आत्मा को होता ही नहीं है। (वहाँ) तो उसका ज्ञान बताकर एक व्यवहार कहा है। आहा..हा...! ऐसा सूक्ष्म (कथन) ! बनियों को व्यापार के मारे फुरसत मिलती नहीं... एक घंटा जाय (सुनने, तो सच्ची बात ही सुनने को न मिले)।

बापू ! तू जाननेवाला किस प्रकार से (और) कैसे है ? 'तू कैसे जाना जाय', यह बाद में आयेगा। (यहाँ) तू जाननेवाला किस रीति से जानता (जानने की क्रिया करता) है ? क्योंकि पहला शब्द ही उठाया है कि : 'ग्राहक' (अर्थात्) जाननेवाला, ग्रहण करनेवाला मतलब जाननेवाला।

'मोक्षमार्ग प्रकाशक' के सातवें (अध्याय) में आया है न...! यानी व्यवहारनय से में 'ग्राहक' कहा है न...! 'ग्राहक' का अर्थ ही वहाँ 'जानना' है। व्यवहार ग्रहण करने लायक है मतलब जानने लायक है, ऐसा इसका अर्थ वहाँ किया है। जानने लायक है, ऐसा कहा है। व्यवहारनय ग्रहण करने लायक है ऐसा कहा है न...! शिष्य का प्रश्न है। उसका अर्थ, बापू ! भाई ! शांति रख, ग्रहण करने का अर्थ वह जानने लायक है। व्यवहारनय उपादेय है, ऐसा नहीं।

अब, शास्त्र में निहित अर्थ तथा शास्त्र की शैली को ही अभी जानते न हो,

किस नय का, किस अपेक्षा से यह कथन है ? और मान लेवे कि देखो ! 'इसमें ऐसा कहा है', (परंतु) ये लोग (सोनगढवाले) इसे नहीं मानते ! किन्तु यह तो भगवान से कहो न...!

यह क्या कह रहे हैं भगवान ! 'जिसे' अर्थात् जाननेवाले को, जो चीज जाननहार में नहीं है उसके द्वारा (जानना नहीं होता)। कुछ समझ में आया ?

आहा..हा...! ऐसी बातें हैं !! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ का मार्ग कोई अपूर्व, अलौकिक है।

'जिसे लिंगों द्वारा अर्थात् इन्द्रियों द्वारा (ग्रहण) (जानना नहीं होता)।' वहाँ ('तत्त्वार्थसूत्र' में) कहा कि : इन्द्रिय से मतिज्ञान होता है। वह तो पर का ज्ञान (अर्थात्) व्यवहार बताया है। कुछ समझ में आया ? 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में कहा है कि, ज्यों ज्यों शास्त्र का ज्ञान बढ़े त्यों त्यों ज्ञान विशेष होता है। किन्तु वह पर संबंधी अपेक्षा की बात है। वहाँ ऐसा है कि, सामान्य से विशेष बलवान है। ऐसा कहकर कहा कि, ज्यों ज्यों शास्त्र का ज्ञान विशेष होता है, वह ज्ञान बलवान है। वह बात वहाँ पर की अपेक्षा से है। सम्यग्दर्शन में वह ज्ञान बलवान हो और सामर्थ्यवान हो, ऐसा नहीं है। (श्रोता :) सारा खुलासा कर दिया है। (उत्तर :) यह तो विषय आ जाय तब यह अंदर में जो आता है (उसे) तब अपने आप कह बैठते हैं, यह कोई रटकर रखा है ? (- ऐसा नहीं है।) वीतराग की वाणी की क्या शैली ! क्या (अलौकिक) उसकी पूर्वापर विरोध रहित कथनी! कही भी विरोध न आये ऐसी उसकी शैली है। आहा..हा...! कहते हैं कि : कान द्वारा यह सुनना होता है और आँख द्वारा भगवान के दर्शन होते हैं। साक्षात् तीनलोक के नाथ समवसरण में बिराजमान रहते हैं वहाँ भी अनंतबार गया है, उनके दर्शन हो यह सारा इन्द्रिय का ज्ञान है, वह ज्ञायक का ज्ञान नहीं है। आहा..हा...! जिसे (अर्थात्) ज्ञायक को ज्ञायक का ज्ञान नहीं है (वह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है)। ऐसी गंभीर बातें हैं ! इसलिये तो पहला (बोल :) ग्राहक (अर्थात्) जाननेवाला, जाननेवाला ज्ञायक ऐसा जो भगवानआत्मा, वह लिंग अर्थात् अन्य चीज जो है उसके द्वारा उसको जानना नहीं होता। आहा..हा..हा...!

यह वीतराग की बात सूक्ष्म पड़े किन्तु प्रभु ! मार्ग तो यह है। आहा..हा...! अंदर भगवानआत्मा जानने के स्वभाव से भरा हुआ परिपूर्ण प्रभु है। भाई ! तुझे पता

नहीं है। वर्तमान ज्ञान की अल्प दशा में जो अवस्था विद्यमान है उसमें तेरी दृष्टि और (उसमें) तुने अनादि से एकत्व चालू रखा (है)। परंतु उस (एक) समय की जो पर्याय है उसके समीप पूरा तत्त्व, द्रव्य, भगवानआत्मा पड़ा है (वहाँ कभी दृष्टि करी नहीं है।) पर्याय व द्रव्य दो चीज हैं। अरे ! यह क्या होगी ऐसी बातें ? भगवान ! एक बात सुन, प्रभु ! तेरी प्रभुता इतनी और ऐसी है कि, इन्द्रिय से जानना तू कर नहीं, ऐसी तेरी प्रभुता है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेन्द्रदेव की इन्द्रों के समक्ष समवसरण में यही ध्वनि है। अरेरे ! उसके कानों में पड़ती नहीं है। और पड़े तो इन्द्रिय से ज्ञान होता है वह ज्ञान आत्मा का नहीं इसलिये उसे आत्मा का ज्ञान नहीं कहते। आहा..हा...! ऐसी बातें !! अब, इसका सिर-पैर कहीं हाथ न आये (ऐसी बेसिर-पैर की बात) ऐसा लगे उसको भगवान ! क्या कहें ? तेरी चीज अंदर ऐसी है ! अंदर वह सहजात्मस्वरूप ज्ञानानन्द का स्वरूप है ! वह अंदर ज्ञान का सागर है ! इस ज्ञान के सागर से लबालब भरा हुआ भगवान है ! उसे पर के कारण से ज्ञान हो ऐसा उसका स्वरूप नहीं है ! ऐसी बातें !! (श्रोता :) जड़ से नाप नहीं निकलता ? (उत्तर :) जड़ से नाप नहीं, ऐसा नहीं; ज्ञान ही नहीं होता। ये तो बहुत सूक्ष्म बाते हैं, बापू ! ये कोई (सामान्य बातें नहीं हैं।) ये पाँच जड़ इन्द्रियाँ हैं, ये तो मिट्टी-धूल है; उनके द्वारा जाननहार को ज्ञान-जानना हो सकता है ? (-नहीं ही होता।)

आहा..हा...! जाननेवाला जो अंदर भगवानआत्मा, चैतन्यमूर्ति प्रभु, चैतन्य के स्वभाव से खचाखच भरा हुआ भगवान (है)। सभी आत्मा ऐसे भगवान हैं। `भग' अर्थात् ज्ञानलक्ष्मी + `वान'। जिसका स्वरूप ज्ञानलक्ष्मी है उसे भगवानआत्मा कहा जाता है। आहा..हा...! `भग' माने ज्ञान और आनंद की लक्ष्मी + `वान' अर्थात् जिसका स्वरूप अर्थात् रूप है, ऐसा जो अंदर भगवानआत्मा जिसे यहाँ ज्ञायक कहा। जिसे ग्राहक अर्थात् पर को जाननेवाला कहा (बाद में निमित्त से जाने ऐसा कहा है वह जानने की अपेक्षा ही बात है) पर को जानना, लिंगों-इन्द्रियों द्वारा हो, ऐसे जानना आत्मा का स्वभाव नहीं है। उसे आत्मा नहीं कहते। आहा..हा...! जिसमें ज्ञान भरा हुआ है वह ज्ञान द्वारा (अर्थात्) अतीन्द्रियज्ञान द्वारा जाने वह अतीन्द्रियज्ञानमय भगवानआत्मा (है)।

प्रभु ! ये तो कठिन बातें, भाई ! उसके निजघर की बातें नाथ ! बहुत कठिन

है, भाई! शैली सरल है परंतु यह उसने (कभी) जाना नहीं है न...! अभ्यास नहीं है न...! `हम तो कबहुं न निजघर आये... परघर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये।' - ये पंचेन्द्रिय, एकेन्द्रिय और द्वीइन्द्रिय और त्रीइन्द्रिय और मूर्ख और पंडित और देव और मनुष्य और - भगवान ज्ञायकस्वरूप होने के बावजूद भी - ऐसे नाम धराये (धरे), यह कलंक है। इन परघर के नामों को उसने उसके (अपने) घर में चला दिये।

भगवान ! यहाँ तो कहते हैं कि : ज्ञायक माने भगवानआत्मा। यह आत्मा...हाँ ! अन्य भगवान (जो) हो चुके वे तो हो गये, परमेश्वर हो गये, वे तो पर्याय में परमेश्वर हो गये, ये तो वस्तुरूप से भगवान है। शक्तिरूप से भगवान-ग्राहक-ज्ञायक है। उसका एन्लार्ज (विकास) होवे तब पर्याय में केवलज्ञान और अरिहंत होते हैं।

आहा..हा...! भारी बातें, भाई ! भारी माने अतिशय; वास्तविक बात है, बापू ! भगवान ! तू कैसा कितना बड़ा है, कि ज्ञान के स्वभाव से भरा हुआ ज्ञायक (है)। ये जो इन्द्रियाँ हैं उसके द्वारा काम ले वह आत्मा नहीं। ऐसी बात है, प्रभु !

(आचार्यों ने) गजब काम किये हैं। गर्जना करके संतो ने जगत को जगाया है। जाग रे जाग, नाथ ! अब तुझे सोना (अंधेरे में रहना) नहीं पुसायेगा, प्रभु ! यह `इन्द्रियों द्वारा जानना' (मतलब) तू सो गया है, तू जागा नहीं।

कहा था न...! बच्चों को पलने में सुलाते हैं न...! तो उसकी माँ लोरी गाती है : `मेरा बच्चा बहुत अच्छा और पटे पर बैठकर नहा लिया'... इस तरह उसकी प्रसंशा करे तो वह सो जाय। उसे प्रशंसा अव्यक्तरूप से (अच्छी लगती है इसलिये) वह सो जाता है। किन्तु गालियाँ देंगे तो वह सोयेगा नहीं। किसी दिन देख लेना : `कमीने सो जा तू' (ऐसे चिडकर बोलेंगे तो) नहीं सोयेगा। उसे सुलाने के लिये भी उसकी प्रसंशा करते हैं, तो यहाँ तीनलोक के नाथ परमात्मा-संत जगाने के लिये गीत गाते हैं : `अरे ! जाग रे जाग, नाथ !' तू इन्द्रियों द्वारा काम करे वहाँ सो गया है। तेरी ज्ञानज्योति को जगा। तू अतीन्द्रियज्ञान से काम ले। आहा..हा...! ऐसी गजब बातें, भाई! साधारण (लोगों) को पागल सी लगे ऐसा है... हाँ ! दुनिया में क्या चलता है सब मालूम है न! एक एक श्लोक ने (गजब) काम कर डाला है

जिसे अर्थात् भगवानआत्मा को - जाननेवाला प्रभु, ज्ञायक चैतन्यसूर्य, अंदर चैतन्य

निजचंद्र प्रभु है ऐसा जो ज्ञायकभाव भगवानआत्मा जिसे - लिंगों द्वारा अर्थात् (इन्द्रियों द्वारा जानना नहीं होता।)

बापू ! यह तो अध्यात्म की बात है, नाथ ! यह कोई कथा नहीं है, वार्ता नहीं है। आहा..हा...! प्रभु ! तू कैसा और कितना बड़ा और किस प्रकार करनेवाला है ? तू किस प्रकार काम करनेवाला है ? ऐसे प्रभु की (यह) बात है। वह अतीन्द्रियज्ञान से काम लेनेवाला है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? अरे ! प्रभु कब मिले, बापू ! ऐसे मनुष्यत्व में भी उसकी (मूल) चीज क्या है ? भगवान त्रिलोकनाथ क्या कह रहे हैं ? - यह उसे सुनने नहीं मिलता (तो) समझेगा तो किस दिन ? अरे...रे! उसका परिभ्रमण-चौरासी के परिभ्रमण कब मिटे, भाई ? आहा..हा...! गजब काम करता है न...! इन्द्रियाँ निमित्त है न...! निमित्त के द्वारा जानने का काम करे वह आत्मा नहीं। ज्ञायकस्वभाव से भरा भगवान इस अतीन्द्रियज्ञान से जानने का काम करे वह आत्मा है।

अब, इस बात को कब (अंदर) बिठाना और कब (अनुभव) करना, भाई ? आहा..हा...! तेरी महिमा और बड़प्पन की प्रभु ! तुझे खबर नहीं है। तू महंतप्रभु, प्रभु की शक्ति से भरा हुआ तू भगवान है, भाई ! सर्वज्ञस्वभावी है। सर्वदर्शीस्वभावी है। स्वच्छ शक्ति का भंडार है। स्वसंवेदन प्रकाश में आ सके ऐसा तू है।

यह तो अभी आत्मा क्या है जिसे लिंग (अर्थात्) इन्द्रियों द्वारा (जानना नहीं होता) ? यह तो अभी शुरूआत है न...! इसलिये अभी पहला बोल शुरू हो रहा है। वह शक्ति का वर्णन आदि (प्रवचनों की खास पुस्तक) छप रहा है न... (उसमें) साथ साथ यह आ जाय। यह तो तीनलोक के नाथ तीर्थंकरदेव का बुलावा अंदर आया है। इस बुलावे को स्वीकार कर, प्रभु ! तू स्वीकार कर ले। प्रभु का बुलावा ऐसा है कि, 'लिंग द्वारा जाने सो आत्मा नहीं' क्योंकि वह ज्ञायक से भरा हुआ भगवान अपने अतीन्द्रियज्ञान से जानने का काम करे उसे आत्मा कहते हैं।

सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान में, अभी चौथे गुणस्थान में है (-पाँचवाँ और छट्ठा यह तो बापू! कोई अलौकिक बातें हैं। संप्रदाय में नाम धारण कर ले, कोई भी नाम धारण कर ले।) - सम्यग्दृष्टि जीव को अतीन्द्रियज्ञान से जानना होता है। कुछ समझ में आया ? क्योंकि भगवान इन्द्रियरहित ज्ञान से भरचक-लबालब भरा हुआ

है, वह जब पर्याय में इन्द्रियरहित ज्ञान से जानने का काम करता है, `**वह अलिंगग्रहण है,**' इसलिये उसे अलिंगग्रहण कहा (जाता है) `**इस प्रकार आत्मा अतीन्द्रियज्ञानमय है।**'

`अलिंगग्रहण' का यह एक अर्थ निकला। ऐसे बीस अर्थ हैं। `अ लिं ग ग्र ह ण' - छः अक्षर हैं। इनमें से आज अभी एक अर्थ आया। आहा..हा...! यह तो बोनी पहली होती है न...! यह (आत्मा) अतीन्द्रियज्ञानमय है। (जिसे) इन्द्रिय द्वारा जानना नहीं होता, ऐसा कहने का अर्थ : `वह अतीन्द्रियज्ञानमय है,' `वह अतीन्द्रियज्ञान से जानता है।' यह पहला बोल है...

दूसरा कहेंगे।



कोई समप्रदायमें जन्म लेनेसे जैन नहीं होता परन्तु गुणसे जैन हुआ जाता है। जैन तो मोह-राग-द्वेषको जितनेवाला है, फिर भी यदि वह रागसे धर्म माने तो जैन नहीं है। जिसे अंतरमें रागकी रुचि है वह जैन नहीं है। (परमागमसार - ९५०)

प्रवचन : दि. ८-१२-१९७७

`प्रवचनसार' १७२ गाथा। `अलिंगग्रहण' पहला बोल चला। फिर से जरा-सा ले ले। सूक्ष्म बात है, भाई ! वह तो अलैकिक, अपूर्व-पूर्व में नहीं कही हुई, नहीं करी हुई, नहीं जानी हुई - (बातें हैं)। कहते हैं कि: यह आत्मा ग्राहक अर्थात् जाननेवाला है। (ऐसा) जिसके अर्थात् इस आत्माको-जाननेवाले को लिंगो द्वारा अर्थात् द्रव्य इन्द्रिय द्वारा जो जाने वह खंड खंड ज्ञान है; वह आत्म-ज्ञान नहीं है। आहा...हा! ऐसी बात है !! इसलिये ऐसा कहा: (ज्ञायक को) इन्द्रियों द्वारा जानना नहीं होता वह अलिंगग्रहण है। इस प्रकार आत्मा अतीन्द्रियज्ञानमय है। वजन यहाँ है। वह तो अखंडज्ञानमय है। अर्थात् उसे पर द्वारा (लिंगों द्वारा) जानना है ही नहीं। आहा..हा...! यह तो अखंड़ ज्ञानमय अतीन्द्रियज्ञानमय अखंड़ होने से उसे अतीन्द्रियज्ञान से जानना होता है। लो ! यह ऐसी भाषा !

ऐसा कहा था न...! `तत्त्वार्थसूत्र' शास्त्र में तो ऐसा (कथन) आता है : मतिज्ञान इन्द्रिय और अनइन्द्रिय के निमित्त से होता है उस प्रकार श्रुतज्ञान अनइन्द्रिय से होता है। "अनीन्द्रियम्" ऐसा पाठ है। श्रुतज्ञान है वह मन से होता है, और मतिज्ञान है वह मन और इन्द्रिय से होता है। यह व्यवहार की अर्थात् पर को जानने की अपेक्षा से बात की है।

(यहाँपर) जाननेवाला अखंड ज्ञान की पर्याय द्वारा - अखंड वस्तु है उसे, अपनी ही अखंड पर्याय द्वारा - यह ज्ञान ज्ञान को जानने का काम करता (है) तब उसे सम्यग्ज्ञान कहा जाता है। यह ज्ञानप्रधान कथन है न...! अतीन्द्रियज्ञान द्वारा अखंडज्ञान द्वारा स्वयं जानने का काम करे उसे ज्ञान कहते हैं। और उसकी प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन का अधिकार है न...! क्या कहा यह ? यह `ज्ञेय अधिकार'

है यह 'सम्यग्दर्शन' का अधिकार है। यहाँ जानने की बात तो इस प्रकार आयी, वहाँ दर्शन-प्रतीति की बात नहीं आयी ? किन्तु उसका अर्थ यह हुआ - (उसमें प्रतीति आ गयी)। उसे पर का लक्ष छोड़कर और स्व के लक्ष से जो जानना होता है वह अखंडज्ञानमय (है)। ज्ञानवाला और अखंड ज्ञानवाला ऐसा नहीं (एवम्) अतीन्द्रियज्ञानवाला ऐसा भी नहीं (किन्तु) अतीन्द्रियज्ञानमय है !

सूक्ष्म बात, बापू ! बहुत धीरे धीरे (समझना)। आहा..हा...! ऐसी बात सुनना तक कठिन पड़े (किन्तु) मार्ग तो यह है, भाई ! अतीन्द्रियज्ञानमय है; इन्द्रियज्ञानमय नहीं है। यह तो जरा अस्ति-नास्ति की (अपेक्षा से कहा)। कुछ समझ में आया ? इन पाँच इन्द्रियों एवं मन द्वारा जानना यह खंडखंड ज्ञान है। आत्मा ऐसे खंडखंड ज्ञानमय नहीं है। खंडखंड ज्ञान द्वारा जाने वह आत्मा नहीं; वह तो अनात्मा है। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं !! वह तो 'अतीन्द्रियज्ञानमय' है, ऐसा कहा। मन एवं इन्द्रियों का भी संबंध छोड़कर, स्वयं अपने लक्ष से अपने को जाना है। आहा..हा...! 'जाने' (अर्थात् 'जाननरूप परिणमन करे')... हाँ ! 'स्वयं जानने में आये' यह (प्रश्न) बाद में लेंगे। कुछ समझ में आया ?

(यहाँ कहते हैं कि:) अतीन्द्रियज्ञान(मय) अखंडस्वरूप प्रभु; वह अतीन्द्रियज्ञान द्वारा, अतीन्द्रियज्ञान से जानता है। वह वस्तु अतीन्द्रियज्ञानमय है। वह पर्याय द्रव्य के साथ अभेद है। आहा..हा...! यह ऐसा सूक्ष्म अधिकार है ! अतीन्द्रियज्ञान द्वारा जाने तब उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। (और) तब उसका जन्म-मरण का अंत आये। समझ में आ रहा है कुछ ? इस देह में भगवानआत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रभु (है), वह अखंडज्ञानमय है, ऐसा कहते हैं।

'अतीन्द्रियज्ञानमय' कहा न...! इन्द्रिय से और मन से जानना यह कार्य तो खंडखंड है; वह आत्मामय नहीं है, मन और इन्द्रिय द्वारा शास्त्र को जाने, (यह) जानने का कार्य है तो उसकी पर्याय का; परंतु वह जा शास्त्रज्ञान को निमित्त-इन्द्रिय और मन-द्वारा जाने, वह ज्ञान, आत्म-अतीन्द्रियज्ञानमय नहीं है। ग्यारह अंग जान ले और नौ पूर्व की लब्धि हो जाय यह भी खंडखंड ज्ञान है, ऐसा कहते हैं।

यह तो जरा कल मतिज्ञान का 'तत्त्वार्थसूत्र' याद आ गया इसलिये कहा कि इस प्रकार इसमें पाठ किस किस प्रकार के हैं ! व्यवहार के बहुत सारे अर्थ लिये

हैं; इसके आधार से यह होता है और इसके आधार से यह है। जीव-अजीव अधिकार है। ऐसे बहुत सारे बोल आते हैं। वह व्यवहार के कथन की शैली है।

यहाँ पर तो कहते हैं कि: अतीन्द्रियज्ञानमय आत्मा है। आत्मा इन्द्रियज्ञानमय नहीं है। आहा..हा...! क्या कह रहे हैं ? इन्द्रिय द्वारा शास्त्र सुने, आँखो द्वारा पढ़े, कान द्वारा सुने, वह ज्ञान, अतीन्द्रियज्ञान नहीं; वह आत्मज्ञान नहीं। ऐसी बातें !! वह तो खंडखंड ज्ञान है। वह ग्यारह अंग और नौ पूर्व का ज्ञान, वह भी परसत्तावलम्बी ज्ञान है; वह वास्तव में तो बंध का कारण है। अतः यहाँ परमात्मा ऐसा फरमाते हैं कि प्रभु ! तू एक बार अपनी चीज को सुन। वह तो अतीन्द्रियज्ञान द्वारा जानने का काम करता है। `जानने में आता है' यह प्रश्न बाद में (लेंगे)।

आहा..हा...! सूक्ष्म तो है, भाई ! परंतु क्या करे ? मार्ग तो यह है ! सुखी होने का (यह मार्ग है)। बाकी सारे दुःखी होने के पंथ (रास्ते) हैं। अरे..रे ! `इन्द्रिय द्वारा वह जाने' तो कहते हैं कि वह दुःख का रास्ता है। क्योंकि उसे इन्द्रिय जाने उसमें, आत्मा के ज्ञान का स्वाद जो आना चाहिये वह नहीं आता। ऐसी बात है, बापू ! तीनलोक के नाथ केवलज्ञानी जिनेन्द्र परमात्मा की ऐसी बात (अन्यत्र) कहाँ है, बापू ? यहाँ जरा वजन `(आत्मा) अतीन्द्रियज्ञानमय है' इसकी तरफ (है)। उसका कुल जोड़ तो यह लिया न कि, `लिंग से जानता नहीं है' अर्थात् वह `अतीन्द्रियज्ञानमय' है, वह अतीन्द्रियज्ञान से जानने का काम करता है। ऐसा (तत्त्व) कहीं आफ्रिका में भी नहीं है और बंबई में भी कहीं नहीं है। सब जगह भटक-भटक के मरजानेवाले हैं। प्रभु है यह अतीन्द्रियज्ञानमय है। यह तो प्रभु फरमा रहे हैं : आँखो से पढ़े और कान से सुने; वह ज्ञान, अतीन्द्रियज्ञानमय नहीं है, अतः वह ज्ञान खंडखंडमय है, वह आत्मज्ञान नहीं; अतः उसमें इस आत्मा की शांति नहीं आ सकती। कुछ समझ में आया ?

अब ये सभी झगड़ते हैं कि इसमें ऐसा कहा है न...? `तत्त्वार्थसूत्र' में ऐसे बहुत से अधिकार हैं - (जिसमें लिखा है कि) इसके आधार से यह है और इसके आधार से यह है। अवगाहन है न; आकाश के आधार से ये सारे द्रव्य टिके हैं न...? ये सारी निमित्त का ज्ञान कराने की बातें हैं।

यहाँ तो इन्द्रिय के आधार से-अवलम्बन से ज्ञान हो, वह ज्ञान नहीं (ऐसा कह

रहे हैं)। आहा..हा...! भगवान की वाणी सीधी कान द्वारा सुने और जो यह ज्ञान होता है वह भले शब्दों से न हो, होता है उसकी पर्याय में; उसकी ज्ञान की पर्याय की योग्यता से होता है; फिर भी वह ज्ञान खंडखंड ज्ञान है। प्रभु ! आत्मा तो अतीन्द्रियज्ञानमय है; वह इन्द्रियज्ञानमय नहीं है। (इस) इन्द्रियज्ञान से भगवानआत्मा भिन्न है। आहा..हा...! ऐसी बात है ! इसे यहाँ पर सम्यग्ज्ञान कहते हैं और उसमें प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहते (हैं)। ज्ञेय अधिकार (है) यह सम्यक् का अधिकार है न...!

यहाँ तो `जानना...जानना' इसकी बात है। आत्मा ऐसी चीज है कि वह स्वयं अतीन्द्रियज्ञान से जानने का कार्य करता है, अतः वह भगवानआत्मा स्वयं अंदर (अतीन्द्रियज्ञानमय है)।

आहा..हा...! उसे भगवान कैसे जचे ? यहाँ भगवानआत्मा कहा है न...! वहाँ किसी ने बात कही कि ये (सोनगढवाले) तो भगवानआत्मा ही कहते हैं, (परंतु) अरे ! इस काल में भगवान हो सकते हैं ? बापू ! तेरा `स्वभाव' भगवान ही है, भाई ! `स्वभाव' भगवान न हो तो पर्याय में भगवानपना कहाँ से आयेगा ? अतीन्द्रियज्ञान की - केवलज्ञान की पर्याय कहाँ से आयेगी ? वह अतीन्द्रियज्ञान का कार्य करे उससे अतीन्द्रियज्ञान की पर्याय, साधन बनकर होती (है)। उसे इन्द्रियज्ञान का साधन होवे और केवलज्ञान प्रगट हो ऐसा नहीं है। आहा..हा...! अभी तो (लोग मानते हैं कि:) शुभराग की क्रिया से मोक्षमार्ग होता है ! (किन्तु ऐसा नहीं है)। अरे प्रभु ! तू कहाँ उलझ गया भाई ? अपनी चीज की महत्ता व महिमा तुझे आयी नहीं, भाई ! यह राग (है) वह वास्तव में परद्रव्य-विभाव-विकार है, शुभराग हाँ ! दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रतादि ये तो आस्रव है। (तो इस) आस्रव से क्या केवलज्ञान होता है ? आस्रवनिरोध वह संवर है - यह `तत्त्वार्थसूत्र' में आता है कि नहीं? - "आस्रवनिरोधः संवरः।" `निरोध' कब होता है ? इस अतीन्द्रियज्ञान से जानने का काम करे तब निरोध होता है।

दुनिया के रसिकों को इस रस का जचना कठिन पड़े। एक जोगी था। बाद में (वह) व्यभिचार करने लगा। इतने में (उस) स्त्री ने उसको छोड़ दिया। इससे उसके मन में तीव्र द्वेष हो गया। बाजार में निकलता, पूरा कोट पहनकर, उसके ऊपर सेकडों जगह उस स्त्री का नाम लिखा, उसका अपमान करने के लिये।

कोई ऐसा कहे आप जोगी होकर यह क्या करते हो? यह कुछ शोभा दे रहा है? तब वह बोला कि `रस चढ़ा है वह अब उतरता नहीं।' इस प्रकार अनादि से इन्द्रियज्ञान का जिसे रस चढ़ा, उसे अतीन्द्रियज्ञान प्रगट नहीं होता। इन्द्रिय द्वारा ज्ञान, यह भी व्यभिचार है। कहते हैं, प्रभु ! तुझे क्या कहें ? जिस प्रकार राग व्यभिचार है उस प्रकार `इन्द्रियज्ञान' यह स्वरूपज्ञान नहीं है, यह व्यभिचार है। ऐसी बात है, बापू !

आहा..हा...! यह प्रभु (आत्मा) तो अतीन्द्रियज्ञान द्वारा जानने का काम करता है ! इन्द्रियों का लक्ष छोड़कर, भावेन्द्रिय का लक्ष छोड़कर यह अंदर अनइन्द्रिय से काम ले, उसे यहाँ जाननेवाला अलिंगग्रहण कहा जाता है। आहा..हा...! यह बात सुननी भी कठिन, बापू ! वस्तुस्थिति ऐसी है, `आत्मा' ऐसा शब्द लिया है न...! "इस प्रकार अतीन्द्रियज्ञानमय है।"

आहा..हा...! कितनी सुन्दर टीका !! और कितनी सुन्दर वस्तु !! संतों ने जगत के सामने आत्मा प्रसिद्ध किया। वह श्री अमृतचंद्राचार्य विरचित श्री `समयसार' टीका का नाम `आत्मख्याति' है। इस (`प्रवचनसार' की टीका) का नाम `तत्त्वप्रदीपिका' है। और श्री जयसेनाचार्य की टीका का नाम `तात्पर्यवृत्ति' है। `तत्त्वप्रदीपिका' = तत्त्व को दीपक बताया। यह तत्त्व है। भले ही कम (समझ में आये) परंतु वह यथार्थ होना चाहिये।

कहते हैं : "इस प्रकार आत्मा अतीन्द्रियज्ञानमय है।" यह तो अतीन्द्रियज्ञान से ही जानता है। आहा..हा...! यह (आत्मा) इन्द्रियों को छूता तक नहीं है। ये जड़ इन्द्रियाँ हैं उनको वह स्पर्श तक नहीं करता। ऐसा कह रहे हैं। यह तो मिट्टी-जड़ (है)। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का चुंबन तक नहीं करता। आहा..हा...! स्पर्श करके तो नहीं - किन्तु वह भले ही स्पर्श किये बिना ही निमित्त से ज्ञान करे तो (वह) ज्ञान नहीं है। उसका इन्द्रियज्ञान से ज्ञान और उसकी प्रतीति यह मिथ्याप्रतीति है। अतीन्द्रियज्ञान से जानने का काम करे, उस ज्ञान में प्रतीति करे उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। यहाँ तो अभी प्रारंभ में पहले (बोल) की बात है। यह (आत्मा) तो अतीन्द्रियज्ञानमय (है)। आहा..हा...! संतो की कहने की पद्धति और रीति क्या (गज़ब) !! आहा..हा...! थोड़े (शब्दों) में बड़ा समुद्र समाविष्ट कर दिया है। आहा..हा...! `तत्त्वार्थसूत्र' में ऐसा

कहते हैं : "तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमितम्" "श्रुतं मतिपूर्व" फिर दूसरे अध्याय में है : "श्रुतमनिन्द्रियस्य" एक बोल। अब दूसरा बोल :-

"ग्राह्य (ज्ञेय) जिसका लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार `आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं है' इस अर्थ की प्राप्ति होती है।" २

"ज्ञायक" - जानने योग्य ऐसा भगवानआत्मा; जिसका (अर्थात्) जानने योग्य आत्मा का, **"लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं होता।"** इन्द्रियों द्वारा जिसका जानना नहीं होता। `इन्द्रियों के द्वारा जानता नहीं' यह प्रथम (बोल) में आ गया। अब (कहते हैं :) जो इन्द्रियों द्वारा जानने में नहीं आता। पहले (बोल) में `जिसके' था। यहाँ पर `जिसका' इन्द्रियों के द्वारा जानना नहीं होता। अर्थात् आत्मा का इन्द्रियों द्वारा जानना नहीं होता। आहा..हा...! समझ में आया कुछ ?

दूसरी रीति से कहे कि : इन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान होता है उसके द्वारा जिसका (आत्मा का) ज्ञान नहीं होता। क्या कहा यह ? जानने योग्य (ज्ञेय) ऐसा भगवानआत्मा; उसे इन्द्रियज्ञान से वह स्वयं नहीं जान सकता। वह स्वयं को इन्द्रियज्ञान द्वारा जान नहीं सकता। उस (पहले बोल) में `ग्राहक' था यहाँ `ग्राह्य' (है)। `ग्राहक' माने जाननेवाला। `ग्राह्य' माने जानने में आने योग्य। सम्यग्ज्ञान में ज्ञेय (जानने में आने योग्य) ऐसा भगवानआत्मा; यह इन्द्रियों द्वारा जानने में आये ऐसा नहीं है। इन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान हुआ उससे भी यह (आत्मा) जानने में आने योग्य नहीं है।

आहा..हा...! **"ग्राह्य (ज्ञेय)"** ऐसा भगवानआत्मा; **`जिसका'** जानने योग्य ऐसे आत्मा का **"लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता"** इन्द्रियों द्वारा यह आत्मा जानने में आये ऐसा आत्मा नहीं है। आहा..हा...! दूसरी रीति से कहें तो इन्द्रियों से जो जानना हुआ है उसके द्वारा (आत्मा) जानने में आने योग्य नहीं है। जिसका (आत्मा का), इससे (इन्द्रियों के द्वारा) जानने में आये, ऐसा (स्वरूप) नहीं है।

आहा..हा...! दिगंबर संतों ने जंगल में रहकर काम किया है गजब !! कह रहे हैं : आत्मा ज्ञेय है (फिर भी वह) इन्द्रियों के द्वारा जानने में आने योग्य नहीं है। आहा..हा...! इन्द्रियों से जानने में आने योग्य यह आत्मा है ही नहीं। प्रथम

(बोल) में इन्द्रियों द्वारा जानने का काम नहीं करता, ऐसा है। अब यहाँ इन्द्रियों द्वारा जिसका ज्ञान नहीं होता। (अर्थात्) इन्द्रियों द्वारा यह जानने में आने योग्य नहीं है। दूसरी रीति से कहे कि : इन्द्रियों द्वारा जो जानना होता है उसके द्वारा (आत्मा) जानने में नहीं आता।

ऐसी बातें !! कुछ समझ में आया ? मार्ग ही ऐसा है, भाई ! भगवान अंदर (है)। यह जानने योग्य (ज्ञेय) है। इसको जाने बिना (बाकी) सारा (जानना) बेकार है। जो कुछ व्रत, तप, भक्ति, पूजा करे वह सारा संसार है, भटकने का (मार्ग) है। वह ग्यारह अंग और नौ पूर्व का ज्ञान भी इन्द्रियज्ञान है। वह ज्ञान अनंतबार हुआ है। कुछ समझ में आया ? ग्यारह अंग (में एक) आचारांग। (उसके) एक सूत्र के १८ हजार पद और एक पद के ५१ करोड़ से ज्यादा श्लोक। उससे दुगुने (दूसरे अंग में) और उससे दुगुने और उससे दुगुने इस प्रकार आखिर तक (११ अंग में पद और श्लोक)। उसका ज्ञान, वह भी इन्द्रिय से जानना (अर्थात्) इन्द्रियज्ञान था। इन्द्रियाँ जिसमें निमित्त थी, वह जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान से भगवान(आत्मा) जानने में नहीं आता। यदि इस ज्ञान से जानने में आने योग्य होवे तो अनंतबार ग्यारह अंग और नौ पूर्व हुए, उससे (आत्मा) जानने में आना चाहिये; (परंतु ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है।) ऐसी सूक्ष्म बात है, बापू ! ऐसा सुनने तक मिले नहीं और जिंदगी चली जाती है !

यहाँ कहते हैं : जानने में आने योग्य ऐसा भगवान, ज्ञेय होने योग्य, ज्ञान में ज्ञेय होने योग्य, ऐसा जिसका, लिंगों द्वारा अर्थात् इन्द्रियों द्वारा जानना नहीं होता। आहा..हा...! इन्द्रियों द्वारा शास्त्र सुने और उनका ज्ञान हुआ, उसके द्वारा भी आत्मा जानने में आने योग्य नहीं है।

आहा..हा...! क्या शैली है !! भाई ! जन्म-मरण का अंत लाने का (कारण) सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान, यह कोई अपूर्व बात है। पूर्व में कभी एक सेकंड भी किया नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि, जितना ज्ञान इन्द्रिय से होता है, उससे भगवान(आत्मा) जानने में आने योग्य नहीं है। उसका स्वभाव ही ऐसा है कि इन्द्रियज्ञान से जानने में आने योग्य यह आत्मा नहीं है।

यहाँ तो थोड़े बहुत शास्त्र का ज्ञान हुआ वहाँ उसे ऐसा अंदर से होता है (कि

हम भी कुछ हैं) ! दो स्थानों पर बहिन ने (बहिनश्री के वचनामृत बोल-३३३ और ४५ में) लिखा है न...! "सावधान रहना। 'मुझे बहुत आता है' ऐसी जानकारी के गर्व के मार्ग पर नहीं चढना। विभाव के मार्ग पर तो अनादि से चल ही रहा है। वहाँ से रोकने के लिये सिर पर गुरु होना चाहिये। एक अपनी लगाम व दूसरी गुरु की लगाम हो तो जीव पीछे मुड़े। जानकारी के मान से दूर रहना ठीक है। बाह्य प्रसिद्धि के प्रसंग से दूर भागने में लाभ है।" देखो भाषा देखो ! बाहर कुछ प्रसिद्धि में आना-लोग कुछ गिनें और दूसरों से कुछ अधिक प्रसिद्धि (हो), कुछ मुझे भी आता है न! ऐसे बाह्य प्रसिद्धि के प्रसंग से दूर भागने में लाभ है। 'मुझे आता है' (ऐसे मान में) वह मत जाना।"अज्ञानी को जरा-सा कुछ आ जाय, धारणा से याद रहे, वहाँ उसे अभिमान हो जाता है; क्योंकि वस्तु के अगाध स्वरूप का उसे खयाल ही नहीं है; इसलिये वह बुद्धि के उघाड (क्षयोपशमज्ञान) आदि में संतुष्ट होकर, रुक जाता है। ज्ञानी को पूर्णता का लक्ष होने से वह अंश में नहीं रुकता।" वह इन्द्रियज्ञान है न...! आहा..हा...! 'मुझे कुछ आता है' वह इसमें रुक गया, आहा..हा...! **बहिन की पुस्तक ! जगत के महान उपकार के लिये आया। लाखों शास्त्रों का रहस्य है। दिव्यध्वनि द्वारा जो आया है वह बहिन ने कहा है। अलग-अलग कहा गया था और (पुस्तक में) वह सब ठीक प्रकार से व्यवस्थित हो गया** !

यहाँ कहते हैं : वह इन्द्रियों से जो ज्ञान हुआ उस होशीयोरी के भाव से आत्मा जानने में आये ऐसा नहीं है। इन्द्रिय से शास्त्रज्ञान हुआ उस होशीयारी से आत्मा जानने में आये ऐसा नहीं है।

श्रोता :- स्वयं का आत्मा या दूसरे का आत्मा ?

उत्तर :- स्वयं का आत्मा। दूसरे का क्या ? दूसरे के आत्मा को जानना यह तो पहले (बोल में) आ गया। वह तो स्वयं इन्द्रिय से पर का जानना नहीं करता। पर को जानना भी अतीन्द्रियज्ञान से करता है। आहा..हा...! अभी तो बहुत बोल आयेंगे। यह तो प्रारंभ किया है न...! कहते हैं : जानने योग्य ऐसा (आत्मा) जिसका (जानना इन्द्रियों द्वारा होता नहीं है)। आहा..हा...! अभिमान उतर जाये ऐसे (बोल) हैं !

ये बड़े करोड़ों-अरबों श्लोक जिसे कंठस्थ हो, ग्यारह अंग के तो अरबों श्लोक जिसका स्वाध्याय बाढ़ के पानी की माफिक कर दुहराये, अरबों-खरबों श्लोक कंठस्थ

(हो), उसके द्वारा आत्मा जानने में आये ऐसा नहीं है। कहिये ! ऐसा कहीं भी सुना है ?

श्रोता :- आपके द्वारा सुनने को मिल रहा है।

उत्तर :- भगवान ! यह तो अंदर से भगवान के पास से आया हुआ है।

श्रोता :- (इसे सुनने से) संस्कार तो पड़ेगे न ?

उत्तर :- अतीन्द्रियज्ञान से अंदर डाले तो ये संस्कार पड़े। इसे संस्कार कहते हैं। ऐसी बात है।

आहा..हा...! यह देखो तो दिगंबर संत ! अमृतचंद्राचार्य रचित टीका और गाथा कुन्दकुन्दाचार्य की (है)। वे स्वयं कहते हैं कि : इसमें 'अलिंगग्राह्य' कहना है। 'अलिंगग्राह्य' अर्थात् लिंग द्वारा जानने में आये ऐसा आत्मा नहीं है, यों कहना है। फिर भी 'अलिंगग्रहण' शब्द का प्रयोग क्यों किया ? आहा..हा...! इस शब्द के अंदर भी देखो कहना (तो) है : 'अलिंगग्राह्य'- यह आत्मा लिंग द्वारा जानने में आने योग्य नहीं है। (लिंग) द्वारा जाननेवाला आत्मा नहीं है। वह (लिंग) द्वारा जानने का काम नहीं करता। इतना ही कहना है, यों कह रहे हैं। फिर भी 'अलिंगग्रहण' शब्दप्रयोग किया, क्यों 'ग्राह्य' का प्रयोग नहीं किया ? देखो तो सही ! 'अलिंगग्रहण' शब्द का प्रयोग करने में 'अलिंगग्रहण' के बहुत अर्थ उत्पन्न होते हैं। अतः 'अलिंगग्रहण' शब्द का प्रयोग किया है। एक ही अर्थ नहीं किन्तु ऐसे बीस अर्थ तो यहाँ कहे हैं। बाकी तो अपार बातें हैं। आहा..हा...! समझ में आया कुछ ?

(कहते हैं :) "...**जिसका लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता...**" आहा..हा...! मुनिराज जगत के सामने जाहिर कर रहे हैं; प्रभु ! तू जानने में आने योग्य (हो; परंतु) इन्द्रियों द्वारा जानने में आये ऐसा तू नहीं है। तेरा स्वरूप ऐसा नहीं है। इन्द्रियों द्वारा जाना हुआ जो ज्ञान, उसके द्वारा भी तू जानने में आने योग्य नहीं है। भाई ! तुझे दृष्टि बदलनी पड़ेगी, ऐसा कहते हैं।

आहा..हा...! कितना समाविष्ट कर दिया है !! अगाध बातें हैं ! ऐसी बातें दिगंबर संतों के सिवा (किसी ने करी नहीं है)। उन्होंने अंदर पेट की बातें खोली हैं। आहा..हा...! पढ़ा-लिखा और होशीयारीवाला (हो उसका) एकबार तो अंदर से अभिमान गल जाय ऐसा है।

इस बोल में ज्ञेय जिसका जानना नहीं होता। उस (पहले बोल) में `जिसके' जानना नहीं होता। इसमें इतना सारा फर्क पड़ गया। उस `ग्राहक' और `ग्रहण' में इतना अर्थ बदल दिया। एक अक्षर `ग्राह्य', कहना है यह; कहने में आ गया `अलिंगग्रहण'। अलिंगग्रहण में बहुत सारे अर्थ समाहित हैं। वहाँ ऐसा कहना है। और दूसरा अर्थ यह समाहित है उसमें। कुछ समझ में आया ?

`मोक्षमार्ग प्रकाशक' सातवें अध्याय में आता है न...! संस्कृत व व्याकरण जाना हो तो उसे शास्त्र के अर्थ ज्यादा समझ में आये। वहाँ `शास्त्र के अर्थ' ज्यादा समझ में आये, `आत्मा' समझ में आये ऐसा नहीं।

अरेरे ! उसे कहाँ फिकर है कि मेरा क्या होगा ? मैं कहाँ जाऊँगा और क्या होगा ? आहा..हा...! अकेला आया और अकेला जायेगा और अकेला वहाँ रहेगा। परंतु अकेला रहेगा कहाँ ? जो इन्द्रियज्ञान द्वारा आत्मा जाना जा सकता है, इस (विश्वास) में रहा होगा, वह चारों गतियों में भटकेगा। आहा..हा...! ज्यादा बोलना आये और जानकारी की बातें इसप्रकार ज्यादा करना आये तो समझता है कि मुझे ज्ञान ज्यादा है, और सुननेवाले को भी ऐसा लगे कि इसे ज्ञान ज्यादा है; (किन्तु) वे सब भ्रम में पड़े हुए हैं। कुछ समझ में आया ? ऐसी होशीयारी (के विषय में) बहिन (बहिनश्री चंपाबहिन ने) दो स्थान पर बात की है न...!

(यहाँ कहते हैं :) इन्द्रियों द्वारा जानना (नहीं होता)। "**...वह अलिंगग्रहण है;...**" अब इसका सारांश बता रहे हैं : "**...इसप्रकार `आत्मा...'-**" इस प्रकार आत्मा "-`**...इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं है' इस अर्थ की प्राप्ति होती है।**" आहा..हा...! इन्द्रिय से जो ज्ञान होता है ऐसा (इन्द्रिय)प्रत्यक्ष का विषय आत्मा नहीं है। इन्द्रियप्रत्यक्ष से जो ज्ञान हुआ उस ज्ञान का यह विषय नहीं है। आहा..हा...!

भाई ! (बात) थोड़ी (हो), किन्तु बात तो सत्य होनी चाहिये। भले ही बोलना भी न आये और कहना भी न आये, इसके कारण ज्ञान (जो कि) ज्ञान द्वारा जानने में आया यह कुछ गलत नहीं हो जाता। बोलना न आये, समझाना न आये इसलिये, अतीन्द्रियज्ञान से आत्मा जानने में आता है, यह (बात) झूठी (सिद्ध) नहीं हो जाती। कुछ समझ में आया ?

बेचारे साधारण आदमी को तो (ऐसा लगता है न कि) ये (कानजीस्वामी) तो

सिर्फ निश्चय की ही बात करते हैं ! (किन्तु भाई !) निश्चय माने सत्यार्थ। भगवान(आत्मा) का ऐसा सत्यस्वरूप है; अतीन्द्रियज्ञान द्वारा यह स्वयं जानने में आये ऐसा है; इन्द्रियज्ञान द्वारा जानने में आये, ऐसा यह आत्मा नहीं है; ऐसा इसका स्वभाव नहीं है, ऐसा कहते हैं। वह आता है न...! चिंता-विकल्प-भ्रम बिना के, निभृत महापुरुषों द्वारा यह (आत्मा) जानने में आये ऐसा है।

"इसप्रकार आत्मा" इस पद्धति से कहा उस रीति से आत्मा "इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं है।" इस इन्द्रियप्रत्यक्ष से जो ज्ञान हुआ (उसका विषय आत्मा नहीं है)। हमने भगवान को देखा, हमने समवसरण को देखा, मैंने इन्द्रिय द्वारा भगवान की वाणी प्रत्यक्ष (सुनी, परंतु) वह इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय ही नहीं है; इन्द्रिय से प्रत्यक्ष हो ऐसा जो ज्ञान, उसका वह विषय नहीं है।

आहा..हा...! दिगंबर संतों ने जगत को परमसुखी करने की बात की है। ऐसी बातें, बापू! कहीं पर (अन्यत्र) हैं ही नहीं। बाकी तो वे सब लौकिक बातें (हैं)।

आहा..हा...! "जिसका इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं होता।" "वह इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं है।" कल कहा था न...! भावेन्द्रिय, जड़ेन्द्रिय और (उसका विषय -) भगवान की वाणी और भगवान और स्त्री, परिवार और पूरा देश - ये सब इन्द्रियाँ, उनको जीतना अर्थात् उनका आश्रय छोड़कर और अनइन्द्रिय ऐसे भगवान(आत्मा) का आश्रय लेना, तब उसे सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन होता है। कुछ समझ में आया ? यह सम्यग्दर्शन का अधिकार है न...! यहाँ जानने की अपेक्षा से बात ली, किन्तु इस जानने में ज्ञान की पर्याय अतीन्द्रिय है, उससे जानने में आता है; इन्द्रियज्ञान से जानने में नहीं आता। ज्ञान से जानने में आया उसमें ऐसी प्रतीति करनी है कि यह तो अतीन्द्रियज्ञान से ही जानने में आया। ऐसी प्रतीति करने का नाम सम्यग्दर्शन है।

यहाँ (संप्रदाय में) तो सम्यग्दर्शन साधारण बात हो गई कि जाओ ! श्वेतांबर में आता है न...! `श्री अरिहंत महादेवो श्री साहु गुरुओ।' (किन्तु) ऐसा नहीं है, भाई ! यहाँ (`प्रवचनसार' गाथा-८० में) आता है न... "जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं " जिसने अरिहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को जाना; वे तो मन द्वारा और इन्द्रिय द्वारा जाने हैं। ऐसा आता है, होता है; परंतु इसके बाद फिर यों अंदर उतर जाय तब उसे

सम्यग्दर्शन होता है। वह मात्र निमित्त की बात है। निमित्त की व्याख्या है - अरिहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को जाने वह आत्मा को जाने। वह तो ऐसा आत्मा लिया है कि जो अरिहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय को इन्द्रिय द्वारा सुनकर जान लिये, फिर उसका भी लक्ष छोड़ दिया और आत्मा के सम्मुख (होकर) फिर आत्मा का आश्रय लिया।

श्रोता :- थोड़ी मदद तो करेंगे कि नहीं ?

उत्तर :- तनिक भी नहीं करते। निमित्तमात्र है। ये तो निमित्त का कथन हैं। आहा..हा...! बहुत सूक्ष्म बातें, भाई ! व्यवहार के पक्षवालों को कठिन लगे। यह तो सोगानीजी ने लिखा है न...! उसमें ('द्रव्यदृष्टिप्रकाश' में) ऐसा कि : अरिहंत को द्रव्य-गुण-पर्याय से जाने ऐसा कहना और फिर दूसरी जगह कहना कि निमित्त से नहीं जानते; तो यह क्या है ? कि : वह तो उस चीज (अरिहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय) को जाना, फिर उसका लक्ष छोड़कर आत्मा अंदर गया तब वह (अपने) आत्मा को जान सकता है। वैसे तो वहाँ भी पाठ तो ऐसा है कि : "जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं। सो जाणदि अप्पाणं...।।" वे अरिहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय कर्णेन्द्रिय से सुने और जाने फिर उन्हें छोड़ देता है। सोगानी ने लिखा है, भाई ! यह बात निमित्त का कथन है : पर द्रव्य के द्रव्य-गुण-पर्याय से आत्मा जानने में आता है। वह 'प्रवचनसार' की गाथा और यह भी 'प्रवचनसार'। बापू ! कौन-सी अपेक्षा है ? भाई ! यह समझना चाहिये। वहाँ (गाथा-८० में) वह विषय लिया है कि : मन द्वारा प्रथम अरिहंत के द्रव्य-गुण-पर्याय जाने फिर उसे छोड़ दिया है। छोड़ता है तब अंदर आत्मा का ज्ञान होता है। अर्थात् इन्द्रियों द्वारा, (आत्मा) "इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं है" ऐसे अर्थ की (अर्थात्) 'अलिंगग्रहण' शब्दमें से इस अर्थ की प्राप्ति होती है। दूसरा बोल हुआ।

विशेष कहेंगे...।



प्रवचन : दि. ९-१२-१९७७

१७२ गाथा (`प्रवचनसार')। आत्मा को अलिंगग्रहण कहा है। यह भगवान जो आत्मा है वह अलिंगग्रहण है। प्रथम बोल आया : "जिसके लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता..." ये पाँच इन्द्रियाँ जड़, भावइन्द्रिय (और) और उन इन्द्रियों के विषय द्वारा जानना नहीं होता। आहा..हा...! बात बहुत सूक्ष्म, बापू ! ऐसा सूक्ष्म मार्ग। यह बात आ चुकी है। दूसरा बोल : वह (आत्मा) इन्द्रियों के द्वारा जान नहीं सकता। "जिसके लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता..." जिसके इन्द्रियों द्वारा जानना नहीं होता। जिसका इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान नहीं होता। आहा..हा...! ऐसा आत्मा !! उसमें तो ऐसा भी कहा : ये पाँच इन्द्रियाँ हैं, उनके द्वारा सुनकर-पढ़कर जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान के द्वारा भी जिसे जाना नहीं जा सकता, ऐसा जो आत्मा वह अलिंगग्रहण है। वह बाह्य में इन्द्रियों द्वारा जानने में आये ऐसा नहीं है और इन्द्रियों द्वारा जाने ऐसा भी नहीं है। आहा..हा...! यह बात है !

यहाँ तो (लोग) ऐसा कहते हैं कि : व्रत, तप, दया, दान, भक्ति करो, पूजा करो, तो उससे आत्मा का ज्ञान होता है। ऐसा अज्ञानी कहते हैं । यहाँ पर भगवान तो कहते हैं कि : उनके द्वारा आत्मा जानने में आता ही नहीं। आहा..हा...! (तत्त्व समझने के लिये) बहुत प्रयत्न चाहिये।

सम्यग्दर्शन होने के लिये कहते हैं कि : इन्द्रियों के द्वारा हुए ज्ञान से यह आत्मा प्रतीति में आये ऐसा नहीं है। इसमें इतनी बात रात को कही थी कि : `नियमसार' में ऐसा कहा है कि - यह आत्मा जो वस्तु है आनंद और ज्ञान की मूर्ति प्रभु; इसकी प्रतीति (सम्यग्दर्शन), इसका ज्ञान और इसमें रमणता - ऐसा दर्शन, ज्ञान और

चारित्र; (यह) पर की अपेक्षा रहित है। आहा..हा...! यह (जो) इन्द्रियों के द्वारा जानने में आता (है) उसकी अपेक्षा रहित 'यह' वस्तु है। यही वहाँ कहा और यहाँ पर भी यही कहा। आत्मा अंदर शुद्ध चैतन्यघन प्रभु; उसका ज्ञान होने के लिये, व्यवहार का ज्ञान, इन्द्रिय द्वारा होनेवाले शास्त्र का ज्ञान, (उसकी कोई अपेक्षा नहीं है क्योंकि) उसके द्वारा यह (आत्मा) जानने में आये ऐसा नहीं है। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं ! यह तो अतीन्द्रियज्ञानमय वस्तु है। अतीन्द्रियज्ञान, वह ज्ञान की अतीन्द्रियपर्याय द्वारा ही जाना जा सके ऐसा है। और यह अतीन्द्रियज्ञान द्वारा ही जानने (का काम करने)वाला है। ऐसी वस्तु है! इसकी (अज्ञानी को) तो खबर तक नहीं है... क्या करें ?

'आत्मधर्म' में नारकी के दुःख का वर्णन जरा प्रकाशित किया है। जीव अनंतबार नरक में रहा है। भूल गया ! 'रत्नकरंडश्रावकाचार'में से लिया है। उसमें ऐसा कहा है : वहाँ (नरक में) सागरोपम तैंतीस सागर (तक) रहा। नारकी के जीव का एक क्षणमात्र का दुःख ! करोडों जीभ द्वारा करोड़ों भव तक भी वर्णन न हो सके। ऐसे दुःख ! उसने मिथ्यात्व की श्रद्धा से सहन किये हैं। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? वहाँ तो ऐसा लिखा है कि : नारकी के जीव इतने दुःखी! उनका दुःख (इतना) है कि उसकी दुःख में इतनी जोर की चीख होती है कि उस चीख को सुनकर सिंह, कि जिसकी गर्जना से हाथी भागते हैं, ऐसे सिंह और हाथी के कलेजे फट जाय! दुःख की चीख सुनकर हाथी और सिंह के कलेजे फट जाय... अरे प्रभु ! यह मिथ्यात्व क्या है ? भाई ! तुझे इसकी खबर नहीं है। और आत्मा सम्यग्दर्शन में किस प्रकार जाना जाय इसकी तुझे खबर नहीं है। मूल चीज की खबर नहीं है। वह तो व्रत करो और उपवास करो और भक्ति करो और पूजा करो और दान करो और मंदिर करो और... इनसे कल्याण होगा; (ऐसी मान्यता है) वह मिथ्यात्वभाव है, मिथ्याश्रद्धा है।

ऐसा यहाँ कहते हैं। इस प्रकार की राग की मंदता की क्रिया से आत्मा जाना जा सके ऐसा नहीं है। ऐसी राग की मंदता की क्रिया से आत्म का ज्ञान हो जाय ऐसा आत्मा नहीं है। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं, बापू ! क्या करें ?

अरे ! जगत सारा मारा गया। 'आत्मधर्म' में नरक का वर्णन थोड़ा कर दिया है। 'रत्नकरंडाश्रावकाचार' में ३२९ पृष्ठ पर है। उसके (नारकी के) शरीर की गंध

का एक कण यदि यहाँ लाये, नारकी के देह की गंध ऐसी है कि उसका कण यदि यहाँ लाये तो, उस गंध के कारण यहाँ ४००-५०० योजन तक के मनुष्य मर जाय। ऐसी तो नारकी के देह की गंध है। आहा..हा...! अरे...रे ! परमाधामी आदि नारकी उसके देह के टुकडे करे, वे उछल-उछलकर फिर इकट्ठे हो जाय। भाई ! ऐसे भव तूने अनंत किये हैं, प्रभु ! तुझे पता नहीं है।

श्रोता :- क्या ऐसा डराने के लिये कहा जाता है ?

उत्तर :- डराने को नहीं। आनंद के भान बिना तूने (ऐसे) दुःख सहन किये हैं इस कारण से कह रहे हैं। उस नारकी को दुःख (नरक के संयोग के कारण) नहीं है (किन्तु) स्वर्ग में भी दुःख है; (क्योंकि) अनुकूल सामग्री की ओर उसका लक्ष जाता है, वह राग है और (वह) दुःख है। आहा..हा...! भगवान(आत्मा) आनंद का नाथ प्रभु, अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप; उसको जाने बिना, माने बिना, पहचाने बिना आदर किये बिना, बाहर की सामग्री और बाहर की रमणीय दिखनेवाली चीजें, उनमें वह मोहित हो गया। कुछ समझ में आया ? शरीर सुंदर स्वरूपवान दिखे... यह तो मिट्टी-धूल है, प्रभु ! आहा..हा...! वे ५०-५० लाख के बड़े मकान हो, १०-१० लाख का फर्निचर हो, और हीरे के पलंग पर मलमल के कपड़े यों ओढ़कर लेटा हो... अरे प्रभु ! यह सब दुःख है; भाई ! तुझे पता नहीं है। उन परद्रव्य की ओर जितना लक्ष जाता है वह सब दुःख है। अतः स्वद्रव्य का ज्ञान कर, ऐसा यहाँ बताते हैं। कुछ समझ में आया ? ऐसी बातें हैं !

महाव्रत अनंतबार धारण किये। "मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रीवक ऊपजायो;" किन्तु इन महाव्रत के परिणाम भी आस्रव और दुःख हैं; भाई ! तुझे पता नहीं है। इनसे तो दुःख उत्पन्न होगा। आहा..हा...! ऐसी बातें कौन सुने ?

यहाँ तो कहते हैं कि : भगवानआत्मा का ज्ञान माने समकित; यह इन्द्रियज्ञान के द्वारा भी नहीं होता। शास्त्रों का बहुत अभ्यास किया हो, करोड़ों-अरबों श्लोक कंठस्थ किये हो, उस ज्ञान के द्वारा आत्मा जानने में आये ऐसा नहीं है। आहा..हा...! उसे बहुत ज्यादा लौटना पड़ेगा। बाहर के वेग में चढ़ गया है न...!

यहाँ पर तो कहते हैं कि : व्यवहाररूप शास्त्रज्ञान, व्यवहाररूप पंच महाव्रत के परिणाम और व्यवहाररूप देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग, उसके द्वारा आत्मा जानने

में आये ऐसा नहीं है। उसके द्वारा आत्मा को समकित नहीं होता। ऐसा कहते हैं। ऐसी बातें हैं... क्या करे ? जगत लूटता जा रहा है। उत्साहपूर्वक और हर्षपूर्वक लूटता जा रहा है !

आहा..हा...! दो बोल हुए : "आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं है।" इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष अर्थात् जो यहाँ ज्ञान होता है अंदर, उसका भी वह आत्मा विषय नहीं है। आहा..हा...! क्या कहा? (कि :) हजारों शास्त्र पढ़े, अभ्यास किया, अवधारण किया, सुना... परंतु वह तो इन्द्रियप्रत्यक्ष का ज्ञान है; उसके द्वारा भगवानआत्मा जानने में आ सके ऐसा नहीं है। अरे...रे ! संतों ने तो जगत को जगाया है, भाई ! तू अतीन्द्रियज्ञानमय है। उस अतीन्द्रियज्ञान के द्वारा तू जानने में आये ऐसा है। जो इन्द्रियज्ञान द्वारा जानना है उससे तू जानने में आये ऐसा है ही नहीं।

शास्त्र के कुछ बोल आ गये... पाँच-पचास हजार, लाख-दो लाख कंठस्थ किये तो उसे (अज्ञानी को) ऐसा हो जाता है कि, (जैसे) हमें ज्ञान हो गया ! यहाँ परमात्मा ऐसा कहते हैं, जिनेन्द्रदेव कहते हैं वही दिगंबर संत-मुनि कहते हैं : प्रभु ! तू इन्द्रियज्ञान से जानने में आये ऐसा तुम हो ही नहीं। क्योंकि वह तो इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय (है। और) भगवानआत्मा तो मतिश्रुतज्ञानप्रत्यक्ष का विषय है। अरे ! ऐसी बातें हैं। आज तो तीसरा बोल है। दो बोल हो चुके हैं। `आत्मा अलिंगग्रहण है', यह बात हुई है। कहना (यह) है : `लिंग द्वारा जानने में आये ऐसा आत्मा नहीं है।' कहना है यह। फिर भी कुन्दकुन्दाचार्य ने जो `अलिंगग्रहण' शब्द का प्रयोग किया, इसका मतलब यह है कि उसका एक अर्थ नहीं है। `अ लिं ग ग्र ह ण' के बीस अर्थ तो यहाँ कहेंगे। `अलिंगग्रहण' अर्थात् इन `छः' शब्दों के बीस अर्थ कहेंगे। अन्य बहुत सारे हैं। परंतु बीस तो उसके अर्थ निकलते हैं। आहा..हा...! एक `अलिंगग्रहण'... बस ! इतना-सा। इसमें (पहले और दूसरे में) आ चुका न...! `ग्राह्य' और `ग्राहक'... इतने शब्द में बड़ा भारी फर्क ! इन्द्रिय द्वारा जिसके ज्ञान नहीं होता, वह `ग्राहक'। और जिसका (ज्ञायक-ग्राहक का) इन्द्रिय द्वारा ज्ञान नहीं होता, वह `ग्राह्य'। `ग्राहक' अर्थात् ज्ञायक जाननेवाला है। और `ग्राह्य' में जानने में आने योग्य, स्वयं है। इतने शब्द में बड़ा फर्क है। (प्रथम बोल :) "ग्राहक (ज्ञायक) जिसके लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता..." (दूसरा बोल : "ग्राह्य (ज्ञेय) जिसका

लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता..." कुछ समझ में आया ? `ग्राहक' और `ग्राह्य' में इतना फर्क हुआ। अब तीसरा बोल :-

"**जैसे धुंएँ से अग्नि का ग्रहण (ज्ञान) होता है,...**" (अर्थात्) जहाँ धुआँ होगा वहाँ अग्नि होगी, ऐसा ज्ञान अनुमान से होता है : यहाँ धुआँ है अतः वहाँ अग्नि है, इस प्रकार धुएँ द्वारा अग्नि का ज्ञान होता है। ग्रहण माने ज्ञान। "**...उसीप्रकार लिंग द्वारा, अर्थात् इन्द्रियगम्य (इन्द्रियों से जानने योग्य चिह्न) द्वारा जिसका ग्रहण नहीं होता...**" कि यहाँ बहुत उपवास किये और शरीर जीर्ण हो गया। इसलिये इन्द्रिय जिसे जाने कि यह जिह्न है। इसके द्वारा आत्मा का ज्ञान नहीं होता ! आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

"जैसे धुंएँ से अग्नि का ग्रहण (ज्ञान) होता है, उसी प्रकार लिंग द्वारा, अर्थात् इन्द्रियगम्य (इन्द्रियों से जानने योग्य चिह्न) द्वारा" कि बहुत आता है और बहुत बोलता है, यह इन्द्रिय से कहता है; उसके द्वारा, यह (आत्मा) जानने लायक (जानने में आने योग्य) नहीं है।

कुछ समझ में आया ? ऐसा विषय है। आचार्यों ने तो कमाल का काम कर डाला है न...! (इसकी अपने प्रति की) दृष्टि, इसने (जीव ने) अनंतकाल में की ही नहीं है। बस...! बाहर ही बाहर में शास्त्र पढ़े और अभ्यास किया, महाव्रतपालन किया, भक्ति करी, लाखों-करोडों दान में खर्च किये - ये सभी क्रियाएँ तो बाहर की हैं; इनके द्वारा आत्मा का ज्ञान हो ऐसा आत्मा नहीं है। इनके द्वारा आत्मा जानने में आये ऐसा आत्मा नहीं है। इनके द्वारा आत्मा का सम्यग्दर्शन हो ऐसा आत्मा नहीं है !

आहा..हा...! "इन्द्रियों से जानने योग्य चिह्न" - अर्थात् यह शरीर कमजोर हो गया न...! पेट में ऐसा हो गया न...! जीभ से बोलना बहुत आता है ! - ऐसे इन्द्रिय के चिह्न द्वारा, यह (आत्मा) जानने में आने योग्य नहीं है ! (ज्ञात हो ऐसा नहीं है)।

कुछ समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, बापू ! अपूर्व बात है ! ऐसे शास्त्रों का अभ्यास भी अनंतबार किया, ग्यारह अंग का अभ्यास किया, नौ पूर्व की लब्धि हुई; ऐसे ज्ञान से भी यह आत्मा जानने में आ जाय ऐसा नहीं है; ऐसा कहते हैं। भगवान(आत्मा)

ज्ञान की मूर्ति प्रभु है अर्थात् ज्ञानस्वरूपी है, ज्ञान की पुंज प्रभु है, वह अतीन्द्रियज्ञान(मय) है; अतः (यह) अतीन्द्रियज्ञान द्वारा जानने में आ सके ऐसा है।

आहा..हा...! (लोगों को) ऐसी बातें कठिन पड़ती हैं। (सोनगढ) निश्चय... निश्चय... निश्चय किया करते हैं, व्यवहार को तो कुछ (महत्व नहीं देते हैं), ऐसा कहते हैं न...! (परंतु) बापू ! निश्चय तो यह है, सत्य तो यह है; जिसे व्यवहार की अपेक्षा नहीं है। निश्चयसम्यग्दर्शन होने में, भगवानआत्मा का अंदर अनुभव करके प्रतीति होने में जिसे व्यवहारज्ञान और व्यवहारश्रद्धा की भी अपेक्षा नहीं है; यह आत्मा कोई ऐसा ही (अपूर्व) है; ऐसा कहते हैं। व्यवहार होता है। आत्मा का ज्ञान अतीन्द्रिय से हो बाद में भी इन्द्रिय से सुनना होता है, इन्द्रिय से ज्ञान होता है, महाव्रत के परिणाम होते हैं, फिर भी वह राग है; उससे आत्मा की शुद्धि की वृद्धि होवे ऐसा तीन काल में नहीं होता। कुछ समझ में आया ? ऐसी बातें हैं !

"जैसे धुंएँ से अग्नि का ग्रहण (ज्ञान) होता है, उसी प्रकार लिंग द्वारा, अर्थात् इन्द्रियगम्य (इन्द्रियों से जानने योग्य चिह्न) द्वारा"- जैसे कि इसे बहुत आता है और, यह (अच्छा) बोल रहा है और, हजारों लोगों के बीच भाषण देता है; ऐसे इन्द्रियों के चिन्हों द्वारा, यह आत्मा, इसे जानने में आये ऐसी चीज नहीं है। आहा..हा...! जिसे इन्द्रियज्ञान जो सुनना-पढना हुआ; उस ज्ञान से यह आत्मा जानने में आ जाय ऐसा आत्मा नहीं है।

आहा..हा...! आत्मा में प्रभुत्व नामक एक गुण है। जिस प्रकार ज्ञानगुण है (उस प्रकार) अनंतगुण-शक्ति है। इसमें एक प्रभुत्व नाम का गुण है। ४७ शक्ति का वर्णन आ चुका है। ऐसा जो भगवानआत्मा, प्रभुत्वशक्तिवाला भगवान; यह अपनी जो प्रभुत्वशक्ति जो द्रव्य-गुण में है; वह शक्ति जब पर्याय में व्याप्त होती है तब उस प्रभुत्व का - आत्मा का अतीन्द्रियज्ञान के द्वारा अनुभव हो; ऐसी ईश्वरशक्ति के परिणमन द्वारा आत्मा का भान होता है। पामरता (अर्थात्) राग की जो मंदता, शुभउपयोग और क्रियाकांड, उससे भगवान जानने में आये और समकित हो (ऐसा नहीं है)। आत्मा भी ऐसा नहीं है। आहा..हा...! कठिन काम है।

"इन्द्रियों से जानने योग्य चिह्न द्वारा" जिसका ग्रहण-जानना होता नहीं है "वह अलिंगग्रहण है।" इन्द्रियों द्वारा तो जाने... बड़े भाषण करने आते हो वह जाने... बड़े

डोक्टर नाड़ी पकड़कर जाने... धूल भी नहीं है ये सब कुछ। इससे आत्मा नहीं जानने में आता। वह तो उसके (साधन) द्वारा धड़कन कितनी चलती है, इस तरह जड़ को जानते हैं। इसके द्वारा आत्मा अंदर कौन है, उन (डोक्टरी साधन) के द्वारा, यह (आत्मा) जानने में आये ऐसा नहीं है। जीव उसमें (शरीर में) है, उसमें से निकला नहीं है (ऐसा जानता है, परंतु) 'जीव कैसा है' यह कहाँ जाना है ? पल्स (नाड़ी) हाथ न आये तो कहता है कि भाई ! इसमें से जीव निकल गया मालूम पड़ता है; परंतु जीव किसे कहना ? वह उसे (डोक्टर को) कहाँ पता है ? वह तो यहाँ पल्स-नाड़ी हाथ नहीं आ रही है तो कहता है कि यहाँ से (जीव) निकल गया है; परंतु 'जीव क्या है' यह उसके द्वारा जानने में आये ऐसा नहीं है।

'करमसद' के एक पटेल थे। संवत १९६५-६६ की बात है। कच्ची मूँगफली खायी। खाना खाया। आकर बैठे। मैं आहार करके घूमने निकला। पूछा : 'कैसे हो पटेल ?' (बोले :) 'अंतिम तैयारी है। यह अंतकाल है।' मैंने कहा : 'कुछ भी तो है नहीं फिर क्या है ? खाना खाकर आये हो और यहाँ बैठे हो न ?' वे बोले : 'श्वास यहाँ नाभि से उठ गया है, नीचे बैठता नहीं है। यह अंतिम स्थिति लग रही है।' इन्जेक्शन दिया इसलिये श्वास बैठ गया। आहा..हा...! वह जड़ की दशा जड़ के कारण, जितना रहना हो उतना रहे। भगवानआत्मा भी जितना काल वहाँ रहने की योग्यता हो उतना रहे। यह आयुष्य के कारण नहीं (रहता) और शरीर में नहीं (रहता)। उसकी पर्याय की जितनी योग्यता उतने काल तक वहाँ रहे। परंतु उस पर्याय द्वारा आत्मा जानने में आये... जैसे कि : मनुष्यत्व मिला है, मनुष्यदेह से आत्मा का ज्ञान हो, यह बात झूठी है। मनुष्यत्व की गति (यानी) है, इस वजह से सम्यग्दर्शन हो, यह बात झूठी है।

वे संस्कृत के बड़े प्रोफेसर, वकील का ज्ञान, वह तो कुज्ञान है।

श्रोता :- शास्त्र के अर्थ कर सकते हैं न ?

उत्तर :- अर्थ करे तो भी वह सम्यग्ज्ञान नहीं है। वे (तो) इन्द्रियों द्वारा किये हुए अर्थ हैं। अंदर आत्मा आनंद का नाथ है। उसमें ज्ञान है। इस ज्ञान के द्वारा (उसने) जाना नहीं है। सूक्ष्म बातें हैं, बापू !

अमृतचंद्राचार्य महाराज टीका करते हैं ! एक 'अलिंगग्रहण' के बीस अर्थ करते

हैं। अक्षर `छः' और अर्थ बीस ! दिगंबर संत कहते हैं कि : इन्द्रिय के चिह्न द्वारा कि यह ऐसा... हो गया न इसलिये यह आत्मा है, इस प्रकार जानने में आये ऐसा नहीं है। आहा..हा...! दूसरी रीति से कहें कि : इन्द्रिय का जो ज्ञान है, वह इन्द्रिय के चिह्न द्वारा जानने में आये... यों इसको उघाड (बाह्य क्षयोपशम ज्ञान) है... परंतु इसके द्वारा आत्मा जानने में आये ऐसा नहीं है। आहा..हा...!

पहले नहीं जानने में आता... नहीं जानने में आता ऐसा आता है। बाद में किस प्रकार जानने में आ सकता है, यह आयेगा। पहले नास्ति से बीस बोल हैं। इनके बीस अर्थ हैं। इस पर तो कई बार (व्याख्यान) हो चुके हैं। छप चुके हैं। ये तो नये छपनेवाले हैं न...!

आहा..हा...! इन्द्रिय से ऐसा जानने में आता है न... ? अहोहो ! इसे बोलना बहुत आता है और धाराप्रवाह बात करता है। और शास्त्र की बातें ऐसी करता है और (सुनकर) लोगों को जाने क्या-क्या हो जाता है। (परंतु) उन इन्द्रिय के चिह्न द्वारा `आत्मा ऐसा है' यह नहीं जानने में आ सकता।

श्रोता :- शास्त्र सुनना या नहीं सुनना ?

उत्तर :- सुनने का विकल्प होता है। परंतु वह विकल्प और श्रवण द्वारा होनेवाले ज्ञान से आत्मा जानने में आये ऐसा नहीं है। ऐसी बातें हैं, बापू !

श्रोता :- उत्तर समझ में नहीं आया।

उत्तर :- कहा न...! सुनने में विकल्प-शुभराग है। और उस समय ज्ञान की जो पर्याय होती है (उसमें) वे शब्द निमित्त हैं। और ज्ञान होता है वह शब्दों का ज्ञान है; आत्मा का नहीं। यह `समयसार' बंध अधिकार में कहा है न...! कि - जो कुछ शास्त्रज्ञान है वह शब्द का ज्ञान है। शब्दश्रुत - सुना हुआ - पढ़ा हुआ जो कुछ ज्ञान - यह तो शब्द का ज्ञान है। क्योंकि जिस ज्ञान में शब्द का आश्रय है, जिसे जानने में शब्द का आश्रय है अतः उस ज्ञान को शब्दश्रुत कहा है; आत्मज्ञान नहीं। आहा..हा...! ऐसी बातें ! - इसे सुननेवाले कम ही होते हैं।

आहा..हा...! यह शास्त्र तो तीनलोक के नाथ जिनेन्द्रदेव परमात्मा की दिव्यध्वनि में आये कुछ शास्त्रोंमें से की हुई रचना है। "मुख ॐकार ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे" - `मुख ॐकार ध्वनि' भगवान के ऐसी (छद्मस्थ जैसी) वाणी नहीं होती। कंठ

चलता नहीं, जीभ चलती नहीं, अंदर से `ॐ'... ध्वनि उठती है ! यह `मुख ॐ कार ध्वनि सुनि' गणधर (माने) संतों के संघ के गणधर, चार ज्ञान के स्वामी (उन्हें) चौदह पूर्व की लब्धि; वे शास्त्र रचना करें; उसकी रचना करके आगम का उपदेश करे; भविकजन संशय दूर करे। लायक प्राणी संशय का निवारण करते हैं, मिथ्यात्व का निवारण करते हैं। `बनारसीविलास' नामक पुस्तक है। उसमें यह शब्द-स्तवन है। आहा..हा...! भगावन के जानने में जितना आया, उसका वाणी (दिव्यध्वनि) में अनंतवां भाग आया, उसे समझनेवाले (गणधर) को भी अनंतवें भाग में जानने (समझने) में आता है ! आहा..हा...! ऐसा जो यह भगवानआत्मा यह ज्ञान का समुंदर है। जिसमें ज्ञानसागर उछलता है। `जानना' जिसका स्वरूप (है)। जिसमें अपरिमित स्वभाव भरा हुआ है। ऐसा जो ज्ञानस्वभावी भगवान; यह इन्द्रिय के चिह्न द्वारा जानने में आये या उसके द्वारा आत्मा जानने में आये, ऐसा आत्मा नहीं है। अतः ऐसा कहते हैं कि : भाई, समवसरण में भगवान की वाणी सुनता है; तो इन्द्रिय के चिह्न से ऐसा जानने में आया कि, यह तो भगवान की वाणी सुन रहा है। जिस प्रकार धुंएँ द्वारा अग्नि जानने में आयी उसी प्रकार इसके द्वारा वह सुन रहा है (इससे जो ज्ञान होता है; परंतु) वह कोई (आत्म)ज्ञान नहीं है। ऐसे समवसरण में तो अनंतबार गया। महाविदेहक्षेत्र में अनंतबार जन्म लिया है। वहाँ भगवान तीर्थंकर तो हमेशा विराजमान रहते ही हैं। (अरे ! इसने) कण-कण में मनुष्य के अनंतभव किये हैं। समवसरण में भी अनंतबार गया और वाणी सुनी; किन्तु वह कोई (आत्म)ज्ञान नहीं है।

श्रोता :- ज्ञान का कारण तो होता है न...?

उत्तर :- बिलकुल कारण नहीं है। ऐसा यहाँ पर कहते हैं।

वह कहा न...! कुन्दकुन्दाचार्य जैसे (कि जो) "मंगलम् भगवान वीरो मंगलम् गौतमो गणीः मंगलम् कुन्दकुन्दार्यो जैनधमोऽस्तु मंगलम्।" तीसरे नंबर पर (आता है), कहते हैं कि : यह `नियमसार' मैंने अपनी भावना के लिये बनाया है। इस `नियमसार' की दूसरी गाथा में ऐसा कहते हैं कि : आत्मा को जो सम्यग्ज्ञान होता है या यह सम्यग्दर्शन होता है या सम्यक्चारित्र-निर्मल वीतरागीदशा होती है यह परमनिरपेक्ष है। पर की-व्यवहार की कोई अपेक्षा है ही नहीं। अतः (इस शास्त्र के लिये) `नियमसार' शब्द का प्रयोग किया है। `नियम' अर्थात् मोक्ष का मार्ग + `सार' अर्थात् जिसे भेद

व निमित्त की भी अपेक्षा नहीं है। (यानी कि :) "विपरीत के परिहार हेतु 'सार' पद की योजना की है।" - यह पाठ कुन्दकुन्दाचार्य का है। नियम माने मोक्ष का मार्ग। भगवानआत्मा अंतरचिदानंद प्रभु; यह स्व के आश्रय से दर्शन, ज्ञान व चारित्र करता है; - इसे 'सार' क्यों कहा कि : इसे व्यवहाररत्नत्रय के भेद की भी अपेक्षा नहीं है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? ऐसी बातें !!

ऐसा यहाँ कहा : इन्द्रियों के चिह्न से जो जानने में आये, उसके द्वारा, उसे आत्मा जानने में नहीं आता; और सुननेवाले को भी उसके द्वारा जानने में नहीं आता; (क्योंकि : "**वह अलिंगग्रहण है।**") कुछ समझ में आया ?

"**इसप्रकार 'आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का विषय नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।**" - 'अलिंगग्रहण'में से ऐसा अर्थ निकलता है। 'अलिंगग्रहण' का एक पहला अर्थ यह निकला कि : 'जिसका इन्द्रियों के द्वारा जानना नहीं होता।' दूसरा अर्थः 'जिसका इन्द्रियों के द्वारा जानना नहीं होता।' तीसरा : 'इन्द्रियप्रत्यक्ष के विषय से जानने में आये ऐसा यह (आत्मा) नहीं।' ऐसा तीसरा अर्थ 'अलिंगग्रहण'में से निकलता है।

यह गाथा कुन्दकुन्दाचार्य की है। और टीका अमृतचंद्राचार्य की है। दिगंबर संत जंगल में बसते थे। आनंदकंद में झूलते थे। उन्हें ऐसा विकल्प आया करता था। इस वजह से 'यह टीका' हो गयी है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

यह अर्थ हुआ न...! इन्द्रियज्ञान द्वारा जिसका ग्रहण होता नहीं है वह अलिंगग्रहण है। इस प्रकार आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक - किन्तु मैंने आँखों से देखा है न...? कानों से सुना है न...? (परंतु) इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का विषय भगवानआत्मा नहीं है। यह (मानना) कठिन पड़ता है। (परंतु) क्या करें ? व्यवहार की रुचिवाले को तो बहुत कठिन पड़ता है। (वे) ऐसा कहते हैं कि : क्या व्यवहार से नहीं होता ? निश्चय से ही होता है और व्यवहार से नहीं होता (इसमें तो) 'एकान्त' हो जाता है। यहाँ तो कहते हैं कि निश्चय से ही होता है और व्यवहार से नहीं होता इसका नाम 'अनेकान्त' है। तू जिसे अनेकान्त कहता है वह तो फूदडीवाद है, एकान्तवाद है। कुछ समझ में आया ?

अर..र..! अभी तो पकड़ना (ही कठिन कि यह) क्या शैली है ? किस पद्धति

से (यह) कहते हैं यह जानना उसे कठिन पड़ता है। अंतर में अनुभव करना यह तो महा-पुरुषार्थ है, भाई ! अनंतकाल में अनंतबार दिगंबर साधु हुआ पंचमहाव्रतों का पालन किया, ग्यारह अंग का ज्ञान किया; किन्तु उससे आत्मा जानने में नहीं आया। `छः ढाला' में तो ऐसा भी कहा न...! "मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रीवक उपजायो; पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।" वे पंचमहाव्रत के परिणाम, व्यवहार समिति-गुप्ति के भाव, यह सब दुःख है, आस्रव है, राग है, दुःख है। अरे ! यह बात उसमें आयी या नहीं ? "मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रीवक उपजायो।" नौवीं ग्रैवेयक, जैसा भाव तो इस समय में होता नहीं है। (ऐसी) शुक्ललेश्या ! शुक्लध्यान अलग है, हाँ ! शुक्ललेश्या; यह तो अभव्य को भी होती है। ऐसी शुक्ललेश्या, उज्जवल भाव, परंतु यह शुभभाव है, बंध का कारण है। ऐसा अनंतबार किया। "पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ।" ये पंच महाव्रत के परिणाम, व्यवहार समिति-गुप्ति के परिणाम, ये सब परिणाम दुःखरूप हैं। `आतमज्ञान' अंदर आत्मा का सीधा - पर की अपेक्षा बिना, अतीन्द्रियज्ञान द्वारा अंदर ज्ञान करे उसे आनंद होता है। `ज्ञान' इसे कहें कि जो आत्मा के अवलम्बन से होता है, और `ज्ञान' इसे कहें कि जिसके साथ में अतीन्द्रियआनंद का आस्वाद आये। - यह `ज्ञान' है ! भाई ! पंच महाव्रत और ग्यारह अंग पढा फिर भी, वह तो दुःख था। वह परावलम्बी ज्ञान तो दुःख था। और स्वावलम्बीज्ञान में परावलम्बीज्ञान की कोई अपेक्षा नहीं है। ऐसा भगवान(आत्मा) निरपेक्ष वस्तु ! और इसका दर्शन, ज्ञान और चारित्र भी पर की अपेक्षा बिना की चीज है ! कुछ समझ में आया ?

आत्मदर्शन-ज्ञान-अनुभव होने पर भी इस वस्तु में (निरवशेष) जम न सके तो इसे दया, दान, व्रत, भक्ति(रूप) शुभभाव आये, परंतु वह बंध का कारण है। (शुभभाव) आता तो जरूर है। पूर्ण वीतराग न हो तब तक वह भाव आता है, परंतु उस भाव से कल्याण हो, उस भाव से आत्मा की शुद्धि बढ़े ऐसा नहीं है। आहा..हा...! ऐसा (वस्तु) स्वरूप है !

भगवान(आत्मा) अतीन्द्रियज्ञान का पहाड़ है। उस पहाड़ पर नजर जाते ही जिस प्रकार पानी झरे उस प्रकार अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियआनंद झरता है; इसे ज्ञान और समकित और चारित्र कहते हैं। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? `कुछ समझ

में आया' का अर्थ : समझ में आये सो तो आये... किन्तु किस पद्धति से कहा जा रहा है इसकी गंध (भी) आ रही है ?

अरे...रे ! 'रत्नकरंडश्रावकाचार' में नरक के (दुःख की) व्याख्या आयी है न...! प्रभु ! एक बार सुन तो सही। नरक के शरीर हैं। ऐसे नरक के शरीर अनंतबार मिले। नरक के अनंतभव किये। इस भव से पूर्व में, भव...भव...भव...भव...भव...भव...भव... इस प्रकार अनंत भव। किसी भी दिन बिना भव का रहा नहीं। इन भवों में नरक के भव तूने अनंत किये हैं। नरक में जघन्य दस हजार (वर्ष) की स्थिति, ऐसे वे अनंतभव। दस हजार और एक समय की स्थितिवाले अनंतभव। दस हजार और दो समय की (स्थितिवाले) अनंतभव। इसप्रकार (एक-एक) समय बढ़ाते-बढ़ाते मिनिट और आगे चलते-चलते पल्योपम तक ले जाना। उस प्रत्येक समय के अनंत भव किये हैं, भाई ! ऐसा त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ वीतराग बताते हैं। भाई ! ऐसे एक सागर तक तो पहली नरक। फिर एक सागर से तीन सागर तक दूसरी नरक। एक सागर और एक समय के तो फिर अनंतभव। एक सागर और दो समय के अनंतभव। (इस प्रकार प्रत्येक नरक की प्रत्येक स्थिति के अनंत भव किये।) उसकी आदि कहाँ है ? भाई ! आदि कहाँ है ? काल की आदि कहाँ है? भाई ! तेरे काल की कोई आदि है क्या ? ऐसा अनादि...अनादि...अनादि...अनादि...अनादि...अनादि...अनंत...अनंत अनंत...अनंत...अनंत...अनंत (तू है)। (और) प्रभु ! तूने नरक के ऐसे अनंत भव किये हैं; भाई ! और पशु के भी अनंतभव किये हैं। मनुष्य के भी अनंत और स्वर्ग के भी अनंत। नौवीं ग्रौवेयक के भी अनंत किये हैं। आहा..हा...! इसमें ('आत्मधर्म' में) लिखा है। वह आज आया है, कि : नारकी के एक क्षण के दुःख को करोड़ों जीव, करोड़ों भव में, करोड़ों जीभ से नहीं कह सकते; प्रभु! ऐसा दुःख है। आहा..हा...! नरकभूमि की सामग्री और नारकियों का विकरालरूप जैसा है वैसा यदि किसी को एक क्षण भी स्वप्न में दिखा दे तो वह भय से प्राणरहित हो जायेगा। यहाँ तो दुःख है ही कहाँ ? अरबपति का पच्चीस वर्ष का राजकुमार और उसी दिन उसकी शादी होवे, करोड़ रुपये खर्च किये हो, उसे शाम की पहली रात में भोग भोगने से पहले टाटा की भट्ठी में जिंदा झोंक दे और जो पीड़ा होवे, उससे अनंतगुनी पीड़ा पहली नरक में दस हजार (वर्ष) की स्थिति में है। अरे प्रभु ! तू कहाँ रहा

इसकी तुझे खबर नहीं है। यह कहते हैं, देखो : यदि उस दुःख का स्वप्न में भी खयाल आ जाय तो वह भय से प्राणरहित हो जाय ! नारकीओं के देह का एक कण भी यदि यहाँ आये तो उसकी दुर्गंध से हजारों पंचेन्द्रिय जीव मृत्यु की शरण हो जाय ! प्रभु ! तूने ऐसे भव, मिथ्याश्रद्धा के कारण किये हैं। मिथ्यात्व में अशुभभाव तीव्र हुए तो नरक में गया। मिथ्यात्व में राग की कुछ मंदता - शुभ किया तो स्वर्ग में गया। सब गति दुःख(रूप) है। नारकियों के शब्द ऐसे भयंकर और कठोर हैं कि यदि यहाँ सुनाई दे तो हाथियों के और शेरों के कलेजे (डर से) फट जाय। शेर की गर्जना से हाथी का कलेजा फटता है। वे नारकी दुःख के कारण चीख मारकर रोते हैं... उनकी वह चीख सुनकर हाथी के कलेजे और शेर के कलेजे फट जाय ! बापू ! वहाँ अनंतबार गया। भाई ! तू भूल गया। आहा..हा...! जन्म लेने के बाद छः महीने-बारह महीने बाद (तुझे) क्या हुआ... मालूम है ? (- नहीं। तो) इसलिये (वह) था नहीं ? मालूम नहीं है इसलिये था नहीं... ऐसा कौन कहे, प्रभु ? आहा..हा...! जन्म के बाद छः महीने-बारह महीने तक माँ ने कब दूध पिलाया - कहाँ सुलाया खबर है ? - खबर नहीं है इसलिये नहीं था ? इस प्रकार अनंतभव किये, उसकी खबर नहीं है, इसलिये नहीं थे क्या ? इस प्रकार अनंत भव किये, उसकी खबर नहीं है इसलिये किये नहीं हैं क्या ? भाई ! ऐसा कौन कहे ? कुछ समझ में आया ? नरक में जो दुःखदायक सामग्री है उसका स्वभाव दिखाने या अनुभव करने के लिये, समस्त मध्यलोक में कोई वस्तु नहीं है। उसे उपमा - किसकी दें? - इतना दुःख है, बापू ! कहते हैं कि : मध्यलोक में कोई ऐसी दुःख की दशा नहीं है कि जिसकी उपमा देकर नरक के दुःख का वर्णन करें। बापू ! भूल गया तू, भाई ! ये सारे भव, इस विपरीतदृष्टि के कारण होते हैं। ईराक में बड़ा राजा है न...? उसे एक घंटे की डेढ़ करोड़ की कमाई है। उसने शादी की, पहली रात को एक करोड़ रूपये खर्च किये। वे सब नीचे - नरक में जायेंगे। और एक दूसरा बड़ा देश है; उसके तो एक दिन की अरबों की कमाई है। (परंतु इससे क्या ?) ऐसा तो अनंतबार हुआ, प्रभु ! आहा..हा...! नरक में जो दुःख है इसे कोई करोड़ों जीभ द्वारा, करोड़ों वर्षों तक कहे तो भी एक क्षणमात्र के दुःख को कहने के लिये समर्थ नहीं है। ऐसा कहकर (करुणापूर्वक

कहते हैं :) अब, भव के दुःख से दूर हो जा प्रभु !

आहा..हा...! बापू ! भवों की जानकारी से भी तुझे ज्ञान नहीं होता। ऐसे दुःखों को सुनकर ज्ञान हो वह ज्ञान नहीं है। यह तो परमात्मा भगवान ऐसा है। परमात्मा जिनेन्द्रदेव की वाणी में कथन आया कि : जो राग और इन्द्रियज्ञान बिना का, अंतर में पकड़नेवाला जो अतीन्द्रियज्ञान; उसके द्वारा (भगवानआत्मा) जानने में आता है; उसके द्वारा इसे समकित हो सकता है। यह रीति और पद्धति है, प्रभु !

लोग चाहे जो कहें ! कई बातें, सभी कानों से सुनी हैं न...! कहते हैं कि वह सोनगढ का सारा एकान्त है। कहिए भाई ! आहा..हा...! भाई ! यहाँ तो तुझे भव के त्रास से छुड़ाने की बातें हैं। स्वर्ग में जायेगा तो फिर वहाँ से मरकर तिर्यंच में - नरक में जायेगा। बापू ! भवभ्रमण सिर पर है, बापू !

यह तो अतीन्द्रियज्ञान की वर्तमान दशा, यह व्यवहार की - निमित्त की अपेक्षारहित का जो ज्ञान, निर्मल होकर अंतर में जाय (अर्थात्) आत्मामें से ज्ञान की दशा आये यह ज्ञान; इसे यहाँ सम्यग्ज्ञान और मोक्ष के मार्ग का ज्ञान कहा जाता है। आहा..हा...! इतनी शर्तें।

यह तीसरा बोल हुआ। (अब,) चौथा आयेगा।



द्रव्यानुयोगको छोड़कर शेष तीनों अनुयोगोमें जैनधर्मका मुख्य अनुयोग नहीं है। अतः प्रथम तो द्रव्यानुयोग कि जिसमें तत्त्वज्ञान प्ररूपणा है, उसका ही मुख्यरूपसे अभ्यास करना चाहिए। (परमागमसार - ९२२)



(`प्रवचनसार' गाथा-१७२ की टीका)। सूक्ष्म विषय है सुंदर ! तीन बोल तो चले न...! पहले में ऐसा कहा कि : प्रभु ! यह आत्मा है, वह ज्ञायक... ज्ञायक है, वह इन्द्रियों के द्वारा जाननेवाला नहीं है। ज्ञायक चैतन्य ज्ञायकस्वरूप है। जिसे इन्द्रियों द्वारा जानना नहीं होता। अतीन्द्रियज्ञान द्वारा जानना होता है। ऐसा यहाँ आया। (आज) चौथा बोल है न...!

क्या कहते हैं ? कि : "**दूसरों के द्वारा - मात्र लिंग द्वारा ही जिसका ग्रहण नहीं होता...**" `स्वयं के द्वारा (अर्थात्) अनुमान द्वारा (स्वयं) जानने लायक नहीं है' ऐसा उसमें नहीं कहा ? (जिसे) आत्मा प्रत्यक्ष (हुआ) हो (ऐसे) दूसरों के द्वारा भी अनुमान द्वारा जानने में आ सकता है, केवल अनुमान से नहीं। (आत्मा) प्रत्यक्ष हुआ हो (तब वह) दूसरे को भी अनुमान से जानता है। (परंतु) दूसरों के द्वारा केवल अनुमान से ही जानने में आये ऐसा आत्मा नहीं है। सूक्ष्म बातें हैं!

पहले तो ऐसा कहा कि : जो ज्ञायक है चैतन्यस्वरूपी भगवानआत्मा; यह इन्द्रिय द्वारा जाननेवाला भी नहीं है। यह तो अतीन्द्रियज्ञान से जाना जा सके ऐसा है। अतीन्द्रियज्ञान से जानन क्रिया करे ऐसा है। स्वयं को जान सकता है, यह बाद में। ऐसी बात है !

जिसे सम्यग्दर्शन होता है, वह आत्मा को अंदर प्रत्यक्ष (अनुभव करता है)। `ज्ञान की अपेक्षा से प्रत्यक्ष' एक अपेक्षा से कहा जाता है। - एक अपेक्षा से (यानी कि) आनंद की अपेक्षा से। (परंतु) अनुभवज्ञान की अपेक्षा से, आनंद की अपेक्षा से उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है। (मति-श्रुत) ज्ञान है वह तो परोक्ष है। फिर भी उस ज्ञान में

सम्यग्दर्शन होने पर जो आनंद - आत्मा को अतीन्द्रिय आनंद - का स्वाद आता है, वह कोई परोक्ष नहीं है। इस अपेक्षा से (आत्मा) ज्ञान से भी प्रत्यक्ष हो सकता है; वह आनंद की अपेक्षा से कहा जाता है। ऐसा टोडरमलजी ने 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' में समाविष्ट किया है, भाई ! वहाँ ऐसा कहा : अनुमान से जानने में आने योग्य है। तब शिष्य ने प्रश्न किया कि : अनुभव प्रत्यक्ष है, ऐसा कहा है न...? अनुभव यह आनंद की अपेक्षा से; अनुमान से नहीं। आनंद स्वयं अपने को वेदन करता है। आहा..हा...! अथवा जो आगम से -अनुमान से जाना वह अपने वर्तमान परिणाम को आत्मा में मग्न करता है। वहाँ ऐसा है। सूक्ष्म बात बहुत, बापू ! जो परिणाम पर की ओर झुका हुआ है; उस परिणाम को - सम्यग्दर्शन होने में - अंदर में - आत्मा में मग्न करता है। वस्तु की ओर मग्न करता है। यह जो परिणाम है यह निर्मल है। तब आत्मा जानने में आता है। ऐसी बात है !

अभी लोगों को कठिन लगता है। लोगों ने (सोनगढ का) बहिष्कार किया है न...? इससे विरोध का बड़ा लेख, एक बड़े विद्वान का है। बहुत लिखा है : तुम यह क्या कर रहे हो ? किस किस का (बहिष्कार) करोगे ? आपको (सच्चा त्यागी) माने और आहारपानी (दे) उसे ही (सच्चा) दिगंबर जैन कहोगे ? आहा..हा...! बापू ! मार्ग कोई अलग ही है। अभी चल रहा प्रवाह (कुछ और है)। हाल में तो ऐसा कि : व्रत करो और उपवास करो और तपस्या करो और; उससे आत्मा जानने में आता है। (परंतु) वह दृष्टि ही बिलकुल विपरीत है। श्रद्धा ही विपरीत है। बात सूक्ष्म लगती है... (परंतु) क्या करें ?

यहाँ पहले बोल में तो यह कहा कि : भगवान ज्ञायक-जाननेवाला है न...! यह जाननेवाला पर को लिंग-इन्द्रिय द्वारा जाने, ऐसा नहीं है; यह तो अतीन्द्रियज्ञानमय है; अतीन्द्रियज्ञान द्वारा पर को जानता है। स्व को जानना (उसमें) निहित है।

'स्वयं स्वयं को अनुमान द्वारा नहीं जानता' ऐसा चौथे बोल में नहीं आता। इस चौथे बोल में 'दूसरों के द्वारा मात्र लिंग द्वारा ही जिसका ग्रहण नहीं होता' ऐसा आया है। परंतु 'स्वयं को अनुमान द्वारा नहीं जान सकता' ऐसा उसमें नहीं आया। अर्थात् इस (आत्मा) का ज्ञान अनुमान से नहीं होता। जिसे दूसरों का ज्ञान इन्द्रियों द्वारा हो, ऐसा आत्मा नहीं है। अरे ! ऐसी बातें हैं।

यह ज्ञानस्वरूपी भगवान, यह ज्ञान की वर्तमान पर्याय में इन्द्रिय द्वारा पर को जाने ऐसा यह आत्मा नहीं है। यह तो अतीन्द्रियज्ञानमय होने के कारण दूसरों को भी अतीन्द्रियज्ञान से जानता है। `अतीन्द्रियज्ञान से जानता है' तो उसमें समाविष्ट है कि स्वयं भी अतीन्द्रियज्ञान से जानने में आता है। कुछ समझ में आया ?

दूसरे बोल में यह आया कि : "ग्राह्य (ज्ञेय) जिसका लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता।" उसका अर्थ यह उसमें आ गया है : `मात्र अनुमान से आत्मा जानने में आ सके ऐसा आत्मा नहीं है।' वह तो ज्ञान की वर्तमान पर्याय को अंदर लीन करे अर्थात् (आत्मा) प्रत्यक्ष हो तब यह जानने में आ सके ऐसा है। अरे ! ऐसी बातें हैं, बापू ! मार्ग `यह' है। सूक्ष्म बात है न बापू !

भगवान(आत्मा) ज्ञान का सागर, यह अतीन्द्रियज्ञानस्वरूप है। और अतीन्द्रियज्ञानस्वरूप होने के कारण, पर को इन्द्रिय द्वारा जाने ऐसा यह नहीं है। वह तो इसे अतीन्द्रियज्ञान द्वारा जानना होता है। उसे जानना होता है, जानने में आता है, वह दूसरे पक्ष में।

यह तो प्रश्न क्यों उठा था : चौथे में ऐसा आया है न कि : "दूसरों के द्वारा मात्र लिंग द्वारा ही जिसका ग्रहण नहीं होता" तो फिर `स्वयं भी लिंग द्वारा, अनुमान द्वारा ग्रहण होता (स्वयं को जानता) नहीं है' यह इसमें क्यों नहीं आया ? वह दूसरें में समाविष्ट है। दूसरी रीति से कोई न्याय होना चाहिये न...? फिर न्याय तो निकलना चाहिये न...? ये तो सूक्ष्म बातें बहुत, भाई !

आहा..हा...! दूसरें में ऐसा कहा कि : "ज्ञेय जिसका लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं होता।" (यह) उसमें निहित है। अर्थात् स्वयं इन्द्रियों द्वारा जानने में आने योग्य नहीं है। पहले में : इन्द्रियों के द्वारा पर को जाननेवाला नहीं है। अब, यह तो इन्द्रिय द्वारा स्वयं जानने में आने योग्य (ज्ञेय) नहीं है। यह जरा-से एक अक्षर के फर्क में इतना बड़ा फर्क है।

यहाँ तो मुझे चौथे बोल में ऐसा कहना था : दूसरों के द्वारा `केवल अनुमान से ही जानने में आने योग्य नहीं है' ऐसा शब्द है। - दूसरे लोग मात्र अनुमान से ही आत्मा को जाने ऐसा आत्मा नहीं है। दूसरे...हाँ ! परंतु स्वयं मात्र अनुमान से जाने... ऐसा फिर उसमें कहाँ आया ?

श्रोता :- प्रत्यक्ष हो उसे जानने में आये ?

उत्तर :- यह इसमें आ गया। यह दूसरे में कि : केवल इन्द्रियों द्वारा जानने में आने योग्य आत्मा नहीं है। इस प्रकार केवल अनुमान से भी जानने में आने योग्य आत्मा नहीं है।

वहाँ `रहस्यपूर्ण चिट्ठी' में ऐसा कहा है : ज्ञान है सो आत्मा। और आत्मा है सो ज्ञान। **जहाँ जहाँ ज्ञान वहाँ वहाँ आत्मा। और जहाँ जहाँ आत्मा वहाँ वहाँ ज्ञान।** इस प्रकार अनुमान करके पर्याय को स्वरूप में लीन करना ! अरे..रे! ऐसी बातें हैं, बापू ! सूक्ष्म बहुत, भाई !

आहा..हा...! `ज्ञेय जिसका लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा जानना नहीं होता... इस प्रकार आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं है।' (दूसरा बोल)। उसके प्रभेद में एक न्याय ऐसा आ जाता है कि : यह केवल अनुमान का विषय भी नहीं है। कुछ समझ में आया ? अब, अपना आज चौथा बोल है :-

"दूसरों के द्वारा..." दूसरे प्रत्यक्ष होकर अनुमान से जाने; परंतु जिसे प्रत्यक्ष हुआ ही नहीं है ऐसे **`दूसरों के द्वारा केवल अनुमान से ही ज्ञात होने योग्य नहीं है।'**

आहा..हा...! धीरे से सुनना। यह तो, बापू ! अंदर की बातें बहुत सूक्ष्म। मूल-प्रथम सम्यग्दर्शन का विषय ही सूक्ष्म। सम्यग्दर्शन निर्विकल्प। उसका विषय निर्विकल्प, पूर्ण, अभेद, अखंड। उसका विषय पर्याय भी नहीं, गुणभेद भी नहीं।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि : आत्मा मात्र अनुमान से जाना नहीं जा सकता... ऐसा इसमें कहाँ आया ? इसमें तो `दूसरों के द्वारा' ऐसा आया। चौथे बोल में है न...! वह भी `दूसरों के द्वारा मात्र लिंग द्वारा ही...' इस प्रकार, दूसरों के द्वारा मात्र अनुमान द्वारा (जिसका ग्रहण-जानना हो) ऐसा यह आत्मा नहीं है। यह देखो...! ऐसी बातें... अब कहाँ... फुरसत नहीं मिलती न ! आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

`दूसरों के द्वारा' ऐसा है न...! स्वयं के द्वारा स्वयं को अनुमान से ज्ञात होने योग्य नहीं, ऐसा इसमें नहीं आया। चौथे बोल में। अनुमान है कि, यह ज्ञान सो आत्मा। और यह आत्मा सो ज्ञान। - इसे अनुमान कहते हैं न...! परंतु वह अनुमान करके फिर परिणाम अंतर्लीन होवे तब वह ज्ञात होता है।

आहा..हा...! ऐसी सूक्ष्म बातें। प्रथम सम्यग्दर्शन की बात ही बहुत सूक्ष्म है, बापू ! उसी में ही आजकल पूरी आपत्ति उठी है न...!

यहाँ पर तो आत्मा वस्तु है, इसे जहाँ तक प्रत्यक्ष करके जाने नहीं तब तक वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। और वह सम्यग्दृष्टि नहीं है तो फिर चाहे जितने व्रत और तप और भक्ति और पूजा (के) भाव करे (तो भी) उसे धर्म नहीं है। ऐसी बात है !

यह तो प्रश्न दिमाग में उठा था कि : 'दूसरों के द्वारा मात्र लिंग द्वारा ही...' परंतु 'स्वयं के द्वारा मात्र लिंग द्वारा ही...' ज्ञात होने योग्य नहीं... ऐसा इसमें नहीं आया ? यह प्रश्न प्रथम अभी रखा था।

आहा..हा...! स्वयं भी केवल अनुमान - राग के द्वारा तो ज्ञात होने योग्य नहीं है; इन्द्रिय के द्वारा ज्ञात होने योग्य नहीं है; उसी प्रकार इन्द्रिय से यह सुनना इत्यादि उससे होनेवाला ज्ञान (अर्थात्) ज्ञान तो पर्याय में स्वयं से होता है परंतु सुनना इत्यादि जो ये निमित्त हैं (उनके लक्षपूर्वक) होनेवाला ज्ञान, भले ही वह स्वयं के द्वारा हुआ परंतु उस ज्ञान द्वारा भी (आत्मा) ज्ञात होने योग्य नहीं है। भाई ! यहाँ पर सब कठिन काम है।

श्रोता :- आसानी से मिल जाय ऐसा कोई रास्ता है ?

उत्तर :- सब से आसान रास्ता यही है। (मात्र) अनुमान से नहीं (परंतु) अनुमान होकर फिर परिणाम को अंदर लीन करे। ज्ञानी दूसरों को प्रत्यक्ष के बिना पहचानने में नहीं आते, ऐसा कहते हैं।

श्रोता :- स्वयं स्वयं को प्रत्यक्ष जानता है ?

उत्तर :- केवल अनुमान करके नहीं; केवल अनुमान द्वारा दूसरों को भी नहीं पहचानते; ऐसा कहते हैं। आहा..हा...!

पाँच साल का लड़का। घोड़े पर बैठकर पहाड़ पर जा रहा था। घोड़ा फिसल गया। नीचे बड़ी गहरी खाई। घोड़ा और लड़का खाई में खत्म हो गये। कोई वहाँ पहुँच नहीं सकता। वहाँ सूखकर दोनों मर गये होंगे। आहा..हा...! इस प्रकार इस (जीव) की मृत्यु अनंतबार हुई। इसने मिथ्यात्व को मिटाने का प्रयास किया नहीं। अन्य सारे प्रयास किये : व्रत के और तप के और भक्ति के और पूजा के - ये सारे भाव तो संसार है ! आहा..हा..हा...!

यहाँ पर कहते हैं कि : दूसरों के द्वारा केवल अनुमान द्वारा... हाँ ! जिन्हें आत्मा प्रत्यक्ष हुआ है, ऐसे दूसरों के द्वारा अनुमान से - आत्मा है, यह भव्य है, यह समकिती है ऐसे - जानने में आ सकता है। ऐसा 'धवल' में आया है। 'सर्वार्थसिद्धि' में (भी) ऐसा आया है कि : यह जीव काठीयावाडी है या दक्षिणी है, इस तरह पहले अवग्रह करे, फिर विचार करे, फिर निर्णय करे और फिर धारणा रखे। किन्तु 'धवल' में तो ऐसा आया है कि - यह जीव भव्य है या अभव्य ? - उसे मतिज्ञान द्वारा पकड़ने पर... उसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र है। यहाँ तो अपनी 'दूसरों के द्वारा' की बात है न...? तो वहाँ ('धवल' में) ऐसा कहते हैं कि : उसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र है ऐसा अन्य जान सकते हैं। और उसके द्वारा 'यह भव्य है' ऐसा निश्चित हो सकता है। आहा..हा...! क्या कहा ? कि : 'धवल' में ऐसा कहा कि : दूसरों के द्वारा यह जाना जा सकता है। परंतु किस तरह ? 'धवल' में ऐसा आया है कि : मतिज्ञान में दूसरों के विषय में विचार करने पर 'यह जीव भव्य है या अभव्य' - इसका निर्णय करने पर : ये जीव सम्यग्दृष्टि ज्ञानी हैं, ऐसा उसे मतिज्ञान में ज्ञात हो जाता है और इससे वह जीव भव्य है, ऐसा उसका निर्णय हो जाता है। इस प्रकार अनुमान से निर्णय करता है। परंतु प्रत्यक्ष हुआ है (जिसे) उसको। आहा..हा..हा...! सूक्ष्म बातें बहुत, बापू !

अरे ! लोगों को तत्त्व का कुछ अत्ता-पत्ता है नहीं और यूँ ही (माने कि हम) यह धर्म कर रहे हैं... धर्म कर रहे हैं ! (परंतु) धर्म कहाँ, बापू ! शुभभाव - दया, दान, व्रत, भक्ति - यह सारा राग है। परसम्मुख की - उसकी दिशा ही पर के ऊपर है।

यहाँ जहाँ चैतन्य भगवान अस्तिरूप से मौजूद चीज, पूर्णानंद प्रभु; वहाँ पर्याय को लीन करके, (अर्थात्) (जो) पर की ओर दिशा थी उसे - स्व की ओर - स्वदशावान में लीन करके, (अर्थात्) जो पर्याय पर की ओर दिशा के झुकाववाली थी वह तो गई (व्यय हुई), अब, उसकी जो पर्याय नयी (उत्पाद) हुई (और) अंतर में ढली, उसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है। - ऐसे सम्यग्दृष्टि-ज्ञान-चारित्रवंत, दूसरों के द्वारा मात्र अनुमान से ज्ञात नहीं होते। कुछ समझ में आया ? वह तो स्वयं स्वयं से आत्मा ज्ञानप्रत्यक्ष हुआ हो (अर्थात्) राग से भिन्न होकर ज्ञानस्वरूपी

भगवान का जहाँ वेदन, आनंद का वेदन हुआ है, उसे (जाननेवाले को), अपना आत्मा प्रत्यक्ष हुआ हो, वेदन में आया हो उसे - जानने में आया, वह प्रत्यक्षसहित, अनुमान से दूसरों को जान सकता है। सूक्ष्म (कथन) बहुत, बापू ! ऐसी बातें हैं !!

श्रोता :- स्वानुभव प्रत्यक्ष हो जाने के (बाद) ?

उत्तर :- हाँ, वह फिर अनुमान से पर को जानता है। पर का (ज्ञान) प्रत्यक्ष नहीं है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? सूक्ष्म विषय है, भाई ! थोड़ा आ गया अंदर। 'धवल' का आ गया दिमाग में। ऐसे तो 'सर्वार्थसिद्धि' में और 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' में अवग्रह, इहा, अवाय और धारणा (के विषय में आता है, वहाँ कहते हैं कि :) यह पुरुष दक्षिणी है या काठियावाडी ? फिर सोचे कि : नहीं... यह तो दक्षिणी है, यह विचार हुआ। फिर निर्णय। और फिर धारणा। वहाँ तक आया है। यहाँ तो यह लिया है कि : यह जीव भव्य है या अभव्य ? इस भव्य जीव को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिणमन है, उसको लेकर 'यह भव्य है' ऐसा निर्णय दूसरा (व्यक्ति) भी मतिज्ञान द्वारा कर सकता है। आहा..हा...! ऐसी बातें !!

(यहाँ) कहते हैं : दूसरों के द्वारा केवल अनुमान से - दूसरों के द्वारा केवल लिंग द्वारा ही - जिसका ग्रहण नहीं होता '**वह अलिंगग्रहण है।**' ऐसा है न...! यह आत्मा; इसे अलिंगग्रहण कहा जाता है।

"...**इसप्रकार 'आत्मा अनुमेय मात्र (केवल अनुमान से ही ज्ञात होने योग्य) नहीं है'**..." यह तो 'दूसरों के द्वारा' शब्द जोड़ दिया है न यहाँ। अर्थात् दूसरों के द्वारा केवल अनुमान से ही जानने में आने योग्य नहीं है। अन्यथा तो मात्र अनुमान से ही अपना आत्मा भी ज्ञात होने योग्य नहीं है, ऐसा (अर्थ) इसमें से नहीं निकलता; वह (अर्थ) दूसरें (बोल)में से निकल रहा है। कुछ समझ में आया ? ऐसी बातें सूक्ष्म ! यह तो भेदज्ञान की बातें हैं, बापू !

"दूसरों के द्वारा मात्र लिंग द्वारा ही जिसका ग्रहण अर्थात् जानना नहीं होता।" अर्थात् केवल अनुमान से ही (आत्मा) ज्ञात होने योग्य नहीं है। फिर भी जिसे आत्मा प्रत्यक्ष हुआ है, और दूसरे को प्रत्यक्ष हुआ आत्मा का ज्ञान, (यदि) दूसरों को भी (वह) प्रत्यक्ष (हो तो, वह उसको जान सकता है। हालाँकि) दूसरे को (जानना) कोई प्रत्यक्ष (तो) नहीं होता, दूसरे का (जानना) तो अनुमान से होता है; परंतु उसे

ज्ञान का भान प्रत्यक्ष हो चुका ही है, (अतः) वह, उसका निर्णय-अपने प्रत्यक्षसहित-अनुमान से करता है। आ..हा..हा...! ऐसी बातें !!

श्रोता :- वह अनुमान यथार्थ होता है ?

उत्तर :- यथार्थ होता है ! **निश्चयसहित का व्यवहार यथार्थ होता है,** ऐसा कहते हैं। सूक्ष्म है, भाई ! ये तो अभी ठंडी के दिन हैं आजकल, अभी ज्यादा लोग नहीं हैं इसलिये ऐसी सूक्ष्म बातें चल सकती हैं।

'दूसरों के द्वारा' इसी प्रकार 'स्वयं के द्वारा, मात्र लिंग द्वारा ही जानना नहीं होता' ऐसा यहाँ शब्द नहीं है। यह तो 'दूसरों के द्वारा', स्वयं के अतिरिक्त दूसरे आत्मा के द्वारा, यह आत्मा अर्थात् 'पर', मात्र अनुमान से ज्ञात हो जाय ऐसा (यह) आत्मा नहीं है। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं ! भाई ! ऐसा सूक्ष्म यह। इसका पार उतरने का उपाय बहुत सूक्ष्म है। वजन यहाँ है : 'दूसरों के द्वारा', और मात्र 'लिंग'। 'स्वयं के द्वारा' और 'मात्र लिंग' ऐसे शब्द नहीं हैं। कुछ समझ में आया ?

आहा..हा...! ये तो अध्यात्म-शब्द हैं, भाई ! प्रत्येक अक्षर की कीमत है ! यह कोई कथा-वार्ता नहीं है। यह तो भगवानस्वरूप के पाने की कथा है। और (जो) पा गया उसके भव का अंत आ गया। कुछ समझ में आया ?

रात में जरा दृष्टांत नहीं दिया था...! कि : जिस प्रकार मनुष्यभव अनंत किये तो, उससे असंख्यगुने अनंत(भव) नरक के किये, उससे असंख्यगुने अनंत(भव) स्वर्ग के किये और उससे अनंत-अनंतगुने निगोद के (भव) किये। अब पीछे से देखे तो अनंतकाल निगोद में बीता, उससे अनंतवें भाग स्वर्ग में गया, उससे असंख्यात भाग नरक में गया, और उससे असंख्यात भाग मनुष्य में गया। यहाँ सिद्ध तो यह करना था कि : अनंतकाल जो निगोद में गया उससे अनंतवाँ भाग का समय स्वर्ग में गया है; है वहाँ अनंत। किन्तु उस (निगोद का काल) अनंत है और उसके अनंतवें भाग का काल इस स्वर्ग का है। और उससे असंख्यवाँ भाग नरक का काल है। है अनंत! किन्तु स्वर्ग के अनंतभव के काल के मुकाबले (नरक का काल) असंख्यवें भाग में अनंत है; अनंतवें भाग नहीं। एक तो यहाँ यह सिद्ध करना था कि : नरक के 'एकक्षण' के दुःख... करोड़ों जीभ से कहे न जा सके... बापू ! वह दुःख कैसा होगा ? अरे ! उसे आत्मा तो जानने में नहीं आया परंतु उस (नरक में) दुःख कितना

भोगा... यह भी जानने में नहीं आया ! आहा..हा...! जिसके एक क्षण के दुःख का वर्णन करोड़ों जीभ से, करोड़ों भव तक (कहने पर) कहा न जा सके... अरेरे ! ऐसे क्षण... अनंत-अनंत क्षण वहाँ रहा ! वैसे तो सभी भव में अनंतकाल, परंतु एक भव में असंख्य समय है। एक भव में तो असंख्य क्षण है। नरक के एक भव में अनंत क्षण नहीं है। सागरोपम है न...! किन्तु स्वर्ग के मुकाबले असंख्यवाँ भाग। इस तरह सामान्य जो अनंत है, उसमें वह अनंत क्षण (नरक में) रहा है। कुछ समझ में आया ?

अरे...रे ! सुबह आया था न 'भावपाहुड' में : मनुष्यरूप से तूने जन्म लिया और जब मर गया... प्रभु ! तेरे दुःख को देखकर, तेरी माँ इतना रोई है जिसके आँसूओं से समुद्र भर जाय... ऐसी अनंत माताएँ (तूने) की (हैं)। और उन माताओं के अश्रु... तू मर गया और (माता ने) आँसू बहाये - वह दुःख तो नरक के मुकाबले अनंतवें भाग का (है)। नरक में दुःख तो अनंतगुना...भाई!

अरे ! मेरा भूतकाल कौन से दुःख में... कितना गया, उसका भी अता-पता नहीं है... उसने कभी (विचार भी नहीं किया)। और यहाँ पाँच-पच्चीस वर्ष जहाँ दो-पाँच-दस करोड़-धूल मिले, कुछ सुविधा (मिले), पत्नी-बच्चें कुछ (अनुकूल) हो जाय उतने में... (बस) जाने क्या हो गया (प्याला फट जाता है !)

एक बार चौरासी की साल में राणपुर चातुर्मास था। उपाश्रय के पास एक हरिजन मूँज की रस्सी से खटिया बुन रहा था। जब साड़े ग्यारह-बारह बजे थे तब उसकी पत्नी व लड़का छाछ और बाजरे की रोटी लेकर आये थे... (साथ में) बैठकर खाते थे... तो मानो बड़े मजे से मस्ती से बैठा हुआ दिखता था ! अरे...रे ! क्या कर रहा है यह तू... यह कर क्या रहा है तू? इस राग के वेदन को-दुःख के वेदन को वेदता है उसमें हर्षित होता है ! आहा..हा...! उसके दुःख के मुकाबले भी नरक के एक क्षण के दुःख, प्रभु ! अनंतगुने हैं।

पच्चीस वर्ष का चक्रवर्ती का पुत्र हो। जिसके घर एक क्षण की-एक मिनिट की अरबों की पैदाइश हो। जिसकी शादी में अरबों रुपयें खर्च किये हो। और उसकी प्रथम रात्रि (सुहागरात) हो, उस रात के पहले उसे टाटा की भट्ठी में जिंदा डाल दिया जाय... उसके हर्ष के समय में यह (घटना) हो जाय... (तो) उसे जो (दुःख

का) वेदन है उससे अनंतगुना वेदन तो पहली नरक में (दस हजार वर्ष की स्थिति में) है। - वह विकार का दुःख है। ये विकार के दुःख... तुझे मिटाने हो तो निर्विकारी भगवान का अनुभव कर !

केवल नरक की प्रतिकूलता-दुःख की बात नहीं है; (परंतु) चारों गति में दुःख है. `पंचास्तिकाय' तो ऐसा कहता है : चारों गति दुःख हैं। पुण्य फलस्वरूप स्वर्ग में गया (फिर भी) वह दुःखी है। वहाँ विषय-वासना के कारण दुःख का वेदन करता है। इसलिये पुण्य व पाप में (यदि) तू फर्क माने कि पुण्य ठीक है और पाप अठीक है (तो) बापू ! तुझे इस घोर संसार में भटकना है। बहुत कठीन बातें ! कुछ समझ में आया ?

इतने में (किसी को) दो हजार की तनख्वाह हो और उसमें फिर अचानक महीने की पाँच हजार की तनख्वाह हो जाय... ओहो...हो ! आहा ! जीव को मार डाला।

यहाँ पर तो प्रभु ऐसा कहते हैं : प्रभु ! तुझे अन्य (लोग) अनुमान द्वारा पहचाने (ऐसा तू नहीं है)। अनुमान द्वारा अन्य तुझे पहचान सकते (ही) नहीं।

श्रोता :- डोक्टर को नाड़ी पकड़कर पता लग जाता है न ?

उत्तर :- डोक्टर को भान कहाँ है ? (वे) सब स्वयं मर जाते हैं। क्षण में चले जाते हैं। डोक्टर किसे कहें ? - तीनलोक के नाथ तीर्थंकर परम वैद्य हैं। आता है न... `प्रश्नव्याकरण' में : तीनलोक के नाथ तीर्थंकर परम वैद्य हैं। उन्होंने नाड़ी पकड़कर कहा है, बापू ! तेरा आत्मा इस तरह मिथ्यात्व के कारण दुःखी है। और समकित होनेपर सुखी होगा। इस प्रकार नाड़ी पकड़कर बात कही है। शब्द है न...! विषय की वासना का - राग का - विकार का विरेचन करानेवाली भगवान की वाणी है। इसमें वीतरागीभाव भरे हैं। कुछ समझ में आया ?

(यहाँ कहते हैं :) मात्र लिंग द्वारा ही जिसका ग्रहण नहीं होता वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार आत्मा अनुमेय मात्र केवल अनुमान से ही ज्ञात होने योग्य नहीं है **"ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।"** ऐसा एक अर्थ `अलिंगग्रहण'में से निकलता है। कहते हैं : लिंग द्वारा, मात्र अनुमान द्वारा दूसरे के आत्मा को जान सके ऐसा आत्मा नहीं है। यह चौथा बोल हुआ। पाँचवाँ :-

"जिसके लिंग से ही पर का ग्रहण नहीं होता वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार

`आत्मा अनुमातामात्र (केवल अनुमान करनेवाला ही) नहीं है'..." दूसरों को मात्र अनुमान द्वारा जाने ऐसा यह नहीं है। पहले (चौथे) में तो (कहा) दूसरों के द्वारा अनुमान से ज्ञात होने योग्य नहीं है। अब स्वयं भी दूसरों को - पर को मात्र अनुमान द्वारा जाने ऐसा आत्मा नहीं है। कुछ समझ में आया?

यह तो भगवानआत्मा की बात (जो) त्रिलोकनाथ कहते हैं वह संतजन कहते हैं, घोषणा करते हैं, भाई ! आत्मा को लिंग से ही अर्थात् अनुमान से ही - `जिसके लिंग से ही', पर का ग्रहण नहीं होता। `पर का ग्रहण'... हाँ ! उस (चौथे) में `दूसरों के द्वारा दूसरे का ग्रहण।' अब `इस आत्मा को पर का ग्रहण।' अलौकिक बातें हैं !! है न...! "जिसके लिंग से ही पर का जानना नहीं होता"। ग्रहण अर्थात् जानना। `मोक्षमार्ग प्रकाशक' में आता है न...! निश्चयव्यवहाराभास के प्रकरण में। वहाँ व्यवहारनय ग्रहण करने योग्य है, ऐसा आता है न...! वहाँ ग्रहण माने जानना, ऐसा अर्थ लिया है। ग्रहण का अर्थ जानना। (यहाँ है :) किसी को पकड़ना ऐसा नहीं है। "जिसके लिंग से ही पर का ग्रहण नहीं होता वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार `आत्मा अनुमातामात्र नहीं है'..."

आहा..हा...! अलिंगग्रहण की क्या व्याख्या ! `अनुमातामात्र' अर्थात् मात्र अनुमान करनेवाला ही नहीं है। पर को जानने में आत्मा मात्र अनुमान करनेवाला ही नहीं है। चौथे में - दूसरों के द्वारा मात्र अनुमान से ही ज्ञात होने योग्य नहीं है। अब (यहाँ) स्वयं आत्मा दूसरों को, केवल अनुमान से, जानने योग्य नहीं है। पर को मात्र अनुमान से जाने यह आत्मा नहीं ! आहा..हा...! ऐसी बात सुनना तक मुश्किल पड़े।

इसके (नरक के) दुःख का वर्णन, उस दुःख को मिटाने के लिये है। दुःखों का ऐसा वर्णन किया वह दुःख से डरने के लिये नहीं है, (परंतु) वह दुःख ऐसा था उसे, बापू ! मिटाने के लिये तू तैयार है ? **उसे मिटाने की शक्तिवाला (तू है, ऐसी) तेरी शक्ति (है)।** इसका प्रयोजन यह है। इतने-इतने दुःख सहन किये (परंतु) भाई ! तू भूल गया। (अब) इस दुःख को सुनकर, **हे, आत्मा! स्व का आश्रय कर।** - ऐसा प्रयोजन है। **स्व के आश्रय बिना, अनुभूति नहीं होगी। और अनुभूति के बिना, धर्म प्रगट नहीं होगा।** आहा..हा...! ऐसा है ! साधारण व्यवहार के रसिकजनों

को तो पागलों जैसा (कथन) लगे।

यहाँ कहते हैं : भगवानआत्मा मात्र अनुमान से जाननेवाला नहीं है। आहा..हा...! अनुमान है वह तो व्यवहार है, और प्रत्यक्ष है यह निश्चय है। अर्थात् प्रत्यक्ष हुआ हो जिसको यह निश्चयवान पर को अनुमान से जाने वह व्यवहार हुआ। (अर्थात्) पर को जानना वह व्यवहार है। - यह क्या कहा ? पर को जानने की बात वह व्यवहार है। वास्तव में तो पर को जानना यह स्वयं को जानना है। किन्तु यहाँ कहते हैं कि : पर को जानने के लिये आत्मा अनुमातामात्र नहीं है। (अर्थात्) मात्र अनुमान करनेवाला ही नहीं है। इस `अलिंगग्रहण' में "**...ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।**" आहा..हा...! क्या बल !!

स्व का आश्रय लेकर जिसे ज्ञान हुआ यह ज्ञानीजीव निश्चयसहित के अनुमान से पर को जानने का कार्य करता है। आहा..हा...! बहुत समाविष्ट कर दिया है !! एक `अलिंगग्रहण'में से ऐसे बीस अर्थ निकाले !! (**यह तो**) **दिगंबर संतों की बलिहारी है !! जैसा** (**आत्मा है**) **वैसा जाना और वैसा ही खोलकर रखा।**

कहते हैं कि : दूसरों के द्वारा तू केवल अनुमान से ज्ञात होने योग्य नहीं है। और तू भी पर को मात्र अनुमान से जाननेवाला नहीं है ! जाहिर में ये सब (बातें) सूक्ष्म पड़ती हैं। आहा..हा...! अन्य-आत्मा के जाननेवाले भी (जिनको कि आत्मा) प्रत्यक्ष है उसके द्वारा (वे) अनुमान से पर को जाने (चौथा बोल)। अब (पाँचवाँ) स्वयं के लिये आया : स्वयं भी केवल अनुमान से पर को जाने ऐसा नहीं। आहा..हा...! जिसे स्वाश्रयज्ञान प्रत्यक्ष हुआ है वह दूसरों को अनुमान से व्यवहार से जानता है। स्वयं त्रिकाली द्रव्य को जाने यह निश्चय है और स्वयं की निर्मलपर्याय को जाने, केवलज्ञान को जाने (वह व्यवहार है)। केवलज्ञानी को कोई शुद्धनय नहीं है किन्तु नीचे की स्थितिवाला श्रुतज्ञानी केवलज्ञानी को जाने यह भी व्यवहार है। किन्तु वह केवलज्ञानी को जाने कब ? कि : प्रत्यक्ष आत्मा हुआ हो वह अनुमान से `ये केवली हैं' ऐसा जाने, आहा..हा...! इसका व्यवहार भी सच्चा होता है और निश्चय भी सच्चा होता है, ऐसा कहते हैं। कुछ समझ में आया?

अरे...रे ! देखो न... कहाँ दरकार है (अपने हित की) ? ! कहाँ मरकर कहाँ का कहाँ चला जायेगा। **कुछ बाहर के-बड़प्पन के आडंबर किये होंगे... भाई ! मर**

जायेगा। एक गृहस्थ मनुष्य, पैसेवाला सेठ, जरा बुद्धि का ऐसा, (यों) कहता था कि ऐसा लगता है कि : अरेरे ! यहाँ से कहीं छोटे घर में - झोंपड़ी आदि में जन्म लूँगा। बात तो सही... यहाँ से जाकर कहाँ जानेवाला था यह तो समझने लायक है। कठिन बातें हैं...हाँ !

आहा..हा...! यहाँ पाँच बोल नास्ति के आये न...! पहले में ऐसा कहा : लिंग द्वारा जिसे जानना नहीं होता। जाननेवाला अतीन्द्रियज्ञान द्वारा जानता है। दूसरें में : जिसका लिंग द्वारा ग्रहण नहीं होता। (फिर) वे सारे अनुमान के वे नास्ति के बोल आये : इससे होता नहीं है, इससे होता नहीं है, इससे होता नहीं है। समझ में आया ? तीसरे में यह आया : इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं है। यह भी नास्ति से आया। चौथे में : दूसरों के द्वारा मात्र लिंग द्वारा ही जिसका ग्रहण नहीं होता। यह भी अभी नास्ति से आया। (पाँचवें में :) जिसे लिंग से ही पर का ग्रहण नहीं होता वह अलिंगग्रहण है; इस प्रकार आत्मा अनुमातामात्र (केवल अनुमान करनेवाला ही) नहीं है। आहा..हा...! मात्र अनुमान करनेवाला नहीं है; इसका स्वरूप जिसे प्रत्यक्ष होता है वह अनुमान करने लायक है। कुछ समझ में आया ? जिसे स्व का आश्रय हुआ है इसे प्रत्यक्ष हुआ है। वह फिर दूसरे को अनुमान द्वारा जान सकता है। यह (ऐसी बात) वहाँ (अन्यत्र) सुनने को भी मिले ऐसा नहीं है।

आहा..हा...! बच्चें और पत्नी और दुकान (को) सम्हालने (के भाव में स्वयं को) मार डाला।

श्रोता :- अब क्या करें ?

उत्तर :- यह करना। अंदर - गहराई में जाना। बाहर की प्रवृत्ति छोड़कर (उपयोग की) निवृत्ति (करना)।

श्रोता :- दुकान का क्या करें ?

उत्तर :- दुकान तो दुकान की रह गई। (वह) अंदर (आत्मा में) कहाँ घुस गई है ? यहाँ तो राग राग में रहा। इसमें आत्मा को क्या ? दुकान तो कहाँ की कहाँ रह गई। राग राग में रहा। वह आत्मा में नहीं है। (इसे) आत्मा को जानने के लिये राग की अपेक्षा नहीं है। दूसरी भाषा में कहें तो व्यवहाररत्नत्रय का जो राग है उसकी कोई अपेक्षा, आत्मा को जानने के लिये है ही नहीं। ऐसा भगवानआत्मा,

निरपेक्ष-पर की अपेक्षा बिना, स्व का अनुभव-दृष्टि-ज्ञान-चारित्र करे ऐसा यह आत्मा है। आहा..हा...! इसके सिवा अन्य प्रकार से माने तो 'यह आत्मा है' (जैसा) वैसा उसने माना ही नहीं है। पाँच (बोल) नास्ति के हुए।

विशेष कहेंगे...



जैसे संसारका अभाव होकर जो सिद्ध-दशा होती है सो नहीं बदलती, वैसे ही असत्य छूटकर जो सत्य-ग्रहण हुआ, वह सत्य नहीं छूटता। असत्य हो वह छूट जाता है। एक बार सम्यक्त्व हुआ तो वह सत्य ही रहता है। (सम्यक्त्वसे च्युत होनेवालेको अपवादमें गिना है) अतः यह बात यथार्थरूपसे समझने योग्य है, वह बदलने वाली नहीं है। सत्य तो सत्यरूप ही रहता है, प्रथम ऐसा विश्वास होना चाहिए ।

(परमागमसार - ८९९)

प्रवचन : दि. ११-१२-१९७७

`प्रवचनसार' १७२ गाथा। `अलिंगग्रहण' में पाँच अर्थ हुए। आज छट्ठा है न...? पहले में ऐसा कहा कि : जाननेवाला इन्द्रिय द्वारा पर का जानना नहीं करता है। दूसरा : जिसका इन्द्रियों द्वारा ज्ञान होता नहीं है। तीसरा : इन्द्रियों द्वारा (ज्ञात होने योग्य) चिह्न द्वारा जानने में आये ऐसा यह नहीं है। अर्थात् इन्द्रिय के चिह्न द्वारा कि यह जीर्ण हो गया और... फलाँ ऐसा हो गया और... इसलिये वह ज्ञात हो, ऐसा यह नहीं है। चौथा : दूसरों के द्वारा मात्र अनुमान से ही ज्ञात होने योग्य नहीं है। पाँचवाँ : स्वयं मात्र अनुमान करके जाने ऐसा नहीं है। - ये पाँच नास्ति से बात थी। अब, छट्ठी, इसमें अस्ति से बात कहते हैं :

"जिसके लिंग के द्वारा नहीं किन्तु स्वभाव के द्वारा ग्रहण होता है..." भाषा ऐसी है कि, `जिसके ग्रहण होता है' यानी कि जिसे (अर्थात्) आत्मा को स्वभाव द्वारा ज्ञान होता है। आहा..हा...! इस इन्द्रियज्ञान से नहीं (और) राग से नहीं। ऐसी बात है !! वर्तमान में तो भाई ! (धर्म के नाम से) धमाधम (चलती है)।

वर्तमान आत्मा जो है यह उसके निर्मल-रागरहित स्वभाव द्वारा ज्ञात हुआ है। शब्द तो ऐसा है - "जिसके लिंग द्वारा नहीं किन्तु स्वभाव के द्वारा ग्रहण होता है।" शब्द है न...! जिसके माने आत्मा को... स्वभाव के द्वारा जानना होता है। सम्यग्दर्शन होने में इसे व्यवहार के विकल्प की अपेक्षा नहीं है, निमित्त की अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार इन्द्रिय के निमित्त से स्वयं की पर्याय में हुआ ज्ञान - इन्द्रिय निमित्त है, श्रवण निमित्त है यहाँ ज्ञान स्वयं से हुआ है - इसके द्वारा भी यह (आत्मा) ज्ञात हो ऐसा नहीं है। ऐसी बात ! !

आहा..हा...! तब किस प्रकार जानने में आये... इसका कोई कारण (अर्थात्)

कोई व्यवहार साधन होगा या नहीं ?

श्रोता :- स्वयं की पर्याय स्वयं का साधन ?

उत्तर :- वह साधन है। राग वस्तु में, द्रव्य-गुण में है ही नहीं अतः (वह) पर्याय में भी नहीं है। वह जो पर्याय है, उस निर्मलपर्याय द्वारा जिसका ज्ञान होता है। जिसे निर्मलता द्वारा ज्ञान होता है।

आहा..हा...! ऐसी बात है !! ऐसा धर्म !! (परंतु) मनुष्य को कोई कोई (शल्य रह जाता है)। बाहर में धर्म मान बैठे... अरे...रे ! क्या होगा, बापू ! यह भगवान (तो) कितनी दूर रह गया ! अरे... भगवान ! क्या कर रहा है, भाई ?

(यहाँ) भगवान तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ, परमेश्वर ऐसा कहते हैं कि : स्वभाव की निर्मलपर्याय द्वारा ही जिसके जानना होता है। जिसके (अर्थात्) आत्मा को स्वभाव के द्वारा ज्ञान होता है !

ऐसी बहुत सूक्ष्म बातें ! लोगों के साथ घर्षण हो ऐसी (बात) है। अब ऐसी प्ररूपणा करे कि उपवास करना और दया, दान, व्रत का पालन करना - इससे तुम्हें धर्म होगा; ये स्वयं धर्म हैं, या फिर धर्म का कारण हैं, ऐसा कहते हैं। (परंतु) अरे प्रभु ! वह वीतराग का मार्ग नहीं है। राग से धर्म हो यह (कोई) वीतराग का मार्ग है ? - अज्ञानी का मार्ग है।

आहा..हा...! वीतराग परमेश्वर, पूर्ण वीतरागता को प्राप्त हुए, (इन) परमेश्वर की वाणी आयी, इसमें ऐसा कहा गया कि : प्रभु ! तुझे तेरा भान, तेरे स्वभाव द्वारा होता है; तुझे हमारे द्वारा भी नहीं होता, ऐसा कहते हैं। यह तो तीर्थंकर वीतराग और वीतरागी संत कहते हैं : हमारी भक्ति द्वारा भी तेरा ज्ञान तुझे हो जाय, ऐसा नहीं है। यह (बात) वस्तुस्वरूप में ही नहीं है। इन्द्रिय के निमित्त से, मन के निमित्त से शास्त्रों का ज्ञान किया; (हालाँकि) ज्ञान की पर्याय स्वयं की स्वयं के द्वारा हुई है; किन्तु उस ज्ञान की पर्याय द्वारा आत्मा जानने में आये (ऐसा नहीं है)। आहा..हा...! प्रभु ! तेरे स्वभाव की बलिहारी !! ऐसा कहते हैं। तू चैतन्यस्वरूपी भगवान आनंदस्वरूपी; आनंद का नाथ; यह आनंद की पर्याय द्वारा ही ज्ञात होने योग्य है; लिंग के द्वारा नहीं। प्रथम पाँच बोल में कहा : लिंग द्वारा नहीं... लिंग द्वारा नहीं। (अब, यहाँ कहा) लिंग द्वारा नहीं किन्तु जिसके स्वभाव द्वारा ग्रहण होता है। जिसके अर्थात्

भगवानआत्मा के स्वभाव द्वारा ही ज्ञान होता है। आहा..हा...! गजब बातें हैं न !! अंतरनिर्मलपर्याय (जब) अंतरत्रिकाली स्वभाव को पकड़े तब उसे आत्मा का ज्ञान होता है। इसे ज्ञान कहा जाता है। ग्यारह-ग्यारह अंग को कंठस्थ किया... विभंगज्ञान प्रगट हुआ जिसके द्वारा सात द्वीप और सात समुद्र जानने में आये - उस ज्ञान से आत्मा ज्ञात होने योग्य नहीं है। जिस ज्ञान की पर्याय में - विभंगज्ञान में सात द्वीप, सात समुद्र ज्ञात हुए... परंतु है (वह) पर न... ! उसके द्वारा आत्मा ज्ञात नहीं होता। निज निर्मल - वीतरागीपर्याय द्वारा जीव का (स्वयं का) ज्ञान होता है। आत्मा तो स्वयं की निर्मल - शुद्धपर्याय द्वारा ज्ञात होता है; इसका ज्ञान होता है। अब, इन दान से और दया से और व्रत से और तप से तो उसमें कुछ होता नहीं है।

श्रोता :- परंतु साधन है कि नहीं ? व्यवहार साधन है कि नहीं ?

उत्तर :- अरे बापू ! वह तो जिसे निश्चय स्वभाव का ज्ञान स्वभाव से हुआ इसे व्यवहार के साधन में आरोप लगाया गया (है) वह (वास्तव में) साधन है ही नहीं।

श्रोता .:- व्यवहार से साधन है ?

उत्तर :- किन्तु वह तो निश्चयवान को वह आरोप है। जिसे स्वभाव के आश्रयपूर्वक दृष्टि-ज्ञान ही नहीं हुआ उसे तो वह आरोपित साधन भी नहीं है। जिसे अंदर (आत्मज्ञान) प्रगट हुआ है (उसे व्यवहार) होता है। ऐसा वीतराग का मार्ग !! प्रवर्तमान संप्रदाय से बहुत अलग जाति (की बात है) इसलिये बेचारे भड़क गये हैं। (कहते हैं कि :) यह नवीन निकाला। (परंतु) कुछ (नवीन नहीं है), बापू ! अनादि का मार्ग 'यह' है, भाई !

बिल्ली के बच्चे होते हैं। वह सात दिन एक जगह रखे। फिर बच्चे बहुत घुलमिल जाँयें और परेशान करें इसलिये सात दिन में वह बिल्ली दूसरी जगह बदले। इस तरह करते हुए सात-सात बार बदले। तब उन (बच्चों) को आँखें (दृष्टि) आती हैं। तब उन्हें ऐसा पता लगे कि अहोहो! यह पृथ्वी है... यह वस्तु है ? परंतु उसे (अभी) जानने में आया इसलिये उन आँखों के आने से पहले क्या ऐसा नहीं था ? - पहले से ही था। सृष्टि तो पहले से ही थी। इस प्रकार जब तक आत्मा के ज्ञान में - भान में न आये तब तक 'यह आत्मा ऐसा है' अतः जब जानने में

आया तब `आत्मा ऐसा है' इस प्रकार (ज्ञान) हुआ। यह कोई नवीन है ? आहा..हा...! पैर लगानेपर जरा भारी पथ्थर (खिसके) और यों वहाँ नीचे देखे तो अहोहो ! एक बड़ा घड़ा... अरबों-अरबों रुपये के हीरे... करोड़ों-करोड़ों की कीमत के हीरों का मिले... वहाँ उसे ऐसा लगे कि अहा..हा...! (परंतु) अरे ! वह तो जड़ है, उसमें तुझे क्या ? (तू तो स्वयं ही) अनंत अनंतगुण चैतन्यरत्नाकर का नाथ प्रभु (है) ! यहाँ कहते हैं कि : एकबार उसने राग को ठोकर मारी और अंदर वीतरागपर्याय से आत्मा जाना : आहा..हा...! ऐसा आत्मा !! (यह) था, या अभी जानने में आया तब है ? वह तो ज्यों का त्यों है। यह स्वयं के स्वभाव की पर्याय के द्वारा, उस वीतरागीपर्याय द्वारा जानने में आया क्योंकि वह स्वयं जिनस्वरूप है : भगवान(आत्मा) जिनस्वरूप - वीतरागस्वभावी है।

(यहाँपर) ऐसा कहा न...! `स्वभाव के द्वारा' - `लिंग के द्वारा नहीं किन्तु स्वभाव के द्वारा' - तो इसका स्वभाव वीतराग है, जिनस्वरूपी प्रभु है। इस जिनस्वरूपी (भगवानआत्मा को) वीतरागपर्याय द्वारा वीतरागता ज्ञात होती है। वीतरागता से भरा हुआ भगवान; इसके द्वारा उसे सम्यग्दर्शन होता है।

वह (अज्ञानी) लाख-करोड़ व्रत करे और तप करे और भक्ति करे और अरबों रुपयों का दान कर लेवे न... (परंतु) उससे उसका कोई आत्मकल्याण हो जाय, आत्मा का ज्ञान हो - यह पंथ की (मार्ग की) रीति नहीं है। यह तो भगवान परमात्मा का हुक्म है ! ये तीनलोक के नाथ इन्द्रों के सामने ऐसा कहते थे, वह बात यहाँ आई है। भाई ! आठ साल का बच्चा हो, छोटी कन्या हो; किन्तु उसका आत्मा कन्या कहाँ है ? बालक कहाँ है ? छोटा कहाँ है ? वहाँ (आत्मा) तो भगवान वीतरागमूर्ति, अनंतगुण का घड़ा भरा हो ऐसा स्वयं भगवान है। उन अनंतगुण के वर्तमान सभी परिणाम को अंतर्लीन करने पर, इसे (आत्मा ज्ञात होता है)। भाषा ऐसी आती है कि: `श्रद्धा को अंतर में झुकानेपर...' किन्तु उसकी (श्रद्धा के) साथ सभी - अनंती पर्यायें अंतर में जाने पर... अनंत गुणों की ऐसी अनंत निर्मलपर्याय द्वारा अंतर में जाते अर्थात् द्रव्य को पकड़ने पर (ग्रहण करने पर)... उससे आत्मा ज्ञात हो ऐसा है। आहा..हा...! ऐसी ये बातें !!

(अज्ञानी) एक तो गृहस्थाश्रम के झंझटों के मारे फुरसत नहीं पाता... मात्र पाप

की गठरियाँ बाँध बाँधकर... बीस वर्ष, पच्चीस वर्ष, चालीस वर्ष... आजकल तो सत्तर-सत्तर-अस्सी (वर्ष) हो जाय तो भी छोड़ता नहीं है !

श्रोता :- ज्यादा अनुभव होता है न ?

उत्तर :- ज्यादा अनुभवी हुआ तो सही... अर्थात् ज्यादा (अहित) करे, ऐसा कहा है ? प्रभु ! अपने आत्मा के लिये एक क्षण तो दे न ! आहा..हा...! एक क्षण जो आत्मा वीतरागपर्याय (के द्वारा स्थिरता प्राप्त करे तो) उस क्षण-वीतरागीपर्याय द्वारा भगवान(आत्मा) का ज्ञान, स्वभाव द्वारा, हो सके (ऐसा है)। - यह सिद्धांत को रखकर बाकी सब बात (है)।

फिर उसे (आत्मज्ञानी को) व्यवहार आता है... परंतु वह कोई साधन है ऐसा नहीं। व्यवहार आता है... वह बंध का कारण है। अबंध का परिणाम तो स्वभाव के अबंध परिणाम से ही प्रगट होता है; क्योंकि भगवान स्वयं अबंधस्वरूपी है। यहाँ `स्वभाव' लिया न...! यह (स्वभाव) अबंधस्वरूपी है। अबंध परिणाम द्वारा उसे जाना जाता है।

अरे ! यह कब फुरसत पाये और `यह' करे ? इसकी वस्तु के स्वभाव में अनंत चैतन्यरत्न भरे हैं इसका माहात्म्य उसे आता नहीं है। बाहर का माहात्म्य छूटता नहीं है और अंदर का माहात्म्य उसे आता नहीं है। ज्यादा से ज्यादा कषाय मंद करके कुछ व्रतों का पालन किया और भक्ति करी और मृत्युपर्यंत शरीर से ब्रह्मचर्य का पालन किया, बालब्रह्मचारी हुआ... किन्तु वह तो शुभराग है न भाई ! काया द्वारा ब्रह्मचर्य यह तो शुभराग है। आत्मा द्वारा ब्रह्मचर्य (अर्थात्) आत्मा स्वयं ब्रह्मस्वरूप है, इस ब्रह्म-आत्मा को उसकी निर्मलपर्याय द्वारा जाने उसका नाम ब्रह्मचर्य कहा जाता है। आहा..हा...! ऐसी बातें !! (मानने में न आये तो) फिर भटकेगा न...? अरे! यह (सत्य की) खबर नहीं है तो फिर क्या करे ? (मानता है कि : धर्मात्मा) तो नंगे पैर चलते हैं, गरम पानी पीते हैं, ((केश)लोच करते हैं, स्त्री का सेवन नहीं करते, घर में खाना नहीं बनाते।और यह (सोनगढ) ऐसा कहता है : समकिती छः खंड़ के राज्य में बैठा दिख रहा हो; उसके लिये भोजन के बत्तीस कौर, कि जिसका एक कौर छ्यानवें करोड़ का पैदल (थलसेना) पचा नहीं सकता ऐसा भस्मों का भोजन उसके लिये बनता है : करोड़ों रुपयों के हीरों की इतनी (जरा-सी) भस्म होती है, उसके बत्तीस ग्रास बनाते हैं, ऐसा (तो) भोजन; फिर भी उसके लिये कहते हैं कि :

वह समकिती (है) ! वह आनंद का भोजन कर रहा है ! वह आनंदामृत का नित्यभोजी (है) !! आहा..हा...! ऐसी बातें !! वह क्या होगा ? अरे ! उसे स्वयं के स्वरूप का माहात्म्य आता नहीं है ! ऐसा (साधारण) एक मनुष्य... रोटी के बिना चले नहीं... मुझे इसके बिना नहीं चलता... और ऐसा भगवानआत्मा... तो वह गया कहाँ ? ऐसा बोलता है। एक वकील कहते थे : बहुत प्रशंसा करते हो किन्तु धुली हुई मूली समान यह (आत्मा) गया कहाँ ? अरे ! भगवान वह जहाँ का तहाँ है। किन्तु तेरी दृष्टि नहीं है इसलिये तुझे (लगता है) 'कहाँ गया'।

आहा..हा...! यहाँ कहते हैं : 'लिंग के द्वारा नहीं किन्तु...' उसके (लिंग) द्वारा नहीं, तो इस प्रकार। 'स्वभाव के द्वारा' - उसका वीतरागस्वभाव है, अबंधस्वरूप है; उस अबंध परिणाम के द्वारा, यह ज्ञात हो सके ऐसा है। कुछ समझ में आया ? ऐसी बातें हैं !! जो वीतरागी आँखों के द्वारा ज्ञात हो ऐसा है। ऐसा कहते हैं। ये (इन्द्रियाँ) तो जड़ आँखें हैं, मिट्टी हैं; यहाँ 'यह' जानता है; यह कोई इससे नहीं जानता। जानती है तो ज्ञान की पर्याय परंतु उसमें (इन्द्रिय) निमित्त है न...! अतः वह निमित्त की रुझानवाला ज्ञान (है), वह आत्मा का ज्ञान नहीं। किन्तु वह पर अपेक्षित ज्ञान है। ऐसा तो अनंतबार किया। उसका नाम ज्ञान ही नहीं है। सूक्ष्म बहुत, भाई ! अरे ! इस जन्म-मरण के (अंत के लिये) तो उसे यह (आत्मज्ञान) करने पर ही छुटकारा (है), बापू !

नहीं आया वह...? 'रत्नकरंडश्रावकाचार' : प्रभु ! तेरे एक क्षण के दुःख (जो तूने) नरक में एक क्षण में वेदन किये उस एक क्षण के दुःख को कहने के लिये करोड़ों भव और करोड़ों जीभ (समर्थ नहीं है) इतना दुःख !! क्योंकि अनंत अनंत अनंत अनंत - अपरिमित आनंदस्वरूप प्रभु; उससे उलटा विकार का भाव; इसलिये इतना दुःख। प्रभु ! तुझे पर में क्यों हर्ष आता है?! 'हर्ष में पागल' (ज्यादा) हर्ष मत कर। तुझे प्रभु ! पर में उल्लसित वीर्य से हर्ष आता है, उसमें तेरे आत्मा का हनन हो जाता है। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं। आजकल ऐसी बातें सुनने (तक) मिलना (भी) मुश्किल है। अरे ! कहाँ से कहाँ (चला जायेगा)। और फिर कब मनुष्य होगा ? यहाँ से भूला और (आत्म)भान नहीं किया, सम्यक्ज्ञानरूपी डोरा पिरोया नहीं (तो) वह सुई खो जायेगी, हाथ नहीं आयेगी। आहा..हा...! कहाँ कीडें, कौएँ, कुत्तें... आहा..हा...!

एकबार सड़क पर तीन हाथ लम्बा सर्प निकला। मोटर (सडक पर) तिरछी चले तो कुचल डाले। ऐसे ऐस (भव) ! अरे ! लो न... अजगर के भव बड़े पच्चीस-पच्चीस-पच्चास हाथ लम्बे। हजारों योजन तक सिर्फ घने जंगल... मनुष्य की आबादी तक नहीं होती... बाघ और चीत्ते और सर्प... उसमें (ऐसे) अजगर। अजगर कहते हैं न...? `अज' अर्थात् बड़ा बकरा (उसे) पूरे को `गर' अर्थात् निगल जाना। ये प्रत्येक नाम दिये हैं वे सहेतुक हैं, ये कोई यूँ ही नहीं दिये हैं। कैसे भव, भगवान! वह जिंदा पेट में डाले... (वहाँ) उसे साँस लेने का कहाँ ? - आफत की सीमा नहीं, भाई! ये सारे दुःख; इन्हें मिटाने का उपाय तो `यह' एक है।

(ऐसा यहाँ पर कहते हैं कि :) जो आनंद का सागर भगवान; जिसका अतीन्द्रियआनंदस्वभाव; जिसे अतीन्द्रियआनंद के स्वभाव द्वारा उसे ज्ञात हो सकता है। व्यवहार रत्नत्रय कहो (परंतु) वह तो राग है दुःख है। (तो) क्या दुःख के द्वारा आनंद ज्ञात होता है ?? (ऐसा नहीं होता। परंतु) उसका (आनंद का) नमूना (सेम्पल) होता है उसके द्वारा वह (आनंद) अनुभव में आता है।

श्रोता :- जयसेनाचार्य ने कहा कि व्यवहार साधन है।

उत्तर :- वह आता है। वह निमित्त का कथन है। जयसेनाचार्य की टीका में बहुत आता है। वह (व्यवहार) तो निमित्त था, उसका अभाव करके अंदर जाता है। इसे निमित्त से होता है, ऐसा कहा है। क्या करें ? आहा..हा...! ऐसे व्यवहार तो अनंतबार किया है। नौवीं ग्रैवेयक तक गया; तब (यहाँ) इसका व्यवहार देखो ! आहा..हा...! नग्न मुनि। हजारों रानियों का त्याग। अरबों रुपयों की आमदनी का त्याग। और अंदर राग की मंदता ऐसी कि शुक्ललेश्या। किन्तु ये सब (क्रियाएँ) जन्म-मरण के बीज हैं। ऐसे व्यवहार को तो अनंतबार किया, प्रभु ! यहाँ तो कहते हैं कि : व्यवहार द्वारा (आत्मा) ज्ञात नहीं होता। ऐसा कहा, तो व्यवहार `साधन' और निश्चय `साध्य' ऐसा नहीं रहा। तो दूसरी जगह कहा है न... `भिन्न साध्य-साधन' भाई ! इससे उसका अर्थ विरुद्ध हो तो (वह) वीतराग की वाणी नहीं। `पूर्वापर विरोध' यह वाणी वीतराग की नहीं। इन्हें (दोनों कथनों को) अविरोधरूप से जानने के लिये : जहाँ `भिन्न साधन-साध्य' कहा है वहाँ वीतरागस्वभाव द्वारा ज्ञात हुआ है, और जो राग आता है उसे साधन का व्यवहार का आरोप दिया है। आहा..हा...! यह भारी झगड़ा बड़े पंडितों

के बीच चल रहा है। क्या करे, भाई ? यह कोई पंडिताई की चीज (तो) है नहीं।

आहा..हा...! शिवभूतिमुनि ! जिन्हें `मारुष या मातुष' याद नहीं रहता था। गुरु ने कहा कि : `मारुष। - किसी से द्वेष मत करना, किसी से राग मत करना।' (किन्तु उन्हें) वे शब्द तक याद नहीं रहे। एक स्त्री उड़द की भीगी हुई दाल के छिलके और सफेद दाने अलग कर रही थी। तो एक अन्य स्त्री ने पूछा : बहिन ! क्या कर रही हो ? - तुष माष : छिलके से उड़द की दाल अलग कर रही हूँ। (शिवभूतिमुनि ने) जहाँ इतना सुना तो ये राग के विकल्प छिलके हैं, उसमें मेरा नाथ उज्जवल उड़द की दाल जैसा स्वच्छ पड़ा है ! इसमें ध्यान लगाया तो वहाँ अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान हो गया। आहा..हा...! जिन्हें `मारुष' ये दो शब्द भी याद नहीं रहते थे ! (परंतु) याद रहते हैं इसलिये ज्ञानी हैं (ऐसा नहीं)। आहा..हा...! गजब बात है न...!

श्रोता :- पूर्व के संस्कार तो थे न...?

उत्तर :- पूर्व के संस्कार भी डाले तो पहले थे कि नहीं ? जब डाले होंगे तब पहले (थे) या यूँ ही हो गये ? इन्होंने तो यहाँ का यहाँ ही (सब) पूर्ण किया है। यहाँ तो दो शब्द भी याद नहीं रहे, किन्तु अंदर व्यवहार का जो विकल्प है वह तो छिलका... तुष है तुष। और भगवान अंदर निर्मल जो नाथ है। उड़द की सफेद दाल जैसा सफेद श्वेत है। सफेद माने शुद्ध, मीठा माने आनंद। आहा..हा...! इसकी पर्याय जहाँ स्वाभाविक अंदर में जाती है तब उसे आत्मा का ज्ञान होता है, ऐसा कहते हैं। ऐसी बात है ! कठिन लगे किन्तु मार्ग तो `यह' है, भाई ! उसका निर्धार तो उसे इस तरह ही करना पड़ेगा। कुछ समझ में आया ?

(यहाँ पर कहते हैं :) जिसे स्वभाव, जिसे माने आत्मा को। लिंग द्वारा नहीं परंतु स्वभाव द्वारा जिसे... जिसे माने आत्मा को... ग्रहण माने ज्ञान होता है - स्वभाव द्वारा जिसे ज्ञान होता है ऐसा। स्वभाव द्वारा जिसे ज्ञान होता है। इतने शब्दों में कितना भरा है अंदर !! "**...वह अलिंगग्रहण है...**" लो ठीक ! "**...इसप्रकार `आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है'...**" जिसे स्व को जानने में मन व राग के अवलम्बन की आवश्यकता नहीं है ! कठिन काम। इस मति व श्रुतज्ञान से सीधा आत्मा ज्ञात हो ऐसा इसका प्रत्यक्ष होने का स्वभाव है। परोक्ष रहना (यह) इसका स्वरुप-स्वभाव नहीं है। उस

राग का परदा तोड़े के प्रत्यक्ष हो ऐसा इसका स्वभाव है। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं !!

(सोनगढ का कथन एकान्त है ऐसा) कहते हैं, बापू ! क्या करें ? भाई ! मार्ग तो यह है। उसका कोई साधन ? ऐसा लोग पूछते हैं। `श्रीमद्' में भी ऐसा कहते थे। वहाँ `अगास' में सबने घंटेभर व्याख्यान सुना। फिर रात में तो कोई आया नहीं। एक ब्रह्मचारी आया। सारी बातें हुई। किन्तु - उसका साधन ? साधन तो यह : भक्ति करना और पढ़ना और गुरु को अर्पण कर देना! - परंतु क्या अर्पण कर देना ?

आहा..हा...! यहाँ पर कहते हैं कि : यह आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है। "**...ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।**" `अलिंगग्रहण'में से ऐसा एक अर्थ-भाव निकलता है। कुछ समझ में आया ? अर्थात्: (आत्मा) राग से व मन से ज्ञात नहीं होता, स्वभाव से ज्ञात होता है, अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञाता है।

आहा..हा...! एक तरफ मति व श्रुतज्ञान को परोक्ष कहकर कि मन व इन्द्रिय से उत्पन्न होता है ऐसा `तत्त्वार्थसूत्र' में उमास्वामी कहते हैं। और (यहाँ) ये कुन्दकुन्दाचार्य ऐसा कहते हैं। (परंतु) विरोध नहीं है। वहाँ परवस्तु को मन व इन्द्रिय के निमित्त से जानने पर (ज्ञान) होता है। दूसरे प्रकार से कहे तो जो मन के परिणाम थे, उन परिणाम को इधर झुकाया, उन्हें मन के परिणाम कहा गया है। मन के परिणाम में पर की ओर का राग था उसे छोड़कर, उस परिणाम को अंतर्मग्न किये तब (उन्हें) मनजनित भी इस अपेक्षा से कहा जाता है। ऐसा है। अब, इसमें कहाँ कहाँ से वादविवाद करे... बस ! तो उमास्वामी का गलत ? बापू ! गलत नहीं है। वह किस अपेक्षा से कहा है, उसका ज्ञान करना चाहिए। दिगंबर के एक बड़े पंडितजी कहते थे कि : सिर्फ कुन्दकुन्दाचार्य को मानोगे तो दूसरे आचार्य का बलिदान होगा ! भाई ! दूसरे आचार्यों ने भी इसी पद्धति से कहा है। कुन्दकुन्दाचार्य की कोई दूसरी पद्धति है ही नहीं। किसी ने निश्चय से कहा। किसी ने व्यवहार से बताने के लिये कहा। किसी दिगंबर संत की वाणी, कुन्दकुन्दाचार्य से विरुद्ध है ही नहीं। आहा..हा...! ऐसा है। इस पर बहुत अच्छा लिखा है,कल लेख आया है। उधर (दूसरे को) उत्तर दिया है : इतने समयपर्यंत मैंने (सोनगढ विरुद्ध बहुत) पढ़ा तब मुझे ऐसा लगा कि :

अरेरे ! क्या कर रहे हैं ये (लोग) ? उन्होंने (कानजीस्वामी ने) दिगंबरधर्म स्वीकार किया। दिगंबर के मंदिर बनाये। परमागम मंदिर बनाया। उसमें साढ़े तीन-पौने चार लाख अक्षर (जो) दिगंबर के शास्त्र हैं। - किसके हैं ये ? ऐसा हिन्दुस्तान में कहाँ है ?

यहाँ तो कहते हैं कि : आत्मा को टंकोत्कीर्ण करना हो तो यह स्वभाव से टंकोत्कीर्ण हो सकता है। परम आगमस्वरूप भगवान है। परम ज्ञानस्वरूप कहो या परम आगम - परम ज्ञानस्वरूप भगवान है। इसे जानना हो, तो इसकी जाति की जो पर्याय है, स्वभाव है इसके द्वारा ज्ञात हो सके ऐसा है। कुजाति से यह जाति ज्ञात हो ऐसा नहीं है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

ऐसा हीरा-माणिक में कहाँ था ? मिट्टी (के मोह) में हैरान-परेशान हो गया। हीरा अंदर में; जिसकी कीमत नहीं। जो चीज अमूल्य है, उसे जानने के लिये अमूल्य स्वभाव की पर्याय की आवश्यकता है; शास्त्रज्ञान की (नहीं)।

श्रीमद् में आता है न...! शास्त्र तो दिशा दिखाकर अलग रहते हैं। चलना तो तुझे है कि देख भाई ! अंदर आत्मा है, ऐसा कहते हैं। किन्तु इसका लक्ष करना है किसको ? गुरु कर देंगे उसके लिये ? ऐसा (यहाँ) कहते हैं कि, यह (आत्मा) है; गुरु से ज्ञात हो ऐसा भी नहीं है। तीर्थंकरों से आत्मा जानने में आये (ग्रहण हो) ऐसा नहीं; गुरु तरफ झुके हुये ज्ञान से ज्ञात हो ऐसा नहीं। यह तो स्वयं का निर्मलस्वभाव जिस जाति का है उस जाति के स्वभाव की पर्याय से जिसका जानना होता है।

आहा..हा...! कहो... कुछ समझ में आया ? इसमें तो निवृत्ति चाहिए, बापू ! सिर पर भारी बोझा हो (तो) इसमें अंदर जाया नहीं जा सकता। भाई ! हाथ (के बराबर मुँहवाली) गुफा हो। उस गुफा में जाना हो। सिर पर बड़ी गागर सुवर्ण की, भले हीरे की हो तो भी उसे बाहर रखकर (ही) अंदर गुफा में जाया जाता है। उस प्रकार चैतन्यगुफा, अनंत आनंद की गुफा जहाँ है (वहाँ संसार की गागर सिर पर लेकर नहीं जा सकते)।

(यहाँपर कहा :) स्वभाव के द्वारा जिसे, वीतरागीपर्याय द्वारा जिसे - समझाने के लिये क्या कहें ? उसका अर्थ यह कि : वीतरागीपर्याय इस तरफ झुके तब

उसे इसका (आत्मा का) ज्ञान होता है। उसने ज्ञान व आत्मा को जाना ऐसा कहा जाता है। आहा..हा...! कहो... ऐसी बातें !! यह ठट्ठा बोल हुआ - आत्मा लिंग द्वारा ज्ञात नहीं होता; आत्मा स्वभाव द्वारा ज्ञात होता है। ऐसा कहकर यहाँ तक तो आत्मा की बात थी। अब इसके उपयोग की बातें। आहा..हा...! यह तो ठंडक के समय में धीरे से (समझने की) बात है, बापू ! यह कोई इधर-उधर झपट्टा मारे और ऐसा है और वैसा है और फलाँ है न... (ऐसा नहीं है।) भगवान ! तेरी बातें निराली है, नाथ !

त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव ने जिस आत्मा को देखा... स्वयं का तो ठीक... दूसरे को भी हाँ... परंतु यह शुद्ध चैतन्यघन है; साथ में रागादि है उसे प्रभु ने आत्मा नहीं देखा; उसने तो पुण्यतत्त्व और आस्रवतत्त्व ही देखा। तो पुण्यतत्त्व (है) वह आस्रवतत्त्व (के प्रभेद में) है; उस आस्रवतत्त्व से स्वभाव ज्ञात होता है ? (ऐसा नहीं होता)। "आस्रवनिरोधः संवरः"- ऐसा `तत्त्वार्थसूत्र' में है। यहाँ (लोग) कहते हैं कि : उस पुण्य-शुभभाव (अर्थात्) आस्रव से आत्मा ज्ञात होता है ! तब भगवान उमास्वामी(कृत यह `तत्त्वार्थसूत्र') व्यवहारनय का - निश्चयपर्याय का शास्त्र है फिर भी वह (शास्त्र) ऐसा बता रहा है।

उसे स्वयं को स्वयं का अवलम्बन है। यहाँ अब (सातवें बोल में) उपयोग की बात करते हैं। आत्मा को आत्मा के अवलम्बन से आत्मा ज्ञात हो इतनी बात (पहले) सिद्ध करी। अब, इसका उपयोग। (अर्थात्) जानना-देखना (ऐसा) इसका जो उपयोग। अब, उपयोग की बात आयेगीः

"जिसके लिंग द्वारा अर्थात् उपयोगनामक लक्षण द्वारा ग्रहण नहीं है अर्थात् ज्ञेय पदार्थों का आलम्बन नहीं है,..." - आहा..हा...! जिसे ज्ञेय पदार्थ का आलम्बन नहीं है। उपयोग जो है जाननेवाला, इसे (अर्थात्) जानने में आने योग्य ज्ञेय को जाननेवाले उपयोग का आलम्बन नहीं है। - यह क्या कहा ? वस्तु तो (पहले) कही (कि जो) लिंग से नहीं ज्ञात होती; स्वभाव से ज्ञात होती है। अब, इसके उपयोग की बात ले रहे हैं : इसके जानने-देखनेवाला जो उपयोग है (इसे अन्य का आलम्बन नहीं है)। (वह कहते हैं :) "जिसके लिंग द्वारा अर्थात् उपयोग नामक लक्षण द्वारा ग्रहण नहीं है अर्थात् ज्ञेय पदार्थों का आलम्बन नहीं है।" आहा..हा...! जानने-देखनेवाले उपयोग को जानने में आने योग्य ऐसे ज्ञेय का आलम्बन नहीं है। आहा..हा...! ऐसी बात !!

देव, गुरु, शास्त्र और वाणी ये ज्ञेय हैं; उनके आलम्बन से ज्ञान हो, ऐसा उपयोग नहीं है। आहा..हा...! जानने-देखने का जो शुद्धउपयोग है, इस उपयोग को बाह्यपदार्थ-ज्ञेय का आलम्बन-निमित्त नहीं है।

ऐसा है ! वह पालीताणा में (उपधान-व्रत) तो कैसा सीधा और सरल ! इतना सरल : वे बड़े जूलूस और भीड़ और पैसा और जाने क्या-क्या... जैसे धर्म हो गया ! अरे प्रभु-बापू ! अरे, तेरी निगाहें कहाँ पर हैं ?

यहाँ तो, प्रभु का अर्थात् आत्मा का जो उपयोग है, जानने-देखने का उपयोग (परज्ञेय के) आलम्बन रहित है। इसे उपयोग कहते हैं। जिसे (अर्थात्) जाननेवाले-देखनेवाले उपयोग को (कोई अन्य आलम्बन नहीं है)। बात कहाँ ले गये देखो ! 'अलिंगग्रहण' के बीस अर्थ निकाले हैं न...!

एक भाई, सीधे आदमी। शास्त्र पढ़नेवाले हैं। वे अंदर आकर बेचारे रो पड़े थे... यूँ कहते थे : अरेरे ! ऐसा हमें कहाँ सुनने मिले ? इस संसार के बड़े-बड़े काम... इसमें बराबर यह अलिंगग्रहण चल रहा है न...! उनको जाना था।

(यहाँ कहते हैं :) यह जानने-देखने का उपयोग, चैतन्यस्वभाव के आलम्बन से होता है; ऐसे उपयोग को बाह्य ज्ञेय - चाहे तो तीर्थंकर हो या वाणी हो या शास्त्र हो, उन बाह्य ज्ञेयों - (की कुछ अपेक्षा नहीं है)। ज्ञात होने योग्य पदार्थ के आलम्बन से उपयोग हो ऐसा आत्मा नहीं है। आहा..हा...! इसका जो व्यापार जानने-देखने का है' इसे परज्ञेय हैं उनका आलम्बन है (इसलिये) स्वज्ञान है (ऐसा नहीं है)। वह आत्मा नहीं। (अर्थात्) जानने-देखने के उपयोग को परज्ञेय का आलम्बन नहीं है।

श्रोता :- फिर भी उपयोग स्व-परप्रकाशक है ?

उत्तर :- 'स्व-परप्रकाशक' स्व के आलम्बनपूर्वक है। आहा..हा...! जो परज्ञेय है उसके आलम्बन से उपयोग हुआ है, ऐसा नहीं है। उसे उपयोग ही नहीं कहते। आहा..हा...! गजब बात है न !!

भगवान चिदानंद प्रभु के आलम्बन से जिसे जानने-देखने का उपयोग-व्यापार प्रगट हुआ है इसे उन ज्ञेय - देव, गुरु, शास्त्र के आलम्बन से उपयोग नहीं होता।

अब, लोग कहे कि : हमें पहले ज्ञान नहीं था अब, ऐसा सुनकर ज्ञान की नवीनता प्रत्यक्ष दिख रही है, नवीनता ज्ञान में आती है, फिर भी आप कहते हो

कि `परज्ञेय के आलम्बन से ज्ञान नहीं है।' (तो यहाँ कहते हैं कि :) वह नवीनता जो सुनकर दिख रही है वह उपयोग ही नहीं है। आहा..हा...! ऐसी बात है !!

एक `अ लिं ग ग्र ह ण'। - छः अक्षर। उसमें यह सातवाँ अर्थ चल रहा है ! आहा..हा...! भाई ! तेरी ऋद्धि !! इस उपयोग की जो ऋद्धि है इसे ज्ञेय के आलम्बन की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि उपयोग स्व के आश्रय से होता है। इसे पर के आलम्बन की आवश्यकता नहीं है।

आहा..हा...! ऐसी बातें हैं !! अपने आप पढ़े तो यह (मर्म) पकड़ में नहीं आ सकता। `समयसार' पढ़ डाले... बापू ! `समयसार' की एक गाथा, एक शब्द... (भवच्छेदक है)। आहा..हा...! प्रभु ! तू धीर बन... धैर्य धर !

तेरे जानने के उपयोग में तुझे वह चीज ज्ञात होती है फिर भी तुझे ज्ञान हुआ ऐसा लग रहा है (किन्तु) वह उपयोग ही नहीं है। आहा..हा...! प्रत्यक्ष हमें जानने में आ रहा है न...? एक पंडित कहता था : प्रत्यक्ष... दृष्ट-इष्ट दिख रहा है : अग्नि हो तो पानी गर्म होवे; और आप इन्कार कर रहे हो ! उस प्रकार ज्ञेय (वाणी) सुनने में आये और जो ज्ञान नया हो रहा है ऐसा प्रत्यक्ष है न ? उसके लिये आप इन्कार करो कि वह उपयोग (ही) नहीं !! (परंतु) बापू ! तू प्रत्यक्ष किसे कह रहा है ? "आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है।" (छट्ठा बोल)। इसके बाद यह बोल आया है न...? जो जानने-देखनेवाला उपयोग, स्वको प्रत्यक्ष करके जानता है वह उपयोग (है)। (किन्तु जो उपयोग) पर के - ज्ञेय के आलम्बन से होता है वह उपयोग नहीं। गजब बातें हैं, बापू ! आहा..हा...! सुनकर, पढ़कर, विकल्प-विचार करके जो ज्ञान खिलता है वह उपयोग नहीं। आहा..हा...! प्रत्यक्ष है कि जो हमें उपयोग में जो जानना(ज्ञान) नहीं था वह जानने, सुनने से - ज्ञेय से या पढ़कर (हुआ; वह) हमें अंदर नया ज्ञान लगता है। और लीनता तब हमें होती है कि ज्ञेय का ज्ञान करें तब। और यहाँ इन्कार कर रहे हैं ! (भाई !) उस ज्ञेय के आलम्बन से जो तुझे ज्ञान हुआ वह जीव का उपयोग ही नहीं। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं !!

आहा..हा...! भगवान अमृतचंद्राचार्य कहते हैं कि : कुन्दकुन्दाचार्य के `अलिंगग्रहण' शब्दमें से इतने (बीस) अर्थ निकलते हैं। और यह कुन्दकुन्दाचार्य को कहना है। मैं तो इस की टीका करके खोल रहा हूँ, स्पष्ट करता हूँ। कुन्दकुन्दाचार्य दो हजार

वर्ष पूर्व संवत ४९ में हुए। हजार वर्ष के बाद अमृतचंद्राचार्य हुए। वे कहते हैं : तेरे जानने-देखने के उपयोग में, परज्ञेय के आलम्बन से जो ज्ञान दिख रहा है, तुझे प्रत्यक्ष लग रहा है वह उपयोग ही नहीं। उपयोग तो इसे कहें, प्रभु ! जिसका व्यापार स्व के आस्रय से हो। उसके ज्ञान व दर्शन के परिणाम को उपयोग कहा जाता है। आहा..हा...! थोड़ा सुनकर, हल्दी की गांठ रखकर किराने के बड़े व्यापारी बन जावे; ऐसा `यह' (वस्तुस्वरूप) नहीं है।

विशेष कहेंगे...



जो जीव, सम्यक्-सन्मुख हुआ है उसे अंतरंगमें अपना सम्यक्-दर्शनरूपी-कार्य करनेका बहुत ही हर्ष है। इसीलिए वह उत्साहपूर्वक प्रयत्न करता है, प्रमाद नहीं करता, तत्त्वविचारका उद्यम करता है; और ऐसे ही उद्यम करते-करते केवल निज-आत्मा के विषयमें ही "यह मैं हूँ"- ऐसी अहम्-बुद्धि हो तभी सम्यक्दृष्टि होता है। (परमागमसार - ९००)



('अलिंगग्रहण') प्रथम पाँच (बोल) नास्ति के व एक (छट्ठा) अस्ति का। अब (सातवें बोल में) उपयोग की बात है : **"जिसके लिंग के द्वारा अर्थात् उपयोगनामक लक्षण द्वारा ग्रहण नहीं है अर्थात् ज्ञेय पदार्थों का आलम्बन नहीं है,..."** आहा..हा...! उपयोग जो जानने-देखने का है उसे आलम्बन आत्मा का है। आत्मा के आलम्बनपूर्वक जो कोई उपयोग होता है, उसे उपयोग कहा जाता है; इस उपयोग को ज्ञेय पदार्थ का आलम्बन नहीं है। अर्थात् जिस उपयोग में ज्ञेय पदार्थ (आलम्बनसहित) निमित्त पड़ता है और जानना होता है वह आत्मा का उपयोग नहीं। आहा..हा...! ऐसी बातें !!

श्रोता :- वह आत्मा का उपयोग नहीं तो फिर किसका है ?

उत्तर :- पर के प्रति झुकाववाली दशा, वह उपयोग आत्मा का नहीं। परसत्ता के आलम्बनवाला ज्ञान (है) वह आत्मा का उपयोग नहीं। आहा..हा...! ऐसी बातें !!

आज एक लेख, जैनपत्रिका में, द्रव्यानुयोग का आया है : कोई एकान्त कहता है कि - परद्रव्य किसी का कुछ करता ही नहीं। एकान्त है। एकान्त है ! अरे ! ऐसी (तत्त्वविरुद्ध) बात। यहाँ तो परद्रव्य के आलम्बनवाला ज्ञान भी ज्ञान नहीं - ऐसी बात (है)। यहाँ (सोनगढ) के विरुद्ध बहुत लिखा है... एकान्त है ! "पुण्यफला अरहंता" वे (लोग) इस गाथा का संदर्भ देते हैं : पुण्य के फल से अरहंतपद मिलता है। (किन्तु) वहाँ ऐसा (तात्पर्य) है ही नहीं। उन्हें (तीर्थंकर को) जो हिलने-डूलने-बोलने के उदय की क्रिया है वे सब पुण्य के फल की है - ऐसा (वहाँ) कहना है। (गाथा का) शीर्षक है : 'पुण्यफल आत्मा को अकिंचित्कर है' (फिर) इस गाथा को लेकर बहुत कुछ लिखा है : कर्मोदय के बिना विकार होता ही नहीं है। क्योंकि आचार्य

ऐसा कहते हैं : शुभाशुभ (रूप) परिणमन करता है और (यदि) शुभाशुभ (रूप) परिणमन न करता हो तो संसार नहीं। अतः शुभाशुभभाव कर्म के कारण से होता है। अरे भगवान ! (ऐसा भी) पाठ है न... 'स्वयं खुद परिणमन करता है।' अरेरे ! ऐसी बातें... क्या करें ? भाई ! आजकल सब बदल गया... मूलमें से सब बदल गया। (फिर) ऐसा कहे : (क्या) किंचित्मात्र परद्रव्य नहीं करता ? नहीं, वह उपादान से नहीं करता किन्तु निमित्त से करता है ! आहा..हा...! क्या करे ? करे कौन ? 'कुम्हार के बिना घड़ा बने ही नहीं...उपादान बिना नहीं होता उस प्रकार निमित्त के बिना भी नहीं होता', ऐसा लिखा है। (किन्तु भाई !) निमित्त तो उसे कहें कि पर में (कुछ) करे नहीं और उपस्थित हो; उसे निमित्त कहते हैं। बहुत अंतर... अभी संप्रदाय की दृष्टि और (मूलमार्ग की दृष्टि के बीच)। यहाँ ('प्रवचनसार') गाथा-४५ में जयसेनाचार्य ने कहा है कि नहीं ? कि : कर्मोदयमात्र से बंध होता हो तो (संसारी)जीव को कर्म का उदय तो सदैव है। (परंतु) स्वयं अपने में विकार करे तो कर्म को निमित्त कहा जाता है - इतना है। आहा..हा...! विकार का अपने स्वयं के परिणमन का - विकार का पर्याय-काल है न...! वह कोई कर्म के कारण नहीं है। कर्मोदय यहाँ राग का स्पर्श तक नहीं करता; और राग कर्म के उदय का स्पर्श नहीं करता। इस बात को रखकर (सब) बात है। ऐसा (लिखनेवाले ने) पढ़ा है बहुत। (किन्तु जिसकी) दृष्टि उल्टी, व्यवहार में भी श्रद्धा झूठी। (अतः) बहुत (विरुद्ध) लिखा है : 'कर्म के बिना विकार हो तो किसी को संसार रहे ही नहीं; कर्म के बिना विकार होता ही नहीं; अतः शुभाशुभभाव से परिणमता है वह कर्म के कारण है।' (किन्तु आचार्य) यह भी कहते हैं कि : शुभाशुभभाव से स्वयं परिणमन न करता हो तो संसार भी सिद्ध नहीं होता। वहाँ तो ऐसा कहा है : शुभाशुभभाव से स्वयं अपने से परिणमन न करे तो संसार भी सिद्ध नहीं होता। अतः जिस प्रकार उसका शुद्ध परिणमन है उसी प्रकार शुभाशुभ परिणमन भी उसका ही, उसकी पर्याय में उसके द्वारा है। (इस बात का सुमेल होना चाहिये)। और यह बात तो संवत २०१३ में एक (त्यागी) विद्वान के साथ बहुत हुई कि : विकाररूप परिणमन में-पर्याय में षट्कारक परिणमन स्वयं का है। (उसे) पर के कारक की अपेक्षा नहीं है। यह बात तो बाहर आयी है। किन्तु क्या करे ? पूरी बात ही (बदल गयी)। (मूलमार्ग में) पूरा का पूरा फेरफार।

संप्रदाय की दृष्टि ही पूरी उलटी। आहा..हा...! क्योंकि यहाँ तो ऐसा लिखा कि उदयमात्र से (बंध) होता है... तो उदय तो हमेशा है, तो बंधरहित होने का प्रसंग ही आत्मा को नहीं रहे। ऐसी बात है ! बहुत लिखा है : 'उपादान से ही नहीं होता; (किन्तु) उपादान के बिना भी घड़ा नहीं होता और निमित्त के बिना भी नहीं होता।' (परंतु) यहाँ ('समयसार') गाथा-३७२ में कहते हैं कि: घड़ा कुम्हार से होता है, ऐसा हम नहीं देख रहे। मिट्टी से ही घड़ा होता है। अब, फिर भी लिखे कि : 'नहीं, उपादान के बिना भी नहीं होता और कुम्हार के बिना भी नहीं होता।' अरे बापू ! क्या कह रहे हो यह ?

श्रोता :- निमित्तकारण है न ?

उत्तर :- किन्तु (निमित्त) तो दूसरी चीज है। (निमित्त)कारण जो है वह तो आरोपित है। कारण-फारण कैसा ? उसका कारण तो पर्याय का जो काल है वह स्वतंत्र है। कार्य-कारण तो विकार में स्वयं अपने से षट्कारक है। यह 'पंचास्तिकाय' की ६२वीं गाथा में दिया है : कर्ता आत्मा। वही कारण, वही कर्म, वही अपादान, वही संप्रदान और वही अधिकरण (है)। एक समय की विकृतपर्याय में षट्कारक का परिणमन, पर के कारक की अपेक्षा के बिना, स्वयं से होता है। ऐसी बात है ! मूल में भूल शुरू से ही चली आ रही है। - जैन(संप्रदाय) में 'कर्म के कारण होता है।'

श्रोता :- "धर्मास्तिकाय अभावात्"।

उत्तर :- किन्तु वह किस अपेक्षा से ? वहाँ तो परिणमन की योग्यता ही इतनी है कि जहाँ है उतना वहाँ रहता है। वहाँ धर्मास्तिकाय का निमित्त नहीं है, इतना सिद्ध करना है। वहाँ तो ऐसा भी कहा है : कालद्रव्य के बिना परिणमन होता नहीं है... लो ! वहाँ तो निमित्त को सिद्ध करना है। परिणमन तो प्रत्येक द्रव्य का स्वतः स्वयं स्वभाव है। वह बिना परिणमन का काल कोई हो सकता है ? कि कालद्रव्य होगा तो परिणमन करेगा ? तो ऐसा है कि : लेख तो ऐसा है कि: किसी को कालद्रव्य के बिना परिणमन होता नहीं। वह तो निमित्त है, ऐसा लिया। परिणमन करता है उपादान अपने से। वह निमित्त कालद्रव्य है इतना सिद्ध करना है। परंतु उसके (कालद्रव्य के) कारण वह (दूसरा द्रव्य) परिणमन करता है, (ऐसा नहीं है)।

ऐसी महान बातें। महान बड़ा महान। यह सब मासिक पत्रिका में बहुत आया है। दो पंडितों ने उसकी प्रशंसा की है : बहुत ज्ञान यह तो... अहोहो ! महाप्रखर विद्वान। चारों अनुयोग का यथार्थ ज्ञान कराने के लिये यह वस्तु है ! अब, वे स्वयं ही शुभभाव मोक्षमार्ग है (ऐसा मूलमार्ग से विरुद्ध माने ! आहा..हा...! प्रभु ! तुझे क्या करना है ? यहाँ का (सोनगढ का) एकान्त कहकर अपनी बात अनेकान्त है ऐसा सिद्ध करते हैं !

यहाँ तो कहते हैं : "जिसके लिंग द्वारा अर्थात् उपयोगनामक लक्षण द्वारा" - उपयोग लक्षण स्वयं का है। इसके द्वारा आत्मा लक्षित होता है। और आत्मा के आश्रय से उपयोग होता है, यह तो इसका स्वरूप है। इस उपयोग नाम के लक्षण द्वारा `ग्रहण अर्थात्' (ग्रहण की व्याख्याः) "ज्ञेय पदार्थों का आलम्बन नहीं है।" - भाषा देखो ! दूसरे के आलम्बन से उपयोग प्रगट हो ऐसा वह नहीं है। अतः **"...वह अलिंगग्रहण है।"**

`कर्म के निमित्त से विकार होता नहीं' वैसे विकार का जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान में विकार का ज्ञान है और उस ज्ञान के व्यापार में निमित्त का आलम्बन है; वह ज्ञान - उपयोग आत्मा का नहीं।

राग हुआ वह स्वयं से हुआ... अब, ज्ञान का जो उपयोग है वह राग को जानता है और राग जिसमें निमित्त है ऐसा जो ज्ञान, वह आत्मा का उपयोग नहीं।

आहा..हा...! ऐसी लम्बी बात कहाँ (समझ में आये ?) मूल प्रथम श्रद्धा, वह तो व्यवहारश्रद्धा, (उसका भी अभी कोई ठिकाना नहीं है) निश्चयश्रद्धा तो अंदर में आनंद का वेदन करना, उसका नाम निश्चयश्रद्धा है। निश्चय माने वस्तु जैसी है वैसी प्रतीति में आनेपर, उसमें आनंद है वह आनंद भी वेदन में आना चाहिये; तब उसे निश्चय सम्यग्दर्शन, सच्ची श्रद्धा कहा जाता है। सत्य की सत्श्रद्धा, (अर्थात्) आनंद का सागर भगवान अतीन्द्रियमूर्ति प्रभु की श्रद्धा कब कही जाय ? किः अतीन्द्रिय का स्पर्श करके जो उपयोग-पर्याय होती है, उसे आत्मा का उपयोग कहते हैं कि जिसमें आनंद का स्वाद साथ में हो। परद्रव्य के आलम्बनवाले ज्ञान का उपयोग (है) वह जीव का नहीं। क्योंकि उपयोग में परद्रव्य (के प्रति) लक्ष जाने पर वहाँ आनंद नहीं आता। वहाँ तो आकुलता है। परसम्मुख ज्ञान होता है, वह होता है स्वयं से; वह कोई निमित्त

से नहीं होता; परंतु जिस (ज्ञान) को निमित्त का आलम्बन है, वह उपयोग जीव का नहीं।

(यहाँपर कहा :) "जिसके लिंग द्वारा अर्थात् उपयोगनामक लक्षण द्वारा" - उपयोग नाम का लक्षण कहा। - किसका ? कि : आत्मा का। अब आत्मा का जो लक्षण है वह (यदि) निमित्त के आलम्बन से हो (तो) वह लक्षण ही नहीं है। आहा..हा...! गजब बात करी। कुछ समझ में आया? यह तो धैर्यवान होकर समझने की बात है, बापू !

आहा..हा...! आत्मा उपयोग नाम के लक्षण द्वारा; पहले भाषा ली कि : आत्मा का `लक्षण' उपयोग है। `लक्ष्य' द्रव्य है। अब `उपयोग नाम के लक्षण द्वारा', जो लक्षण लक्ष्य को जाने ऐसे लक्षण में (यदि) परज्ञेय को जानने में पर का आलम्बन हो तो वह उपयोग जीव का नहीं। ये गजब बातें की हैं न...!

आहा..हा...! परसत्तावलम्बी ज्ञान समकिती को भी होता है। परंतु वह स्व उपयोग नहीं। वह ज्ञान का - आत्मा का उपयोग नहीं। जिस उपयोग में निमित्त का अवलम्बन और आश्रय आये वह उपयोग आत्मा का नहीं।

आहा..हा...! यह सब छोड़े और थोड़ा सुन ले, तो मानता है कि समझ में आ गया... ऐसा मनुष्य को हो जाता है ! ऐसी बातें !! ऐसा है बापू ! बहुत सूक्ष्म बातें, बापू ! और वह कब - सामने प्रसंग हो तब वह निकले न... ?

आहा..हा...! भगवान त्रिलोकनाथ जिनेन्द्रदेव ऐसा कहते हैं कि : उपयोग ज्ञान-दर्शन का है; वह आत्मा का लक्षण है; अर्थात् वह तो आत्मा को जाने। (परंतु) वह लक्षण पर को जानने की ओर ढला हो (तो) वह लक्षण आत्मा का नहीं। (वह) आत्मा का उपयोग नहीं।

श्रोता :- क्या बारह अंग का ज्ञान आत्मा का नहीं है ?

उत्तर :- (वह) नहीं। बारह अंग का पर की तरफ के झुकाववाला ज्ञान वह (आत्मा का नहीं)।

श्रोता :- भावश्रुत ?

उत्तर :- आत्मा का भावश्रुत स्व के आश्रय से होता है। द्रव्यश्रुत का जो ज्ञान है वह तो शब्दज्ञान है। कहा नहीं बंध अधिकार में ? ज्ञान इसका (आत्मा का) लक्षण।

और वह ज्ञान पर को जानने की ओर झुके - जिसका लक्षण है इसे जानने की तरफ न ढले और जिसका लक्षण नहीं है उसकी ओर झुके - वह आत्मा का उपयोग नहीं।

आहा..हा...! गजब बात है !! यह दिगंबर संतों के सिवा (अन्यत्र नहीं है)। सत्यधर्म, चारित्र को प्रगट करके बोल रहे हैं। (जिनकी) पर्याय में चारित्रपना है वे कहते हैं कि : हमें - हमें जो ज्ञान का उपयोग, - पर जिसका लक्षण नहीं है और पर जिसका लक्ष्य नहीं है - जानने का उपयोग, वह तो जीव का लक्षण है; इसका लक्ष्य जीव है; उसकी बजाय पर के लक्ष्य में यह उपयोग ढले (तो) उस उपयोग को आत्मा का नहीं कहते। गजब बात करते हैं ! ऐसी बातें !! आहा..हा...! यह तो अंदर की बातें हैं, बापू !... क्या करें ?

कहते हैं कि : प्रभु ! तू कौन है ? कि : ज्ञान-जानना (इस) लक्षण द्वारा लक्षित हो ऐसा तू है। अथवा लक्ष्य से जो उपयोग होता है, वह उपयोग तेरा है। आहा..हा...! जो लक्ष्य वस्तु है भगवान-आत्मा; इसके लक्षपूर्वक जो उपयोग होता है, वह उपयोग जीव का है। और वह उपयोग मोक्ष का साधन है। आहा..हा...! गजब बात है !! उसे धीरे... धीरे समझना चाहिये, भाई ! ये तो अध्यात्म की - अंतर की बातें हैं ! जिस उपयोग में पर का आलम्बन हो, वह उपयोग नहीं। गजब बातें हैं !!

श्रोता :- पराधीन है न ?

उत्तर :- पराधीन - पर का अवलम्बन लेता है न...! और जिसका - लक्षण है उसका लक्ष्य ही नहीं है। लक्षण का लक्ष्य तो भगवान अंदर चिदानंद प्रभु पूर्ण है। इसके लक्षपूर्वक हुआ उपयोग है, वह आत्मा का है। और जिसका लक्षण नहीं है ऐसे निमित्त के अवलम्बन से जो उपयोग होता है, वह उपयोग जिस (आत्मा को) नहीं है। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं !! अरे ! यहाँ तो जन्म-मरण का उन्मूलन (जड़सहित नष्ट) कर देने की बातें हैं। चौरासी का अवतार हो - वह भाव जिसका नहीं है; परंतु वह पर के लक्ष से हुआ ज्ञान का उपयोग - वह भी उसका नहीं है। जो स्व के लक्ष से उपयोग प्रगट हो वह उपयोग मोक्ष का कारण है। पर के लक्ष से जो उपयोग होता है वह (तो) बंध का कारण है (अर्थात्) परसत्तावलम्बी उपयोग बंध का कारण है। आहा..हा...! इसलिये कहा कि : यह तो, बापू ! अंतर की बातें

हैं। यह कोई वादविवाद करके (अंदर में बात) बैठ जाये ऐसा नहीं है। इसमें पंडिताई का कोई काम नहीं है।

पुनश्च, वहाँ तक लिखते हैं कि : 'अशुभ छोड़ने के लिये बहुत रुचिपूर्वक शुभ करना।' - कहो भाई ! ऐसा। अरेरर... यह तू क्या कहता है, प्रभु ? ऐसा लिखते हैं : 'रुचिपूर्वक शुभ। और वह साधन है। निर्विकल्प समाधि-शांति होने का वह (शुभभाव) साधन है।' अरे भगवान... प्रभु ! तु क्या कहता है, करता है ? आहा..हा...! (लिखते हैं :) 'अशुभ मिटाकर बहुत रुचिपूर्वक शुभ करना कि जिस शुभ को करते-करते उसे निर्विकल्प सम्यग्दर्शन और शांति मिले।' आहा..हा...! प्रभु ! क्या करते हो तुम यह ? फिर, वहाँ, यहाँ तक लिखा है : 'यदि ऐसा न हो तो हमें समकित व सुख को आवरण है।' (भाई) तुम्हारे अशुद्ध उपादान का आवरण है उसके कारण समकित और सुख नहीं। ऐसा कहते हैं : 'देखो ! पर से कुछ न हो सकता हो तो हमें सुख व समकित को आवरण है।' - ऐसा है। अरे...रे ! उसमें लिखा है : 'अशुभ को रुचिपूर्वक छोड़ना और रुचिपूर्वक शुभ करना, (क्योंकि) निर्विकल्पस्वरूप का वह साधन है। यदि ऐसा न हो तो हमें समकित व सुख क्यूँ नहीं है ? - उस समकित व सुख को कर्म का आवरण है।' अरे प्रभु ! क्या करता है तू यह ? समकित को भावआवरण तो 'विपरीत मान्यता' (है) वह उसे आवरण है। (अर्थात्) विपरीत श्रद्धा (है) वह समकित को 'आवरण' है। और 'विपरीत परिणाम-दुःख' वह सुख को आवरण है। कर्म-फर्म की बात... परद्रव्य के साथ क्या संबंध है कुछ भी ? (किन्तु) कहते नहीं : 'कोई ऐसा कहे कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ न करे, किंचित् भी न कर सके' - बिलकुल एकान्त है ! ऐसा कहते हैं।

श्रोता :- क्या 'कषाय' आवरण नहीं है 'कर्म' आवरण है ?

उत्तर :- 'कर्म' आवरण है, ऐसा वे कहते हैं। (अरे !) अपनी मिथ्याश्रद्धा (है) वह आवरण है भावघाति। 'प्रवचनसार' १६वीं गाथा में आता है न...! द्रव्य-भावघातिकर्म। भावघाति मूल कारण है। द्रव्यघाति तो निमित्त है। अरेरे ! यहाँ... कहाँ इतनी फुर्सत भी कहाँ ? और पढ़ा तो ऐसा उलटा पढ़ा ! और 'प्रवचनसार' ४३वीं गाथा में तो ऐसा भी कहा : ज्ञान से बंध नहीं है और कर्म के उदय से भी बंध नहीं है। दोनों बातें ली हैं। राग-द्वेष के परिणाम करे वह बंध का कारण है, उदय बंध का कारण

नहीं है। यहाँ ज्ञान बंध का कारण नहीं है।

यहाँ पर कहते हैं कि : आत्मा का पर(सम्मुख) उपयोग (वह) भी बंध के कारण को नष्ट करे ऐसा नहीं है। यह आता है न... `परमार्थवचनिका' में : परसत्तावलम्बी ज्ञान को धर्मी मोक्ष का कारण कहते नहीं। आहा..हा...! गृहस्थ समकिती जीवों ने भी (गजब) काम किये हैं न...! भाग्योदय से दिगंबर में जन्म हुआ और जन्म होने के बाद वस्तु की प्राप्ति ! आहा..हा...! इसमें है अन्यत्र है नहीं कहीं (यह बात)। उन्होंने ऐसा अंदर से कहा कि : ज्ञानमात्र - ज्ञानस्वभाव वह तो बंध का कोई कारण नहीं है। वैसे कर्म का उदय है वह तो परवस्तु है, उसको लेकर (वह) बंध का कारण नहीं है। दोनों बंध के कारण नहीं हैं, तो फिर बंध का कारण है कौन? कि : राग और द्वेष के परिणाम, वे बंध का कारण हैं। सुबह अपने `बंध अधिकार' में आया न कि : उपयोग की भूमिका में राग-द्वेष को करे वह बंध का कारण है। चारों ओर की बात देखो तो एकधारा निकलती है। आहा..हा...! उदय से बंध होता हो तो फिर किसी भी दिन बंधरहित हो ही नहीं सकता। स्वयं अंदर राग-द्वेष का भाव करे तो वह बंध का कारण है। वे राग-द्वेष कोई कर्म से हुए नहीं हैं, और आत्मा का स्वभाव नहीं हैं; उपाधिभाव हैं।

आहा..हा...! आत्मा क्या है ? - यह तो ज्ञानस्वरूपी प्रभु; ज्ञान का स्व के लक्ष से व्यापार करे, वह उपयोग; यह मोक्ष के कारण में आता है। इसे ही जीव का उपयोग कहते हैं; आत्मा का ही उपयोग कहते हैं। यह आत्मा जहाँ मोक्ष के कारण में है (वहाँ) उसे स्वयं का उपयोग भी मोक्ष के कारण में है।

आहा..हा...! ऐसी बातें हैं !! विरल विरल विरल जीव को जचे ऐसी बात है। `योगसार' में आता है : `विरला जाने तत्त्व को, और सुने कोई; विरला ध्यावे तत्त्व को, विरला धारे कोई' ओहो...! दिगंबर संत और दिगंबर के गृहस्थ भी अलौकिक बातें कर गये हैं। (खानिया) तत्त्वचर्चा में (सामनेवाले) ऐसा कहते थे : जितना आचार्य का कथन है इतना बराबर है, गृहस्थों का नहीं। (परंतु) एक पंडित ने कहा : गृहस्थ पंडितों का भी हमें मान्य है। उन लोगों को टोडरमलजी और बनारसीदासजी का कहना मान्य नहीं है। उन्हें मानने जाय तो जो शास्त्र के रहस्य खोल कर दिये हैं (वे मान्य रखने पडेंगे)।

(यहाँ कहते हैं :) "उपयोगनामक लक्षण द्वारा" - किसका लक्षण है ? वह तो आत्मा का लक्षण है। उसके द्वारा `ग्रहण अर्थात् ज्ञेय पदार्थों का आलम्बन जिसे नहीं है।' आहा..हा...! उपयोग नाम के लक्षण को जो ज्ञेयरूप परपदार्थ है (वह) चाहे तो तीर्थंकर हो, तीर्थंकर की वाणी हो, या शास्त्र के ये पृष्ठ हो, वह परज्ञेय; उसका आलम्बन नहीं है। (अर्थात्) उपयोग नाम के लक्षण द्वारा, परज्ञेय के उपयोग में जिसे (पर का) आलम्बन नहीं है इसे अलिंगग्रहण कहा जाता है। ज्ञेय के आलम्बन से होनेवाला (ज्ञान) वह लिंग है। आत्मा अलिंगग्रहण है। उससे (लिंग से) आत्मा ग्रहण हो नहीं सकता।

आहा..हा...! यह तो चमत्कारिक अध्यात्मग्रंथ है। उनकी (आचार्यदेव की) वाणी में चमत्कृति है। उनकी वस्तु में चमत्कृति है, उस चमत्कृति को वाणी के द्वारा खुला किया है !

कई बार (हम) कहते हैं न...! आकाश का अंत कहाँ ? तू कोई भी विचार नास्तिकतापूर्वक भी कर न...! यह... यह... यह आकाश इस प्रकार, इस प्रकार है इसका अंत आ सकता है क्या? इसके बाद... इसके बाद... इसके बाद... इसके बाद... इसके बाद... इसके बाद... अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... अनंत को अनंतगुना करो ऐसा अनंत चला जाय दूर... तो भी आकाश का अंत नहीं है। - क्या चीज है यह ? जिसके क्षेत्र की भी चमत्कृति जहाँ अनंत है ! जिसके काल की चमत्कृति... आदि नहीं ! आदि नहीं तो भी पहला कब ? अरे ! पर्याय पहली कब ? लो इस प्रकार लो चलो। पर्याय तो नवीन परिणमित होती है - तो पर्याय पहली कब ? - क्या है यह वस्तु, बापू ! यह चमत्कृति है : पर्याय पहली कैसी ? द्रव्य जिस प्रकार अनादि है उस प्रकार साथ में पर्याय अनादि ही है। आहा..हा..हा...! यह तो अंदर जरा विचार में ले तो (दिमाग में) बैठे ऐसा है, बापू ! ऐसे ही (कुछ नहीं बैठेगा दिमाग में)।

संवत् १९७१ की बात है। एक नास्तिक था। उससे कहा, भाई ! जाननेवाला तो आत्मा है न... ? वह जाननेवाला, यह आकाश कहाँ पूरा होगा... यह निश्चित करेगा क्या ? यदि पूरा हो जाय, तो उसके बाद फिर क्या ? फिर क्या... तो क्या है यह ? जिसके क्षेत्र की भी अद्भुतता - अचिंत्यता ! उसके जाननेवाले भगवान

की अचिंत्यता की तो क्या बात करनी ? ? यह (आत्मा) तो अंदर चैतन्य - चमत्कारिक प्रभु कोई चिंतामणिरत्न है !! आहा..हा...! जिसके काल की आदि का विचार करने पर भी (अचिंत्यता भासित होती है तो वहाँ द्रव्य की तो क्या बात करें ?!)

वे (वेदान्ती) कहते हैं : ईश्वर ने किया। किन्तु ईश्वर के करने से पहले क्या था ? पहले खाली था ? तो ईश्वर स्वयं कहाँ से हुआ ? वे अनादि थे; तो फिर यह वस्तु भी अनादि है। और वह अनंतकाल तक रहने के बाद विचार आया तब किया ? अनंत अनंतकाल बीत गया फिर कहा 'अब करूँ' तो इसका मतलब क्या हुआ ? बापू ! तुझे वस्तु की खबर नहीं है : प्रत्येक वस्तु चमत्कृतिक है !

आहा..हा...! जिसे काल की आदि नहीं... अरे ! जिसकी पर्याय की आदि नहीं, भले, द्रव्य की आदि तो नहीं; परंतु पहली पर्याय - द्रव्य की अवस्था - हालत - संसार की हालत जो अनादि से है उस अनादि में आदि - कौन-सी अवस्था उसकी पहली हो ? उस प्रकार जो सिद्धभगवान हैं उनमें पहले (प्रथम) सिद्ध कौन-से ? आहा..हा...! वह सिद्ध परमात्मदशा भी अनादि की है। अनंत सिद्ध (हैं)। यहाँ संसारदशा-विकृत अवस्था भी अनादि की है। काल भी आदि बिना का। क्षेत्र भी बिना आदि का, और प्रत्येक द्रव्य के भाव अंत बिना के, अमाप शक्तिवान। जिसके क्षेत्र का नाप नहीं, काल का नाप नहीं, पर्याय की आदि नहीं - ऐसा जो चैतन्यभगवान; उसके जो गुण; उन गुणों का नाप नहीं, अंत नहीं। यहाँ (शरीराकार) क्षेत्र; उसका अंत आ गया वह अलग बात; किन्तु भाव की संख्या का अंत नहीं। - ये क्या कह रहे हैं यह ? ऐसा अमाप... अमाप, जिसका नाप न मिले ! अनंत का नाप (ज्ञान) पर्याय में आ जाता है, लेकिन उस अनंत का अनंतता के रूप में ज्ञान आ जाता है। गुण अनंत हैं, उसका (अनंत का) नाप ज्ञान में आया, अतः उन अनंत गुण का अमापपना है वह नाप में आया इसलिये वहाँ नाप है (अंत है, ऐसा नहीं)। आहा..हा...! ये तो गजब बातें है, बापू ! जैनदर्शन यह वस्तु का स्वरूप है। यह कोई पंथ या संप्रदाय नहीं है। इसमें ऐसी बातें करी हैं ! दूसरा कोई (ऐसी बात कहनेवाला) लाओ तो सही ! परमेश्वर त्रिलोकनाथ, वे भी सर्वज्ञरूप से अनादि के हैं। तीनकाल के जाननेवाले का तीनकाल में कभी भी विरह नहीं होता ! - क्या कहते हैं, बापू ! यह क्या है ?

ये लोग तो कहते हैं कि - जैनधर्म बनियों का है; 'वह तो बनियों का' ऐसा कहकर उड़ा देते हैं। अरे प्रभु ! तू क्या करता है ? आहा..हा...! वह वस्तु का स्वभाव ही अनादि का है। द्रव्य-गुण व पर्याय, वे अनादि के हैं। वस्तु में शुद्धता भी अनादि की है। इसमें जरा भी अशुद्धता हुई नहीं है। पर्याय में चाहे जितनी अशुद्धता बीत चुकी हो, (अर्थात्) अनंत अनंत दुःख नरक में सहन किये, फिर भी, द्रव्य में कभी भी कमी हुई हो (ऐसा नहीं है)। क्या कहते हैं यह ? भाई ! तूने इसके अस्तित्व का विचार किया नहीं है ! आहा..हा...! ऐसे विचारपूर्वक अस्तित्व की प्रतीति करे (तो) निर्विकल्प दृष्टि हो जाय ! कुछ समझ में आया ? निर्विकल्प दृष्टि के बिना, अचिंत्य ऐसे स्वभाव की प्रतीति कभी नहीं आयेगी। जो अचिंत्यस्वरूप है; जिसके गुणों की संख्या का कहीं अंत नहीं है... कहीं अंत नहीं है। गिनती में, हाँ ! कि यहाँ अनंत गुण पूर्ण हुए लो। - क्या है यह? बापू ! वस्तु की अस्तित्वशक्ति का वर्णन (जो) सर्वज्ञ ने कहा, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं है। - ऐसा अपना आत्मा भी अंदर से पुकार उठेगा।

ऐसे अमाप... अमाप... जिसके (गुणों) की संख्या का नाप नहीं; किन्तु 'नाप नहीं' तो फिर जब कहा कैसे ? 'नाप नहीं है' तो उसके ज्ञान में आया कैसे ? आहा..हा...! इस (उपयोग) लक्षण द्वारा, द्रव्य के अमाप गुण का नाप किस प्रकार से आया ? बापू ! वह अमाप है उसका अमाप रूप में नाप आया। ऐसी बात है !! (अमाप है) फिर भी नाप की (नाप लेनेवाली) पर्याय में उसका नाप आया। जिस प्रकार आकाश अनंत है, तो ज्ञान में अनंत को अनंतपने से जाना। ज्ञान में अनंतरूप जाना तो कोई अनंत का अंत आ गया क्या ? (ऐसा नहीं है)। अरे ! कब उसने अंदर विचार करके वस्तु को अस्तिरूप माना है ? यूँ ही ओघसंज्ञापूर्वक-पीछे-पीछे अनादि से चलता जा रहा है !

यहाँ पर तो परमात्मा ऐसा कहते हैं : उपयोग जो है वह लक्षण तो जीव का है, प्रभु ! ऐसा कहा न...! 'उपयोगनामक लक्षण द्वारा' - वह लक्षण किसका ? आत्मा के उपयोग नाम के लक्षण द्वारा - आत्मा लक्ष्य होता हो, और जो उपयोग उसके (आत्मा के) लक्ष्य से आये (यह आत्मा का उपयोग है)। इसके सिवा, जो लक्षण परज्ञेय का आलम्बन लेकर (लक्षण) उत्पन्न हो तो वह (लक्षण) उपयोग जीव का नहीं।

क्योंकि जिसका वह लक्षण नहीं है, उसका ज्ञान किया।(इसलिये वह लक्ष्यभूत (आत्मा) का लक्षण नहीं है)। आहा..हा...! गजब बात करते हैं न...! यह ज्ञान लक्षण जिसका है उसका लक्ष्य - ज्ञान न होकर, जो लक्षण इसका नहीं है उसके अवलम्बनपूर्वक यहाँ ज्ञान होता है, वह 'लिंग' (है, जोकि) स्वरूप में नहीं है। आहा..हा...! भाषा तो सादी है। थोड़ी-थोड़ी पकड़ने में आये ऐसी है। आहा..हा...! बापू ! यह तो ऐसी वस्तु है, भाई! जिसका लक्षण है उस लक्षण में पर का ज्ञान हो (तो वह लिंग-ज्ञान है, आत्मज्ञान नहीं)।

स्व के लक्षपूर्वक उपयोग में 'स्व परप्रकाशक' आये वह तो 'स्व' के लक्ष से आया हुआ (ज्ञान) है। उस लक्षण का स्वभाव स्व परप्रकाशक है। और स्वरूप का - ज्ञान-दर्शन का स्वभाव भी स्वपरप्रकाशक है। तो स्व परप्रकाशक (ज्ञायक) के लक्ष से ज्ञान की पर्याय प्रगट हुई यह जीव का उपयोग है। परंतु जिसे स्व के लक्ष बिना, जितना पर के लक्षपूर्वक ज्ञान का उपयोग हो (उतना उपयोग जीव का नहीं)। - यह 'ग्रहण' का अर्थ किया ! प्रभु ! गजब करते हैं न !

'जिसके उपयोगनामक लक्षण द्वारा' - 'जिसके' कहा न ? जिसके अर्थात् आत्मा के। प्रथम शब्द है न...! 'जिसके लिंग द्वारा' यानी कि, जिसे उपयोग नाम के लक्षण द्वारा, जिसे ग्रहण यानी कि, जिसे ज्ञेय पदार्थों का आलम्बन नहीं है।

आहा..हा...! यह तो, बापू ! वीतराग की वाणी, संतों की वाणी यह तो चमत्कारिक वाणी है। यह कोई कथा-वार्ता नहीं। (यहाँ तो) भगवत्-स्वरूप प्रभु का वर्णन किया है ! आहा..हा...! पर्याय की आदि नहीं है, उसको भी ज्ञान ने स्व के लक्षपूर्वक जान लिया। क्योंकि स्व को जाना तब अनादि-अनंत, स्व की पर्याय ज्ञात हुई न ! स्व को जानने पर अनादि-अनंत पर्याय स्व के लक्ष से ज्ञात हुई; यह उपयोग इसका (अपना है)। किन्तु उसे पर के लक्ष के - आलम्बन से - निमित्त का जितना ज्ञान है, वह लक्षण, उसका (स्वयं का) नहीं है; वह लक्षण तो उसका (पर का) है। वह लक्षण उसे (पर को) जानने का काम करता है।

आहा..हा...! ऐसी बातें हैं, बापू ! भाग्यवान के ही कानों में पड़े ऐसी बातें हैं ! अरे ! क्या कहें ? भगवान के श्रीमुख से निकला हुआ तत्त्व है ! समवसरण में - दिव्यध्वनि में यह बात आयी है; वह बात यह है।

यहाँ तो अभी (लोग मानते हैं कि :) शुभराग मोक्ष का मार्ग (है) ! अरे, प्रभु ! तू कहाँ (खो) गया? यह क्या करता है तू ? यहाँ पर तो (कहा :) परलक्षवाला ज्ञान जीव का नहीं। तो परलक्षवाला जो राग है वह जीव को लाभ करेगा ? अरे...प्रभु ! तुम क्या कहते हो यह ? मिला नहीं है न... उसे यह (तत्त्व) मिला नहीं है। अरे ! इसकी प्रभुता, इसकी चमत्कृति शक्तियाँ, और इसकी चमत्कृति पर्यायों का इसे पता नहीं है, प्रभु ! आहा..हा...! ऐसा जो भगवानआत्मा (यह स्वयं ही है)।

भाषा तो सादी है, प्रभु... हाँ ! भाषा कोई ज्यादा कठिन नहीं है। ध्यान रखे तो वह पकड़ में आये ऐसी (बात) है। भाव गहरे हैं, प्रभु ! आहा..हा...! तेरी गहराई की क्या बात करें ! पाताल कुएँ में जिस प्रकार पानी गहराईमें से फूटकर बाहर आता है, फुव्वार-सी धारा उड़कर ऊपर आती है। उसप्रकार लक्ष्य के आश्रय से जो लक्षण उत्पन्न होता है (वह यदि अंतर्मुहूर्त लक्ष्य में स्थिर हो तो केवलज्ञान फटता है) ! आहा..हा...! ऐसा किसी दिन सुना नहीं है।

आहा..हा...! कहते हैं कि : जो लक्षण नहीं है उसे लक्षण जाने तो उस उपयोग को आत्मा का उपयोग नहीं कहते। जिसका लक्षण है इसे वह जाने उसे यहाँ पर जीव का - आत्मा का उपयोग कहते हैं कि जिस उपयोग के द्वारा शरणभूत केवलज्ञान प्राप्त होता है; इस उपयोग को उपयोग कहते हैं। पूर्ण के लक्ष से जो उपयोग हुआ वह पूर्ण पर्याय की प्राप्ति के कारणरूप होता है इसे यहाँ पर उपयोग कहा जाता है। आहा..हा...! - अंत नहीं, बापू ! क्या कहें ? इसकी जो अचिंत्यता दिखती है इतनी भाषा में नहीं आ सकती। कुछ समझ में आया ?

(कहते हैं :) "...ग्रहण अर्थात् ज्ञेय पदार्थों का आलम्बन नहीं है, वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार `आत्मा के बाह्य पदार्थों का आलम्बनवाला ज्ञान नहीं है'..."

आहा..हा...! धीरे धीरे कहा जाता है... विचार करना हो तो साथ ही साथ विचार कर सकता है, बापू ! यह तो चैतन्य चक्रवर्ती को प्राप्त करने की बात है। उन चक्रवर्ती के राज्य तो प्राप्त किये... भले ही ! सम्यक्त्व पाने के बाद... हाँ ! मिथ्यादृष्टि को इतना पुण्य नहीं होता; सम्यक्त्व पाने के बाद पुण्य हो उसे चक्रवर्तीपद मिलता है। मिथ्यादृष्टि के पुण्य में चक्रवर्तीपद हो सकता नहीं। उस प्रकार आत्मा को पर के संयोग से आत्मा का चक्रवर्ती(पना) (यानी कि) पूर्णदशा प्राप्त नहीं होती। कुछ

समझ में आया ?

श्रोता :- `समयसार' पढ़ना हो तो स्व का आलम्बन किस प्रकार करना ?

उत्तर :- आलम्बन सीधा आत्मा का (लेना) - एक ही बात ! उस (`समयसार')में से निकालना यह। शास्त्र पढ़कर यह निकालना कि : स्व का लक्ष करना यह उपयोग लक्षण; इससे आत्मा का कल्याण है। राग से तो कल्याण नहीं है; शुभयोग से तो मोक्षमार्ग नहीं है; परंतु परावलम्बीज्ञान से भी मोक्षमार्ग नहीं है। क्योंकि मुक्तस्वरूप भगवानआत्मा - अबंधस्वरूप कहो या मुक्तस्वरूप कहो (एकार्थ है)। (इस) मुक्तस्वरूप के आश्रय से - लक्ष से जो उपयोग हुआ यह मुक्ति का कारण है। (अर्थात्) पर्याय में मुक्ति का यह कारण है।

श्रोता :- परावलम्बीज्ञान ?

उत्तर :- परावलम्बी (है) वह सब पर का ज्ञान (है)। वह तो आया था न...! समकिती को स्व के उपयोग के सिवा, जितना (उपयोग) पर के ऊपर जाता है वह परावलम्बी (उपयोग) है; उसे मोक्षमार्ग नहीं कहते।

चिंतामणि (रत्न) देवअधिष्ठित पथ्थर होता है। (मनुष्य) अंदर विकल्प में चिंतवन करे `कोठी चाहिये' इतने में कोठी तैयार। `अरब रुपयें चाहिये' इतने में अरब का ढेर हो जाय। ऐसा वह चिंतामणि पथ्थर है। आहा..हा...! आत्मा चिंतामणिरत्न (है); इसकी ओर का ध्यान होने पर शांति व आनंद के ढेर होते हैं। बहिन में (`बहिनश्री के वचनामृत' में एक बोल में) आता है। बात सच्ची है।

आत्मा को बाह्य पदार्थों के आलम्बनवाला ज्ञान नहीं है। जो स्व के लक्ष बिना का, पर के लक्षवाला जितना उपयोग है उस ज्ञान को ज्ञान नहीं कहते। तो फिर दया, दान, व्रत और भक्ति के परिणाम (वह तो) राग (है); यह राग, मुक्तस्वरूप भगवानआत्मा के मोक्ष का (अर्थात्) इसके परिणाम की पूर्ण प्राप्ति के हेतु कार्य करे (ऐसा नहीं है)। भाई ! बहुत फर्क (मान्यता में है)। लोगों को भले ही कठिन लगे परंतु मार्ग तो `यह' है !

वे लिखते हैं कि : `रुचिपूर्वक शुभउपयोग करना। क्योंकि उससे शुद्धता-निर्विकल्पता प्राप्त होगी। क्योंकि यदि आत्मा को समकित व सुख न हो तो उसे आवरण है। और अभी (समकित व सुख) नहीं है तो उसे कर्म का आवरण है। उसे वह (कर्म

का) आवरण न माने (तो) वे एकान्त माननेवाले हैं...' अरे, प्रभु ! क्या कह रहा है तू ? अरेरे...! परमात्मा का विरह हुआ। परमात्मपद प्रगट होने में विरह हुआ... (क्या करें) ?

(यहाँ तो) इसका जो मति-श्रुत का उपयोग, जो स्व के आश्रय से - स्व के लक्षपूर्वक प्रत्यक्ष हो (तो) इस उपयोग को वास्तविक उपयोग कहा जाता है। परलक्षीज्ञान तो परोक्ष है। उसमें स्व नहीं आता। कुछ समझ में आया ? आत्मा को बाह्य - पदार्थों के आलम्बनवाला ज्ञान नहीं है। "**...ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।**" - `अलिंगग्रहण'में से ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। उसमें से ऐसा भाव निकलता है। ये सात बोल हुए। आठवाँ बोल :-

"**जो लिंग को अर्थात् उपयोग नामक लक्षण को ग्रहण नहीं करता अर्थात् स्वयं (कहीं बाहर से) नहीं लाता...**" आहा..हा...! यह ज्ञानस्वरूपी भगवान; इसका जो लक्षण है, वह लक्षण कोई बाहर से नहीं आता। पहले इन्कार किया कि : इस उपयोग को आलम्बन नहीं है। अब, जो उपयोग हुआ, यह बाहर से नहीं लाता। (अर्थात्) अंतर के लक्ष से लक्षण हो, वह लक्षण बाहर से नहीं आता। आहा..हा..हा...! है...! "जो लिंग को अर्थात् उपयोग नामक लक्षण को ग्रहण नहीं करता।"

आहा..हा...! ऐसा उपदेश !! सूक्ष्म लगे लोगों को... हाँ ! इसलिये लोग बेचारे बाहर व्रत, तप और भक्ति में ढल गये। अरेरे...अहा ! भटकने के मार्ग पर। भगवानआत्मा को भ्रमण बंद होने का कारण, ऐसा जो व्यापार, वह उसके हाथ नहीं आया; और हाथ आने की बात (भी) उसे सुनने नहीं मिली; और व्यवहार से श्रद्धा में (भी) आयी नहीं। (तो) उसका वीर्य कैसे काम करेगा?

आहा..हा...! "उपयोग नामक लक्षण को ग्रहण नहीं करता।" अर्थात् "जो लिंग को" कहा न...? (अर्थात्) "उपयोग नामक लक्षण को ग्रहण नहीं करता अर्थात् स्वयं (कहीं बाहर से) नहीं लाता..." यह उपयोग तो अंतर के लक्ष से ही प्रगट होता है। यह उपयोग अंदरमें से आता है। आहा..हा..हा...! जो आत्म का स्वरूप, अंदर आनंदकंद प्रभु ! इसका (जो) लक्षण है, वह इसके लक्ष से बाहर आता है, प्रगट होता है। आहा..हा...!! यह उपयोग कोई बाहर से नहीं आ सकता। और बाहर से जो कोई आये वह उपयोग जीव का नहीं। विशेष कहेंगे...

प्रवचन : दि. १३-१२-१९७७

१७२ गाथा। यह गाथा प्रत्येक शास्त्र में है : `समयसार' में है, `प्रवचनसार' में चल रही है, `पंचास्तिकाय' में है, `नियमसार' में है, `अष्टपाहुड' में है और `धवल' के दूसरे भाग में भी है। यह प्राचीन गाथा, पूरे रहस्य को बतानेवाली है ! प्राचीन गाथा है।

(यहाँ) हम तो `अलिंगग्रहण' पढ़ रहे हैं। परंतु पहले ऐसा आया है कि : यह आत्मा जो है यह रसरहित, (रूपरहित), गंधरहित, स्पर्शरहित, शब्दरहित, संस्थान (आकार)रहित (है)! यह तो पुद्गल (को भिन्न) कहा। वह और अन्य चार जो अजीव द्रव्य हैं, उनसे भिन्न करने का `साधन' आत्मा चेतनमय है। देखो ! अंदर (पाठ में) : "...**चेतनागुणमयपना है...**" - "**पुद्गल तथा अपुद्गल ऐसे समस्त अजीव द्रव्यों से विभाग का साधन तो चेतनागुणमयपना है;...**" आहा..हा...! `चेतनागुणवाला' ऐसा भी नहीं लिया। इस प्रकार `चेतनागुण' जो है वही अन्य द्रव्यों से और पुद्गल - अजीव से विभाग करने का `साधन' है, आहा..हा...! यहाँ तो, (जो) राग और विकल्प है उससे भी भिन्न करने का साधन चेतनागुणमय(पना) है। - वह `साधन' है !

यहाँ (एक आर्यिका) कहती है कि : `राग की यह क्रिया बहुत रुचिपूर्वक करना; वह निर्विकल्प आत्मज्ञान पाने का साधन है !' अब यह तो... क्या करें ? (तत्त्व) मिला नहीं है ! अरे! उसे हित तो करना है न ? (परंतु) हित क्या करने से होगा ? (उसे वहाँ) वस्तु मिली नहीं है !

अंदर चेतनागुण, जाननस्वरूप, जाननस्वरूप से भरा हुआ भगवान - यह चेतनागुणमय आत्मा; यह अन्य से विभाग करने का `साधन' है ! अन्य से भिन्न करके चेतनागुणमय को पकड़ना, इसका अनुभव करना, यह `साधन' है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

बात तो ऐसी है, भाई ! यह प्रथम बात। अलिंगग्रहण कहने से पहले के शब्दों का अर्थ है।

आहा..हा...! यह रसगुण के स्वभाववाला भगवान(आत्मा) नहीं है। अतः रस से विभाग करने का 'साधन' चेतनागुणमय आत्मा... चेतना... चेतना... ज्ञायक... ज्ञायक स्वभावमय आत्मा; इसे पर से भिन्न करने का साधन यह (चेतनागुणमयपना) है। जिस प्रकार ('समयसार' गाथा-२९४ में) 'प्रज्ञा(रूपी) छैनी' कही। राग से भगवानआत्मा को प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान(रूपी) छैनी से उसका विभाग करना।

आहा..हा... ऐसी बात है !! भाई ! कठिन लगे... किन्तु क्या करें ? प्रभु ! मार्ग तो यह है। उसने (अंतर विवेक) कभी किया नहीं है। यूँ ही जगत के प्रपंचों में ही जिंदगी पशु की तरह व्यतीत कर दी ! दृष्टांत नहीं दिया है कि - जिस प्रकार हाथी को चूरमा (के लड्डू) और घास इकट्ठा दो तो वह 'चूरमा और घास अलग है' उसका विवेक नहीं करता। चूरमे के लड्डू और गन्ने के फोके इकट्ठे दो, तो वह फोके और चूरमा को मिलाकर खाता है। किन्तु चूरमा अलग चीज है और फोके अलग चीज है, ऐसा तो वह जानता नहीं है। उस प्रकार अज्ञानी, पुण्य व पाप के भाव (हैं) वे फोकों के समान विकार हैं। और भगवान(आत्मा) अंदर गन्ने के रस जैसा मीठा आनंदकंद है। उस आनंदकंद का सीधा अनुभव नहीं करके वह राग के मिश्र फोके में आत्मा का वेदन करता है अतः वह रागी और दुःखी है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? वह दृष्टांत दिया है न... हाथी का। उस प्रकार अनादि का यह आत्मा, चूरमा की माफिक अतीन्द्रियआनंद की मीठास से भरा हुआ भगवानआत्मा, अतीन्द्रिय-आनंद का कंद-पिंड-ध्रुव; राग से भिन्न करके इसका अनुभव करना चाहिये : तो इसका नाम 'धर्म', और उसी का नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान कहा जाता है; इस (आत्मा को) नहीं जानकर, राग और दया, दान, व्रत, भक्ति के कार्य में लग गया! शुभ और अशुभ। हिंसा-झूठ... यह कमाई करना और दुकान की व्यवस्था बनाये रखना, वह सब तो मात्र पाप। पैसों का सूद पैदा करना और पैसों को जगह-जगह लगाना। लगाना मतलब दो-पाँच करोड़ (रुपये) हो तो अकेले तो ज्यादा व्यापार कर नहीं सकता, तो किसी को दस लाख, पन्द्रह लाख दे... मेरा सूद प्रतिशत के हिसाब से लगेगा... और सूद प्रतिमाह देना। हरेक महीने पता करने के लिये आऊँगा।

कोई डकार न जाय। है न ऐसा; होता है न...! सब देखा है। ये सब मात्र पाप के परिणाम हैं। उनसे तो भिन्न; किन्तु यहाँ दया, दान, व्रत भक्ति के शुभ परिणाम होते हैं वे फोका हैं, घास हैं, उनसे भगवान(आत्मा) अंदर भिन्न है। इसकी अनुभवदशा, पर से भिन्न, प्रगट न करे तब तक उसके जन्म-मरण (टल नहीं सकते)। चौरासी के - कौए, कुत्ते के, हाथी के, चीटी के - भव करके वह मर गया। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

'भव का छेद' शब्द 'अष्टपाहुड' में आता है। भव का छेद उसे कहें कि, राग जो पुण्य दया-दान, काम-क्रोध, और कमाना-धमाना, आदि भाव, उनसे भगवान चैतन्य को भिन्न करना। यह भेद (विभाग), भव के छेद का उपाय है। भव का छेद माने नरकादि गति का छेद, ऐसा नहीं। स्वर्ग का - पुण्य के फलस्वरूप - (भव) दुःखदायक है, दुःखरूप है। आहा..हा...! ये पैसे... दो-पाँच अरबवाले, वे पैसेवाले दुःखी हैं। क्योंकि उनका लक्ष जहाँ (धनादि में) जाता है वह राग है, विकार है और दुःख है। उस दुःख के भाव से, आनंद का नाथ प्रभु अतीन्द्रिय चैतन्यमय (भिन्न) है।

'चैतन्यमय' लिया है न...! क्योंकि ज्ञान की पर्याय जो प्रगट अंश है, इसलिये चेतनामय त्रिकाल है, ऐसा लिया। आनंद का अंश तो जब स्वभाव का आश्रय ले तो प्रगट होता है। किन्तु यह जो चेतना की पर्याय है वह तो अज्ञानी को भी (उतना) विकास का अंश है न... अतः वहाँ से लेकर ऐसा कहा कि, यह चेतनामय भगवान पूरा आत्मा है। अंदर नज़र करने पर चेतना... चेतना... चेतना(रूप) जिसका अनंत व अपरिमित स्वभाव है। उस चेतनागुण पर दृष्टि पड़ने पर राग से भिन्न हो जाय यह उसका साधन है।

अब, यह (आर्यिका) कहे कि - 'राग उसका साधन है। अशुभ को छोड़कर जबरदस्ती से रुचिपूर्वक शुभभाव करो तो वह निर्विकल्प सम्यग्दर्शन पाने का साधन है !' अरे...रे! क्या करें? यूँ ही मर गया है। ये तो व्रत भी कहाँ हैं ? किन्तु सही व्रतपालन (जब) किये तब भी उस राग की क्रिया में ठीक मानकर (रुक गया)। अर्थात् राग से भिन्न मेरा चैतन्यस्वरूप है, चेतनाज्ञानमय पूरा ऐसा... दल(कंद) पड़ा है, ऐसे चैतन्यमय आत्मा को पर से भिन्न करने का साधन तो यह (चैतन्यमयपना) है; राग द्वारा, शुभभाव द्वारा चेतनमय आत्मा ज्ञात हो ऐसा तीनकाल में नहीं (हो

सकता) - (ऐसा निर्धार किया नहीं है)।

यह पहली बात कही। फिर अलिंगग्रहण की बात की है। अपने यहाँ आठवाँ बोल चल रहा है। सूक्ष्म बात है, भाई ! यह तो जन्म- मरणरहित (होने की) बातें हैं, बापू ! यह कोई बाहर में पैसों द्वारा और (क्रियाकांड की) धूल-धुएँ (द्वारा मिल जाय ऐसा नहीं है)। वह कर-करके उसमें मर गया, मार डाला जीव को ! आहा..हा...! चेतनामय भगवान, आनंद का नाथ, उसका जीवन आनंद और ज्ञान। उससे जो टीक रहा, वह इसका जीवन है। ऐसे जीवन का स्वीकार नहीं करके, पुण्य व पाप के भाव और उनके फल का स्वीकार करके, उसने चेतन भगवान की हिंसा की है। कुछ समझ में आया ? यह (बात) यहाँ कहते हैं -

"**जो लिंग को अर्थात् उपयोगनामक लक्षण को ग्रहण नहीं करता...**" उपयोग अर्थात् जानना-देखना, यह लक्षण। लक्ष्य आत्मा। इसका लक्षण यह (उपयोग)। इस लक्षण को ग्रहण नहीं करता। "**...अर्थात् स्वयं (कहीं बाहर से) नहीं लाता...**" उपयोग नामक लक्षण को कहीं बाहर से नहीं लाता।

कुछ सुना, राग किया और पढ़ा... इनसे बाहर (की क्रिया) से ज्ञान का भाव आया, ऐसा नहीं है। इन्द्रिय के निमित्त से (होनेवाला) उपयोग, वह भी आत्मा को जानने में कार्यकारी नहीं है। आहा..हा...! सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में अर्थात् सम्यग्दर्शन - पूर्ण प्रभु जैसा है वैसा, उतना, बराबर का अनुभव में - लाने के लिये, वह उपयोग बाहर से नहीं आता। उसका उपयोग तो अंतरमें से आता है। आहा..हा...! ऐसी बात !! पकड़ने में नहीं आती है तो फिर अन्य रास्ते पर चढ़कर जगत (के लोगों) की जिंदगीयाँ चली जाती है !

कहते हैं कि : प्रभु ! तू कौन है ? कि जिसे यह उपयोग बाहर से आये, ऐसा तू है ? वाचन से, श्रवण से तेरा ज्ञान-उपयोग आता है ? वह तो परलक्षी-बहिर्लक्षीज्ञान है, उसके द्वारा भी (तू) ग्रहण हो सकता (नहीं) अर्थात् उपयोग बाहर से लाया नहीं जा सकता। इन्द्रियाँ और मन द्वारा जो जानना हुआ उसके द्वारा आत्मा जानने में आये ऐसा यह नहीं है। बाहर के साधन से इस आत्मा का उपयोग हो जाय ऐसा यह नहीं है। अरे ! ऐसी बातें !!

"लिंग को अर्थात् उपयोग नामक लक्षण को" - जिसका लक्षण है इसके (लक्ष)

के बिना इसे बाहर से "ग्रहण नहीं करता।" आहा..हा...! सिर्फ मूल रकम की बात की है।

जिसमें नज़र डालने पर अपरिमित द्रव्य प्रगट होता है। और अपरिमित द्रव्य और गुण का स्वभाव, इसके आश्रयपूर्वक जो उपयोग होता है इस उपयोग को आत्मा का उपयोग कहा जाता है। आहा..हा...! राग, दया-दान और काम-क्रोध के भाव तो विकार और दुःखदायक (हैं)। उनसे तो आत्मा ज्ञात नहीं होता, यह बात तो दूर रही। किन्तु बाहर से - इन्द्रियों से सुनना और मन से विचार करके जो ज्ञान होता है वह उपयोग बाहर से आया है, वह उपयोग आत्मा का है ऐसा नहीं।

श्रोता :- पूर्व संस्कार कुछ काम करते होंगे ?

उत्तर :- संस्कार कुछ काम नहीं करते। अंदर से जुड़ान करे तब ऐसा कहा जाता है कि पूर्व के संस्कार थे। अभी भी वह स्व के लक्ष में जायेगा तब प्राप्त होगा, तब ऐसा कहा जाता है कि उसे एकदम-अचानक मिला (इसलिये) कुछ संस्कार होंगे। आहा..हा...! सूक्ष्म बात है। संस्कार तो पर्याय में है... उसके आश्रय से उपयोग होगा ? (नहीं हो सकता)। ऐसा मार्ग है, प्रभु!

श्रोता :- अधिगमज और निसर्गज इस प्रकार दो भेद हैं न...?

उत्तर :- वह तो निमित्त का कथन किया है। क्या निमित्त से होता है ? इसे होता तो है निसर्गज से, परंतु निमित्त से पहले सुना उसकी अपेक्षा लेकर बात की है। उसने सुना, इसके कारण नहीं होता। उसे होता है निसर्गज। परंतु सुना वह निमित्त था, वहाँ से हट गया, इसलिये उसे निमित्त से हुआ ऐसा कहने में आया। आहा..हा...! सूक्ष्म बातें हैं।

अरे...रे ! चार गति में भटकनेवाला मुसाफिर... इसकी उसे कोई दया नहीं। इसे स्वयं की दया नहीं है। अरर..र !

श्रोता :- दूसरों की दया का पालन करता है !

उत्तर :- दूसरों की दया पाल सकता नहीं।

श्रोता :- मानता क्या है ?

उत्तर : मिथ्यात्ववश मानता है। और पर की दया के लिये भाव-राग होता है, वह भी स्वरूप की हिंसा है। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं ! अरे...रे ! इसे कहाँ कुछ

खबर है ?!

जहाँ चैतन्यमय प्रभु पड़ा है, चेतना के सागर के स्वभाव से भरा चेतनामय प्रभु है न...! इसे बाहर के उपयोग से (ग्रहण किया जा सके ऐसा नहीं है)। इसका (आत्मा का) उपयोग बाहर से लाया जा सके ऐसी यह चीज नहीं है।

अभी यह बाहर में भटका भटकी करता है। एक तो पूरे दिन अशुभ उपयोग में भटकता है... कमाना और पैसे पैदा करना। पैसों की ठीकठाक व्यवस्था करना। दुकान सम्हालना। नौकरों को रखना। - वह मात्र पाप। इसमें से कभी राग मंद करके कोई शुभभाव करे तो भी, उसके द्वारा आत्मा को ज्ञान हो जाय ऐसा नहीं है। अरे ! वह शुभराग हुआ और उसका लक्ष करके कुछ उपयोग हुआ, वह उपयोग आत्मा का नहीं है। ऐसी बात है ! ये लोग कहाँ के कहाँ उलझ गये हैं ! एक तो संसार में - पाप में फँस गये हैं। इसमें से हटकर दुकान छोड़ी होवे, बाहर के धंधे छोड़े वे (लोग) फिर पुण्य-परिणाम में घुस गये; वे तो जहाँ के तहाँ खड़े हैं, जहाँ खड़ा है वहीं है !

यहाँ कहते हैं कि : यह स्वयं कहीं बाहर से नहीं लाता - किसे ? कि : उपयोग नाम के लक्षण को। "**...इसप्रकार `आत्मा जो कहीं से नहीं लाया जाता...'-**" आहा..हा...! "कहीं से नहीं लाया जाता"। यह शुद्धोपयोग भगवान के पास से तो नहीं मिलता।

श्रोता :- आप तो बारंबार फरमाते हो कि `दिव्यध्वनि सुनी अर्थ गणधर विचारे।'

उत्तर :- `विचारे', किन्तु इससे क्या हो गया ? विचार करते हैं, वैसे तो स्वयं अपने आप से विचार करते हैं। और विचार करते हैं, उसमें भी विकल्प है वह भिन्न वस्तु है; और प्राप्त करते हैं वह अंतर के आश्रय से प्राप्त करते हैं। आहा..हा...! वह तो आया नहीं `समयसार' ८वीं गाथा में ? कि : वस्तुस्वरूप जाना है, अनुभव किया है वह निश्चय है। और जब समझाते हैं तब विकल्प उठता है, तब वह व्यवहार में आया है। वह व्यवहार में आकर दूसरों को ऐसा कहते हैं कि: वह आत्मा यह है। है न...! निश्चय और व्यवहार के दो पहियों पर चड़ा है। फिर भी उस विकल्प से आत्मा की शुद्धि बढ़े या शुद्धि प्रगट हो ऐसा नहीं है। अरे ! राग को मंद

करने पर ज्ञान का जो कुछ विकास विशेष दिखता है, वह भी आत्मा का उपयोग नहीं है। अरे...रे ! उसे कहाँ जाना है और क्या करना है, यह कुछ पता नहीं है बेचारों को।

इस प्रकार आत्मा (जो) कहीं से भी लाया नहीं जाता "**...ऐसे ज्ञानवाला है...**" देखा ! 'ऐसे ज्ञानवाला !' वह तो अंदर में लक्ष करे, अंदर का ध्यान करे तब उपयोग आये वह उपयोग (ज्ञान का) है। आहा..हा...! ११ अंग का उपयोग किया... आया है ज्ञान, परंतु वह बाहर से आया है, अंदर से नहीं आया। "कहीं से नहीं लाया जाता ऐसे ज्ञानवाला है।" यह तो ऐसे ज्ञानवाला है। ज्ञानस्वभावी भगवान(आत्मा), इसके आश्रय से जो उपयोग होता है यह उपयोग आत्मा का कहलाता है। और उस ज्ञान को ज्ञान कहा जाता है। जीव ज्ञानमय प्रभु, इसके आश्रय से जो ज्ञान होता है उस ज्ञान को ज्ञान कहा जाता है। इसके आश्रय से जो उपयोग होता है, इसे ज्ञान का उपयोग कहा जाता है।

अरे ! (सच्ची बात को समझने की) आवश्यकता कहाँ है ! मरकर जाने, कहाँ चला जायेगा... पशु या कीड़ा और कौआ (आदि में)। यहाँ अरबोंपति होवे और मांस आदि नहीं खाता हो, दारू आदि पीता न हो - ऐसी क्रिया न हो वह मरकर, आँख बंद करके चला जायेगा कहाँ का कहाँ। बकरे के बच्चे निकलते हैं न दस-पन्द्रह-बीस... बें बें करके, किन्तु वे सब आये हैं कहाँ से ? एक ग्वाला, सिर्फ छोटे-छोटे (पशु के) बच्चों को चराने हेतु लेकर निकलता है। अरे! दो कुत्तिया, उसे आठ छोटे-छोटे पिल्ले हैं; अरे ! वे कहाँ से आये होंगे, बापू ! - उन सब ने पूर्व में मायाचारी के भावों का सेवन किया हुआ होता है न...! भगवान ! स्वभाव से (विरुद्ध जाकर) बहुत टेढ़ापन किया था, वे सब आड़े-तिर्यंच में जाते हैं। पिल्ले बनते हैं। आहा..हा...! ऐसा है!

आहा..हा...! ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, हीरे के पलंग में... एक एक हीरा अरबों रुपयों का, ऐसे हीरे के पलंग में सोता था। छयानवे हजार तो जिसे स्त्री थी। एक स्त्री मुख्य, स्त्रीरत्न उसकी तो हजार देव सेवा करते थे। (वह) मर गया। कुरुमति... रानी कुरुमति... इस प्रकार (विलाप) करता हुआ सप्तमी नरक में गया। आहा..हा...! परदा गिर गया। सप्तमी नरक में... तैंतीस सागर। जिसके एक क्षण के दुःख की व्याख्या

करोड़ों जीभों द्वारा और करोड़ों भव तक करने पर भी नहीं हो सकती। (ऐसे) क्षण के दुःख ! बापू ! यह तो उसने सोचा कब है ? उस नरक में एक क्षणभर दुःख भोगे ! उस दुःख की व्याख्या करोड़ों जीभ द्वारा करोड़ों भव में की नहीं जा सकती ऐसी (भयंकर) वेदना है, बापू ! आहा..हा...! वहाँ असंख्य अरब वर्ष तक के लिये पड़ा है, वहाँ कैसे जी रहा होगा ? यहाँ महाराजा खम्मा... खम्मा (अत्यंत मानपान) ! मर जाने के बाद पीछे सुवर्ण के पलंग में ले जाय, सिर पर छत्र रखे... महाराजा साहिब निद्रा में हैं, मर गये हैं ऐसा नहीं कहते। आहा..हा...! इतने तो मान में चढ़ गये थे बेचारे ! रतलाम का एक पंडित तो ऐसा कहता था कि दरबार को ऐसा नहीं कहा जाता कि साहिब आपको रोग हुआ है। (परंतु) साहिब ! आपके वैरी को रोग हुआ है। हम दवा ले आये ? ऐसा कहा जाता था। उसे करोड़ों और अरबों की पैदावार... घमण्ड में फूल गया था। अररर ! इतने मान में फँस चुके होते हैं बेचारे! मरकर नरक में जानेवाले होते हैं। आहा..हा...! अरे बापू ! उसे कुछ पता तक नहीं है।

यहाँ कहते हैं : नौवाँ बोल : **"जिसे लिंग का अर्थात् उपयोगनामक लक्षण का ग्रहण अर्थात् पर से हरण नहीं हो सकता (अन्य से नहीं ले जाया जा सकता)..."** आहा..हा...! जो आत्मा आनंद का नाथ प्रभु, ज्ञान का सागर; उसके आश्रय से जो उपयोग प्रगट हुआ उसका कोई हरण कर सके (ऐसी) दुनिया में ताकत नहीं है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? ध्रुव भगवान चैतन्यमय प्रभु, इसके आलम्बन से जो उपयोग प्रगट हुआ, इस उपयोग को कोई हरण कर सके, नाश कर सके, लूट सके, चोरी करके ले जाय, (ऐसी) वह चीज नहीं है !

आहा..हा...! (एक) बुद्धिमान मनुष्य, जिसके पास बड़े बाबू और अधिकारी लोग - पैसेवाले लोग आते थे, वह मरते समय ऐसा बोला 'मुझे कोई खींच रहा है' और देह छूट गया। उसे जाना है निगोद में, एकेन्द्रिय में कहाँ का कहाँ। इसलिये वह जो बाहर की चतुराई का - अज्ञान का खिला हुआ उपयोग वह मरते समय अब क्षीण होने लगा। । मूल में तो पर्याय क्षीण होने लगती है न...! वह तो नाशवान है। वह जो इन्द्रियज्ञान था (वह) इस प्रकार क्षीण होने लगा। क्योंकि नाशवान था, वह कोई आत्मा का उपयोग नहीं था। वह सारी सामग्री तो यहाँ (पड़ी) रह गई !

आहा..हा...! सुबह में आया नहीं था...? कि : समकिती के बाह्य सामग्री हो चाहे न हो किन्तु उन्हें बंध-परिणाम नहीं होते। क्योंकि राग की एकता तोड़ी है। पुण्य के कारण बाह्य सामग्री के ढेर हो चक्रवर्ती का बड़ा राज्य (हो) तो भी उन्हें बंध नहीं होता क्योंकि अंदर राग की एकता तोड़ी है। और बाह्य सामग्री न हो, पाप का उदय हो, सामग्री कुछ न हो, गरीब (हो), लो न ! नारकी का जीव हो परंतु अंदर में राग से भिन्न चैतन्यमय का ज्ञान-अनुभव किया है तो वह सामग्री न होवे तो उसके कारण (वे) दुःखी हैं और बंध होता है ऐसा नहीं है। ऐसा दोनों प्रकार की (बाह्य परिस्थिति के विषय में) आया था।

(यहाँ पर कहते हैं :) "लिंग का अर्थात् उपयोग नामक लक्षण का" - क्या कहते हैं ? कि : जानना आत्मा का लक्षण है। जानना यह लक्षण (है यह) आत्मा का लक्ष करता है। यह लक्षण, आत्मा का लक्ष्य कराता है। इस लक्ष्य (आत्मा) से उत्पन्न हुआ जो उपयोग "(अन्य से नहीं ले जाया जा सकता)" अर्थात् इसका कोई हरण कर जाय (ऐसा नहीं है)। जिस प्रकार लक्ष्य का नाश नहीं होता उसी प्रकार लक्ष्य के आश्रय से जो उपयोग हुआ इसका कोई हनन नहीं कर सकता। भले थोड़ा-सा हो किन्तु उस लक्ष्य के आश्रय से जो लक्षण उत्पन्न हुआ (अर्थात्) उपयोग उत्पन्न हुआ इसका हनन हो जाय - कम हो जाय ऐसा नहीं है।

श्रोता :- ग्यारहवें गुणस्थान में जो आरूढ़ होते हैं वे गिरते हैं ?

उत्तर :- वहाँ जो जिन्हें राग उत्पन्न होता है वे गिरते हैं। राग उत्पन्न हुआ इसलिये गिरते हैं। उपयोग कुछ कम हो जाता है ऐसा नहीं है। उपयोग इस जाति का हुआ। ज्ञान कुछ कम हो जाता है ? - ऐसा नहीं है। अंदर उपयोग तो ज्ञानस्वरूप है। अंदर उपयोग में तो ज्ञानस्वरूप ही रमण करता है। वह जो पर्याय में आगे बढ़ गये थे वह पर्याय में कमी हुई; वह राग आया इसलिये। परंतु इसका उपयोग (जो) अंदर में स्व के लक्ष से हुआ इसमें कमी नहीं हुई। आहा..हा...! दूसरी बात लें कि - अंदर में चारित्र की पर्याय हुई और ज्ञान की पर्याय खुली; अब मृत्यु होने पर चारित्र की पर्याय तो रहती नहीं है। परंतु उपयोग नहीं रहता है ऐसा नहीं। स्व के लक्ष से प्रगट हुआ उपयोग तो साथ में लेकर जाता है। क्योंकि पंचमकाल में चाहे जैसा चारित्रवंत हो तो (भी) उन्हें स्वर्ग में जाना है तो वहाँ चारित्र तो रहता

नहीं है। चारित्र तो गिर जायेगा, परंतु इस चैतन्य उपयोगमें से, लक्ष्यमें से उपयोग आया है यह उपयोग तो वहाँ कायम रहेगा। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं !! चारित्र से तो अचारित्र हो गया परंतु जो उपयोग लक्ष्य से उत्पन्न हुआ था, इस उपयोग को तनिक भी हानि नहीं है। आहा..हा...! एक गुण की पर्याय हीन हुई तो उससे सम्यग्दर्शन की पर्याय व ज्ञान के उपयोग की पर्याय हीन हो जाय ऐसा नहीं है। सभी गुण असहाय - स्वाधीन हैं !

आता है न...! शुभभाव से नरक - एकेन्द्रियमें से बाहर आता है। प्रत्येक गुण असहाय है।किसी गुण की पर्याय किसी गुण की पर्याय को मदद करे ऐसा नहीं है। और किसी गुण की पर्याय हीन हुई तो उसके कारण दूसरे गुण की पर्याय हीन हो ऐसा नहीं है। ऐसी बातें हैं !!

यहाँ पर तो (कहते हैं :) उपयोग का कोई हरण नहीं कर सकता। तो (चारित्रवंत को) मरने के बाद तो चारित्र रहता नहीं है। (स्वर्ग में) चारित्र रहता नहीं है। अतः उसके (लक्ष्य के) लक्षपूर्वक जो ज्ञान हुआ वह कोई चला जाता है ? और चारित्र की पर्याय गई तो जिस लक्ष से ज्ञान के उपयोग की पर्याय हुई वह कोई (चली) जाय ? ऐसा नहीं है।

है न...? "लिंग का अर्थात् उपयोग नामक लक्षण का ग्रहण अर्थात् पर से हरण नहीं हो सकता।" आहा..हा...! इसके उपयोग पर कोई आवरण कर नहीं सकता। उस प्रकार इसे लक्ष्य से जो उपयोग हुआ, चारित्रगुण की पर्याय हीन हो गई फिर भी इसके उपयोग का, हरण नहीं हो सकता। आहा..हा...! ऐसा मार्ग वीतराग का !! लोग बेचारे कहाँ अटके और भटके हुए हैं!

आहा..हा...! चारित्र की पर्याय गिर जाती है और यहाँ तो इन्कार कर रहे हैं। परंतु किसे? जो आत्मा के लक्ष से उपयोग हुआ वह तो गिरता तक नहीं है। चारित्र की पर्याय भले हीन हो गई, अव्रती हो गया, परंतु उस (चारित्र)गुण की पर्याय मिट जाने से, जो उपयोग हुआ है यह कम हो जाय या (इसका) हरण हो जाय, ऐसी (वस्तुस्थिति) अंदर है ही नहीं। आहा..हा...! ऐसा है ! यह फिर साथ में आया। क्योंकि `हरण नहीं हो सकता' तो चारित्र की पर्याय कम हो जाय तब अव्रती हो जाता है न...? भले हो जाओ। वहाँ (चारित्रवंत को) जो स्थिरता थी वह स्थिरता

यहाँ (स्वर्ग में) फिर रहती नहीं है, परंतु जो स्व के लक्षपूर्वक उपयोग प्रगट हुआ इसमें जरा भी हानि हो जाय ऐसा नहीं है। आहा..हा...! "पर से हरण नहीं हो सकता।" कोई (उपयोग को) आच्छादित कर सके सो (बात) तो नहीं परंतु दूसरे गुण की पर्याय हीन हो जाय तो यह (उपयोग की पर्याय) क्षीण हो जाय (ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है)। आहा..हा...! गजब बातें की हैं न...!

आहा..हा...! नित्यानंद का नाथ प्रभु स्वयं सच्चिदानंद आत्मा (है) ! वह आया है न...! "मात्र स्वजीवद्रव्याश्रित होने से स्वलक्षणपने को (अर्थात् ज्ञान-उपयोग) धारण करता हुआ, आत्मा का शेष अन्य द्रव्यों से विभाग (भेद) सिद्ध करता है।" आहा..हा...! चारित्र की पर्याय भले क्षीण हो गई फिर भी वहाँ राग से भिन्नपनेरूप जो उपयोग, ज्ञान के लक्ष से हुआ, इस उपयोग में हीनता आती नहीं है। यह उपयोग तो स्वर्ग के सर्वार्थसिद्धि में जाय तो, साथ जाता है, ऐसा कहते हैं। स्व के आश्रय से, स्व के लक्ष से प्रगट हुए उपयोग को - चारित्रवंत होवे सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न होवे वहाँ चारित्र खत्म हो गया फिर भी इसे कुछ हानि नहीं होती। आहा..हा...! इसे (उपयोग को) कर्म ढक दे ऐसा तो नहीं किन्तु दूसरे गुण की पर्याय क्षीण हुई इसलिये इस उपयोग का हनन हो जाय (ऐसा भी नहीं है) ! आहा..हा...! ये गजब बातें हैं न !!

वहाँ ('उपादान-निमित्त की चिट्ठी' में) कहा है। स्व के लक्षपूर्वक जो उपयोग है यह उपयोग कायम रहता है। क्योंकि जिसका लक्षण है इसके लक्षणपूर्वक जो उपयोग हुआ इस उपयोग की कोई अन्य गुण की पर्याय (हानि-वृद्धि कर सके ऐसी वस्तुस्थिति ही नहीं है)। सर्व गुण असहाय और स्वाधीन हैं। ऐसा वहाँ कहा है। प्रत्येक गुण असहाय ! दूसरे गुण की पर्याय की भी सहाय नहीं है। दूसरे गुण की सहाय नहीं और स्वाधीन हैं। इस प्रकार दो शब्द लिये हैं।

यहाँ सिर्फ इतनी बात लेनी है कि - चैतन्य-ध्रुव-लक्ष्य के आश्रय से जो उपयोग प्रगट हुआ वह इसका लक्षण है। लक्ष्य के लक्षपूर्वक इसका (लक्ष्य का) ज्ञान होता है। यह लक्षण जो उपयोग है उस लक्ष्य को जाननेवाला होता है, अतः इसे लक्षण कहा जाता है।

आहा..हा...! "स्वद्रव्याश्रित होने से स्वलक्षणपन को धारण करता हुआ" - है न...!

(टीका के प्रथम पैरेग्राफ के अंत में)। यह ज्ञान-उपयोग स्वलक्षण है इसे धारण करता हुआ, स्वद्रव्य के आश्रय से प्रगट होता हुआ, पर से हनन हो सके ऐसा यह उपयोग नहीं है। आहा..हा...! जिस प्रकार ध्रुव का हनन नहीं होता उस प्रकार ध्रुव के लक्षपूर्वक हुए ज्ञान व दर्शन के उपयोग का हनन नहीं होता, घटता नहीं है। आहा..हा...! इसमें तो बहुत भरा है ! अहोहो ! आचार्यों के ह्रदय! गजब (काम) किया है। जब यह लिखा जा रहा होगा तब ह्रदय क्या काम करता होगा!

आहा..हा...! (आठवें बोल में कहा न...!) "कहीं से नहीं लाया जाता ऐसे ज्ञानवाला है ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।" और यहां नौवें में कहते हैं : "उपयोग नामक लक्षण का ग्रहण अर्थात् पर से हरण नहीं हो सकता (अन्य से नहीं ले जाया जा सकता)।" आहा..हा...! इसकी कोई चोरी कर जाय, और हनन कर जाय, यह लक्ष्य से उत्पन्न हुए उपयोग को पर के द्वारा कोई क्षीणता हो (ऐसा नहीं है) !

आहा..हा...! ऐसी बातें हैं ! जिनेन्द्रदेव, त्रिलोकनाथ, परमात्मा का मार्ग कोई अपूर्व है ! यह मार्ग चैतन्यमय भगवान-आत्मा के लक्षपूर्वक उत्पन्न होता है; निमित्त के आश्रय से नहीं, राग के आश्रय से नहीं और पर्याय के आश्रय से नहीं।

(कहते हैं कि :) "... **सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार `आत्मा के ज्ञान का हरण नहीं किया जा सकता' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।**" यह आत्मा का ज्ञान अर्थात् उपयोग, हाँ ! त्रिकाली ज्ञान नहीं। वर्तमान में आत्मा का जो लक्षण यह ज्ञान, जो कि लक्ष्य को पकड़कर उपयोग हुआ यह ज्ञान, त्रिकाली ज्ञान नहीं। यह प्रश्न यहाँ नहीं है। आहा..हा...! "इसप्रकार आत्मा के ज्ञान का हरण नहीं किया जा सकता ऐसे अर्थ की" - अलिंगग्रहण में ऐसा भाव निकलता है। आहा..हा...! जिसके उपयोग का हरण अन्य कोई कर सके ऐसा अलिंगग्रहणमें से नहीं निकलता।

आहा..हा...! भारी बात, भाई ! बापू ! यह तो वीतरागमार्ग है, भाई ! उसने कभी यथार्थ रुचिपूर्वक सुना नहीं है। "तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि न श्रुता" - आया है न...(`पद्मनंदिपंचविंशतिका' में)। आहा..हा...! ऐसा स्वभाव है यह उसने प्रेम से - रुचिपूर्वक सुना नहीं। आहा..हा...! जिसके एक-एक गुण की अचिंत्यता और एक गुण की पर्याय की भी अचिंत्यता ! स्वाधीन और असहाय - ऐसा जो स्वभाव, इसे कोई ले सके, हरण कर सके ऐसा नहीं है। कुछ समझ में आया ?

श्रोता :- इसके इन्द्रियज्ञान में भूल पड़ सकती है ?

उत्तर :- वह तो पराश्रित(ज्ञान) की बात हुई। वह कोई उपयोग (नहीं है)। स्व का उपयोग तनिक भी हनन नहीं होता। वहाँ पराश्रय की बात है। पराश्रित में तो किसी पदार्थ के ज्ञान की भूल हो जाय। होवे कुछ और समझ में आये कुछ, होवे रस्सी और समझ में आये सर्प। (परंतु उससे) सम्यग्ज्ञान को (कोई) बाधा नहीं पहुँचती। आया है न ऐसा ? सामने समुंदर में मनुष्य बहा जा रहा हो और लगे कि लकड़ी बह रही है। ऐसा भी खयाल में आये उससे उसके ज्ञान को बाधा (हानि) नहीं है। स्व को सिद्ध करके हुए ज्ञान को कोई नुकशान नहीं है। ऐसा आता है उसमें। ज्ञानी को इन्द्रियज्ञान में भूल भी पड़ती है परंतु उस भूलवाले ज्ञान से सम्यक्ज्ञान चला जाता है ऐसा नहीं।

आहा..हा...! बहुत कुछ शामिल किया है ! आचार्य संतों ने तो सागर उछाले हैं ! एक-एक शब्द में, एक-एक `अलिंगग्रहण' के अर्थ में अंदर पूरे भगवान को उछाला है !

जिसका स्वरूप ही शुद्ध चैतन्यमय है; इसके आश्रय से जो उपयोग हुआ, जिस प्रकार ध्रुव कहीं नहीं जाता उस प्रकार इसके उपयोग का भी कोई हरण नहीं कर सकता। आहा..हा...! वह देह छूटकर स्वर्ग में जाय तो भी उपयोग साथ लेकर जाता है। यह उपयोग रास्ते में काम न कर सके तो भी वह लब्धरूप है। इसका कोई हनन नहीं कर सकता। वह आता है न...! `तत्त्वार्थसूत्र' में - इन्द्रियाँ दो प्रकार की : द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। उपयोग दो प्रकार का : लब्ध और उपयोग। ऐसा सूत्र है। उस समय (रास्ते में) भले काम न करे परंतु स्व के आश्रय उपयोग है। इसमें कोई क्षीणता नहीं है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

ऐसा स्वरूप है !! अरे...रे ! सुनने मिले नहीं ! पूरी दुनिया के पाप में - प्रपंच में पड़े। यहां तो कहते हैं कि पुण्य में पड़े वे भी प्रपंच में पड़े हैं।

आहा..हा...! भगवान का महान ज्ञानविस्तार अंदर पड़ा है। विशाल... विशाल... विशाल... ज्ञान विशाल ! जिसकी पर्याय अर्थात् लक्षण अर्थात् लक्ष्य की है जो विशाल ज्ञान के लक्ष से अंदर होता है इसका हनन कौन कर सके ? यहाँ तो अप्रतिहत उपयोग की बात ली है, भाई ! गिर जाय, मिथ्यादृष्टि (हो जाय) ऐसी यहाँ बात

ही नहीं है। आहा..हा...! संतों ने तो गजब काम किये हैं ! हमें यह स्व के लक्ष से उपयोग प्रगट हुआ वह उपयोग अब कहीं नष्ट हो जाय ऐसा नहीं है ! आहा..हा...! हम इस उपयोग से केवलज्ञान लेनेवाले हैं ! मिथ्या परिणाम हो जाय तो ?... अरे ! तूने यह मृत्युरुदन कहाँ शुरू कर दिया ? शादी के समय मर जाऊँगा, ऐसा विचार करता है ? यह दुल्हा शादी कर रहा है, और कल मर जायेगा तो... ऐसा विचार करता है ? वह तो ऐसा मानता है जैसे हमेशा जिंदा ही बना रहना है... भले फिर कल मर जाय। यहाँ तो तीनलोक का नाथ जहाँ स्वलक्षपूर्वक किया इस उपयोग को कोई हरण कर जाय, हनन (नाश) कर जाय, पर के कारण क्षीण हो जाय, ऐसा इस उपयोग का स्वरूप नहीं है। आहा..हा...! आचार्य अपने उपयोग को अप्रतिहतरूप जाहिर करते हैं।

विशेष कहेंगे...



तत्त्व-विचारकर यथार्थ तत्त्वनिर्णयका उद्यम न करे, वह
जीव सम्यक्त्वका अधिकारी नहीं है। (परमागमसार - ९०२)

प्रवचन : दि. १४-१२-१९७७

'प्रवचनसार' १७२ गाथा। अलिंगग्रहण का १०वाँ बोल। ९ हो चुके। **"जिसे लिंग में अर्थात् उपयोगनामक लक्षण में ग्रहण अर्थात् सूर्य की भाँति उपराग (मलिनता, विकार) नहीं है वह अलिंगग्रहण है।"** (कहते हैं कि :) सूर्य का तेज इतना है कि चंद्र के तेज से भी अधिक है। चंद्र का तेज ऐसा प्रकाश नहीं करता। सूर्य का तेज प्रकाशमय है। इसलिये उसे हजार किरणवाला कहते हैं और चंद्र की तो सोलह कला। सूर्य के प्रकाश के तेज को कोई अंधकाररूप-मलिनता नहीं है। आहा..हा...! पर्याय में हाँ ! इसकी बात है। इस प्रकार भगवान आत्मा के उपयोग में पुण्य व पाप की मलिनता है ही नहीं। वह (अशुद्ध) उपयोग उसका नहीं कहा जाता; ऐसा कहते हैं। आहा..हा...! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम-क्रोध का भाव, वह अशुद्ध उपयोग है; वह आत्मा का उपयोग नहीं; ऐसा यहाँ सिद्ध करना है।

"जिसे लिंग में अर्थात् उपयोगनामक लक्षण में..." 'आत्मा में ऐसा नहीं कहा; आत्मा के उपयोग नाम के लक्षण में। सूक्ष्म बात है न...! यह कोई (साधारण बात नहीं)। यह तो आचार्यों की गंभीर वाणी है !

अंदर भगवानआत्मा है, इसके परिणाम का उपयोग, इस उपयोग में - जिस प्रकार सूर्य को मलिनता नहीं है उसी प्रकार इसके उपयोग में - शुभ आदि विकार नहीं है। इसे यहाँ आत्मा का उपयोग कहा जाता है।

ऐसी बात तो स्पष्ट है फिर भी (लोग मानते हैं कि) 'शुभराग आत्मा का उपयोग है और उससे मोक्ष का मार्ग है।' प्रभु ! बहुत कठिन...

यहाँ पर तो प्रभु ! आत्मा जो चैतन्यसूर्य, (सूर्य की तो हजार किरणें हैं)। इसके ज्ञान के उपयोग की शुद्धता तो (अपरिमित) है। मात्र उपयोग नहीं। मतलब जैसे

जानना-देखना। इस जानने के उपयोग के आठ प्रकार और देखने के चार - यह तो उपयोग, साधारण जानने-देखने की अपेक्षा से। यहाँ तो शुद्ध उपयोग की बात है। क्या कहा यह ? आत्मा जो वस्तु है इसके जानने के ज्ञान के पाँच और अज्ञान के तीन इस प्रकार आठ; और दर्शन के चार; उस उपयोग की (बात) यहाँ नहीं है। यहाँ तो शुद्ध उपयोग लेना है। क्योंकि स्वयं चैतन्यसूर्य-तेज है इसके परिणाम है वह शुद्ध उपयोग है। इनका लिंग से अर्थात् पर से ग्रहण नहीं है।

है न...! उपयोग नामके लक्षण में **"ग्रहण"** - उपयोग नाम के लक्षण में। द्रव्य के लक्षण की, अभी बात नहीं है। यह तो उपयोग की बात चल रही है। द्रव्य की व्याख्या तो पाँचवें में और छट्ठे में आ चुकी। फिर तो यह उपयोग की व्याख्या चल रही है। आहा..हा...! जो प्रभु चैतन्यसूर्य, इसका वर्तमान में उपयोग अर्थात् शुद्ध आचरणरूप उपयोग, इसमें (अर्थात्) इस लक्षण में अर्थात् उपयोग में इसके मलिनता नहीं है।

आहा..हा...! दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम भी मलिन हैं। हिंसा, जूठ, चोरी, विषयभोगवासना ये परिणाम तो मलिन-अशुभ हैं वे तो इसके (आत्मा के) उपयोग में नहीं हैं। जिसके उपयोग में शुभभाव का विकार भी नहीं है। ऐसी बात है।

जिसे अर्थात् आत्मा को अर्थात् इसके उपयोग को, लिंग में अर्थात् उपयोग नाम के लक्षण में, ग्रहण "**...अर्थात् सूर्य की भाँति उपराग (मलिनता, विकार) नहीं है...**" आहा..हा...! मूल तो आत्मा लेना है। यहाँ आत्मा के उपयोग को जैसे सूर्य के प्रकाश को मलिनता नहीं वैसे भगवानआत्म के उपयोग में शुभराग आदि मलिनता नहीं है। अब, जो इसमें है नहीं उसके द्वारा यह ज्ञात हो सके ऐसा है नहीं। यह आत्मा शुद्ध उपयोग द्वारा ज्ञात हो ऐसी चीज है। आहा..हा...! ऐसी बात ! कुछ समझ में आया ?

जिसके उपयोग में उपराग अर्थात् मलिनता नहीं है ! आत्मा में मलिनता नहीं है, वह तो बात एक तरफ रही। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! जिसका उपयोग आत्मा के अवलम्बनपूर्वक हो यह इसका लक्षण है और इस लक्षण में मलिनता नहीं है। आहा..हा...! जिस लक्षण से आत्मा ज्ञात हो यह लक्षण क्या है ? कि : जो उपयोग है इसमें राग का विकारपना नहीं है। ऐसे शुद्ध उपयोग द्वारा यह ज्ञात

हो ऐसा आत्मा है और इस शुद्ध उपयोग को ही आत्मा का लक्षण कहा जाता है।

आहा..हा...! यह चैतन्य हीरा जिस में अनंतगुण के अंदर पासे हैं। जिस प्रकार हीरे के पासे होते हैं न...! पासा कहते हैं न...! वे तो भिन्न होते हैं और बाहर होते हैं। इस भगवानआत्मा में अनंतगुण अभ्यंतर होते हैं और भिन्न नहीं, जिस स्थान में एक है वहाँ अनंतगुण हैं। कुछ समझ में आया ? ऐसे आत्मा के वर्तमान परिणाम जो उपयोग है इसमें पुण्य व पाप की मलिनता का विकार नहीं है। इसे यहाँ आत्मा का उपयोग और लक्षण कहा जाता है।

श्रोता :- यह उपयोग चारित्रगुण की पर्याय है या ज्ञानगुण की ?

उत्तर :- शुद्धज्ञान के साथ चारित्र की पर्याय शुद्ध है। अशुद्ध उपयोग में अचारित्र की पर्याय साथ में (है)। इसमें (शुद्धोपयोग में) चारित्र की पर्याय शुद्ध है। यह 'द्रव्यसंग्रह' में लिया है कि भाई ! बारह प्रकार का जो उपयोग है वह भिन्न चीज है; वह तो सिर्फ जानना-देखना... बस इतना। यह उपयोग तो शुद्धता व अशुद्धता के आचरणसहित का उपयोग है। आहा..हा...! वह आत्मा का आचरण किस प्रकार हो ? और किस उपयोग को आचरण कहा जाय ? कि : शुद्ध उपयोग को आचरण और शुद्ध उपयोग इसका लक्षण, और इस शुद्ध उपयोग से (आत्मा) ज्ञात हो ऐसी चीज है।

आहा..हा...! सूक्ष्म बात बहुत। लोगों को कठिन लगती है। आजकल चारों ओर खलबली मच गई है न...! 'वे सोनगढवाले व्यवहार को नहीं मानते !' व्यवहार को मानते नहीं (ऐसा नहीं, किन्तु) व्यवहार से निश्चय होता है, ऐसा मानते नहीं, इसप्रकार कहो। भाई ! व्यवहार तो राग है न...! 'द्रव्यसंग्रह' में आता है - व्यवहाररत्नत्रय राग है। शुभोपयोग राग है। व्यवहारमोक्षमार्ग राग है।

(यहाँ पर) सूर्य की उपमा क्यों दी ? चंद्र का प्रकाश इतना तेजोमय नहीं है। और सूर्य तो अभी बाहर आया नहीं है इतने में प्रकाश... प्रकाश हो जाता है। और चंद्र तो सूर्य के प्रकाश के (सामने) खाखरे के पत्ते समान लगता है।

लोग में (कहावत है) : 'खाखरे के पेड़ की गिलहरी शक्कर का स्वाद क्या जाने ?' उस प्रकार भगवानआत्मा का उपयोग तो आनंद... आनंद का उपयोग, शुद्धोपयोग है' (इसका) उस शुभोपयोगवाले को क्या पता लगे कि इसका (शुद्धोपयोग का) स्वाद क्या है ? कुछ समझ में आया?

आहा..हा...! गजब बात करते हैं ! एक एक शब्द में, एक एक `अलिंगग्रहण' में केवल सार भरा है ! इसमें (शब्दों में) अंदर से आता है उतना आता है बाकी इतना गंभीर लगता है, इतना गहराईवाला लगता है !

आहा..हा...! चैतन्यसूर्य भगवान अंदर (प्रगट है)। सूर्य की तो हजार किरणें होती हैं और इसकी तो अनंत किरणें - अनंतगुण की पर्यायें - प्रगट हैं। इसमें भी कहते हैं कि इसका जो उपयोग है, व्यापार है जानने-देखने का, यह शुद्ध उपयोग है। इसे यहाँ उपयोग कहने में आता है। मात्र जानने-देखने का नहीं। आहा..हा...! शुद्ध-निर्मल (उपयोग) ! राग के विकाररहित ! शुभराग जिसे लोग मोक्ष का मार्ग कहते हैं, और मोक्ष के मार्ग में कारण कहते हैं - वह राग इसके (चैतन्यसूर्य के) शुद्ध उपयोग में है ही नहीं। आत्मा में तो है ही नहीं। ... है ! देखो - `लिंग में अर्थात् उपयोग नामक लक्षण में' ऐसा है न...! `आत्मा में' ऐसा नहीं।

आहा..हा...! गजब बातें हैं ! दिगंबर संतों ने तो जगत को निहाल कर दिया है। किन्तु लोगों को इसका वाचन नहीं, श्रवण नहीं, अंदर से दरकार नहीं ! यह शास्त्र-अभ्यास चाहिए। इसे बारंबार यह अभ्यास चाहिए, भाई ! जीव के अंदर में (मूल तत्त्व) क्या (है ? इसे संत) किस प्रकार कहते हैं ? यह बात (अंदर की गहरी जिज्ञासा के बिना, भावना के बिना) इसे (अंतर में) बैठेगी नहीं!

श्रोता :- खास गुरुगम चाहिए। बिना गुरुगम के इसे बैठेगी नहीं।

उत्तर :- वस्तुस्थिति ऐसी है ! परंतु करना तो इसे है न...! वे (गुरु) तो (उपाय) बताते हैं।

आहा..हा...! (यहाँ पर कहते हैं :) "जिसे लिंग में अर्थात् उपयोग नामक लक्षण में" - भगवानआत्मा को इसके उपयोग नाम के लक्षण में "ग्रहण अर्थात् सूर्य की भाँति" - सूर्य की किसी किरण में "मलिनता नहीं।" आहा..हा...! उस प्रकार भगवानआत्मा का उपयोग (जो) शुद्ध उपयोग, इसमें शुभराग की क्रिया की मलिनता नहीं है। इस शुद्धउपयोग से आत्मा जानने में आ सके ऐसा है। ऐसा कहते हैं।

अब लोग कहते हैं कि `अभी शुद्धउपयोग नहीं है !' तो फिर इसका अर्थ कि - शुद्ध उपयोग से सम्यग्दर्शन होता है तो शुद्ध सम्यग्दर्शन ही (अभी) नहीं है, धर्म ही नहीं है, जैनधर्म ही नहीं है,... तो हो गई छुट्टी, बापू ! अरे ! वस्तु है, भाई !

आहा..हा...! चैतन्यसूर्य अंदर भगवान, जिसमें अनंत... अनंत गुण के ढेर पडे हैं, जिसमें रत्न के ढेर पड़े हैं। उन रत्नों का राशि-ढेर है स्वयं भगवान ! इसका जो लक्षण अर्थात् उपयोग (अर्थात्) ऐसे आत्मा का लक्षण जिससे कि यह (आत्मा) लक्षित हो सके ऐसा लक्षण, ऐसा जो उपयोग, (इसमें मलिनता का कण नहीं है)। जिस प्रकार सूर्य में लेशमात्र मलिनता नहीं है। (क्या) उसकी किरण में कोयले का कण है ? सूर्य की किसी किरण में कोयले का कण है ? उसी प्रकार भगवानआत्मा का लक्षण ऐसा जो उपयोग इसमें मलिनता का कण नहीं है। आहा..हा...! यह तो शुद्ध उपयोग है। इसे यहाँ आत्मा का लक्षण कहा जाता है।

ऐसी बात, बापू ! क्या करें ? परमात्मा का विरह हुआ और केवलज्ञान होने की शक्ति रही नहीं। इसलिये लोगों को (दिमाग में बैठना कठिन हो जाय)।

(यहाँ पर कहते हैं :) **"...इसप्रकार `आत्मा शुद्धोपयोगस्वभावी है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।"** इसमें से ऐसा एक अर्थ निकलता है। ऐसा कहना है न...! चैतन्यसूर्य भगवान, इसकी किरण में - जिस प्रकार सूर्य की किरण में मलिनता का विकार नहीं है उसी प्रकार भगवान आत्मा के उपयोगरूपी लक्षण में - शुभराग की भी मलिनता नहीं है। इसे आत्मा का शुद्ध उपयोग कहने में आता है।

आचार्यों ने तो कहा है, बहुत कहा। प्रत्येक अर्थ में बहुत-बहुत समाविष्ट कर दिया ! आहा..हा...! श्रीमद्जी (पत्रांक : १६६ में) कहते हैं न...! "सत्पुरुष के एक-एक वाक्य में अनंत आगम निहित हैं।" एक वाक्य (एक शब्द में) अनंत आगम !! आहा..हा...! ऐसी यह क्या (गजब) बात है, बापू !?

यह चैतन्यसूर्य प्रभु ! इसका जो उपयोग अर्थात् जानने-देखने का जो व्यापार, वह इसके जानने-देखने के व्यापार में शुभराग-विकृतभावरूप ग्रहण (विकार) नहीं है। सूर्य को ग्रहण है तो इससे कोई इसकी किरण मलिन हुई नहीं है, ग्रहण दूर रहता है। कुछ समझ में आया ? उस प्रकार यहाँ आवरण है वह दूर रह जाता है। कुछ समझ में आया ? सूर्य को ग्रहण तो होता है परंतु उस अपेक्षा से मलिनता उसकी पर्याय में कहाँ है ? दूसरों को दिखता है कि यह ग्रहण है। यहाँ (यह चैतन्यसूर्य) तो यह है - निर्मलानंद ! यह तो नित्य त्रिकाली जहाँ है वहाँ निर्मलानंद... निर्मलस्वरूप से प्रकाशमान है। मतलब यहाँ ग्रहण की बात नहीं लेनी है। वैसे तो

ग्रहण चंद्र-सूर्य दोनों को है। परंतु वह तो दूर स्थित है। उसी प्रकार आत्मा में आवरण कहा जाता है परंतु उन कर्मों के रजकण तो दूर पड़े हैं। इसके अंदर (आत्मा में) जो उल्टी दशा के कारण मलिनता के परिणाम होते हैं वे तो इसके अस्तित्व में होते हैं फिर भी उसका अस्तित्व शुद्ध उपयोग में नहीं है। आहा..हा..हा...! कुछ समझ में आया ?

श्रोता :- जीव में क्षयोपशम या क्षायिक की अपेक्षा से ?

उत्तर :- नहीं, नहीं। यह क्षयोपशम हो तो भी यह शुद्धउपयोग ही है। यह शुद्धउपयोग ही केवलज्ञान का साधन है। और शुद्धउपयोग ही द्रव्य को जान सकता है। कुछ समझ में आया?

आहा..हा...! सूर्य की भाँति लक्षण में मलिनता नहीं है। आत्मा का लक्षण जो जानना-देखना, ऐसे लक्षण में - सूर्य में जिस प्रकार मलिनता नहीं है उस प्रकार भगवानआत्मा के जानने-देखने के परिणाम में - शुभराग की मलिनता नहीं है। यह तो शुद्धउपयोग लक्षण है। इस शुद्धउपयोग लक्षण से वह द्रव्य ज्ञात होता है, और शुद्धउपयोग आत्मा का उपयोग है। अशुद्धउपयोग आत्मा का उपयोग नहीं। क्योंकि अशुद्धउपयोग है वह तो पुण्यतत्त्व, पापतत्त्व और आस्रवतत्त्व में जाता है। वह आत्मा के भावों में तो नहीं है परंतु उसके उपयोग लक्षण में भी नहीं है। - क्या कहा समझ में आया ? दया, दान, व्रत, भक्ति के जो परिणाम हैं वे पुण्यतत्त्व में जाते हैं। वे आत्मा में नहीं हैं और आत्मा के शुद्धउपयोग में भी नहीं हैं। शुद्धउपयोग (है) यह संवर और निर्जरा है। और शुद्धउपयोग द्रव्य का लक्षण है। इसलिये द्रव्य में तो पुण्य-पापतत्त्व नहीं है, आस्रवतत्त्व नहीं है, भावबंध भी इसके उपयोग में नहीं है। इसके (आत्मा के) उपयोग में तो संवर-निर्जरा का शुद्ध उपयोग है।

बापू ! भाई ! यह (`जिनवाणी' को) समझना... भाई ! अलौकिक बातें हैं। स्थानकवासी (संप्रदाय) में ऐसा कहा जाता है कि एक साधु ने इक्कीस बार `भगवती' पढ़ी। श्वेतांबर का (ग्रंथ) है।`भगवतीसूत्र'। अंत में वह (साधु) कहता है कि हे भगवती माता! इतनी बार पढ़ा परंतु तेरा अंत होता नहीं दिख रहा। यह तो साधारण बात श्वेतांबर में आती है। यहाँ कहते हैं कि : हे (जिनवाणी) माता ! आपको लाख बार पढ़े तो (भी) कहते हैं कि अंत न आये ऐसी चीज है।

`मोक्षमार्ग प्रकाशक' में शास्त्राभ्यास का आता है न...! (इस विषय में) `आत्मधर्म' हिन्दी में आया है : इन्द्रिय की व्याख्या की है - भाई ! तूने इन्द्रिय से खाकर पेट भरा फिर भी अभी मुँह में कुछ लोंग और इलायची को... डाले जा रहा है, तो क्या है यह तुझे ? पेट भरकर खाने के बाद भी तू घास जैसे पान, सुपारी मुँह में रखता है, अरे ! तिर्यंच की भाँति घंटा दो घंटा उसकी जुगाली करता है, तू तिर्यंचमें से आया है ? क्या हो गया है यह तुझे ? जिस प्रकार तिर्यंच घास खाता रहता है पूरे दिन... अरे ! वह भी खाने के बाद दो-चार घंटे बैठ जाता है, निवृत्तिपूर्वक जुगाली करता है। और तेरे मुँह में कुछ न कुछ पड़ा रहता है या तो लोंग पड़ा हो या फिर पान, सुपारी। ऐसा लिखा है। अच्छा लिखा है। भाई ! तू वहाँ से आया हुआ लग रहा है। तिर्यंच की खुराक की भाँति घास खाता है। या तो वहाँ से आया है और या तुझे वहाँ जाना है ! अरे...रे! तूने पेट भरकर लड्डू खाये, दाल-चावल खाये फिर भी तुझे यह घास खाने की आदत पड़ी है! इस इन्द्रिय के स्वाद में रुका हुआ, इसलिये पान वहाँ का वहाँ पड़ा रहे और यह चबाता ही रहे... यह मुँह जरा लाल हो जाय, उसमें भगवान भले ही काला हो जाय !! राग के मैल से वहाँ एकाकार होकर, इन्द्रिय से होनेवाला ज्ञान और इन्द्रिय से होनेवाले स्वाद में एकाकार होता है वही तो मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ पर तो कहते हैं कि : आत्मा के उपयोग में सूर्य की भाँति उपराग (अर्थात्) जानने-देखने का उपयोग जो है इसमें उपराग अर्थात् मलिनता नहीं है "**वह अलिंगग्रहण है।**" इसका नाम अलिंगग्रहण। आहा..हा...! एक (शब्दमें से) आचार्यों - संतो ने कमाल कर डाला है न ! ऐसा भी एक अर्थ अलिंगग्रहणमें से निकला है। अलिंगग्रहण ऐसे छः अक्षरमें से यह भाव निकला कि - आत्मा का उपयोग (जो) इसका लक्षण है इसमें मलिनता नहीं है इसलिये यह अलिंगग्रहण है। राग की मलिनता से ग्रहण हो सके - पकड़ में आ सके ऐसा इसका (आत्मा का) उपयोग नहीं है। "इसप्रकार आत्मा शुद्धोपयोगस्वभावी है ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।" राग का अभाव करके जिसने आत्मा के अंतर में उपयोग किया वह (उपयोग) शुद्धउपयोगस्वरूप है जिससे यह आत्मा ज्ञात होता है और शुद्धउपयोग इसका लक्षण और (वही) उपयोग है। शेष रागादि (हैं वे) इसका उपयोग भी नहीं और इसका लक्षण भी नहीं और उससे

आत्मा ज्ञात हो व पहचानने में आये ऐसा भी नहीं। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

श्रोता :- केवलज्ञानी के शुद्धउपयोग कहा जाता है ?

उत्तर :- वहाँ तो पूर्ण शुद्ध हो गया है। केवल शुद्धउपयोग, पूरा ज्ञान-दर्शन पूर्ण हो गया न ! यह तो साधकदशा की अपेक्षा से बात है। वहाँ तो शुद्ध बिलकुल अलग हो गया और उसका फल आ गया।

यहाँ पर तो साधक के आत्मा का लक्षण उपयोग, उसमें - (जिस प्रकार) सूर्य की किरण के अंदर विकार का, मलिनता का अभाव (है) उसी प्रकार इसके उपयोग में - मलिनता का अभाव (है), ऐसा शुद्धउपयोग है।

आहा..हा...! गजब बात की है ! देखो ! कितना समाविष्ट कर दिया है। वे दिगंबर संत, केवली भगवान के पथानुगामी, केवलज्ञान को शीघ्र लेनेवाले हैं। यह पंचमकाल... इसलिये उपयोग ने इतना काम नहीं किया। परंतु वे स्वर्ग में गये वहाँ से मनुष्य होकर केवलज्ञान पाकर मोक्ष जानेवाले हैं। आहा..हा...! इन संतों की यह (धन्य)दशा ! कुछ समझ में आया ?

श्रोता :- `अलिंगग्रहण' के ये बीस बोल साधक की अपेक्षा से हैं ?

उत्तर :- इसी की ही बात है न अभी।

श्रोता :- केवलज्ञान की नहीं ?

उत्तर : वह तो पूर्ण (हो गये)। (उनको तो) इसका फल आ गया। कुछ समझ में आया ?

(यहाँ पर कहते हैं :) "इसप्रकार आत्मा शुद्धोपयोगस्वभावी है।" यह तो शुद्धोपयोगस्वभावी ही आत्मा है। आहा..हा...! इसे ही इसका उपयोग कहते हैं। शुद्धता का उपयोग इसे ही आत्मा का उपयोग कहते हैं। कुछ समझ में आया ? यह दसवाँ बोल हुआ : ऐसा `अलिंगग्रहण' है और ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। अलिंगग्रहण के अर्थमें से - आत्मा का शुद्ध उपयोग (है) इसमें मलिनता नहीं है ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। ऐसा अर्थ इसमें कहना चाहते हैं। आहा..हा...! एक-एक शब्द में इसप्रकार आगम के आगम भरे हैं ! निमित्त के अधीन जो विकार होता है वह शुद्धउपयोग नहीं है। स्वभाव के आश्रय से जो पर्याय - उपयोग होता है यह शुद्धउपयोग है और इसे इसका लक्षण कहा जाता है। आत्मा के उपयोग का लक्षण शुद्धउपयोग।

इसे लक्षण कहा जाता है।

श्रोता :- अज्ञानी सर्व अनात्मा हैं ?

उत्तर :- अनात्मा हैं। जो कोई राग को अपना मानकर, वह उपयोग अपना है, ऐसा माने, वे सब अनात्मा हैं। ऐसी बातें हैं ! अब, क्या करें ? पढ़ना नहीं है, सोचना नहीं है और उसमें से स्व के आश्रय की बात कैसे निकले वह निकालते नहीं हैं ! आहा..हा...! स्व का आश्रय करने की बात है ! कुछ समझ में आया ? यह १०वाँ बोल हुआ। ११वाँ -

"**लिंग द्वारा अर्थात् उपयोगनामक लक्षण द्वारा...**" - देखा ! उपयोग नाम के लक्षण द्वारा "**...ग्रहण अर्थात् पौद्गलिक कर्म का ग्रहण जिसके नहीं है,...**" इसके उपयोग से पुद्गल का ग्रहण हो सके ऐसा यह आत्मा नहीं है। ऐसा इसका उपयोग नहीं है। पौद्गलिक कर्म का ग्रहण तो निमित्तरूप से शुभराग-अशुभराग तो (होता) है। परंतु यहाँ तो उपयोग नामके लक्षण से, उपयोग नामक लक्षण द्वारा ग्रहण अर्थात् पौद्गलिक कर्म का ग्रहण जिसके नहीं है इसे यहाँ उपयोग कहते हैं कि जो कर्म के ग्रहण में निमित्त नहीं होता। आहा..हा...! कुछ समझ में आया? ग्रहण (कर्म के आने) में निमित्त नहीं होता उस आत्मा के उपयोग को लक्षण कहने में आता है।

आहा..हा...! संत जब इसकी जब व्याख्या करते होंगे... आहा..हा...! केवली के मुख की (दिव्यध्वनि की) तो क्या बात करनी ? परंतु संत अपनी सभा में जब यह (व्याख्या) करते होंगे तब आनंद में झूलते झूलते यह व्याख्या हो गई है।

(यहाँ पर) क्या कहा ? कि : "लिंग द्वारा अर्थात् उपयोग नामक लक्षण द्वारा..." उपयोग की व्याख्या चल रही है न, ये सब सातवेंमें से चल रही है न...! पाँच तक नास्ति की बात थी। छट्ठी अस्ति की थी द्रव्य की। और सातवीं से यह उपयोग की व्याख्या चल रही है।

आहा..हा...! यह तो ठंडे कलेजे से शांतिपूर्वक सुने तो समझ में आये ऐसा है। ठंडा कलेजा अर्थात् शांति... शांति... शांति... शांति को प्रगट करके सुने तो इसे इस शांति से आत्मा ज्ञात हो सकता है, और शांति (है) यह उपयोग तथा लक्षण है, और उससे कर्म का ग्रहण नहीं है। इसे जीव का - आत्मा का उपयोग कहा जाता

है।

श्रोता :- मूल में तो इसे कर्म का ग्रहण नहीं है न ?

उत्तर :- निमित्त की बात है न ! यह शुद्धउपयोग है वह कर्म का ग्रहण (होने में) निमित्त कारण नहीं है। शुभउपयोग कर्मग्रहण का निमित्त है। इतना सिद्ध करना है। समझ में आया? कर्म आते हैं अपने कारण से। परंतु उसमें निमित्त कौन है? कि - राग। और शुद्धउपयोग में राग है नहीं इसलिये वह (कर्म) ग्रहण का निमित्त भी नहीं है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! छोटे मुँह बड़ी बात करी होगी ऐसा है यह ? (ऐसा नहीं है)।

वस्तु अंदर अनंत चैतन्यरत्नों (से) खचाखच भरी हुई है। भगवान(आत्मा) अंदर चैतन्यरत्नों से खचाखच भरा हुआ है। आहा..हा...! अनंत अनंत संख्या की अनंतता उतने रत्नों से भरा भगवान! उनका पार पाने के लिये जो उपयोग है यह तो शुद्ध है। यह इसका लक्षण और इससे यह ज्ञात हो ऐसा है।

आहा..हा...! उस व्यवहार दया, दान और व्रत, भक्ति से आत्मा ज्ञात हो यह इसका लक्षण नहीं है। जिसमें कर्मग्रहण होने का निमित्तपना हो वह इसका उपयोग ही नहीं है। कुछ समझ में आया ?

ये तो अलौकिक अगमनिगम की बातें हैं, बापू ! अरे ! उसने कभी अंतर का अभ्यास किया नहीं कि अंदर में क्या चीज है !! आहा..हा...! आत्मा... आत्मा... आत्मा... आत्मा... आत्मा कहते हैं किन्तु क्या है यह तो ? यह तो जहाँ और तहाँ सत्... सत्... ही स्वयं रहता है। श्रीमद्जी ने (पत्रांक : २११ में) कहा नहीं है ? कि - "'सत्' जो कुछ है, वह 'सत्' ही है; सरल है, और सर्वत्र उसकी प्राप्ति होती है।" - चाहे जहाँ बाजार में जाओ, नरक में-स्वर्ग में जाओ, बाहर जाओ परंतु यह तो जो शुद्ध उपयोगवाला है यह तो शुद्ध उपयोगवाला ही है। परंतु 'सत्' की प्राप्ति करानेवाले गुरु (मिलना) मुश्किल है। ऐसा श्रीमद् में आता है। इस प्रकार जरा उसे वहाँ वजन देना है न ! यह 'सत्' को बतानेवाले गुरु मिलना मुश्किल है। ऐसा बताया है वहाँ।

(यहाँ पर कहते हैं :) भगवानआत्मा का उपयोग इसे कहें कि जिस उपयोग से कर्मग्रहण होता है ऐसा जिसमें निमित्तपना नहीं होता। निमित्त का अर्थ 'वह ग्रहण

करता है' इसलिये निमित्त ऐसा नहीं है। वे कर्म तो आते हैं अपने कारण से। (वह) रजकण की पर्याय है। परंतु उसमें शुभ व अशुभ उपयोग निमित्त है। निमित्त का अर्थ इसने परमाणु ग्रहण किये हैं, ऐसा नहीं है। भाषा ऐसी आती है - योग के कारण प्रकृति व प्रदेश, और कषाय के कारण स्थिति और अनुभाग - बंधता है। `द्रव्यसंग्रह' में आता है : योग के कारण प्रकृति व प्रदेश ग्रहण होते हैं, ऐसा आता है। इसका मतलब क्या ? वह योग-कंपन है वह कर्म की प्रकृति के स्वभाव व परमाणु को ग्रहण करते हैं ऐसा है ? शब्द तो ऐसा आया है : योग से प्रकृति व प्रदेश ग्रहण होते हैं और कषाय से उसमें स्थिति व अनुभाग (का बंध) पड़ता है। उसके (कषाय के) कारण स्थिति और रस पड़ेगा? वह तो निमित्त का कथन है। ऐसी बात है। `द्रव्यसंग्रह' में है : "जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो हुंति।" इसका और उसका निमित्त-नैमित्तिक संबंध है इतना अर्थ है। निमित्त पर का करता है, लाता है, ऐसा नहीं। आपत्ति यही है न ? पं. कैलाशचंद्रजी ने हाल में अच्छा स्पष्टीकरण किया है कि भाई ! सोनगढवाले निमित्त को नहीं मानते, ऐसा नहीं; मानते हैं; परंतु निमित्त से पर में कुछ होता है ऐसा नहीं मानते। दो व्याख्या बहुत अच्छी रखी है हाल में : एक क्रमबद्ध की (और दूसरी निमित्त विषयक)। क्रमबद्ध की (बात में) तो व्यवस्थित वस्तु(स्थिति) है। और क्रमबद्ध का निर्णय करनेवेले का उपयोग-दृष्टि द्रव्य के ऊपर जाते हैं। कुछ समझ में आया ? `क्रमबद्ध' में जिस समय जो पर्याय होनेवाली है वह छहों द्रव्य की होती है परंतु उसका निर्णय करनेवाले की दृष्टि पर्याय के ऊपर नहीं रहती। पर्याय में क्रमबद्धपना है और उस क्रमबद्ध में कर्तापना उड़ जाता है। - अर्थात् क्या कहा ? राग का कर्ता, और दया-दान के परिणाम का कर्ता, यह क्रमबद्ध में उड़ जाता है तब वह ज्ञाता-दृष्टा होता है। यह उसका पुरुषार्थ है। कई लोग कहते हैं न कि यह नियत की बात है... सोनगढ का तो नियतवाद है - जिस समय जो होगा वह होगा उसका नाम नियतवाद। अरे ! सुन तो सही, प्रभु ! जिस समय जो होगा सो होगा उस वाद के साथ इसका पुरुषार्थ और स्वभाव इस के साथ है। इसका निर्णय करने में स्वभाव (आश्रयरूप) है, निर्णय करने में पुरुषार्थ है। और (पर्यायकाल में पर्याय) हो गई वह काललब्धि है। और उसी प्रकार से वह भाव होने का समय भवितव्यता है। और उसी समय उस प्रकार

के कर्म के निमित्तपने का अभाव स्वतः है। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं ! क्या करें ?

(यहाँ पर कहते हैं :) "लिंग द्वारा अर्थात् उपयोग नामक लक्षण द्वारा ग्रहण अर्थात् पौद्गलिक कर्म का ग्रहण जिसके नहीं है।" अर्थात् पुद्गल कर्म का जिसे संबंध नहीं है, ऐसे उपयोग को आत्मा का उपयोग कहा जाता है। शुभ-अशुभ (उपयोग) को कर्म आने का निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध, शुद्ध उपयोग में है ही नहीं। यह उपयोग उसको (निर्जरा को) जाननेवाला है। निर्जरा व उदय को जाननेवाला है। आया नहीं है...! 'समयसार' ३२० गाथा (में) - यह तो उदय का जाननेवाला, बंध का जाननेवाला, निर्जरा का जाननेवाला, आहा..हा...! बंध व मोक्ष, उदय व निर्जरा (को) जाननेवाला है।

श्रोता :- शुद्धोपयोग के साथ कर्म की निर्जरा का निमित्त-नैमित्तिक संबंध है !

उत्तर :- निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, इतना 'संबंध है' इसलिये निमित्त कोई उसकी (कर्म की) निर्जरा करवाता है ? (यदि निर्जरा करवाये) तो वह निमित्त कहलाता नहीं है। यहाँ शुद्धोपयोग हुआ इसलिये कर्म को निर्जरित होना पड़ा (ऐसा नहीं है, परंतु) वहाँ उस समय कर्म-पर्याय छूटनेका काल था उसे (उसके लिये) यह (शुद्धोपयोग) निमित्त कहा गया। अतः निमित्त से (कर्म) छूटा है ऐसा नहीं है।

अरेरे ! ऐसी बातें हैं। प्रथम से जिसे भूल होती है न वह भूल फिर सब में आती है। एक और दो, चार हो जाय, फिर चार चौके सोलह और सोलह तिये अड़तालीस और अड़तालीस दूनी छयानवे - इस प्रकार सब भूल साथ ही साथ चली आती है। उस प्रकार 'पर को मैं पकड़ सकता हूँ, और राग से मेरा आत्मा ज्ञात होता है' ऐसी प्रथम भूल जिसकी है... वह (तत्त्व को) समझा नहीं है। परंतु इतना तो समझा है न - 'वह इस प्रकार है ?' नहीं, वह उलटा समझा है। आहा..हा...! 'मैंने राग किया... वह मेरा कर्तव्य है' ऐसा अज्ञानी ने माना है, और 'राग मैंने किया इसलिये कर्म आये' ऐसा उसने माना है। (परंतु) ऐसी (वस्तुस्थिति) नहीं है। राग (परिणाम) तो सिर्फ निमित्त हुआ !

आहा..हा...! यहाँ पर तो ऐसा कहना है कि - राग है व राग के निमित्त से क्रमग्रहण होता है ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है, वह चीज शुद्ध उपयोग में नहीं है। ऐसी बात है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! "उपयोग नामक लक्षण द्वारा

ग्रहण अर्थात् पौद्लिक कर्म का ग्रहण जिसके नहीं है।" यह उपयोग लक्षण उसे कहते हैं कि जो कर्म के आने में निमित्त न बने। इसे शुद्धउपयोग कहते हैं। कर्म आयेंगे (अपने) उपादान से; अपने कारण से आते हैं; परंतु उसमें शुभ-अशुभराग का निमित्तत्व है; वह निमित्त से ग्रहण होता है ऐसा कहा जाता है। परंतु शुद्ध उपयोग है इसमें तो कर्म का यह निमित्तत्व है ही नहीं।

भाई ! ऐसी सूक्ष्म बातें हैं ! एक एक शब्द के अर्थ में कितने अर्थ अंदर भरे हैं ! आचार्य का कहने का अभिप्राय क्या है यह शांतिपूर्वक उसे समझना चाहिए। उनका (आचार्य का) कहने का अभिप्राय कुछ, और स्वयं अंदर से कुछ न कुछ (दूसरा) निकाले (तो वह तो योग्य नहीं है)।

यहाँ पर ऐसा कहते हैं कि : शुद्धउपयोग है यह इसका (आत्मा का) लक्षण है। और इसमें मलिनता नहीं है। और इसलिये इस शुद्ध उपयोग में कर्मग्रहण करने का निमित्तत्व नहीं है। इसे यहाँ शुद्ध उपयोग कहा जाता है। कर्मग्रहण होने में (जिसका) निमित्तत्व है उस उपयोग को आत्मा का उपयोग नहीं कहते। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं !! (...**"वह अलिंगग्रहण है।"**)

"इसप्रकार `आत्मा द्रव्यकर्म से'-" इस प्रकार भाषा है न...! भावकर्म तो दया, दान, पुण्य-पाप के भाव; और उसमें निमित्त द्रव्यकर्म। अब यह कहते हैं कि - इसे (आत्मा को) भावकर्म है ही नहीं। इसे तो शुद्ध उपयोग है। इसे आत्मा कहा जाता है। आहा..हा...! (आत्मा द्रव्यकर्म से) **"असंयुक्त (असंबद्ध) है"** जिससे वह कर्मग्रहण में निमित्त नहीं है। भाषा इस प्रकार ली है न... **"द्रव्यकर्म से असंबद्ध है।"** आहा..हा...! उपयोग में द्रव्यकर्म का संबंध ही नहीं है। आहा..हा...! द्रव्यकर्म तो कहाँ का कहाँ भिन्न रह गया । इसके पास आता भी नहीं है, (ऐसा) कहते हैं। कुछ समझ में आया ?

आहा..हा...! ऐसी बात, बापू ! (सुनने को मिले वह भी) भाग्यशाली है, भाई ! अरे ! यह तो भगवान के श्रीमुख से निकला हुआ तत्त्व है, बापू ! वादविवाद करो... चाहे जो करो... मार्ग तो `यह' है ! इस मार्ग में कुछ फेरबदल करेगा तो उसके आत्मा की फेरबदल हो जायेगी।

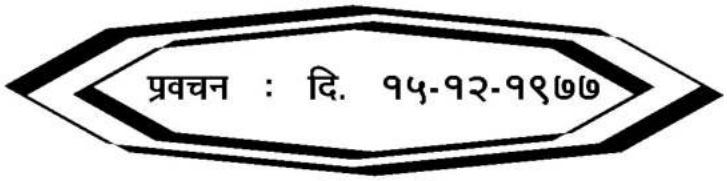
आहा..हा...! क्या कहते हैं ? कर्म के ग्रहण करने में शुद्ध उपयोग निमित्त नहीं

है। अतः इस शुद्ध उपयोग को जीव का लक्षण कहा जाता है जिसको कि कर्म का संबंध ही नहीं है। आहा..हा...! और जिसे कर्म के निमित्तत्वरूप संबंध है वह आत्मा का उपयोग और लक्षण ही नहीं है। आहा..हा...! (इस प्रकार आत्मा द्रव्यकर्म से) असंबद्ध है "**ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।**" ग्यारह हुए। बारहवाँ आयेगा अब। विशेष कहेंगे...



ध्रुवधामरूपी ध्येयके ध्यानकी प्रचंड धूनी-उत्साह व धैर्यसे धूनना - ऐसे धर्मका धारक धर्मी धन्य है । (परमागमसार -६११)

जिनके निमित्तके आत्माकी यथार्थ बात सुनी हो, जिसने न्याय-समझा हो, उसका जो विनय नहीं करता - वह व्यवहारसे भी अधम है, चोर है। (परमागमसार - ८९६)



'प्रवचनसार' १७२ गाथा। फिर से जरा। देखो ! (बोल) ११ - "**लिंग द्वारा अर्थात् उपयोगनामक लक्षण द्वारा ग्रहण अर्थात् पौद्गलिक कर्म का ग्रहण जिसके नहीं है,...**" यहाँ तो आत्मा उसे कहे कि : जिसे पुण्य-पाप का कर्तापना नहीं है। शुभाशुभभाव का कर्तापना नहीं है। अतः इसे द्रव्यकर्म का संबंध नहीं है। उसे आत्मा कहते हैं। क्योंकि पुण्य-पाप के भाव हैं, वे कोई आत्मा नहीं हैं और आत्मा में उनका कर्तृत्व नहीं है। इस (आत्मा) का पुण्य-पाप के भाव को जाननेवाला अर्थात् यह तो स्वयं अलिंगग्रहण जिसे कर्म का संबंध नहीं है और जिसके स्वभाव में विकार का कर्तापना नहीं है इसे यहां आत्मा कहा जाता है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! ऐसी सूक्ष्म बातें ! यह 'कर्तापना' की व्याख्या कल हो चुकी। चैतन्य ज्ञायकस्वरूप है न...! इस ज्ञायकस्वभाव में पुण्य व पाप के भाव नहीं हैं, अतः यह उनका कर्ता नहीं है। अतः जिसे पुण्य-पाप के भाव से कर्म का बंधन हो वह (बात) आत्मा नहीं है। आहा..हा...! ऐसी बात है ! यह ग्यारहवाँ बोल हुआ। अब, बारहवाँ बोल -

"**जिसे लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण अर्थात् विषयों का उपभोग नहीं है...**" आहा..हा...! यह तो अन इन्द्रिय का भोक्ता है। विषय का भोग तो राग का भोग है। इन्द्रिय द्वारा राग और (उसकी विषयभूत) वस्तु इसके (आत्मा के) स्वरूप में नहीं है। ऐसी बात है !

श्रोता :- (राग) द्रव्यस्वभाव में नहीं है या पर्यायस्वभाव में नहीं है ?

उत्तर :- यहाँ तो पर्याय में भी नहीं है। यहाँ तो निर्मलपर्याय का यह कर्ता और निर्मलपर्याय का भोक्ता ! सूक्ष्म बातें बहुत, बापू ! शरीर का भोक्ता तो नहीं,

स्त्री आदि के शरीर का - लक्ष्मी आदि का भोक्ता नहीं है, परंतु उसके प्रति के रुझानवाल जरा राग है उसका भी भोक्ता आत्मा नहीं। क्योंकि राग है वह परतत्त्व (अर्थात्) आत्मतत्त्व से भिन्न तत्त्व है। अर्थात् जिसकी दृष्टि द्रव्यस्वभाव की ओर गई और सम्यग्दर्शन हुआ उन्हें इन्द्रिय-विषयों का भोग (है) वह आत्मा में नहीं है।

श्रोता :- किसी को नहीं है !

उत्तर :- है ! अज्ञानी मानता है न... `मैं विषय का भोग करता हूँ'; ऐसे भाव को करता है और भोगता है ! (परंतु) जिसे वस्तुस्वभाव की दृष्टि है उसे यह (विषयों का उपभोग) नहीं है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

ऐसा कठिन मार्ग है। सम्यग्दर्शन का प्रथम विषय जो अरूपी प्रभु, इसे दृष्टि में न ले और इसका स्वीकार न हो तब तक सब थोथा है !

अतः ऐसा कहते हैं कि : हम इसे भगवानआत्मा कहते हैं कि (जो) लिंग (अर्थात्) इन्द्रिय के विषय का भोक्ता नहीं है "वह अलिंगग्रहण है।"

आहा..हा...! आचार्य ने एक एक बोल में बहुत सूक्ष्मपना भर दिया है। जिसे धर्म प्राप्त करना है, जिसे धर्म करना है उसकी दृष्टि तो वस्तु के स्वभाव के ऊपर रहती है। अतः उसकी पर्याय में तो शांति व आनंद व वीतरागता की पर्याय का कर्तापना व भोक्तापना है। आहा..हा...! वीतरागीपर्याय का कर्तापना भी उपचार से है। क्योंकि द्रव्य कर्ता नहीं है। पर्याय पर्याय की कर्ता है।

यह `कलश' में आ चुका है : निर्मलपर्याय का `कर्ता' आत्मा और इसका वह `कर्म', यह तो उपचार है। भेद पड़ गया (इसलिये) व्यवहार (है)। आहा..हा...! वस्तु जो है यह तो चिद्घन-आनंदघन प्रभु ध्रुव है; यह निर्मल (पर्याय) को कैसे करे ? और निर्मल (पर्याय) को कैसे भोगे? इसकी (निर्मलपर्याय की) कर्ता निर्मलपर्याय और इसका कार्य निर्मलपर्याय। इस षट्कारक का परिणमन (स्वयं) निर्मलपर्याय में (है) !

यह तो सूक्ष्म बात है, प्रभु ! यह तो दूसरी तरह का अभ्यास है। जगत के अभ्यास सब पाप के अभ्यास हैं - डोक्टर के और वकालत के... आहा..हा...! इंग्लेंड में व लंडन में जाते हैं न पढ़ने के लिये... वे सब पाप के भाव हैं। पाप की पढ़ाई है !

यहाँ पर तो प्रभु चैतन्यस्वभाव, पूर्णानंद का नाथ प्रभु, ध्रुव; यह विकार का कर्ता नहीं है इसलिये इसे - द्रव्य का संबंध ही नहीं है। क्योंकि इन्द्रिय के विषय को भोगने का भाव तो विकार है। स्वभाव तो उसका भोक्ता है नहीं। जिसे भगवान के अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप का दृष्टि में जहाँ अंतर स्वीकार व अनुभव हुआ, वहाँ उसे दृष्टि के विषय में और दृष्टि में - दृष्टि की पर्याय में - इन्द्रिय-विषय का भोग नहीं है।

आहा..हा...! सूक्ष्म बहुत, बापू ! मार्ग सूक्ष्म, भाई !

श्रोता :- आप सरल कर देते हो।

उत्तर :- भाषा तो सादी आती है...!

(भाई !) अपना यह स्वरूप अन इन्द्रिय है। यह अनइन्द्रिय स्वभावी भगवानआत्मा; अपनी पर्याय में भी इन्द्रिय के विषय को भोगे, वह इसके स्वरूप में कहाँ है ? अज्ञानी अपनी पर्याय में पाँच इन्द्रिय के विषय को (तत्संबंधी राग को) भोगता है, वह पर्यायबुद्धिवाला है अर्थात् वह तो मिथ्यादृष्टि है।

आहा..हा..हा...! ऐसी बातें हैं !! गजब काम किया है न ! परमात्मा त्रिलोकनाथ की `यह' वाणी है। संतजन उस वाणी के द्वारा जगत को जाहिर करते हैं। संतजन तो वीतरागता के भोक्ता हैं। आहा..हा...! यह टीका करने का जो विकल्प आया है उसका तो वे कर्ता भी नहीं हैं और उसके वे भोक्ता भी नहीं हैं।

जिन्हें विकल्प से भिन्न हुआ प्रभु - पूरा द्रव्यस्वभाव जहाँ दृष्टि में आया (वहाँ) भगवानआत्मा और इसकी दृष्टि अथवा पर्याय, वह राग की कर्ता नहीं है एवं वह राग के विषय की भोक्ता भी नहीं है।

भाई ! यह तो अलग प्रकार का (अलौकिक मार्ग है !) उसे अनंतकाल में जाना नहीं है, अनुभव किया नहीं है इसलिये उसे कठिन लगता है, परंतु वस्तु(स्थिति) तो यह है। यदि जन्म-मरण मिटाने हो तो यह करने पर ही छूटकारा है, वरना तो चौरासी के अवतारों में मर जायेगा।

कहा नहीं था...! निगोद में अनंतकाल बीताया। अनादि-सान्तकाल में अनंतकाल तो जिसका निगोद के दुःख भोगने में गया। यहाँ तो नारकी के एक क्षण का दुःख... प्रभु ! उसे करोड़ों जीभ द्वारा और करोड़ों भवों तक (कहने पर भी) नहीं कहे जा

सके तो निगोद का दुःख तो बापू...! बहुत कठिन है, भाई ! संयोग से देखे तो उसे नरक का दुःख ज्यादा लगता है। परंतु विपरीत दृष्टि और विपरीत परिणमन की अपेक्षा से देखे तो निगोद में अधिक दुःख है। आहा..हा...! क्या कहना है ? कि - फिर नरक के दुःख की व्याख्या तो कही कि, जिसके एक क्षण के दुःख को करोड़ों भव और करोड़ों जीभ से न कहा जाय इतना दुःख है, भाई ! उससे अनंतगुना दुःख तो निगोद में (है)। क्योंकि जहाँ पर ज्ञान की पर्याय अक्षर के अनंतवें भाग की रह गई! वस्तु भले ही वस्तुरूप है, किन्तु पर्याय में ज्ञान की पर्याय अनंतवें भाग की रह गई। उस पर्याय में (जितनी) अल्पज्ञता उतना उसे दुःख है ! क्योंकि वहाँ आनंद की पर्याय के अनुभव का अभाव है। निगोद में उसे अपनी पर्याय में अल्पज्ञता है वह अनंत दुःख है ! दुःख की व्याख्या ऐसी नहीं है कि, यह सिर पर प्रहार पड़े और अग्नि-ताप आता है इसलिये (दुःख) है। - ऐसी दुःख की व्याख्या नहीं है। वह तो निमित्त-संयोग की व्याख्या है। दुःख की व्याख्या तो आनंदस्वरूप भगवान अंदर पर्याय में जितना उलटा पड़ा है उतना दुःख है। - यह (यथार्थ) परिभाषा है। तो निगोद के जीव ने... प्रभु ! एक श्वास में अठारह भव किये। ऐसे अनंत श्वास के अनंत अनंत भव किये। उसके दुःख की क्या स्थिति कहें ? वहाँ वह पर्याय विकार की कर्ता भी है और पर्याय विकार की भोक्ता भी है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

उस प्रकार अज्ञानी भले ही पंचेन्द्रिय हुआ, क्षयोपशम कुछ विशेष हुआ। फिर भी उसे अनंतानुबंधी का तीव्र कषाय और तीव्र मिथ्यात्व है। जहाँ अनंत अनंत पवित्र प्रभु; पवित्र अनंतगुण का पिंड; इसका अनादर करके, एक राग के विकल्प का भी स्वीकार और अनादर करता है (वहाँ) यह अनंत अनंत अनंत पवित्र गुण व आनंद का अनादर करता है। आहा..हा...! इस दुःख का नाप किस प्रकार निकालें ???

इन दुःख के - इन्द्रिय के विषयों की ओर की रुझान, सम्यग्दृष्टि का हट गया है, ऐसा कहते हैं। विभाग पड़ गया है। जिसके अतीन्द्रियआनंद को भोगने में जिसे इन्द्रिय - विषय के राग का भोक्तापना नहीं है इसे यहाँ `आत्मा' (अर्थात्) `अलिंगग्रहण' (कहते हैं)। अतः (आत्मा) भोक्ता की पर्याय-लिंग बिना का (है) **"वह अलिंगग्रहण है।"** ऐसी बातें हैं !

आहा..हा...! जितना यह महान है, जैसा यह महान है इसका जो आनादर है वहाँ उतना ही बडा दुःखी है ! और यह महाप्रभु महान है इसके अनुभव में आनंद की यह पर्याय भले ही अल्प हो किन्तु है यहाँ अनंत अपरिमित आनंद ! आहा..हा...! वह तो विचार में आते-आते अक्षय-अपरिमेय आ गया। इसे कहाँ (पहले से) तैयार किया था ? आते-आते आ जाय सो ठीक !

जिन्हों ने इन्द्रिय के भोक्ता के भाव से भगवानआत्मा भिन्न है ऐसा जाना, उन्हें इन्द्रिय के भोक्ता का भाव है ही नहीं। उससे भिन्न पड़ा हुआ प्रभु तो अन इन्द्रिय की पर्याय का भोक्ता है। आहा..हा...! भाषा तो सादी है, बापू ! भाव तो कोई अलौकिक है, बापू ! क्या कहें ?

(यहाँ पर तो कहते हैं :) "लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण अर्थात् विषयों का उपभोग नहीं है।" इसे यहाँ आत्मा कहते हैं। जिसे इन्द्रिय के विषय में मज़ा-मीठास लगती है वह इन्द्रिय-विषयों का भोक्ता है, वह मिथ्यादृष्टि है। - क्या कहा ? जिसे ये पाँच इन्द्रियाँ जड़-मिट्टी, उनकी तरफ के रुझान का - भोग का जो भाव होता है, वह भोग का भाव अनंत दुःखरूप है और उनमें (जिसे) मीठास है, `मुझे मज़ा पड़ता है' ऐसा भाव तो मिथ्यादृष्टि का है।

यहाँ इन्द्रिय के विषय से भिन्न बताकर `यह' दिखाना चाहते हैं : जिसे इन्द्रियों के विषय तरफ के भाव में प्रेम है, मीठास है, ठीक लगता है वह भोक्ता है, मिथ्यादृष्टि (है)। मिथ्यादृष्टि इन्द्रिय के विषय का भोक्ता है। आहा..हा...! वह आत्मा नहीं। कुछ समझ में आया ? यहाँ तो कहते हैं कि : उनकी (इन्द्रिय-विषयों की) मीठास जहाँ उड़ गई है; इन्द्रिय की तरफ के विषय का मज़ा, `वह मज़ा ठीक' यह दशा, यह भाव जिनका उड़ गया है उनकी यहाँ पर बात ली है।

४७ नय में लेंगे। आगे `चरणानुयोग (सूचकचूलिका)' में - ("आत्मा कर्तानय से रागादि परिणामों का कर्ता है।" "आत्मा भोक्तानय से सुखदुःखादि को भोगता है।") - ज्ञानी को भी जितने अंश में राग है (अर्थात्) जितना राग आता है, उतना परिणमन मेरे में है, उसरूप परिणमन होना वह कर्ता, उतना ज्ञान जाने, और जितना राग (है उस) का भोक्ता है। उतना मैं उसे भोगता हूँ, ऐसा मेरे में धर्म है।

यहाँ पर (अलिंगग्रहण) `ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन' है न...! यह तो दृष्टिप्रधान-सम्यग्दर्शन

का विषय है। परंतु (सम्यक्)दर्शन के साथ हुआ ज्ञान, यह तो समय समय की विकृत अवस्था को (भी) जाने कि, वह विकृत अवस्था मेरी है, मेरे में है (उसरूप) मैं कर्ता होकर परिणमन करता हूँ। और जितने अंश में राग हुआ है उसका भोक्ता भी मैं हूँ। पर के साथ क्या संबंध है ? पर तो बिलकुल भिन्न है। (अपनी) पर्याय में जितना हर्ष-शोक का वेदन है उसका मैं भोक्ता हूँ, इस प्रकार (सम्यक्)ज्ञान से जनाता है। परंतु यहाँ तो ज्ञेय(तत्त्व) अर्थात् दृष्टि का विषय(भूत) आत्म(ज्ञेय) कैसा है ? यह यहाँ आया। और वहाँ १०२ गाथा, `सम्यग्दर्शन का अधिकार' है फिर भी (वहाँ) लिया कि, भाई ! राग की उत्पत्ति का काल-क्षण है इसलिये उसमें होता है। दर्शनविशुद्धि के काल में ज्ञानी को भी जो राग होता है उसका वह जन्मक्षण-उत्पत्तिकाल है। कर्म के कारण नहीं। द्रव्य-गुण के कारण नहीं। पर्याय में वैसी उत्पत्ति का वह काल है तो ऐसी उत्पत्ति होती है। उसे वहाँ ऐसा कहा कि यह जन्मक्षण है इसलिये उत्पन्न होता है।

`नय' के अधिकार में कहा कि राग का जितना उसे वेदन है, (उतना) भोक्ता है। यहाँ पर कहते हैं कि - इन्द्रिय-विषय तरफ के राग का `आत्मा' कर्ता भी नहीं है और उसका भोक्ता भी नहीं है। अरे ! ऐसी बातें !! ऐसा विषय है, बापू !

`श्रीमद् राजचंद्र' में वह (`आत्मसिद्धि' गाथा-८ में) आता है न...! "जहाँ जहाँ जो जो योग्य है वहाँ वहाँ समझना वह; तहाँ तहाँ वह आचरण करे, आत्मार्थी जन वह।"

आहा..हा... हम `आत्मा' इसे कहते हैं, `ज्ञेय' इसे कहते हैं, `आत्मा' ज्ञेय है। ज्ञान में ज्ञात होने योग्य (है) इसे हम `आत्मा' कहते हैं कि - जिसको राग का एक कण उत्पन्न नहीं होता। इसे (आत्मा को) राग है ही नहीं। आहा..हा...! आत्मा को जिसने जाना और आत्मा जिसे कहते हैं (कि) इसे तो आनंद और ज्ञान की पर्याय का परिणमन (रहता) है। और यह वहाँ राग का भोक्ता भी दिखता है ? कि : नहीं, राग को भोगने का भाव, यह आत्मा नहीं। आहा..हा...! यह आत्मा, `ज्ञेय' - ज्ञान में ज्ञात होने योग्य वह `ज्ञेय' - यह `आत्मा', इन्द्रिय के विषय का भोक्ता है ही नहीं, भाई ! ऐसी बातें हैं ! दुनिया से निराली जाति की है। यह तो धीर-गंभीर लोगों का काम है !

(यहाँ पर कहते हैं कि :) "जिसे लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा" - "लिंगों" का अर्थ इन्द्रियाँ हो गया। अब "ग्रहण अर्थात् विषयों का उपभोग नहीं है।" आहा..हा...! इसे आत्मा कहते हैं। और आत्मा का जानना उसे कहते हैं कि जिसे विषयों का भोग ही नहीं है। वह (भोग) सारे ज्ञान में पररूप से, ज्ञेयरूप से जाने जाते हैं। अपने में राग का भोक्तापना व कर्तापना इस आत्मा को नहीं है। `ग्रहण' अर्थात् विषयों का उपभोग। (जिन्होंने आत्मा जाना) उन्हें विषयों के भोग के राग का प्रेम उड़ गया। प्रेम उड़ गया तो उसका वे भोक्ता ही नहीं। कुछ समझ में आया?

आहा..हा...! ऐसी बातें हैं !! जिनवर का मार्ग कोई अलौकिक है, बापू ! इसके सिवाय (यह बात) कहीं भी नहीं है। आहा..हा...! स्वयं जिनस्वरूप है न...! भगवानआत्मा स्वयं जिनस्वरूप है। "घट घट अंतर जिन बसै, घट घट अंतर जैन; मत-मदिरा के पानसौं, मतवाला समुझै न।" अपने नशे में चूर होकर दीवाने हो चुके पागल `राग को मैं करता हूँ, शरीर की क्रिया कर रहा हूँ, परद्रव्य का बिलकुल कर्तृत्व नहीं है ऐसा नहीं' (इस प्रकार मानता है)। लीजिए, वह अभी आया था न `सम्यग्ज्ञान' (पत्रिका) में : `एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं करता, रंचमात्र नहीं करता, (यह) बिलकुल झूठी बात है।' (परंतु) यहाँ तो कहते हैं कि परद्रव्य का कर्ता-भोक्ता तो नहीं (किन्तु राग का भी कर्ता-भोक्ता नहीं है)।

आहा..हा...! भगवान ! तेरी शक्ति में प्रभु ! सर्वज्ञस्वभाव पड़ा है न...! वह सर्वज्ञस्वभाव पर्याय में क्या करे ? राग होता है उस राग का भोक्ता होता है ? वह तो उसे जानता है ! (किन्तु) मैं उसका कर्ता व मैं उसका भोक्ता, यह बात आत्मा के ज्ञान में व पर्याय में भी नहीं है।

ऐसा सब सूक्ष्म लगे इसलिये लोगों को (अंदर में) मिलान नहीं हो पाता, तो फिर एकान्त है... एकान्त है... इस प्रकार (विरोध करते हैं)।

पुनःश्च, दूसरी जगह कहते हैं कि : (आत्मा राग का) कर्ता-भोक्ता है। यहाँ कहते हैं कि: कर्ता-भोक्ता नहीं है ! वह (पर्याय), दृष्टि के (विषय में नहीं है)। दृष्टि का विषय है सो बिलकुल निर्विकल्प है। दृष्टि स्वयं निर्विकल्प है। और उसका विषय निर्विकल्प-अभेद है। अतः दृष्टि अभेद के अलावा अन्य किसी का स्वीकार नहीं करती।

जब भेद का (ही) स्वीकार नहीं करती तो राग के कर्तृत्व व भोक्तृत्व का स्वीकार वहाँ है ही कहाँ ?

आहा..हा...! सम्यग्दृष्टि... (उनकी) छयानवें हजार रानियाँ ! उनके प्रति का राग भी दिखे। परंतु कहते हैं कि वह आत्मा में नहीं होता व पर्याय में भी नहीं होता। पर में हो रहा है उसे जानते हैं। आहा..हा...! वह परतत्त्व है ! वह भोगने का और करने का तत्त्व, परतत्त्व है; आत्मतत्त्व नहीं। वह (राग) निकल जाता है। है ही नहीं। वह इस वस्तु के स्वभाव में नहीं है और इसकी सम्यक् पर्याय में भी नहीं है ! (परंतु जो) पर्याय राग की कर्ता (है)। उसकी पर्याय में (हालाँकि) षट्कारक का परिणमन है; परंतु (उसका कर्तापना) किसको ? कि - जिसकी उसके ऊपर (दृष्टि), पर्यायदृष्टि है उसको; वह तो मिथ्यादृष्टि है। आहा..हा...! अरे...रे ! अभी तो यहाँ यह आता है लेखों में : विकार की पर्याय कर्म करवाये और कर्म की पर्याय विकार करवाये। कर्म की पर्याय भोगने का कार्य (करवाये)।

'समयसार' (गाथा १३०-१३१ के भावार्थ में आता है न...!) (ज्ञानी... क्रोधादि भावरूप) "हालाँकि उदय द्वारा जबरन परिणमन करते हैं।" (परंतु) उसका अर्थ कि : स्वयं को करने का भाव-प्रेम नहीं है, रुचि में वह नहीं है, रुचि में तो पोषण प्रभु-आत्मा का है, अतः जो राग उन्हें होता है वह कर्म की जबरदस्ती के कारण होता है, ऐसा वहाँ कहा है; परंतु (वह) कर्म से नहीं हुआ; (स्वयं के पुरुषार्थ की कमजोरी से हुआ है।)

और 'इष्टोपदेश' में यहाँ तक आया : "कत्थवि बलिओ जीवो कत्थवि कम्माई हुंति बलियाई।" ऐसा आता है लो ! वह किस अपेक्षा से कहते हैं ? विकृतभाव है वह भावकर्म का ज़ोर है, ऐसा कहा। 'आत्मा तो अनादि का बलवान है' (ऐसा अंतर् स्वीकार हो) वहाँ आत्मा बलवान (हो जाता) है। अज्ञानी के पर्याय के झुकाववाला भाव भी है वहाँ वह विकार का बलवानपना है ऐसा बताया। किन्तु यहाँ तो उसे निकाल दिया। वह ज्ञेय अधिकार व सम्यग्दर्शन अधिकार (है न...!)

('प्रवचनसार' में) प्रथम अधिकार ज्ञान अधिकार है और दूसरा अधिकार सम्यग्दर्शन अधिकार और तीसरा अधिकार चरणानुयोग का है ऐसा जयसेन आचार्य की टीका में आता है।

अहो..हो...! गजब है न !! वे ही संत यहाँ पर 'यह' कहें और वे ही संत 'नय' में फिर (ज्ञानी को) कर्ता-भोक्ता कहेंगे। ऐसा अनेकान्त स्याद्वाद मार्ग ! (कहाँ) किस अपेक्षा से कहा है इसे नहीं समझकर एकान्त खींचते चले जाय तो वह बात वैसी नहीं है। कुछ समझ में आया ?

यहाँ पर तो कहते हैं कि : आत्मा, अर्थात् जिन्हें आत्मा दृष्टि में आया है वे, इन्द्रिय-विषयों के राग के कर्ता व भोक्ता नहीं। आहा..हा...! तब तो फिर उन्हें (ज्ञानी को) राग भी नहीं है व भोक्तापने का भाव भी नहीं है ! (वह) किस अपेक्षा से है, भाई ! यहाँ तो दृष्टि और दृष्टि का विषय आत्मा-ज्ञेय परिपूर्ण प्रभु, इसका जहाँ अंतर में स्वीकार व प्रेम हुआ उन्हें राग को करने का व भोगने का प्रेम उड़ गया - इस अपेक्षा से वे कर्ता व भोक्ता नहीं, ऐसा कहा है। कुछ समझ में आया ?

('समयसार' निर्जरा अधिकार में कलश-१६० के भावार्थ में) 'भयप्रकृति' में भी आया था न कि : ज्ञानी को भय नहीं है ! परंतु भावार्थ में आया था कि चारित्रमोह के निमित्त से उन्हें भय लगे फिर भी उस भय को अपना नहीं जानते; स्वयं को भिन्न जानते हैं। उन्हें ऐसा भय नहीं लगता कि वे (निज)स्वरूप अखंडानंद प्रभु है इससे च्युत हो जाय। किस अपेक्षा से कहा कि भय तो अस्थिरता(जन्य) होता है ? कहा न...! क्षायिकसमकिती...श्रेणिकराजा ! (यदि) आत्मा में कर्ता-भोक्ता(पना) नहीं है तो ज़हर क्यों पीया ? कर्म ने ज़हर पीलाया है ? आहा..हा...! ऐसा उन्हें भाव आया... हीरा चूस लिया... देह छूट गया। परंतु उस भाव को यहाँ गौण करके, वह विषय दृष्टि के विषय में और दृष्टि में नहीं है ऐसा कहकर भगवानआत्मा उस राग का कर्ता व भोक्ता नही है (ऐसा कहा)। परंतु जब इसे, पर्याय उसकी है और उसके भीतर होती है और उसके दोष से होती है, ऐसा सिद्ध करना हो (तो कर्तानय से व भोक्तानय से वह उसका कर्ता-भोक्ता भी है) कुछ समझ में आया ?

आहा..हा...! प्रभु की लीला तो देखो ! ईश्वर ऐसा प्रभु... स्वयं हाँ ! आनंदघनजी में आता है न...! "कोई कहे लीला रे अलख अलख तणी रे, लख पूरे मन आश।" आहा..हा...! वह कोई ईश्वर की लीला नहीं है; प्रभु तेरी लीला है !

जहाँ दृष्टि के विषय में भगवान को (निजात्मा को) प्रतीति में लिया उस धर्मी को राग का करना और राग का भोगना (है ही नहीं)। इन्द्रिय के विषय को करे

और इन्द्रिय के विषय को भोगे, यह (बात) आत्मा में नहीं है, अतः समकिती के नहीं है। (वह) अलिंगग्रहण है। "इसप्रकार आत्मा विषयों का उपभोक्ता नहीं है ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।" अ लिं ग ग्र ह ण - छः अक्षरोमें से ऐसा एक भाव निकलता है। छः अक्षर के भाव के बीस अर्थ तो (हम) कहेंगे। कहते हैं कि इनमें से एक अर्थ ऐसा भी निकलता है।

आहा..हा...! ऐसी बातें हैं, भाई ! ये (संप्रदाय में) सिर्फ कथाएँ वाचते हैं ! (किन्तु) द्रव्यानुयोग की दृष्टि के बिना, कथानुयोग और चरणानुयोग (और करणानुयोग) में किस अपेक्षा से कहा है, यह बात उसे संमत नहीं होगी। 'मोक्षमर्ग प्रकाशक' में ऐसा कहा है न...! द्रव्यानुयोग-तत्त्व-द्रव्य अर्थात् वस्तु इसका उपयोग, इसका ज्ञान, इसके वास्तविक ज्ञान के बिना, इस चरणानुयोग में ऐसा कहा है और करणानुयोग में ऐसा कहा है और कथानुयोग में ऐसा कहा है, उन सब के भावों की अपेक्षाएँ, द्रव्य के ज्ञान के बिना, अन्य कोई अपेक्षा उसे यथार्थ लागू नहीं होती, उसे समझ में (ही) नहीं आती। चरणानुयोग में तो ऐसा आता है - व्रत करना, व्रत का निरतिचार पालन करना। लीजिए ! व्रत तो राग है।

श्रोता :- राग का पालन करना ?

उत्तर :- किन्तु यह तो बताया है कि उस समय राग है और राग का भाव उसे (साधक को) होता है इतना ज्ञान कराया है। व्यवहारनय का विषय है, ऐसा सिद्ध किया है। व्रत के परिणाम तो आस्रव हैं। यह जीवतत्त्व आस्रव को करे यह तो बन नहीं सकता। उस प्रकार निर्मलपर्याय है वह आस्रव को करे ऐसा होता नहीं है। शुद्धद्रव्य के आश्रयपूर्वक हुई थी वह संवर-निर्जरा की जो शुद्ध पर्याय, वह भी आस्रव को करती नहीं और भोगती नहीं। किन्तु (वैसा राग) पर्याय में होता है इतना ज्ञान कराने के लिये व्रत का पालन करो और अतिचार का त्याग करो, ऐसी बात की है। आहा..हा...! अब, इतनी सारी - कितनी अपेक्षाएँ ! यह बारहवाँ बोल हुआ। तेरहवाँ -

"लिंग द्वारा अर्थात् मन अथवा इन्द्रियादि लक्षण के द्वारा ग्रहण अर्थात् जीवत्व को धारण कर रखना जिसके नहीं है..." आहा..हा...!

ये लोग कहते हैं न...! 'जीयो और जीने दो' - भगवान महावीर का संदेश।

वे पुकारते हैं और दूसरे कहे हा... हा... हा... `जीयो और जीने दो'। अरे ! मन और इन्द्रिय का जीवन यह जीव का जीवन ही नहीं। कुछ समझ में आया ? उसमें भी यहाँ (सोनगढ) की टीका करी है - वे तो `जियो और जीने दो' को झूठी बात सिद्ध करते हैं।

यहाँ पर क्या कहते हैं ? देखो अब - "मन अथवा इन्द्रियादि (पाँच इन्द्रियाँ और मन) लक्षण के द्वारा ग्रहण अर्थात् जीवत्व को धारण कर रखना" - जीव को जीवत्व मन और इन्द्रिय से धारण कर रखना "जिसके नहीं है" - ऐसा उसमें है नहीं, आत्मा में वह है ही नहीं। मन और इन्द्रिय द्वारा जीव जीवित रहे अर्थात् दस भावप्राण से - भले ही अशुद्ध भावप्राण, दस जड़(प्राण) से तो नहीं किन्तु अशुद्ध भावप्राण से - जीवित रहे, ऐसा जीवत्व इस वस्तु में नहीं है। कुछ समझ में आया ? यह तो धीरे-धीरे समझ में आये ऐसा है, बापू ! यह कोई (साधारण बात नहीं है)।

आहा..हा...! "लिंग द्वारा अर्थात् मन अथवा इन्द्रियादि लक्षण के द्वारा ग्रहण अर्थात् जीवत्तव को धारण कर रखना जिसके नहीं है" - जीव का जीवत्व इसके (मन आदि) द्वारा धारण करना यह (बात) वस्तु में नहीं है। आहा..हा...! ऐसी बातें !! ये जड़ पाँच इन्द्रियाँ और मन, वचन, काया और आयुष्य और श्वास - ये दस प्राण, इन दस प्राणों द्वारा तो जीव जिंदा नहीं रहता, वह इसका जीवन ही नहीं। परंतु दस भावप्राण द्वारा जीना वह भी इसका जीवन नहीं।

आहा..हा...! यह अपने आप पढ़े तो वहाँ अंदर में कुछ संमत हो ऐसा नहीं है। अभी उसने सुना और अब (अपने गाँव) जाकर (शांतिपूर्वक) बैठकर पढ़े तो... (अंतर में समझ में आये), भाई ! सूक्ष्म बात बहुत।

कहते हैं कि : `मन' शब्द में मन, वचन और काया सब ले लो। वास्तव में तो जहाँ `मन' लिया है वहाँ फिर वचन-काया तो स्थूल निमित्त (हैं)। और फिर इन्द्रिय ली वहाँ आयुष्य व श्वास साथ में आ गया। उस भाव की योग्यता जो है अंदर - पाँच इन्द्रिय की योग्यता, मन की योग्यता, श्वास होने की योग्यता और आयुष्य अनुसार रहने की योग्यता - ऐसा जीवन जीव में नहीं है।

"लिंग द्वारा अर्थात् मन अथवा इन्द्रियादि लक्षण के द्वारा ग्रहण अर्थात् जीवत्व को धारण कर रखना जिसके नहीं है।" "जिसके" अर्थात् आत्मा के नहीं है। मन

एवं इन्द्रिय से जीव का जीवन, यह आत्मा को नहीं है।

वहाँ लोग यहाँ (सोनगढ की) झूठी टीका करते हैं - उसकी 'जीयो और जीने दो' की। किन्तु भाई ! तुझे पता नहीं है, बापू ! वह जीवन, वे दस प्राण बाहर की बातें कर रहा है; वह वस्तु है ही नहीं। यहाँ तो जीव का जीवन, जीवत्वशक्ति (से) है। (४७ शक्ति में) जो प्रथम कही है। आहा..हा...! जीवत्व नामका आत्मा में एक गुण है, शक्ति है। जिसके कारण ज्ञान, दर्शन, आनंद और वीर्य ऐसे जो मुख्य चार प्राण के द्वारा यह जीव जी रहा है। अंदर अंतर् ज्ञानप्राण, आनंदप्राण, दर्शनप्राण, वीर्यप्राण त्रिकाल। अपनी पर्याय में इन प्राण से यह जी रहा है। जीव का जीवन टिकना यह भावप्राण की परिणति से इसका टिकना है। ये पाँच इन्द्रिय और मन, ये तो जड़ हैं, मिट्टी है, उनके प्राण द्वारा जीव जी नहीं रहा। आहा..हा...! जिसे हम आत्मा कहते हैं, ज्ञेय कहते हैं, यह दस प्राण जो अशुद्ध है उनके द्वारा भी यह जी रहा है वैसा आत्मा नहीं है! आहा..हा...! प्रभु ! तेरा आत्मा कितना बड़ा है यह तुझे पता नहीं है।

आहा..हा...! अनंत अनंत आनंद सत् चिदानंद प्रभु, सत् शाश्वत (है); उसके गुण-धर्म शाश्वत (हैं); ऐसे इसके जीवन को जीने के लिये (जब यह अपनी) पर्याय में ज्ञान, दर्शन और आनंद की पर्याय(रूप) प्राण (प्रगट करता है तब) इसका जीवन है। भक्ति (स्तवन) में आता है : "जी गये नेमनाथ जीवन" - वह कैसा जीवन ? अंदर आत्मा आनंद और ज्ञान का समुंदर - समुद्र, इसकी पर्याय में यह जीव टिका हुआ है। उनके जीव ने (नेमनाथ भगवान के) जीव का जीवन जीया। "जी गये नेमनाथ जीवन" - इन प्राण (दस प्राणों) द्वारा जी गये ऐसा कहते हैं ? (नहीं) यहाँ तो आत्मा, (इस प्राण से जीये) वह आत्मा ही नहीं, ऐसा कहते हैं। भगवान पवित्र-निर्विकारी गुणों का सागर-समुद्र अंदर है। "सहेजे समुद्र उल्लसियो जेमां रतन तणाणा जाय, भाग्यवान कर वावरे एनी मोतीए मूठीयुं भराय..." इस प्रकार अंदर अनंत रतन भगवान(आत्मा) में भरे हैं। आहा..हा...! दिव्यशक्ति का धारक भगवान, उस दिव्य शक्ति के परिणमन से जीये इसे जीव का जीवन कहा जाता है ! कुछ समझ में आया ? सूक्ष्म तो है, भाई ! यह मार्ग ही ऐसा है, बापू ! यह निर्विकल्प मार्ग है, प्रभु ! पर्याय में निर्विकल्प दर्शन-ज्ञान-चारित्र (प्रगट हो) वह इसकी पर्याय है, इसके जीवन द्वारा जीये

यह जीव जीया माना जाता है। शरीर के प्राण से... आयुष्य ६०, ७०, ८० (साल) रहा, उसका जीना... वह तो देह की स्थिति की बात हुई। और उसमें अंदर पाँच इन्द्रिय और मन-वचन-काया की योग्यता जिस पर्याय में है वह भी पर्यायदृष्टि के विषय में आती है। पर्यायदृष्टि अर्थात् मिथ्यादृष्टि। सम्यग्दर्शन के विषय में तो वह (योग्यता का विषय) आता नहीं है।

भगवान ! यह तो `ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन' - समकित अधिकार है न...! आचार्यों ने तो गजब काम किये हैं न ! अभी तो दो हजार वर्ष पूर्व तो ये कुन्दकुन्दाचार्य हो गये। किन्तु हजार वर्ष पूर्व अमृतचंद्राचार्य इस (ग्रंथ) की टीका करते हैं, उसके पेट खोल रहे हैं। हजार वर्ष के अंतर पर हुए संत संतों के कहने के आशय का पेट खोल रहे हैं कि कहना तो यह है आचार्य भगवंत कुन्दकुन्दाचार्य को : `अलिंगग्राह्य'; फिर भी `अलिंगग्रहण' क्यों कहा ? कि : उसमें से अनेक अर्थ निकल रहे हैं इसलिये `अलिंगग्रहण' कहा। पेटमें से निकाला है। (जिस प्रकार) दूध, गाय व भैंसों के आंचल में होता है वह इस तरह... ताकतवाली स्त्री खींचकर बाहर निकालती है। अंदर होता है उसे निकाले न...! उस प्रकार पाठ के भाव में गहराई व गंभीरता भरी है उसे तर्क द्वारा निकालकर-खोलकर बात करते हैं।

आहा..हा...! एक तरफ कहे कि सम्यग्दृष्टि जिनप्रतिमा को जिन समान मानता है। आता है न ? - बनारसीदासजी कृत `समयसारनाटक' में - "जिन-प्रतिमा जिन सारखी..." वह जिन-प्रतिमा निरपेक्ष वस्तु है न...! उसके लिये निमित्तरूप है, सामने यह वस्तु अनादि की है, ऐसा सिद्ध किया। परंतु उसकी तरफ के रुझान का जो राग है वह उसके अंदर है उसका पर्याय में कर्तृत्व है, भोक्तृत्व है, वह भी सिद्ध किया। यहाँपर तो आत्मा का ज्ञेयत्व है उसमें वह नहीं है, ऐसा सिद्ध किया। कुछ समझ में आया ?

आहा..हा...! ऐसा उपदेश !! क्या करें ? सारे दिन पैसे कमाने में लगा हो उसे यह बात (किस तरह जचे ?)

श्रोता :- छोड़कर आये हैं।

उत्तर :- अंदर ममता तो पड़ी है न...! बच्चे साथ में हो तब वह ध्यान रखें। बच्चे यहाँ साथ में नहीं हैं परंतु उनका ध्यान रखता है, `पडाई' हाथ में रहे। `पडाई'

भले उसके पास हो तो भी डोरा हाथ में रहता है... सेठलोग सब कुछ हाथ में रखते हैं... वहाँ से पत्र आते हैं, क्या करते हो तुम ? सब ध्यान होता है न...! (उपयोग की निवृत्ति के बिना निवृत्ति कहाँ है ?)

यहाँ कहते हैं :- "लिंग द्वारा अर्थात् मन अथवा इन्द्रियादि लक्षण के द्वारा ग्रहण।" अर्थात् सब कुछ आ गया - मन, वचन और काया, श्वास, आयुष्य और पाँच इन्द्रियाँ, वे (दस) जड़प्राण, और दस भावप्राण, द्वारा "ग्रहण अर्थात् जीवत्व को धारण कर रखना" - आत्मा का आत्मत्व, यह इन्द्रिय व मन द्वारा धारण कर रखना "जिसके नहीं है।" आहा..हा...!

अरे ! यह बात सुनने को (भी) मिले नहीं. (तो फिर) वह कब अंदर में उतरे और कब वह उसकी रुचि करके परिणमन करे ? रुचि ऐसी महंगी हो गई। पैसा व पत्नी-संतान मिलना तो सस्ता है। वह आया था अंदर साथ में कि - आत्मा प्राप्त करना दुर्लभ है और (अन्य) वस्तु का मिलना तो सुलभ है। क्योंकि (वह तो) पुण्य के कारण मिलता है। और एक तरफ कहे कि - वस्तु प्राप्त करना दुर्लभ है। पैसा प्राप्त करना दुर्लभ है। क्यों ? वह बिना पुण्य के नहीं मिलते इसलिये दुर्लभ है। और आत्मा प्राप्त करना सुलभ है। क्यों ? कि - यह अपने पुरुषार्थ से (प्राप्त) होता है, अतः सुलभ है। कुछ समझ में आया ? अरे ! ऐसी बातें !!

(यहाँ पर कहते हैं :) "**जिसके नहीं है वह अलिगंग्रहण है; इसप्रकार `आत्मा शुक्र और आर्तव को अनुविधायी (अनुसार होनेवाला)...'-**" अर्थात् स्त्री के ऋतु का खून (रज) और पुरुष का वीर्य, उनसे उत्पन्न हो सके ऐसा आत्मा नहीं है। वे तो जड़ को उत्पन्न (करनेवाले) हैं। आहा..हा...! इस प्रकार आत्मा शुक्र अर्थात् वीर्य और आर्तव अर्थात् (रजस्राव) खून की बूंद उनका अनुविधायी "(अनुसार होनेवाला) नहीं है।" यह तो आनंद और ज्ञानानंद का अनुसरण करके होनेवाला है।

विशेष कहेंगे...

प्रवचन : दि. १६-१२-१९७७

(`प्रवचनसार' गाथा-१७२)। तेरहवाँ बोल चल चुका। तेरहवें में क्या चला कि : "मन अथवा इन्द्रियादि लक्षण के द्वारा ग्रहण अर्थात् जीवत्व को धारण कर रखना जिसके नहीं है" अर्थात् वीर्य व खून (रज) के अनुसार होनेवाला (यह) नहीं है। `वीर्य एवं खून से यह पुत्र की प्रसूति होती है न !' कहते हैं कि उससे शरीर उत्पन्न होता है... किन्तु आत्मा उससे उत्पन्न होता नहीं। इस प्रकार लोग कहते हैं न...! कि - `यह जन्म लिया।' (परंतु) कहते हैं कि : शुक्र-वीर्य और खून... उसके अनुसार होनेवाले शरीर का जन्म हुआ; आत्मा जन्म भी नहीं लेता और आत्मा उसका अनुसरण भी नहीं करता।

श्रोता :- साथ में आता है क्यों ?

उत्तर :- साथ में अपने कारण से आता है वहाँ। सूक्ष्म बातें ! वह तो चल चुका है बहुत। जरा चौदहवाँ -

"लिंग का अर्थात् मेहनाकार (पुरुषादि की इन्द्रिय का आकार) का ग्रहण जिसके नहीं है..." पुरुष की इन्द्रिय व स्त्री की इन्द्रिय को आत्मा ग्रहण नहीं करता; क्योंकि वे तो जड़ की पर्यायें हैं। लिंग का अर्थात् मेहनाकार पुरुष व स्त्री आदि इन्द्रिय का आकार - जो इन्द्रिय के परमाणुओं का आकार - उसका ग्रहण जिसे नहीं है। यह पुरुष की इन्द्रिय व स्त्री की इन्द्रिय को आत्मा ने पकड़ा नहीं है, एवं यह (आत्मा) इन्द्रिय से काम भी नहीं लेता। आहा..हा...! यह इन्द्रिय जो पुरुष की और स्त्री की... उसमें जो गति होती है वे आत्मा के कारण से नहीं। यह इन्द्रिय जो कि परमाणु का पिंड है उसका आत्मा ग्रहण नहीं करता। आचार्य ने ऐसी बात ली है ! वैसे तो उसका त्याग भी नहीं करता। ग्रहण नहीं करता इसलिये त्याग भी

नहीं करता। उस समय होनेवाली क्रिया को आत्मा - आत्मा के स्वभाव का आलम्बन लेता हुआ - जानता है... बस ! ऐसी बात है ! सूक्ष्म बात बहुत, बापू !

ऐसा तो एक प्रश्न सुबह आया था : परद्रव्य को देता नहीं है न ? दस प्रकार के धर्म में त्यागधर्म आता है न...! यह कौन-सी अपेक्षा है (यह समझना चाहिए, बापू !)। जो अपनी इन्द्रिय है उसे भी पकड़ता नहीं है, ग्रहण करता नहीं है, उसे कड़क करता नहीं है, ढीली करता नहीं है, उसे हिलाता नहीं है, (वहाँ फिर पुस्तकादि के ग्रहण-त्याग की बात कहाँ रही ?)। शास्त्र में ऐसा लेख आता है : त्यागधर्म आता है न... दस प्रकार के धर्म में कि : संतों के पास कोई पुस्तक आदि होती है... वह दूसरों को दें तो वह त्याग है। उसका मतलब कि उसे दे सकते हैं कि नहीं - इसका प्रश्न वहाँ नहीं। सिर्फ उनके पास था, उसको लेकर जरा विकल्प था, उस विकल्प को कम करते हैं। `कम करते हैं' यह भी आत्मा इसे कम कर नहीं सकता। उस विकल्प का त्याग करते हैं यह भी (उपचारमात्र है)। `पुस्तक का त्याग करते हैं' यह तो निमित्त का कथन है। समझ में आया कुछ ? `पद्मनंदिपंचविंशति' में त्यागधर्म का ऐसा अर्थ आया है। यह सुबह में याद आया था। परद्रव्य का कुछ कर नहीं सकते (तो) इस पुस्तक को दे सकते हैं या नहीं ? किन्तु उस समय तो विस्तार नहीं किया, संक्षिप्त में (पूरा किया)। विचार तो सुबह जरा विस्तारपूर्वक आया था किन्तु तब नहीं रखा (नहीं कहा)। वैसे परद्रव्य को दे नहीं सकता तो मुनि को पढ़ने को - सुविधा के लिये पुस्तक भी नहीं दे सकता। वह तो उनके पुण्य का यदि योग होवे तो वहाँ आ जाय। किन्तु शास्त्र में पाठ ऐसा आता है।

यहाँ पर तो यह जो शरीर की इन्द्रिय जड़ मिट्टी... उसका जो कड़क होना वह, आत्मा नहीं करता। उस प्रकार ढीला हो जाना उसे (भी) आत्मा नहीं करता। आहा..हा...! क्या कहते हैं यह ?

जिस प्रकार पुरुष पुस्तक को दे... उसे त्यागधर्म कहा; वह तो अपेक्षित बात कही। उसमें से कुछ राग कम करते हैं; उस अपेक्षा से कहा। किन्तु राग कम करे और राग का त्याग... उसका कर्ता भी आत्मा नहीं है। - क्या कहा ? पर का त्याग-ग्रहण तो आत्मा में है ही नहीं। यह तो त्यागउपादानशून्यत्वशक्ति(वंत) है। सूक्ष्म बातें बहुत, भाई ! वीतरागमार्ग बहुत अलौकिक है! कहते हैं कि : परवस्तु

का त्याग व ग्रहण करना तो (आत्मा में) है ही नहीं। यहाँ आया न ! क्या आया ? "ग्रहण जिसके नहीं है।" इन्द्रिय को जिसने पकड़ा ही नहीं है। तो इन्द्रिय से काम ले, ऐसा तो संभव ही नहीं।

आहा..हा...! भगवान ! वीतरागस्वरूप तो देख भाई ! और तू कौन हो, प्रभु ? तू तो ज्ञानस्वरूपी आत्मा (हो)। यह आत्मा परमाणु का ग्रहण किस प्रकार करे ? उसे किस प्रकार खींचे? किस प्रकार हिलाये ? आहा..हा...! प्रभु ! तू अपनी स्थिति तो देख ! इस प्रकार जब (आत्मा) नजदीक की इन्द्रियों को भी पकड़ता नहीं है, ग्रहण करता नहीं है। अपने कारण से वे इन्द्रियाँ काम करती है (फिर भी) उसमें माने कि कि `मेरे कारण से यह होता है,' (तो) वह मिथ्याभाव है।

उस प्रकार यहाँ तो दिमाग में त्यागधर्म का विचार आया था कि भाई ! त्यागधर्म में ऐसा आया है न ! एक मुनि दूसरे को पुस्तक दे तो वह त्यागधर्म। उसमें भी दो प्रकार हैं। `स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा' में दस प्रकार के धर्मों को शुभभाव में लिया है। यह लीजिए, (पुस्तक देने का) विकल्प उठता है न...! उस अपेक्षा से शुभभाव लिया है। बाकी है तो धर्म। `स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा' में दस प्रकार के धर्म को - इस प्रकार दूँ, ऐसा विकल्प उठता है न इसलिये उसे - शुभभाव में गिना है। किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि पर का - पुस्तक का (आत्मा) ग्रहण भी नहीं करता, उठा नहीं सकता, एवं किसी को दे (भी) नहीं सकता। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं ! तो कहते हैं कि, तो फिर शास्त्र में ऐसा क्यों आया ? कि - भाई ! उसे एक अपेक्षा से शुभभाव है, इसलिये उसे व्यवहार से त्याग कहा। और दूसरी अपेक्षा से जहाँ स्वभाव के आश्रय से राग की उत्पत्ति नहीं हुई तो उसने त्याग किया, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। वास्तव में तो राग के त्याग का कर्तृत्व भी आत्मा में नहीं है। ऐसा `समयसार' में ३४वीं गाथा में (आता है)। आहा..हा...! गजब काम ही है !! भाई ! कहाँ तू और...? तेरे नजदीक स्थित परमाणु ? उन्हें भी तू काम में ले नहीं सकता। उन्हे ग्रहण नहीं कर सकता न ! (आत्मा ने) परमाणु को पकड़ा नहीं है न...! आत्मा तो अरूपी-भिन्न चीज है। इसलिये यहाँ पर कहते हैं (`ग्रहण जिसके नहीं है।') साथ में सभी विचार चल रहे थे। ये विचार दिमाग में ज्यादा आये थे कि -

४७ शक्ति का वर्णन है न... भाई ! जीवत्वशक्ति का वर्णन किया है। उसमें सारे ही छओं बोल समाहित हैं। प्रथम छः शक्ति इसमें समाविष्ट हो जाती हैं। फिर तो विस्तार किया है। जीवत्वशक्ति में ज्ञान, दर्शन, आनंद और वीर्य, उससे यह जीवित है। फिर भी उसका अन्य विस्तार करते हुए ऐसा कहे कि, `चितिशक्ति'... तो वह तो इसमें निहित है। किन्तु इसे भिन्न करके अस्तित्व बताया। `चिति(शक्ति)' आयी है। और... दूसरी (शक्ति) कहा न उसे...! और उसमें से फिर भेद किया कि - दृशि(शक्ति) और ज्ञानशक्ति। वह उसमें (चितिशक्ति में) आ चुकी परंतु भेद करके (दृशि और ज्ञानशक्ति) कहा। (पहले) उसे जीवत्वशक्ति कहा, फिर चितिशक्ति कहा। उसमें तो निहित थी। किन्तु भिन्न करने के लिये फिर उसके दो भेद किये : दृशि और ज्ञान। उसमें ज्ञान, दर्शन आ गये। सुख और वीर्य ये दोनों बाकी रहे। जीवत्वशक्ति। उसे यहाँ लिया : सुख और वीर्य। उसकी ताकत तो देखो ! कि, राग को ग्रहण करना या राग को छोड़ना। यह उसकी शक्ति में है ही नहीं। उसकी शक्ति में तो (वह नहीं है)। आहा..हा...! यह तो अंदर विचार चलते चलते अंदर कुछ ऐसा काम करती है ! यह (हम) तो (संसार से) निवृत्त। अन्य कोई काम तो है नहीं। गहरे-गहरे जाने से अंदर इतनी गंभीरता लगती है कि आहा..हा...! कि यह तो क्या कहते हैं !!! विचार तो ऐसा आया था कि : यह आत्मा पिता है। अपनी प्रजा का यह उत्पादक है। पर्याय प्रजा है और यह पिता है। कौन-सी पर्याय ? (निर्मलपर्याय)। यहाँ विकार की बात नहीं है। कुछ समझ में आया ? वे शक्तियाँ हैं... उसमें ही फिर एक सर्वदर्शित्वशक्ति और दूसरी सर्वज्ञत्वशक्ति निकाली। वह (दृशि एवं ज्ञान में) आ तो चुका है किन्तु पूर्ण सामर्थ्य है ऐसा अलग से बताने के लिये ये दो (शक्तियाँ) निकाली। अब, उनमें से फिर एक स्वच्छत्व और प्रकाशत्व निकाली। अब, स्वच्छत्व आ चुकी। निर्मलत्व, किन्तु विशेष स्पष्ट करने के लिये स्वच्छत्व व प्रकाशत्व कहा, उसे ही फिर असंकुचितविकासत्व कहो। वह तो ज्ञान संकुचित क्षेत्र-काल को जाने, उतना ही (मर्यादित) जाने, ऐसा उसमें है ही नहीं। उसे दूसरे प्रकार से कहकर भी निकाला तो ज्ञान-दर्शन। साधारण-असाधारण (धर्मत्वशक्ति) आती है न...! यह असंकुचितविकासत्व में आ गया। आहा..हा...! क्या उसका विस्तार ! क्या उनकी-भगवान की गंभीरता ! उसकी पर्याय को अपनी तरफ मोड़ न... ! पिता है द्रव्य;

उसमें ऐसी शक्तियों का भंडार है भगवान ! उसमें - साधारण-असाधारण में अनंत धर्म आ गये। ज्ञान-दर्शन सारे धर्म आ गये। बहुत प्रकार की (शैलियाँ) पूरी (आ जाय) ऐसी ४७ शक्ति की शैली है ! आहा..हा...! यह तो विचार आया ज़रा।

आज टेपरेकोर्डर लेकर आये थे। उसमें छः गाथाएँ तो लिखवा दी। शक्ति के लिये कहा तो फिर मैंने कहा अभी समय नहीं है। मैं तो अपने विचार में होऊँ तब ऐसा (अन्य) विचार कहाँ लाऊँ ? ४७ शक्ति तो जुबान पर है, कंठस्थ है; पढ़कर लिखा जाय ऐसा कुछ नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि जब नजदीक के परमाणु जो इन इन्द्रिय के हैं उन्हें भी आत्मा ने पकड़े नहीं है, जिससे उनका ग्रहण किया नहीं है। तो ग्रहण (ही) किया नहीं तो, उन्हें हिलाने की व चलाने की क्रिया आत्मा की नहीं है। आहा..हा...! ऐसी संतों की वाणी है !

भाई ! तूने ऐसा माना है कि `मैंने इस पुत्र को जन्म दिया, यह मेरा वीर्य गिरा इसलिये पुत्र हुआ।' (परंतु) बापू ! वीर्य ही तेरा नहीं है। वे तो जड़-परमाणु हैं। कुछ समझ में आया ? और जब जन्म हो तब तुरन्त पहले उसे देखते हैं कि बेटी है या बेटा है ? आहा..हा...! क्या (हो गया है) लोगों को... ? और यदि बेटा हो जाय तो ऐसा कहेंगे कि पति के भाग खुल गये। और बेटी हो जाय तो कहेंगे कि तू सफल हुई। ऐसी ही सब गप है सारी। किसके बेटा-बेटी, बापू ! कहाँ थे वहाँ ? वह इन्द्रिय ही तेरी नहीं है। और उस इन्द्रिय से तूने काम लिया ही नहीं है। वह वीर्य ही तेरे कारण अंदर में पड़ा नहीं है। उस वीर्य के परमाणु की पर्याय स्वतंत्र है। तो उसके कारण मैंने बेटा पैदा किया और बेटी पैदा की... ऐसा किया। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं !

यहाँ एक तरफ ऐसा कहे कि : राग के त्याग का कर्तृत्व नाममात्र है। एक तरफ कहे कि: मुनि पुस्तक दे तो वह त्यागधर्म में गिनी जाती है। (दोनों बातें) किस अपेक्षा से हैं ? (भाई ! समझना चाहिये)। यहाँ तो कहते हैं कि - इन्द्रिय का ही जहाँ ग्रहण नहीं है तो पुस्तक का ग्रहण किया ही नहीं है तो दे कहाँ से ? किसे दे ? कुछ समझ में आया ? ऐसी बातें हैं, बापू ! भगवान(आत्मा) तो ज्ञानस्वरूपी प्रभु है; यह परमाणु की क्रिया को क्या करेगा (कैसे करेगा) ?

यहाँ पर कहते हैं : "लिंग का अर्थात् मेहनाकार (पुरुषादि की इन्द्रिय का आकार) का ग्रहण जिसके नहीं है।" जिसके अर्थात् आत्मा के। "**सो अलिंगग्रहण है।**" देह के इन्द्रियों के चिह्नों को जिसने ग्रहण किया नहीं है इसलिये यह अलिंगग्रहण है। अतः उस लिंग का ग्रहण किया नहीं है।

आहा..हा...! मार्ग ऐसा सूक्ष्म है, प्रभु ! हाल में जगत को जचना कठिन पड़ जाय। सुबह आया था न...! पर को जिला नहीं सकता। यहाँ तो कहते हैं कि : पर को बेटे को पैदा कर नहीं सकता। तदुपरांत इन्द्रिय जो काम करती है उसे यह आत्मा कर नहीं सकता।

यहाँ कहते हैं, प्रभु ! एकबार सुन तो सही... ऐसा मनुष्यभव मिला। `ज्ञायते इति मनुष्यः' मनुष्य उसे कहें कि (जो) ज्ञायक को जानने का काम करे उसे मनुष्य कहते हैं। वह `गोमटसार' में आता है `ज्ञायते इति मनुष्यः'। यह वस्तु - आत्मा ही स्वयं ज्ञायकस्वरूप भगवान है। तो यह जो ज्ञायक है यह जानने का काम करता है। उसके सिवा कोई काम इसके बस का है ही नहीं। यहाँ तो (लोग) पूरे दिन व्यापार व धंधे में मशगूल (लीन)... मानो पूरे दिन यह कर लें और वह कर लें, हमने यह किया और यह दिया और वह लिया... ! तो कहते हैं कि - यह पदार्थ की सत् व्यवस्था से उसकी मान्यता विपरीत है, पाखंडी मान्यता है। अरे ! यह बात सुनने के लिये (भी) न मिले ! इसे यह मनुष्यत्व मिला नहीं मिला (हो गया), पशु के माफिक हुआ है।

(`समयसार' में) १४ काव्यों में "तिर्यंच के समान एकान्तवादी" ऐसा आता है न...! इस शरीर की इन्द्रिय को मैं हिला सकता हूँ (ऐसा माननेवाला) पशु के समान मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि पशु अर्थात् "पश्यति इति बधति इति पशुः" उसे पशु क्यों कहा जाता है कि वह स्वयं मिथ्यात्व से बँधता है। और अभिप्राय में `यह करता हूँ' इस प्रकार से बँधता है। और वह नये दर्शनमोहनीयकर्म को भी बाँधता है। आहा..हा...! कहिए अब, बड़ा अरबपति राजा हो (और यदि ऐसा माने कि) जो इस इन्द्रिय से काम हो रहा है वह मेरे द्वारा हो रहा है और मैं इन्द्रिय को जिस प्रकार हिलाऊँ उस प्रकार हिले, रोक लूँ तो रुक जाय। (तो) कहते हैं कि : प्रभु ! तू तो पशु है, भाई ! `पश्यति' तुझे मिथ्यात्व का बंधन हो रहा है, भाई ! तुझे पता नहीं है।

आहा..हा...! ऐसी बातें हैं ! दुनिया में (ऐसी बात) मिलना दुर्लभ है। इसलिये लोग कहते हैं न... देखो ! (आत्मा) परद्रव्य का कुछ करे नहीं - सोनगढवाले एकान्त कहते हैं। हाल में ही एक आर्यिका का लेख आया है : एकान्त है ! नाम भले ही यहाँ (सोनगढ) का देते नहीं हैं परंतु `एकान्त है' इसका मतलब ही सोनगढ के नाम से है सब। कोई बात नहीं हाँ, माँ ! अपनी चीज जिस प्रकार से तुझे जच रही है उस प्रकार से तू कह। ऐसा कि `परद्रव्य का रंचमात्र कर नहीं सकते' ऐसा एक अंदर शब्द है। (किन्तु) ऐसा कहते हैं कि - नहीं। हमारे समकित व सुख पर कर्म का आवरण है। कर्म ने उसको नहीं किया ? अरे भगवान ! परमेश्वर ! तेरा स्वरूप भगवत्स्वरूप है, प्रभु ! तू कहाँ गया... इस भ्रमणा में तू कहाँ गया ? भगवान ! भ्रमणा में भूल गया।

अहोहो ! अमृतचंद्राचार्य ने एक `अलिंगग्रहण'में से ऐसे अर्थ निकाले ! उनका क्षयोपशम कितना और वीतरागता कितनी !!

पुरुषादि नपुंसक भी होते हैं न...! उनकी इन्द्रिय जागृत नहीं होती। परंतु वह जागृत नहीं हुई, वह मैने नहीं कि; मेरी ताकत है इसलिये नहीं करता; बाकी जागृत करना यह भी मेरी ताकत है, इसलिये होती है। हीजडें-नपुंसक होते हैं न... उन्हें उस नपुंसकपने की इन्द्रिय तो होती है परंतु वह रुई की पूनी के माफिक शिथिल होती है। किन्तु वह शिथिल जड़ के कारण से है। आत्मा उसे शिथिल करता है ऐसा नहीं है।

ऐसी तो क्या बात होगी ? कहीं भी मिलना दुर्लभ है। ये बच्चे पढ़ने जाते हैं वहाँ होगी ऐसी बात ? धूल है वहाँ। पाप की गठरियाँ हैं वहाँ तो।

(यहाँ कहते हैं :) लिंग अर्थात् मेहनाकार-शरीर की इन्द्रिय का आकार। लिंग अर्थात् शरीर की आकृति जो इन्द्रियाँदि का आकार। उसका जिसने ग्रहण नहीं किया है। उस इन्द्रिय का आकार जिसने किया नहीं है। ग्रहण नहीं किया अर्थात् जिसने इन्द्रिय का आकार किया नहीं है। है...! "ग्रहण जिसके नहीं है सो अलिंगग्रहण है।" जिसके नहीं है अर्थात् आत्मा के नहीं है। सो अलिंगग्रहण है।

"...**इसप्रकार `आत्मा लौकिकसाधनमात्र नहीं है'**..." आहा..हा...! वह लौकिक साधन हुआ। यह (आत्मा) लौकिक साधन नहीं है। यह तो लोकोत्तर साधनवाला है। "लौकिक

साधनमात्र नहीं है" अर्थात् दूसरा साधन है ! आत्मा के आनंद को राग से भिन्न करके, आत्मा का कल्याण करे ऐसा साधन इसमें (आत्मा में) है ! यह बिलकुल भी नहीं है, लौकिक साधनमात्र तनिक भी नहीं है, ऐसा कहना है। `मात्र' का अर्थ दूसरा साधन इस प्रकार का है ऐसा नहीं। कुछ समझ में आया ?

आहा..हा...! यह प्रवचनसार... दिव्यध्वनि। सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ जिनेन्द्रदेव तीर्थंकर, जिनकी ॐध्वनि छूटती है; उसे दिव्यध्वनि कहो या प्रवचनसार कहो। प्र + वचन = उग्र वचन, उसका = दिव्यध्वनि का सार।

एक भी सत्य है उसे सत्य प्रकार से समझे, तो एक सत्य को समझने में सारे भाव समा जाते हैं। एक भाव समझे तो सारे भाव समझ में आ जाय - ऐसा उसमें - जयसेनाचार्य की टीका में आता है।

यहाँ पर कहते हैं : यह (आत्मा) लौकिक साधनमात्र नहीं है। इन्द्रिय द्वारा भोग करना और इन्द्रिय द्वारा पुत्र का प्रसव करना और... (यह सब आत्मा में नहीं है)।

श्रोता :- दोनों ?

उत्तर :- दोनों। पुरुष और स्त्री दोनों। इसमें `आदि' (`पुरुषादि' शब्द है न...!) तो आ गया न कि दोनों का साधन नहीं है। `आदि' में स्त्री, पुरुष, नपुंसक तीनों ही आ गये। उसका यह आत्मा लौकक साधनमात्र नहीं है। वह तो जड़ के साधन हैं, भगवान ! तुझे पता नहीं है, भाई!

अहोहो ! नजदीक में एक क्षेत्र में स्थित शरीर व उससे - परमाणु से बनी हुई इन्द्रिय, उसके काम भी आत्मा कर नहीं सकता। क्योंकि वे तो जड़ हैं। (फिर भी) ये सब दूसरों के काम कर देते हैं न... यह कर दे और यह कर दे और वह कर दे - भ्रमणा में भगवान भूल गया !

(आत्मा), लौकिक साधनमात्र नहीं है "**...ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।**" अलिंगग्रहणमें से ऐसा अर्थ प्राप्त होता है। ऐसा आचार्य कहते हैं। अलिंगग्रहण छः अक्षरमें से (ऐसा भी एक अर्थ निकलता है)।

सामान्य गुणों में छः का वर्णन किया है। किन्तु हैं अनंत, शक्ति में ४७ का वर्णन किया है, किन्तु हैं अनंत, उस प्रकार नय ४७ का वर्णन किया किन्तु हैं नय अनंत। कुछ समझ में आया?

(यहाँ पर) कहते हैं : वह लौकिक साधन - इन्द्रिय का साधन इसे (आत्मा को) नहीं है कि जिस साधन द्वारा विषय ग्रहण करे और पुत्र-पुत्री को जन्म दे, यह नहीं है। ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। यह चौदहवाँ बोल हुआ। (पंद्रहवाँ) - "**लिंग के द्वारा अर्थात् अमेहनाकार के द्वारा...**" अर्थात् इन्द्रिय का आकार नहीं परंतु लोकव्यापक हो सकता है या नहीं (उसके द्वारा) "**...जिसका ग्रहण अर्थात् लोक में व्यापकत्व नहीं है...**" यह लोक में व्यापक हो जाय तो यह आत्मा ऐसा नहीं है। हाँ, इसमें विभु नामक एक गुण है इसलिये स्वयं अपने अनंत गुण में व्यापता है। परंतु लोकव्यापक हो जाय तो यह आत्मा, ऐसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। इसे लोकव्यापक कहा है वहाँ सर्वगत कहा है न...! वाह रे ! कितनी बातें !

वहाँ 'पंचाध्यायी' में तो एक तरफ ऐसा कहे कि, सर्वगत मानते हैं वह नयाभास है। और 'प्रवचनसार' में कहा कि सर्वगत है - किस अपेक्षा से कि, सर्व को जानने का काम स्वयं के क्षेत्र में रहकर करता है इस अपेक्षा से इसे सर्वव्यापक कहा जाता है। किन्तु आत्मा पवित्र हो गया इसलिये इस प्रकार लोग में व्याप्त हो गया ऐसा नहीं है। यह दलील वेदान्त के सामने है। वेदान्त ऐसा कहता है न कि आत्मा सर्वव्यापक है। बिलकुल पाखंडी है, ऐसा कहते हैं। आहा..हा...! अनंत आत्माएँ अनंत शक्तिसंपन्न भिन्न भिन्न हैं। उनमें एक ही आत्मा व्यापक है ऐसा माननेवालों को यहाँ पाखंडी-अज्ञानी कहा है। यह द्वेष नहीं है। वस्तुस्थिति का वर्णन है। कुछ समझ में आया ?

अमेहनाकार-इन्द्रिय का आकार नहीं है तो अमेहनाकार है। तो अमेहनाकार द्वारा जिसका ग्रहण अर्थात् लोक में व्यापकता (नहीं है)। - सर्वगत; सर्वगतशक्ति की अपेक्षा से सर्व को जाने; लोक में व्यापक हो जाय; एक अपेक्षा से अपने में सर्वव्यापक है, ऐसा कहा जाता है। क्योंकि इसका विभु नामक गुण है तो ज्ञानादि अनंत गुण में वह ज्ञान सर्व में व्याप्त है। विभु(त्व)-शक्ति के कारण ज्ञान अपने अनंत गुण में व्याप्त है। क्योंकि ज्ञानगुण में भी विभुत्व का रूप है। अतः ज्ञान अनंत गुण में, अपने असंख्य प्रदेश में - क्षेत्र में व्याप्त है। यह तो इसका वास्तविक स्वरूप है। किन्तु इसके स्वरूप को कोई ऐसा कहे (कि वेदान्त की भाँति यह सर्वव्यापक है, तो वह पाखंड है, अज्ञान है)।

(तो कहते हैं :) "अमेहनाकार के द्वारा जिसका ग्रहण अर्थात् लोक में व्यापकत्व नहीं है"। लोकप्रमाण इसके असंख्य प्रदेश हैं। और केवलज्ञान होने पर लोकालोक को जानने का ज्ञान अपने में व्यापता है। किन्तु लोक में व्यापक होकर इस प्रकार प्रसर जाता है, ऐसा इसका स्वरूप ही नहीं है। कुछ समझ में आया ?

कठिन बात है। वेदान्तवाले ऐसा कहते हैं कि : एक ही आत्मा सर्वव्यापक (है)। ९९ के साल में (वढवाण) केम्प में ध्रांगध्रा शहर का एक भाई व्याख्यान में आता था, सुनता तो था, परंतु एक...एक ! ऐसा करता था। क्या करे ? उस बेचारे को पकड़ हो गई है न...! वस्तुस्थिति का कुछ ख़बर नहीं। एक आत्मा है, बस ! एक आत्मा है। किन्तु इस एक का निर्णय करनेवाली यह पर्याय (है), तो द्रव्य और पर्याय दो हो गये। कुछ समझ में आया ? अनेक हैं ऐसा जो माना था। उसे एक स्वरूप है ऐसा माना तो वह तो पर्याय हो गई, अन्य चीज हो गई, ध्रुव और पर्याय दो चीज हो गई, कुछ समझ में आया ? सूक्ष्म बातें बहुत, बापू !

यहाँ पर तो प्रथम (बोल) में वहाँ तक कहा कि जड़ इन्द्रिय को पकड़ सकता नहीं है। तो यह भगवान की पूजा में यह 'स्वाहा'... ये चावल इत्यादि रखते हैं। कहते हैं कि आत्मा इन्हें ग्रहण भी नहीं करता। (परंतु) यह तो अंदर खुश खुश हो जाय। यह मैंने भगवान को अर्ध चढाया... फलाँ किया... यह माला पहनाई और यह किया और भगवान के ऊपर पानी की धारा बहाई न...! सुबह में चाँदी की १०८ लुटिया या घड़े द्वारा पानी का स्नान कराया, भगवान के अभिषेक मैंने किये, ये काम मैंने किये... ! (किन्तु) तू सुन तो सही अब, यह कुछ अपने आत्मा से होता ही नहीं है, वह कार्य आत्मा का नहीं है। क्योंकि उस परपदार्थ को पकड़ा नहीं है ग्रहण किया नहीं है। तो फिर छोड़े और ग्रहण करे और ऐसा करे... यह बात कहाँ से लायेगा ? आहा..हा...! भारी काम, भाई ! यह बात कठिन लगे। यह मकान फलाँ आदमी ने बनाया... यह बात भी झूठी है। कहते हैं कि आत्मा ने भगवान को प्रतिष्ठित किया यह बात झूठी है। कहते हैं कि वह तो उनके (अपने) कारण से वहाँ आना हुआ है। और उनके (अपने) कारण से वहाँ रहना (होता है)। ये बातें हैं सब - हमने ऐसा कराया... अक्षर खुदवाये... हमने यह फलाँ किया... हमने यह किया ! बापू! उस परवस्तु में तू धूसा है ? क्या करें ? मार्ग ऐसा है ! कहिए

पंडितजी, ये तो प्रोफेसर संस्कृत के, आप सब (तो) पढ़े थे न...?

श्रोता :- (वहाँ) यह बात नहीं थी।

उत्तर :- यह (बात) नहीं थी... बात सही (है)।

आहा..हा...! "अर्थात् लोक में व्यापकत्व नहीं है सो अलिंगग्रहण है।" देखो अब ! "...**इसप्रकार `आत्मा' पाखंडियों के प्रसिद्ध...**" आहा..हा...! मुनिराज वीतरागरूप बिराजते हैं। संत हैं। दिगंबर मुनि। वे तो वीतरागभाव से विराजमान हैं। सत्य को प्रसिद्ध करने के लिये यह बात करते हैं। उसे कहनेवाली वाणी भी मेरी नहीं है और मैं कुछ कहता (भी) नहीं।

आहा..हा...! यह टीका मैंने की नहीं है। मैंने इस टीका की रचना की नहीं है। यह अंतिम श्लोक में लिखा है। बड़े लोग ऐसा कहते हैं। किन्तु कर सकता नहीं हूँ। किया नहीं जा सका, ऐसा कहा है - कर सकता नहीं। टीका में अक्षरों को लिखना... यह आत्मा कर नहीं सकता। टीका तो परमाणु के अक्षर की भाषा है। परमाणु को आत्मा करे क्या ? लिखे क्या ? अक्षर बनाये क्या ? मोती जैसे अक्षर... वे जड़ के कारण होते हैं। अक्षर, अक्षर के कारण हुए। आत्मा अक्षर लिख सकता है क्या ? तीनकाल में तीनलोक में यह वस्तु है ही नहीं।

आया था न...! सर्व को सर्वदा। सर्व जीवों की राशि को सर्वदा; परजीव को जिला सके या मार सके ऐसा तीनकाल में है नहीं। अरे ! ऐसी बातें !! (कोई) कहे कि अवधूत हो जाय तो यह बात बैठे। परंतु अवधूत ही है। परचीज तेरे में है कब ? अवधूत ही हो (तुम)। रजकण कब तेरे हैं ? रजकण व कर्म तेरे में नहीं है, तेरे नहीं हैं, तेरे कारण नहीं हैं। फिर क्या कहना है तुझे? तेरा आत्मा इस स्त्री-संतानरहित है। तुम उन स्त्री-संतान रहित हो। आहा..हा...! शरीर के रजकणों की - इन्द्रिय की जागृति भी जड़ के कारण होती है। अरेरर...! मैं राग करूँ तो होता है न ? नहीं, राग इन्द्रिय को छूता भी नहीं है। और इन्द्रिय की दशा, आत्मा को व राग को छूती नहीं है। ऐसी बात, बापू ! निराली बात है, भाई ! क्या करें ? सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर के घर में यह बात है। अन्य किसी जगह है नहीं। वैसे कहे कि `हम भगवान को माननेवाले हैं', और अब जो कहते हैं उसे मानता नहीं है तो वह भगवान को माननेवाला कहाँ से रहा ? कुछ समझ में आया ?

(यहाँ पर कहते हैं :) "इस प्रकार आत्मा पाखंडियों के प्रसिद्ध..." भाषा देखो ! एक ही आत्मा (सर्व) व्यापक है, ऐसा माननेवाले को (पाखंडी कहते हैं)।

मुनिराज वीतरागी संत, आनंद और वीतरागपर्याय में विराजमान हैं। विकल्प उठा है, उसके वे जाननेवाले हैं। और टीका हो रही है... उसे उस उसे ही जानने की पर्याय का वैसा ही कार्य था। उसे जानना, वैसा अपनी पर्याय का काल था। टीका की जो रचना हो रही है, उसे जाने, वह भी अपनी पर्याय का काल ही ऐसा था कि वह स्व और पर को जाननेवाली पर्याय उतनी ही थी। यह कहते हैं कि जो कोई आत्मा को सर्वव्यापक, लोक में व्यापक है, एक अखंड, एक ही आत्मा है, वह पाखंडियों के प्रसिद्ध है। धर्म की वह प्रसिद्ध नहीं है। इस टीका का नाम `तत्त्वप्रदीपिका' है। दीपक तत्त्व को ऐसा बताता है कि यह (तत्त्व) ऐसा है।

अरेरे ! आत्मा का ज्ञान करना - यह महा अपूर्व बात ! यह अनंतकाल में किया नहीं। बाकी सारा शास्त्रज्ञान भी किया और लौकिक(साधन) किया और... उसमें मर गया। हमने पढ़ा और हमने जाना... यह तो बापू ! (संसारवृद्धि का कारण है)। आहा..हा...! ऐसा आत्मा पाखंडियों के प्रसिद्ध है।

आहा..हा...! यहाँ की कुछेक निश्चय की बात सुनकर कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि वह तो वेदान्त जैसी बात है। क्योंकि वेदान्त के यह अनुकूल है न ? (ऐसा सरसरी तौर से देखनेवाले को लगता है)। `बहिनश्री के वचनामृत' को हाल में किसी वेदान्ती ने पढ़ा और (वह) ऐसा खुश हुआ कि आहा..हा...! यह तो अंतर की अनुभूति की बात शब्द के आकार में आयी है। यह वचनामृत तो कोई अलौकिक चीज है। वेदान्ती आदमी ने ऐसा लिखा है। उसे यह अच्छा लगा। प्रत्येक शब्द सुन्दर है, ऐसा लिखा है। परंतु उसमें (`वचनामृत' में) तो सब लिखा है कि भाई ! दिगंबर धर्म एक सत्य है; ऐसा भी लिखा है। एक भाई का (पत्र) आया है न...! लिखते हैं कि: प्रत्येक पैराग्राफ नवीनता उत्पन्न करता है। बहुत लिखा है : यह तो बारह अंग की कृतिमें से (एक) पुस्तक है। भगवान की बारह अंग की वाणी है, उसमें से ही यह पुस्तक है। अपने यहाँ आ चुका न... `समयसार' को शब्दब्रह्म कहा। क्यों ? कि - सर्व को जाननेवाला भगवान; इसे कहनेवाला, जिस प्रकार सर्व जाननेवाला है उस प्रकार, शब्द है वह शब्दब्रह्म है। उस प्रकार शब्दब्रह्म जो भगवान की वाणी,

उसका अंश यह `वचनामृत' भी शब्दब्रह्म है। मानो न मानो (परंतु) वस्तु तो ऐसी है। ऐसा कोई संग्रह हो गया है !

यहाँ पर कहते हैं कि: मेहनाकार जो इन्द्रिय उसे ग्रहण नहीं करता तो फिर वह सर्वव्यापक अमेहनाकार है कि नहीं ? (-नहीं है)। उसके सामने रखा है न...! तेरे इन्द्रिय के परमाणु को ग्रहण नहीं करता, पकड़ता नहीं है, उससे काम ले नहीं सकता। (यदि ले सके) जब तो यह सर्वव्यापक सिद्ध हुआ - अमेहनाकार अर्थात् ? उतने में स्थित नहीं है, उतने इन्द्रिय के आकार में वह स्थित नहीं है, अमेहनाकार है, सर्वव्यापक है ? - ऐसा नहीं है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? आचार्य ने यह कहाँ से निकाला ? देखो -

जहाँ उतने में इन्द्रिय है वहाँ उसे ग्रहण नहीं करता। तब उसका अर्थ कि यह तो इतने में नहीं है। बाकी पूरे लोक में व्यापक है आत्मा ? कि वह बात पाखंडियों को मान्य है। जिनेश्वरदेव सर्वज्ञ परमात्मा, उनकी वाणी में `उस सर्व व्यापक' को स्वरूप विरुद्ध कहा है। अनंत आत्माएँ एवं अनंत परमाणु, ऐसे में एक आत्मा को पूरा कहना, वह तो अनंत के अनतवें भाग में आत्मा एक आया, उसे पूरा कहना (स्वरूपविरुद्ध है)। यहाँ तो प्रत्येक आत्मा पूर्णानंद और सर्वव्यापक है। `सर्वव्यापक' अर्थात् अपने ज्ञान-दर्शन में व्यापक है। ऐसे अनंत आत्मा भगवत्स्वरूप में बिराजमान हैं। अपने द्रव्य-गुण में, व्यापकपने की दशा में (विराजमान हैं)। कुछ समझ में आया? इसे (अर्थात्) एक ही आत्मा को सर्वव्यापक सिद्ध करो तब तो अनंतवें अनंतवें अनंतवें अनंतवें भागवाले को सर्वव्यापक बड़ा सिद्ध किया। परंतु भगवान(आत्मा) यहाँ ही इतने में है। और इसका ज्ञान, अनंत अनंत अनंत अनंत जिसके क्षेत्र का अंत नहीं उसे जानता है; अनंत को अनंतरूप जानता है और अनंत को अनंतरूप में जानने पर वहाँ उस अनंत का अंत आ गया, ऐसा नहीं है।

आत्मा में अनंत धर्म हैं, शक्ति-गुण। उसमें प्रत्येक गुण स्वयं पर में - अनंत गुण में व्याप्त है। वह किस अपेक्षा से ? कि : पर में उसका रूप है, उस अपेक्षा से। एक गुण दूसरे गुण के भीतर नहीं जाता। परंतु एक गुण में अनंत गुण का रूप है। उस अपेक्षा से एक गुण सर्वव्यापक है। परंतु उसके (स्वयं के) स्वक्षेत्र में रहकर सर्वव्यापक है। (परंतु) इस प्रकार लोक में चौड़ा फैल जाय उस प्रकार सर्वव्यापक

है ऐसा नहीं है।

आहा..हा...! आचार्यों की शैली कितने प्रकार से स्पष्ट कर देती है ! उनको कुछ समाज की दरकार नहीं है। अन्यथा वेदान्त को माननेवाले तो बहुत लोग हैं। लौकिक बातें करनेवाले। मुसलमान में भी ऐसा एक सुफी मत है। उसको मैंने बोटाद के दरवाजे के बाहर निकला तब देखा था; वहाँ दरवाजे के बाहर खड़ा था। उदास था। वह सर्वव्यापक मानता था। `हम हैं खुद खुदा यारों' हम खुद खुदा हैं, ऐसा कहे। एक ही खुदा है। खुदा को भिन्न माननेवालों ने उसे (एक सुफी को) फाँसी दी थी। तो फाँसीपर चढ़ते हुए वह बोला कि : `हम हैं खुद खुदा यारों'। हम तो खुद खुदा हैं !

यहाँ कहते हैं : पाखंडियों के प्रसिद्ध "...**साधनरूप आकारवाला - लोकव्याप्तिवाला नहीं है...**" लोकरूप व्याप्त हो ऐसे आकारवाला यह नहीं है। ऐसा भाव निकलता है। उदाहरण दिया न कि यह दीपक है उसके ढक्कन लगो हो तब तक उतने में (प्रकाशित होता है) परंतु फिर जब ढक्कन खोल दो तो वह सर्वव्यापक है। उस प्रकार आत्मा के शरीरादि हो तब तक इतने में स्थित है किन्तु छूट जाय तब सर्वव्यापक हो जाता है (-ऐसा नहीं है)। यहाँ पर उसे पाखंडी-अज्ञानी कहा जाता है। यह (आत्मा) क्षेत्ररूप से सर्वव्यापक नहीं है।

विशेष कहेंगे...



प्रवचन : दि. १७-१२-१९७७

`प्रवचनसार' ज्ञेय अधिकार है। अर्थात् अलिंगग्रहण के बीस बोल हैं, उनमें ज्ञेय अर्थात् आत्मा, (यह) ज्ञेय, जानने लायक कैसा है ? और जिसके जानने से सम्यग्दर्शन होता है; धर्म की प्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन का यह अधिकार है। ज्ञेय है न...! तो आत्मा ज्ञेय कितना बड़ा है और कैसा है कि जिससे इसका ज्ञान, जितना बड़ा है उतना वैसा ज्ञान होता है और जैसा ज्ञेय है वैसी श्रद्धा होती है ? शुरूआत की बात है। किन्तु सूक्ष्म बात है। पंद्रह बोल तो अपने यहाँ चल चुके हैं। आज सोलहवाँ बोल है -

"**जिसके**" अर्थात् आत्मा को; भगवान यह अंदर आत्मा, शुद्ध भगवत् आनंदस्वरूप है (इसे); "**...लिंगों का अर्थात् स्त्री, पुरूष और नपुंसक वेदों का ग्रहण नहीं है...**" आहा..हा...! अनादि से उसे (आत्मस्वरूप के बारे में) कुछ खबर नहीं है। आहा..हा...! अंदर जो यह आत्मा है, भगवान जिनेन्द्रदेव सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो आत्मा कहा यह आत्मा अंदर कैसा है ? कि - जो द्रव्य और भाव (से) वेदवासना व वेदरहित है। सूक्ष्म बात है, भाई !

यह (आत्मा) इस शरीर-कर्मरहित तो है (ही), एवं अन्य परवस्तु - स्त्री, कुटुंब, परिवार देश आदि - से तो प्रभु रहित ही है; वे कोई उसकी चीज नहीं है, वे उसके अंदर नहीं है।

श्रोता :- हमारा घर, हमारा देश ?

उत्तर :- धूल में भी नहीं है। घर उसका था कब ? मेरा घर और मेरा धंधा और मेरी दुकान... (ऐसा मानकर) मर गया, आत्मा को मार डाला है ! यहाँ तो उससे आगे की बात है। ये दुकान के धंधे, २२ घंटे वहाँ रहना, चौबीस घंटे...

यह करूँ और वह करूँ - यह सारा मिथ्यात्वभाव-असत्यभाव का सेवन है ! जिसके कारण चार गति में भटकना होता है।

श्रोता :- रुपये तो मिलते हैं न ?

उत्तर :- धूल... रुपया कहाँ मिलता है उसे ? रुपया तो रुपये में रहता है। वह मानता है कि मुझे मिला... वह तो ममता मिली उसे... धूल कहाँ मिली ? धूल तो धूल में रह गई। (वह) धूल है, मिट्टी है। भाई ऐसा कहते हैं कि, पैसे मिलते हैं या नहीं ? धूल मिलती नहीं मिलती। पैसा तो मिट्टी है जड़। जड़ यहाँ आत्मा को मिले ? आत्मा तो अरूपी आनंदकंद प्रभु है !

श्रोता :- आत्मा को मिले नहीं किन्तु उसे रखे तो सही ?

उत्तर :- कौन रखता है ? उसे कौन रखता है ? `यह रखता हूँ और प्राप्त करता हूँ... यह पैसा पैदा करता हूँ' यह सारा मिथ्यात्वभाव-असत्यभाव-झूठाभाव; वह चार गति में भटकने का भाव है। यह बात निराली, बापू ! वीतरागमार्ग सूक्ष्म है।

यहाँ पर तो परमात्मा जिनेन्द्रदेव सर्वज्ञ परमेश्वर ऐसा फरमाते हैं उसे संतजन जगत के सामने जाहिर करते हैं कि - यह आत्मा उसे कहते हैं कि जिसमें द्रव्यवेद - जो शरीर-देहआदि पुरुष का वेद, स्त्री का वेद, (नपुंसक का वेद), वह द्रव्यवेद - नहीं है। क्योंकि वह तो जड़ है। इसके सिवा अंदर जो वेद की वासना उत्पन्न होती है - पुरुष को स्त्री की और स्त्री को पुरुष की वह वासना भी - स्वरूप में नहीं है।

आहा..हा...! कुछ समझ में आता है ? ऐसी बातें है, भाई ! सूक्ष्म, बापू ! वीतरागमार्ग-धर्म (अलौकिक है)। यह तो लोग बाहर में कुछ दया का पालन करना और यात्रा की और भक्ति की और (माने) हो गया धर्म ! धूल में भी वहाँ धर्म नहीं है। वह तो राग है। और राग से धर्म माने तो मिथ्यादृष्टि, असत्य को सत्य रूप स्वीकार कर रहा है !

यहाँ तो परमात्मा-संत ऐसा कहते हैं कि : प्रभु ! तू कौन है, कहाँ है, कैसा है जो कि तुझे जानने से सम्यक्-सत्य दर्शन हो, सच्ची श्रद्धा हो, सच्चा ज्ञान हो ? कब और किसे और कितने महान को देखने से सच्चा ज्ञान होता है ? आहा..हा...! कि इसे द्रव्यवेद जो शरीरादि वह तो इसके स्वरूप में भी नहीं है। वह तो जड़-

मिट्टी है। (इस) अजीव का तो उसमें अभाव है। अब रही वेद की वासना। विषय की वासना। वह तो विकृत-विकार है। वह, यह जो भगवानस्वरूप आत्मा है इसमें है नहीं। ऐसी बातें हैं !

दुनिया के धंधे के मारे फुरसत कहाँ है ? पाप के धंधे सारे दिन। एक भाई कहता था न कि सुबह पाँच बजे जाते हैं, शाम को आते हैं। आहा..हा...!

प्रभु ! तू कौन है, कहाँ है, तुझे कितना महान कितना मानने से तेरा दर्शन होगा ? तो कहते हैं कि : शरीर, वाणी, मन ये सब परचीजें, धंधा-पानी, स्त्री-बच्चे, ये तो तेरे में हैं ही नहीं और वे तेरे हैं ही नहीं। यह द्रव्यवेद है यह तेरे में नहीं है और तेरे नहीं हैं। अब भाववेद-विषय की वासना उत्पन्न होती है वह विकृतदशा-विकार-(यह) भगवानआत्मा (में नहीं है)। क्योंकि वह (विकार) तत्त्व तो पापतत्त्व है। यह द्रव्यवेद है वह अजीवतत्त्व है। उस अजीवतत्त्व का भगवान आत्मतत्त्व में अभाव है। एक बात। अब वेद की वासना हो वह तो पापतत्त्व है। उस पापतत्त्व का आत्मतत्त्व में अभाव है। तब तो उसे भिन्न तत्त्व कहा गया है !

ऐसी बातें सूक्ष्म पड़ती हैं। क्या करें ? लोग बेचारे पूरे दिन एक तो धंधे के मारे फुरसत नहीं पाते... फिर भले दो-पाँच करोड़ रुपये-धूल मिले। मिलती है वह तो पूर्व के पुण्य के कारण मिलती है। वह कोई पुरुषार्थ करता है इसलिये मिलती है ? (ऐसा नहीं है)। बुद्धि के बारदन-खाली बोरे जैसे बहुत लोग देखे हैं। और (फिर भी) महिने के दस-दस लाख पैदा करे, ऐसे भी बहुत हैं। उसमें उसके अपने कारण क्या है ? वह पैसा पैदा करे इसलिये बुद्धिवाला है और उसके कारण पैसा पैदा होता है ? (नहीं)। और बुद्धि के बादशाह होते हैं और महिने के दो हजार पैदा करने हो तो पसीने उतरते हैं। वह कहाँ उसके पुरुषार्थ से मिलती है ?

यहाँ तो कहते हैं : प्रभु ! एकबार सुन तो सही, तुझे मनुष्यपना मिला ! निगोद एवं एकेन्द्रिय में भटकता था। प्याज और लहसुन में एक शरीर में अनंत जीवों के साथ भटकता था, प्रभु ! तुझे खबर नहीं है। और नारकी के दुःख की वेदना, प्रभु ! तुने सुनी नहीं है। उसमें तू अब तक भूतकाल में अनंतबार रहा है। वह तो बात (अभी) आयी थी न... कि : एक क्षण की वेदना, प्रभु! क्या कहें ? कहते हैं परमात्मा। तू नरक में असंख्य वर्ष रहा और अनंतबार रहा। वह तेरी एक क्षण की वेदना,

प्रभु कहते हैं कि, करोड़ों जीभ से और करोड़ों भव से कही नहीं जाती उतनी वेदना है, उतनी पीड़ा... पीड़ा...ही पीड़ा। किन्तु वह भूल गया ! वह (मनुष्य) जन्म ले तब ऊँआं... ऊँआं... करता है न, वह (नारकी दुःखी) वहाँ और हम यहाँ पर, अब हमें कुछ नहीं जाओ !

यहाँ कहते हैं कि : एक बार तुझे आत्मा की वस्तुस्थिति को प्रतीति-ज्ञान में लेनी हो तो यह आत्मा कैसा है ? कि - जिसने यह द्रव्यवेद (जो) जड़ है, अजीव है वह तो इस चीज में-आत्मा में है ही नहीं। उस द्रव्य-जड़ को यह आत्मा छूआ ही नहीं। अब रहा भाववेद-स्त्री को पुरुष की, पुरुष को स्त्री की और नपुंसक को दोनों की विषयवासना, वह पापतत्त्व है। वह (भी) आत्मतत्त्व में नहीं है।

श्रोता :- क्या नववें गुणस्थान में वेद की वासना होती है ?

उत्तर :- उसे कहाँ वासना है ? वेद का भाव नहीं है। वेद का उदय है वह खिर जाता है। वह (वेद का भाव) पाप है। वेद की वासना है वह पाप है। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा वह पुण्य है। - दोनों वासना और विकार हैं। नव तत्त्व है कि नहीं ? तो नव तत्त्व कब सिद्ध होंगे ? कि - अजीवतत्त्व भिन्न है; दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रादि का भाव वह पुण्य है, वह पुण्यतत्त्व अलग चीज है; और हिंसा, झूठ, चोरी, धंधादि के परिणाम वह पापतत्त्व है, वह तत्त्व भिन्न है। तो पुण्य, पाप और अजीव; उन तीन तत्त्वों से रहित आत्मतत्त्व है। नव तत्त्व है कि नहीं ? भगवान ने नव तत्त्व कहे हैं न...! कहाँ खबर है उसकी ? (कुछ पता नहीं है)। जहाँ जन्म लिया वहाँ यूँ ही मजदूर की माफिक मजदूरी करी। भाई ! ऐसा होगा ? ये सब दुकान में मजदूरी करते होंगे? करोड़ों रुपये पैदा करे फिर भी मजदूर ? वह जो मजदूर है न वह तो (मुश्किल से आठ घंटे मजदूरी करता है, किन्तु यह तो चौबीस घंटे का बड़ा मजदूर !)

श्रोता :- मजदूर भले कहो किन्तु पैसे तो आये न ?

उत्तर :- कहाँ आये ? धूल में आये ! उसके पास ममता आयी। वह (पैसे) मेरे हैं ऐसी ममता उसके पास आयी है। वह ममता तो पापतत्त्व है। उससे भगवानआत्मा अंदर भिन्न चीज है।

तो कहते हैं कि : अजीवद्रव्य - वेद, उसका तो इसमें (आत्मा में) अभाव है;

उसके द्वारा आत्मा को नहीं जाना जा सकता; क्योंकि इसमें वह है नहीं। और वेद-वासना, वह पापतत्त्व है; वह आत्मा में नहीं है; अतः उस तत्त्व के द्वारा आत्मा जानने में आ सके ऐसा आत्मा नहीं है। कुछ समझ में आया ?

आहा..हा...! अंदर सत्चिदानंद प्रभु, ध्रुव, नित्य, सामान्य, अखंड, अभेदतत्त्व बिराजमान है। यह अंदर वस्तु क्या है ? जिसमें आनंद अनंत अनंत अर्थात, एक ही आनंदगुण लो तो भी अनंत अर्थात्, जिसकी सीमा नहीं है, मर्यादा नहीं है ऐसा अनंत अनंत अर्थात् यह - जो आनंदमय प्रभु है अंदर आत्मा - उस आनंद को मर्यादा-परिमितता-हद नहीं है। ऐसे अतीन्द्रिय आनंद का सागर प्रभु ! (जिसमें) ज्ञान अनंत है। वह ज्ञान ध्रुव है। उसकी हद नहीं है ! (परंतु) यह विकार तो एक क्षण का (क्षणपर्यंत ही) उत्पन्न होता है, उसकी हद है, मर्यादा है। (परंतु) यहाँ अंतर में (जो) ज्ञानस्वरूप है यह तो अनंत है। उसका अर्थ : यह ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान, इसकी ताकत, इसका अंत नहीं है ! अरे ! उसने आत्मा सुना कब है ?

वे मजदूर होते हैं न... वे तो (सुबह) ८ बजे से १२ बजे तक काम करते हैं फिर चले जाते हैं, दोपहर २ बजे से ६ बजे तक काम करे, चार घंटे (काम करके) फिर चले जाते हैं। (परंतु) यह तो बड़ा मजदूर। सुबह ६ बजे से उठे तो... रात के ९ बजे तक (काम करे) ! यह तो मैं अपनी दुकान में वहाँ कुंवरजीभाई से कहता था : आप यह क्या कर रहे हो ? यह तो सब संवत् १९६५-६६ की बातें हैं। गाँव में साधु आये हो तो पूरे दिन (उनके) सामने तक न देखे। हम तो उस दिन दुकान से कोई मतलब नहीं रहता था, कहा : यह (तुम) तो पूरे दिन (लगे रहते हो तो) बड़े मजदूर, सुबह से लेकर... रात के ८ बजे तक... करे तो १० बजे तक; किन्तु गाँव मे साधु आये हो तो ८ बजे हिसाब लिखकर १ घंटा सुनने के लिये जाय। दुकान के धंधे के मोह के मारे (फुरसत नहीं पाते थे)। उन दिनों शुरूआत में गडाकु-कम्बाकु का धंधा था। वे लोग करते थे। फिर तो दुकान जम गयी। गडाकु तो स्वयं कूटते थे। मजदूर (द्वारा) - यह तो १७-१८ वर्ष की उम्र की बात है। सत्तर वर्ष पहले की बात है। वे लोग रात में काम करते ही रहे... करते ही रहे-कूटते ही रहते थे ! (मैंने) कहा : क्या है यह सब तुम्हें ? दिनरात क्या है यह सब तुम्हारे यहाँ ? कुछ निवृत्ति और पढ़ना और सत्समागम

करना (यह कुछ नहीं ?!) साधु गाँव में आये हो तो रात को ८ बजे जाय। वरना १० बजे हिसाब लिखकर फुरसत पाये ! किन्तु साधु आये तो पहले एक घंटा ८ से ९ बजे तक सुनने जाय। वहाँ साधु वैराग्य की बातें करे। तत्त्व का तो उसे भी क्या (पता ?) तत्त्व का साधु को भी भान कहाँ ? यह वैराग्य : 'भूधरजी तुमको भूला रे, भटका हूँ भववन में; कुत्ते के भव में तुने बीनकर खाये टूकड़े, भूख की सहन करी ज्वाला जी, भूधरजी तुमको भूला रे...' ऐसा बोलते थे। ऐसा सुनते थे उन दिनों तो। तत्त्व तो था नहीं। उन बेचारों को खुद को भी तत्त्व का पता नहीं था। साधु होकर बैठा (किन्तु) भान कहाँ था ?

आहा..हा...! यहाँ पर कहते हैं कि : द्रव्यवेद और भाववेद (स्त्री, पुरुष और नपुंसक तीनों हाँ) दोनों ही आत्मा में नहीं हैं। हीजड़े-नपुंसक होते हैं न... उसे स्त्री-पुरुष दोनों की इच्छा होती है, यह द्रव्यवेद और भाववेद (दोनों ही आत्मा में नहीं हैं)। आहा..हा...! जिसे भगवानआत्मा को जानना हो, जानकर प्रतीति करनी हो, तो वह भाववेद और द्रव्यवेद से रहित अंदर है इसे उसको जानना और पकड़ना पडेगा !

आहा..हा...! ऐसी बातें हैं !! (संप्रदाय में) तो दया का पालन करना, व्रत करना, चौविहार (प्रत्याख्यान) करना, रात में खाना नहीं... अब सुन तो सही ! यह सब क्रियाएँ तो राग की हैं! यहाँ तो आत्मा अंदर सत्चिदानंद प्रभु 'सिद्ध समान सदा पद मेरो', जो यह चीज है, वस्तु है, कारणप्रभु है, कारणपरमात्मा स्वयं है, कारणजीव है, भूतार्थ है, सत्यार्थ है, ज्ञायक है ! इसका आश्रय लेने के लिये, उसे इस द्रव्य और भाव वेद के भाव से (मान्यता में) रहित होना पडेगा!

आहा..हा...! ऐसी बातें हैं !! तो यह साधु होने के बाद उसे स्त्री नहीं है इसलिये वह द्रव्यवेद से रहित हो गया न...? (नहीं)। उसे भी जो दया, दान और व्रत का भाव है वह राग है। उस राग को अपना माने और राग से लाभ माने तो वे भी वेद की वासनावाले हैं। वे रागरूपी वेद-वासनावाले हैं। उन्हें आत्मा की खबर नहीं है। कुछ समझ में आया ? ऐसी बातें हैं !!

जो तीनलोक का नाथ, आनंद से भरा हुआ प्रभु; इसमें सुख का सागर है। इसमें सुख नहीं मानकर, द्रव्यवेद शरीर का, भाववेद, वासना विषय की वासना में सुख मानना और मजा है ऐसा मानना, वह महामिथ्यात्व - अनंत संसार के उसमें

बीज हैं। आहा..हा...! सूक्ष्म बातें, बापू ! उसे (सुनने भी) नहीं मिलती। ये तो कुछ यात्रा कर आये शत्रुंजय की... और हो गया धर्म ! धूल भी नहीं है धर्म, सुन तो सही ! वहाँ गया... कदाचित् राग मंद किया हो तो पुण्य है; बंधन है। वह वस्तुस्वरूप नहीं है; धर्म नहीं है।

आहा..हा...! यहाँ पर कहते हैं कि : "वेदों का ग्रहण नहीं है।" अर्थात् जिसने वेदवासना और द्रव्यवेद को पकड़ा ही नहीं है। उसके स्वरूप में वह द्रव्य और भाव (वेद) नहीं है। और (उस) द्रव्य और भाववेद द्वारा आत्मा ज्ञात होने योग्य नहीं है। वे (वेद) तो दुःखदायक परिणाम हैं।

अन्यमती में ऐसा मानते हैं। कहा था न...! १९६४-६५ के संवत् की बात होगी। बडौदा माल लेने गये थे। रात को नाटक देखने को गये। `सती अनयूया' का नाटक। वह स्त्री यूँ ही सीधी स्वर्ग में जा रही थी। वहाँ उन स्वर्गवालों ने इन्कार किया। यहाँ नहीं आ सकती। उन लोगों में ऐसा है न... "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति" (तो पूछा) फिर क्या करें ? (कहा :) नीचे गिर जा। (नीचे) जो हो उससे शादी कर ले। नीचे एक अंधा ब्राह्मण था। उससे शादी की। तो फिर लड़का हुआ। लोरी (बोलती :) बेटा ! `तू निर्विकल्प हो।' अपने यहाँ `समयसार' में बंध अधिकार और सर्वविशुद्ध (ज्ञान) अधिकार में अंत में बहुत भाषा है। `तू निर्विकल्प है।' विकल्प अर्थात् रागरहित तू है। अभेद निर्विकल्प है। `उदासीन है।' उदास है। आत्मा ! बेटा ! तू उदास है। राग की क्रिया और सब शरीर की क्रिया से तेरा आसन भिन्न-उदास है। प्रभु ! `शुद्धोसि'... `बुद्धोसि' ऐसा कहती थी। आत्मा ! बेटा ! तू शुद्ध हो, पवित्र हो। यह वासना तेरे में नहीं है। शुद्धोसि... बुद्धोसि... उदासीनोसि... निर्विकल्पोसि। वह यहाँ श्रीमद् में (`आत्मसिद्धि' में) आता है न...! "शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयंज्योति सुखधाम; अन्य कहे कितना ? कर विचार तो प्राप्त कर।" (वहाँ) तो कथनमात्र था। उसे तो भान भी कहाँ था ? (परंतु) उस समय नाटक भी निराले होते थे। (अभी) तो यह फिल्म ने जगत को मार ड़ाला। अंधेर मचा रखा है। नीति का भी कोई नामोनिशान नहीं मिलता (उनमें)। अररर ! (कैसे कैसे दृश्य !)

(यहाँ) तो परमात्मा जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ केवली के मुख से निकला हुआ `यह' सार है। `प्रवचन सार' है न यह। प्रवचन = प्र = विशेष + वचन = दिव्यध्वनि का

यह सार है : भाई! तू कौन है अंदर ? कि - तेरे में उस जड़ के वेद का - भाव का अभाव है। प्रभु ये तेरे नहीं हैं। ये तो जड़-मिट्टी के हैं। यह पुरुष का वेद और इन्द्रिय व यह स्त्री का वेद और इन्द्रिय। (वे तेरे में नहीं हैं)। यह तो अपने यहाँ पहले आ चुका है : मेहनाकार। उस इन्द्रिय को तूने ग्रहण नहीं किया है, पकड़ा नहीं है। इन्द्रिय से तू काम नहीं लेता है। प्रभु ! तू मूढ़ हो गया है।

यहाँ कहते हैं कि : प्रभु ! तू द्रव्यवेद और भाववेद से रहित हो। (तुझे वेद का ग्रहण नहीं है)। "**...वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार `आत्मा द्रव्य से तथा भाव से स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक नहीं है'...**" द्रव्य अर्थात् इस शरीर के सारे चिह्न, वह द्रव्यवेद कहलाता है, वह तो जड़ है। भाववेद अंदर विकार की वृत्ति उत्पन्न होती है, वह भाववेद। वह स्त्री, पुरुष व नपुंसक नहीं है ! आहा..हा...! भगवानआत्मा (दोनों वेदरहित हैं)। आहा..हा...! परंतु उसे किस प्रकार बैठे (यह बात) ?

भाई ! हमारी दृष्टि में तो सब भगवान हैं ! बापू ! तुझे खबर नहीं है, प्रभु ! तू अंदर कौन है ? - तू चैतन्य हीरला ! अनंत अनंत ज्ञान-आनंद की लक्ष्मी से भरा प्रभु, चैतन्यचिंतामणि हो! इसे जानने के लिये द्रव्यवेद और भाववेद से रहित होकर, उसके पार जाकर, भगवान को पकड़ तो तुझे आत्मा का ज्ञान और आत्मदर्शन होगा !

आहा..हा...! ऐसा मार्ग है, भाई ! वीतराग जिनेन्द्र का मार्ग... पूरी जाति (ही) अलग है। आजकल तो सब फेरफार... फेरफार ! एक आर्यिका ने लिखा कि - शुभभाव को बलपूर्वक करना और रुचिपूर्वक करना। गजब है प्रभु ! यह क्या हो रहा है ? शुभभाव जो दया, दान, व्रत, भक्ति; उसकी रुचि वह तो मिथ्यात्व है। वह आर्यिका की बाहर में बड़ी सभा भरती है, और वह चार अनुयोग की व्याख्या करती है ! लोगों को - समाज को कहाँ खबर है ? फुरसत कहाँ है ? सत्य क्या है ? (कोई गहरी जिज्ञासा नहीं है)। दिगंबर समाज है फिर भी हाँजी हाँजी करे कि शुभभाव को रुचिपूर्वक करना यह साधन है... यहाँ परमात्मा ना करते हैं कि उसकी रुचि है वह मिथ्यात्वभाव है। जिस प्रकार यहाँ पर भाववेद की रुचि मिथ्यात्व है; उस प्रकार भाव राग-दया, दान, व्रत के परिणाम-शुभ हैं, उनकी रुचि है वह मिथ्यात्व है। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं ! उसकी (शुभभाव की) रुचि छोड़कर,

प्रभु अंदर भगवान है, आनंद का नाथ अंदर है, (इसकी अनन्य रुचि करना, वही साधन है)।

भगवान को अनंत ज्ञान, अनंत आनंद प्रगट हुए तो वे कहाँ से आये ? कहीं बाहर से आते हैं ? इसके स्वभाव में जो शक्तिरूप था, सामर्थ्यरूप था, सत्त्वरूप था, वह पर्याय में तत्त्वरूप में बाहर आता है। तत्त्व हुआ न वह तो। संवर-निर्जरा का फल केवल ज्ञान-मोक्ष, वह तत्त्व है कि नहीं ?

आहा..हा...! आत्मा अनंतज्ञान, अनंतआनंद और मुक्तस्वरूप, बापू ! यह अबद्धस्वरूप-मुक्तस्वरूप है ! ('समयसार') १५वीं गाथा में नहीं आया ? "अबद्ध स्पृष्ट" यह मुक्तस्वरूप शक्ति से-सामर्थ्य से और स्वभाव से है। उस मोक्षरूपी तत्त्व की-शक्तिमें से व्यक्तता लाना, (वह विधि है)। ऐसा सुबह आया न...! अंतरात्मा के साधन द्वारा परमात्मा हो सकता है। बहिरात्म(ता) छोड़कर, अंतरात्म(ता) अर्थात् आनंदकंद प्रभु है ऐसे अंतरात्मा के भान द्वारा, उस साधन द्वारा, उस उपाय द्वारा परमात्मा हो सकता है ! आप साधन कहो या उपाय कहो। 'अंतरात्मा उपाय है', दूसरा उपाय यह दया, दान, व्रत यह उपाय नहीं। परंतु प्रथम अंतरात्मा हो सकता है किस प्रकार ? वह अंतरात्मा आनंद का नाथ, इसे जान के, श्रद्धा करके और जम जाना यह उसका साधन है। यह परमात्मा परमेश्वर होने का साधन है !

आहा..हा...! भाई ! ऐसी बातें, सुनी नहीं जाती। यह तो किसकी-भगवान-जैन की बात होगी ऐसी ? जैन में तो रात में चौविहार करना, कंदमूल नहीं खाना; छःकाय जीवों की दया का पालन करना; ऐसी बातें आती हैं ! (किन्तु भाई !) ये तो राग की बातें हैं - दान करने के लिये एक भाई ने एक लाख रुपये दिये। उसके बड़े भाई भी लाख रुपये खर्च करनेवाले हैं। परंतु वे लाख रुपये खर्च करे या पाँच लाख खर्च करे... उसमें राग की मंदता हो तो पुण्य है; धर्म नहीं।

श्रोता :- पैसे भी गये और धर्म भी नहीं हुआ ?

उत्तर :- उसके थे कहाँ जो गये ? राग की मंदता करे तो शुभभाव है। संसार के लिये पैसा रखते हैं वह पापभाव है, पाप है। देव, शास्त्र, गुरु को माने, भक्ति (अर्पणता) आदि के भाव होवे तो वह पुण्य है। परंतु यहाँ तो कहते हैं कि - पुण्यतत्त्व से भी प्रभु (आत्मा) तो अंदर भिन्न है। ऐसी बातें हैं ! जिसने यह समझा नहीं है

ऐसे अनजाने मनुष्य को तो पागल जैसी बातें लगेगी कि क्या कहते हैं यह ? (ऐसा लगे)।

यहाँ पर तो यह वस्तु एक चिदानंद प्रभु ! वासना से रहित जिसका वास है। वासना से रहित जिसका निवास है। वासना की दृष्टि छोड़कर उसे, निवास (हेतु) त्रिकाली आनंद का नाथ प्रभु! विराजमान है, इसको पकड़ना अथवा इसमें एकाग्र होना (यही इसमें वास है)।

सुबह आया था न...! "स्वद्रव्यरत।" ये शब्द बहुत संक्षिप्त में, किन्तु गजब काम है ! मुनि व धर्मी किसे कहें ? कि - (जो) स्वद्रव्य में रत और परद्रव्य से विरक्त (हो)। आहा..हा...! स्वद्रव्य भगवान आनंद का नाथ, नित्यानंद प्रभु, ध्रुव; इसमें रत, यह पर्याय है; उसमें रत, वह धर्म है; उसमें लीनता करना, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। परद्रव्य में रत, वह मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र है। परद्रव्य में रत और स्वद्रव्य से विरक्त, वह मिथ्यादृष्टि-अज्ञानी-संसारी है। स्वद्रव्य में रत और परद्रव्य से विरक्त, यह धर्मीजीव की साधकदशा की शुरुआत है।

आहा..हा...! ये तो ऐसी बातें (हैं) अब ! पूरे दिन हमें स्त्री-बच्चों का लालन-पालन करना होता है। जिसने हाथ पकड़ा है (शादी की है) उसे (निभाना पड़ेगा कि नहीं ?) अरे ! स्त्री-बच्चें (तेरे) कब थे, भाई ? आत्मा के है कोई ? यह तो तुने मुफ्त में मान रखा है। यह तो आत्मा कहीं से आया और कहीं चला जायेगा।

यहाँ कहते हैं कि : **"इसप्रकार आत्मा द्रव्य से तथा भाव से स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक नहीं है इस अर्थ की प्राप्ति होती है।"** यह १६वाँ बोल हुआ। अब १७वाँ -

"लिंगों का अर्थात् धर्मचिह्नों का ग्रहण जिसके नहीं है..." देखो ! अब यह क्या कहते हैं कि : जो सच्चे साधु होते हैं न... उनके शरीर नग्न होता है और उन्हें पंच महाव्रत के विकल्प होते हैं। जैन के सच्चे साधु उन्हें कहते हैं कि जिनकी नग्नदशा होती है और व्यवहार में जिन्हें पंच महाव्रत के परिणाम होते हैं। (फिर भी) वह चीज आत्मा में नहीं है। समझ में आया ?

है...! "लिंगों का अर्थात् धर्मचिह्नों का" वे धर्म अर्थात् चिह्नों - नग्नता, पंच महाव्रत के परिणाम, समिति, गुप्ति (आदि) - कहे जाते हैं। (ये) विकल्प शुभराग हैं; ये सब धर्म के चिह्न कहलाते हैं। इन चिह्नों का ग्रहण जिसे नहीं है। जिनको इस आत्मा

ने पकड़ा नहीं है। आहा..हा...!

अब, यहाँ (कुछ लोग) कहते हैं कि : पंच महाव्रत के परिणामों का पालन करना-रखाना उससे कल्याण होगा ! (परंतु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है)। सूक्ष्म बात, भाई ! भगवानआत्मा में पूर्ण शांति और पूर्ण आनंद से भरा स्वभाव है; अंदर इस स्वभाव के साधन द्वारा उसे मुक्ति होती है। अथवा स्वभाव के साधन द्वारा वह स्वभाव ज्ञात होता है। राग से भेद करने से और स्वभाव का आश्रय लेने से धर्म होता है, सम्यक्त्व होता है। धर्म की प्रथम (सीढ़ी) सम्यग्दर्शन, वह भी राग से भिन्न करने से (प्रगट होता है)।

महाव्रत के परिणाम, इन व्यवहार धर्मचिह्नों का ग्रहण जिसे नहीं है। भगवानआत्मा में उन पंच महाव्रत के विकल्प-परिणाम, वे पुण्य; और नग्नता, वह अजीव; (-इन दोनों का अभाव है)। वेद में अजीव और ये पाप दोनों थे : यह शरीर का वेद तो मिट्टी-धूल है, जड़ है, वह अजीव का भाव; और वेद वासना यह पाप है, उसका अभाव (कहा)। यहाँ पर अब पुण्य में ले गये - (कि) मैंने पंचमहाव्रत किये, गृहस्थाश्रम छोड़ा, दीक्षा ली, इसलिये मुझे धर्म हुआ है। कहते : नहीं, नहीं। वे धर्मचिह्न अर्थात् पुण्य के परिणाम, वह पुण्यतत्त्व और नग्नत्व, वह अजीवतत्त्व; - उस अजीवतत्त्व का और पुण्यतत्त्व का आत्मा के स्वभाव में अभाव है। उस पुण्यतत्त्व का आत्मा ने ग्रहण नहीं किया है और अजीवतत्त्व को तो पकड़े भी कैसे ? उसका तो बिलकुल अभाव है। आहा..हा...! ऐसी बातें !!

क्या कहा ? "लिंगों का अर्थात् धर्मचिह्नों का ग्रहण जिसके नहीं है।" धर्म के जो व्यवहारिक लक्षण हैं, उनकी बात है न...? पंचमहाव्रत और व्यवहार से समिति-गुप्ति आदि, ये विकल्प हैं, यह तो राग है, यह पुण्यतत्त्व है आत्मतत्त्व नहीं। और नग्नत्व की दशा, वस्त्ररहित हो ऐसी ! निमित्त होता है तो वैसा होता है ! फिर भी, उसका वस्तु में अभाव है। आहा..हा...! शुद्ध उपादान की दृष्टि प्रगट होने पर उसमें इन पंचमहाव्रतादि के विकल्प, और अजीव के चिह्न (-वह बाह्य नग्नपना) का अभाव होता है। फिर भी निमित्त के रूप में होता तो ऐसा ही है और वही निमित्त होता है। कुछ समझ में आया ? अर्थात् क्या कहा वह ? कि : पंच महाव्रत के परिणाम राग हैं, पुण्य हैं; धर्म नहीं। क्योंकि वह परलक्षीभाव है। इसको नहीं मारना,

इसके प्रति दयाभाव का पालन करना, झूठ नहीं बोलना, शरीर से ब्रह्मचर्य का पालन करना - यह सब परलक्षीभाव है और पुण्य है। इस पुण्यचिह्न को व्यवहार से धर्म का निमित्त कहा। चिह्न कहो या निमित्त (वह एकार्थ है)। वह वस्तु में नहीं है !

आहा..हा...! क्या कहते हैं यह ? ऐसी किस जाति (की बात) है यह ? पूरे दिन बेचारे पाप में - धंधे इत्यादि में (रचे)पचे हो - ये बच्चें और स्त्री और धंधा... धंधा... धंधा... इसमें (कहे कि) पुण्य भी इसका (आत्मा का) नहीं है, (तो यह बात उसे कैसे जचे ?)

(यहाँ पर कहते हैं :) मुनि होकर बैठे, पंचमहाव्रत धारण करे, नग्नपना हो, फिर भी यति। यह बाह्यचिह्न इसके स्वरूप में नहीं है। जो स्वरूप में नहीं है वह साधन हो सकता है ? पंच महाव्रत का पालन करना, इस तरह तपश्चर्या करना, उपवास करना; यह सब अंतर में मोक्षमार्ग का साधन है यह बिलकुल झूठी बात है। (यथार्थ) समझ में आया हो तो शुद्धात्मा के ग्रहण में जो पवित्रता प्रगट होती है वह निश्चयधर्म और वह निश्चयमुनिपना और उन्हें हो तो पंच महाव्रत और नग्नता की दशा (उन्हें) होती (ही) है। ऐसा ही निमित्त होता है, अन्यथा नहीं होता; परंतु वह निमित्त वहाँ इसमें (आत्मा में) होता है ऐसा नहीं है। कुछ समझ में आया ?

आहा..हा...! मार्ग तो ऐसा है अनादि से। तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ जिनेन्द्रप्रभु (इसी मार्ग से चले हैं)। जैनसंप्रदाय में जन्म लिया है उन्हें भी पता नहीं है। नामधारी जैन। हम जैन हैं। क्या जैन हो ? बोरे में ऊपर लिखे शक्कर और अंदर होवे काली जिरी ! बिलकुल बेभान... अरेरे! कहाँ कहाँ धंधे करते हो उसमें दो-पाँच लाख पैदा हो रहे हो, उसमें फिर ऐसी (बात) आये (वह) फिर (कैसे जचे ?) किन्तु ये जो साधु नाम धारण करते हैं न... वे भी साधु कहाँ हैं ? अरेरे! क्या करें ? कठिन बातें बहुत ! अभी तो व्रत का भी कोई ठिकाना (यथार्थ) नहीं है। पंच महाव्रत का पालन करना... उसका भी ठिकाना (यथार्थता) नहीं है। उनके लिये तैयार किये गये आहार-पानी ले तो उन पंच महाव्रत के परिणाम में अहिंसा कहाँ रही वहाँ ? किन्तु सच्चे पंचमहाव्रत हो और बराबर से नग्नदशा (हो), वस्त्र का टुकड़ा भी न रखे, जैनदर्शन की पद्धतिअनुसार; `जन्मसमय के अनुसार रूप कहा' (अर्थात्) त्रिलोकनाथ ऐसा कहते हैं कि मुनि का रूप तो जन्मसमय के अनुसार होता है, जैसा जन्मा था वैसा नग्नरूप

होता है; फिर भी वह नग्नदशा और पंचमहाव्रत के परिणाम का ग्रहण भगवानआत्मा ने नहीं किया। एवं उसके अंदर वह है नहीं, ऐसी बात है ! प्रथम में भी प्रथम पंक्ति की बातें हैं; पूरी दुनिया से (भिन्न) ! यह तो धर्म का मार्ग (ही अलौकिक है) ! महाविदेह में परमात्मा त्रिलोकनाथ जैन परमेश्वर भगवान सीमंधर प्रभु बिराजमान हैं। उनके पास संवत् ४९ में कुन्दकुन्दाचार्य दिगंबर मुनि गये थे। आठ दिन वहाँ भगवान के पास रहे थे ! वहाँ से आकर ये शास्त्र बनाये हैं। भगवान का संदेश 'यह' है -

"लिंगों का अर्थात् धर्मचिह्नों का ग्रहण जिसके नहीं है।" (एक तरफ) कहते हैं "धर्मचिह्नों!" (फिर कहते हैं वे "जिसके नहीं है") किन्तु जीव को व्यवहार से समझाना है। ये बाह्य चिह्न हैं। धर्म का चिह्न अर्थात् बाह्य चिह्न है। बाह्य लक्षण है - पंचमहाव्रत, निर्दोष आहार-पानी लेना (अर्थात्) उनके हेतु बनाये गये आहार आदि नहीं लेते - ये पंचमहाव्रत के बाह्य चिह्न हैं। पंचमहाव्रत के परिणाम और द्रव्यलिंग जो नग्नपना - उससे रहित, अंदर दृष्टि करे तब उसे आत्म का वेदन होता है, उसका नाम भावधर्म है। कुछ समझ में आया ?

आहा..हा...! ऐसी बातें ! कहीं फुरसत तो मिलती नहीं ! संसार के पापकर्मों में व्यस्तता के मारे फुरसत नहीं मिलती। पुण्य की भी बात नहीं मिलती। धर्म तो है कहाँ ? वैसे ही नरक और निगोद में अनादि से भटक रहा है !

प्रभु ! तेरे अंदर कितने गुण हैं ? इसकी संख्या कहते हुए अनंतकाल बीत जाय तो भी कहे न जा सके इतने तो गुण हैं। इसी विषय में उस दिन विचार किया था न... कि : क्षण के दुःख को कहने के लिये (कोई समर्थ नहीं है)। नरक में दुःख, बापू ! तूने झेले हैं, भाई ! वहाँ उतना उस (दुःख) का वेदन जो कि करोड़ों जीभ द्वारा करोड़ों भव तक भी पूरा वर्णन किया न जा सके; (ऐसी) नरक में तू अनंतबार रहा है, भाई ! अब तक अनंतकाल निकाला (है) उसके अनंतवें भाग का काल तो वहाँ रहा है। कुछ समझ में आया ? अब तक निगोद के अनंत भव किये। उसके अनंतवें भाग के स्वर्ग के भव किये। आहा..हा...! किन्तु यह किसे पता है ? शाम को हिसाब लिखे तो बहीखाता में जो लिखा हो उसका मिलान करे। (किन्तु) इस बहीखाते का उसे पता भी कहाँ है ? कभी सुना तक कहाँ है ?

यहाँ तो परमात्मा जिनेन्द्रदेव त्रिलोकनाथ वीतराग तीर्थंकरदेव की वाणी में (जो) आया उसे संत आढ़तिया बनकर जगत को यह माल बेच रहे हैं। प्रभु का माल 'यह' है। क्या माल है ?

पंच महाव्रत के परिणाम रागतत्त्व हैं। वह कोई आत्मा का लक्षण नहीं है। वह तो बाह्यतत्त्व का लक्षण है। और नग्नपना वह आत्मा का लक्षण नहीं है। वह तो अजीव का लक्षण है। जड़ता-तनता-मनता, तनपना, मनपना, वचनपना - यह सब जड़ है, वह तो मिट्टी है। अरेरे ! यह किस प्रकार बैठे ?

यह सुबह आया था न 'इन्द्रियधी' पाँच इन्द्रियों के ऊपर जिसकी बुद्धि (स्थित) है वह बहिरात्मा मूढ़जीव है। बहुत सुंदर आया था। 'इन्द्रियधी', ये पाँच भावइन्द्रिय खंड खंड(ज्ञान), और जड़ इन्द्रियाँ; उन पर जिसकी बुद्धि है, वह 'इन्द्रियधि' - बहिरात्मा, मूढ़, मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि इन्द्रिय द्वारा काम ले रहा है। उसे ऐसा लगता है कि इन इन्द्रियों द्वारा मुझे जानना होता है। इन्द्रिय द्वारा मैं सारे काम कर सकता हूँ - ऐसी मान्यतावाला मूढ़जीव, जिसकी इन्द्रिय की बुद्धि है, वह बहिरात्मा है। अर्थात् खंडइन्द्रिय और जड़इन्द्रिय, वस्तुस्वरूप में नहीं है और बाह्य है; उसकी जिसे बुद्धि है, वह बहिर्बुद्धि है; अंतर्बुद्धि नहीं है; वह तो बहिर्बुद्धि बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है। आँख द्वारा देखा जा सके, कान द्वारा सुना जा सके (ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है)। (किन्तु) वह (अज्ञानी) कहता है कि इन्द्रिय से काम (ले रहे हैं)। तो कहते हैं कि : इससे (ऐसी मान्यता के कारण) उसकी इन्द्रिय जैसी (जड़)बुद्धि हो गयी है कि 'मैं यही हूँ'। उसे भगवान बहिरात्मा कहते हैं। बहिर् अर्थात् जो वस्तु अपने में नहीं है, उसे अपनी मानता है वह मिथ्यादृष्टि-अज्ञानी है; उसे जैन की खबर नहीं है !

कहा था न...! 'घट घट अंतर जिन बसै, घट घट अंतर जैन।' (-'नाटक समयसार') यह जिनस्वरूपी भगवानआत्मा, वीतरागमूर्ति अंदर है। सर्व कोई अंदर इस जिनस्वरूप हैं। पर्याय में अंतर है। वस्तु में अंतर नहीं। यह 'घट घट अंतर जिन बसै, घट घट अंतर जैन।' राग की एकता तोड़कर जो जिनस्वरूप की दृष्टि (करे) और अनुभव करे वह अंतर में जैन है। जैनत्व भेष में नहीं है। बाहर में कपड़े बदलकर बैठे और नग्न (हो ये) इसलिये वह जैनत्व है, पंचमहाव्रत का पालन करते हैं इसलिये जैनत्व है - ऐसा नहीं है। जैनत्व तो परमात्मा उसे कहते हैं कि : यह वस्तु स्वयं

जिनस्वरूप है, वीतरागमूर्ति, अखंडानंद नाथ प्रभु; इसकी जिसे दृष्टि हुयी और राग-विकल्प की दृष्टि छूट गयी उसे जैन कहते हैं। जिन को जाने सो जैन। जिन अर्थात् अंदर आत्मा स्वयं, हाँ ! वीतराग (केवली) नहीं। वीतराग पर(तत्त्व) है।

(यहाँ पर कहते हैं :) देखो ! "**लिंगों का अर्थात् धर्मचिह्नों का ग्रहण जिसके नहीं है वह अलिंगग्रहण है;...**" स्पष्टीकरण किया : "**...इसप्रकार `आत्मा के बहिरंग`...**" वह जो बाह्य नग्नपना और पंचमहाव्रत के परिणाम, वह बाह्य यतिपना है उसका अंदर में अभाव है। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं ! "इस प्रकार आत्मा के" अर्थात् इस प्रकार आत्मा के "बहिरंग" अर्थात् बाह्य पंचमहाव्रत के परिणाम, बाह्य नग्नदशा - इस बाह्य "यतिलिंगों का" स्पष्टीकरण किया। धर्मचिह्नों" का, कोई मान ले कि "धर्मचिह्नों" कहा न ! यह तो बाह्य यतिलिंगों की बात कही है - बाह्य यतिलिंगों का ग्रहण जिसे नहीं है। आहा..हा...! भगवान(आत्मा) आनंद का नाथ प्रभु; इसमें यह बाह्यलिंग - महाव्रत के विकल्प और नग्नपना - नहीं है। "**...इस अर्थ की प्राप्ति होती है।**" `अलिंगग्रहण' में ऐसा अर्थ निकलता है। बाह्यलिंग-पंचमहाव्रतादि और द्रव्यलिंग जिसमें नहीं है। `अलिंग' अर्थात् लिंगरहित है, ऐसा अर्थ इसमें से निकलता है। यति अर्थात् बाह्यवेष और यति अर्थात् पंचमहाव्रत (के परिणाम), जो अंतरस्वरूप में नहीं है। उसे यहाँ `अलिंगग्रहण' कहा जाता है।

विशेष कहेंगे...



प्रवचन : दि. १८-१२-१९७७

प्रवचनसार। ज्ञेयतत्त्व अधिकार अलिंगग्रहण के १७ बोल चल चुके हैं। १८-१९-२० बाकी है। एकदम मक्खन है। तीन बोल शेष हैं। (लोग कहते हैं कि) शुभ करते-करते सम्यक्दर्शन-धर्म होता है; (यहाँ पर) तो कहते हैं कि शुभ करते-करते नहीं किन्तु शुभ को छोड़ने पर धर्म होता है।

अब यहाँ तो १८वें बोल में तो ऐसा कहते हैं कि... सूक्ष्म बात है, नितांत, नितांत परम सत्य है। आहा..हा...! १८वाँ बोल। "**लिंग अर्थात् गुण ऐसा जो ग्रहण अर्थावबोध (पदार्थज्ञान) जिसके नहीं है सो अलिंगग्रहण है;...**" आहा..हा...! क्या कहते हैं ? कि भगवानआत्मा अभेद स्वरूप है। द्रव्य, जो द्रव्य है न, वस्तु - यह अभेदस्वरूप है। सम्यग्दर्शन का विषय अभेद है।

लिंग माने गुण उसका जो ग्रहण है न ! अर्थावबोध अर्थात् पदार्थज्ञान। किन्तु गुण की प्रधानता से कथन है। बाकी तो वस्तु जो है इसमें जो ज्ञान-दर्शन आदि गुण-भेद है, वह गुण-भेद वस्तु में नहीं है। आहा..हा...! सूक्ष्म बात है। आत्मा है, यह सामान्य वस्तु है। इसमें गुण का भेद विशेष है। आहा..हा...! वह विशेष इसमें नहीं है। आहा..हा...!

ऐसी बात है। सूक्ष्म बात है, भाई ! सम्यग्दर्शन, प्रथम धर्म की दशा (और) जन्म-मरण के अंत को लाने की विधि यह है। आहा..हा...! (पर से) आत्मा को लाभ नहीं होता, सिद्धों से भी आत्मा को लाभ नहीं होता, किन्तु अपने गुण के भेद से भी आत्मा को लाभ नहीं होता।

आहा..हा...! अभी तो शुभभाव से शुद्ध उपयोग होता है (ऐसा कहते हैं)। यह शुद्ध उपयोग का विषय अभेद है। अंदर जो शुद्ध उपयोग हुआ वह अभेद है। आहा..हा...!

उस शुभभाव से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। लेकिन गुण-गुणी के भेद से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। किन्तु जो गुण और गुणी का जहाँ भेद करने जायेगा, वहाँ विकल्प उठेगा... आहा..हा...!

शशीभाई ! ऐसी बात है। ये तीन बोल बिलकुल मक्खन है। द्रव्य, गुण और पर्याय। आहा..हा...! उसमें पहला बोल यह गुण का लिया। भगवानआत्मा 'अर्थावबोध' शब्द है। अर्थ का अवबोध - पदार्थ का गुण, वह जिसमें नहीं है। यह तो गुण-गुणी की बात करी है। बाकी तो अर्थावबोध पदार्थ अर्थात् जितने गुण हैं, उस सामान्य में गुण की विशेषता नहीं है।

गुण व गुणी अर्थात् आत्मा, उसमें वस्तु में विशेषभाव करने जाय तो उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता। आहा..हा...! ऐसी बात है। तो फिर शुभभाव से सम्यग्दर्शन होता है (यह बात रहती नहीं)। भगवान ! बापू... ये बातें तो बहुत सूक्ष्म हैं। भाई, आहा..हा...! देव-गुरु के साथ में उनके निमित्त से सम्यग्दर्शन होवे ऐसा नहीं है।

यह वस्तु जो है (वह) एक सेकन्ड के असंख्य भाग में ध्रुव सामान्य-नित्य-ध्रुव पदार्थ है। यह ध्रुव - ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव इसकी दृष्टि छोड़कर ध्रुव की जो नजर है, उसे भेद करके, (जो भेद की दृष्टि से देखता है, वह) रागी है अतः राग (उत्पन्न) होता है। भेद करने से ज्ञान (का) परिणमन (हुआ वह) राग नहीं है। हालाँकि भेद को तो केवली भी जानते हैं। कुछ समझ में आया ? लेकिन रागी प्राणी है। (इसलिये राग होता है)। आहा..हा...!

अतः इस गुण और गुणी का विचार करने पर उसे विकल्प उठते हैं, राग उठता है। आहा..हा...! ('समयसार' की) सातवीं गाथा में आ चुका है न ? वह पर्याय की बात है। परंतु पर्याय का अर्थ भेद है। क्योंकि भेद भी उसकी वस्तु है न ! पर्याय भी उसकी चीज है न ! तो फिर उसकी चीज में व्यवहार कहने से वह अवस्तु हो जाती है। समझ में आया कुछ ! ऐसी बात है।

व्यवहार तो वस्तु में होता है; अवस्तु में व्यवहार नहीं होता। अपनी अपेक्षा से परवस्तु है। उसे यहाँ पर व्यवहार कहा जाता है। किन्तु अपने में गुण है, अपने स्वयं के अंदर अपनी पर्याय (है), उसे आप व्यवहार क्यों कहते हो ! व्यवहार कहने से अवस्तु हो जाती है।

प्रभु ! एकबार सुन तो सही भाई, जो रागी है और जब तक राग है तब तक उसका भेद ऊपर लक्ष जायेगा, पर्याय ऊपर लक्ष जायेगा (तो) उसे राग ही होगा। फिर बात आयेगी। आहा..हा...! भले ही शुभराग है। परंतु वह शुभराग है, उससे सम्यग्दर्शन हो जाय (ऐसा नहीं है)। अनंतकाल में एक सेकन्ड भी उसने सम्यग्दर्शन किया नहीं है। जो मूल बात (है उसे) चूक गया है।

उस चीज को प्राप्त करने के लिये यह कहते हैं कि गुण को (अर्थात्) गुण जो लिंग ऐसे गुण - अर्थात् अनंत गुण। भाषा अर्थावबोध (ली है)। ज्ञानप्रधानतापूर्वक कथन है। पाठ में ऐसा है। देखो, क्या कहा ! पदार्थज्ञान-अर्थावबोध है न ? अर्थ नाम पदार्थ का ज्ञान जिसे नहीं है। अर्थात् आत्मा के पदार्थ के ज्ञान द्वारा (भेद द्वारा) ज्ञान नहीं है। वह ज्ञान से (गुणभेद की) बात की है। किन्तु लिंग क्या होगा यह ? (लिंग अर्थात् चिह्न, गुणभेद का चिह्न अभेद में नहीं है)।

अनंत अनंतगुण का एकरूप ऐसा लिंग अर्थात् द्रव्य। आहा..हा...! ऐसे द्रव्य में गुण माने लिंग - ऐसे भेद - अनंतगुण हाँ, (किन्तु ज्ञान की प्रधानता से कथन है)। किन्तु लिगं माने गुण जिसमें नहीं है। आहा..हा...! अर्थात् अंदर सामान्य द्रव्य को जहाँ लक्ष करने जाता है वहाँ भेद नहीं रहता; कि यह गुण और गुणी - ऐसा भेद नहीं रहता। आहा..हा...! कुछ समझ में आया? मतलब की मुख्य बात है यह तो।

भाई ! मूल रकम की बात, पैसे की बात यहाँ नहीं है। प्रभु कहते हैं कि, धर्म प्राप्त करना हो, सम्यग्दर्शन (प्राप्त करना हो), आहा..हा... उसे सम्यग्दर्शन, धर्म की प्रथम सीढ़ी, मोक्षमहल की प्रथम क्षेणी, (चढ़नी हो उसके लिये बात है)। आहा..हा... इन देव-गुरु-शास्त्र के निमित्त से सम्यग्दर्शन नहीं होता। आहा..हा... उसी प्रकार उनकी भक्ति करने का जो भाव, उससे भी (सम्यग्दर्शन) नहीं होता। निमित्त से तो नहीं किन्तु अन्य महाव्रत आदि (के विकल्प) उससे भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। आहा..हा... उससे तो नहीं होता, किन्तु लिंग यह वस्तु - अभेद चिदानंद सामान्य उसके गुण-भेद, विशेष जिसमें नहीं है। उस गुण और गुणी में गुण का भेद उसमें नहीं है। सूक्ष्म बात है भाई, यह तो।

अभी तो यहाँ शुभयोग में रुके पड़े हैं, हाँ ! क्या करें ? और लेख भी ऐसे

आते हैं - समझाओ। कोई समझाओ। समझाओ हमें, अपना वात्सल्यधर्म है। किन्तु वे तो कोई बात समझेंगे नहीं। व्यवहार और व्रत-तप-भक्ति-पूजा ये सब करो तो कुछ धर्म है और धर्म का कारण है। वे लोग (सोनगढवाले) नहीं मानते हैं, उन्हें समझाओ। यह आप क्या कर रहे हो भाई ?

आहा..हा...! यहाँ तो व्रत-तप-भक्ति-पूजा का भाव शुभभाव है। वह धर्मी को भी आता है। स्वरूप की दृष्टि अभेद की हुई फिर भी, जब तक पर्याय में वीतरागता न हो तब अशुभ से बचने हेतु अथवा उस उस भूमिका में उस उस काल में ऐसा शुभभाव आता है। परंतु वह चाहे शुभभाव (हो) तो (भी) दोष है। दोष से आत्मा की पवित्रता प्रगट हो जाय ऐसा तो नहीं है। आहा..हा...!

किन्तु अब, भगवान अंदर, अंदर में राग आ गया। कहते हैं, राग-द्वेषरहित भगवान पूर्णानंद का नाथ ! प्रभु ! एक समय में सामान्य जो अभेद एकरूप द्रव्य ध्रुव, इसकी दृष्टि करने के लिये गुण अर्थात् लिंग ऐसा ग्रहण जिसे नहीं है। आहा..हा...!

अब कहते हैं कि, यह तो मार्ग वीतराग का और वह भी जिनस्वरूप ही है प्रभु ! इस जिनस्वरूप की दृष्टि करने के लिये गुण-गुणी के भेद की भी वहाँ आवश्यकता नहीं है। ऐसी बातें हैं ये। प्रभु, यह आत्मा अंदर एक समय में अनंतगुण का समुद्र है।

इसमें ध्यान रखो ज़रा पुस्तक में। किसका अर्थ हो रहा है ? आहा..हा...! ऐसी बात है। प्रभु ! क्या करें ! यहाँ कहते हैं कि... लिंग अर्थात् गुण। गुण अर्थात् मात्र ज्ञान नहीं लेना। सर्व गुण (लेना) ऐसा, लिंग ऐसा जो ग्रहण, अर्थात् अर्थावबोध, अर्थात् गुणी का गुण। जिनेन्द्र भगवान के गुण चाहे तो ज्ञान-आनंद-शांति-श्रद्धा आदि जो गुण-भेद, ये सभी जिसमें नहीं हैं। अभेद की दृष्टि करने पर वहाँ भेद दिखता नहीं है। और जहाँ अभेद दिखता है, वहाँ भेददृष्टि हो नहीं सकती। आहा..हा...! ऐसी बात है। प्रभु ! मार्ग निराला है, भाई !

त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव, सौ इन्द्र और गणधर और शेर और बाघ की सभा में परमात्मा ऐसा फरमाते थे। आहा..हा...! प्रभु ! उस शुभराग से (तो) सम्यग्दर्शन नहीं होता। किन्तु गुण-गुणी के भेद से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। आहा..हा...! यह भगवान अंदर बिराजमान है। प्रभु! एकरूप सामान्य ध्रुव नित्य है। आहा..हा...! इसके

जितने गुण (हैं), इसके गुण, ज्ञान-दर्शन ये भी अंदर नित्य हैं। फिर भी उन गुण और गुणी के ऊपर लक्ष जाने से (विकल्प उठते हैं)। लिंग अर्थात् गुण-वे आत्मा में नहीं हैं। आहा..हा...! वे गुण नहीं हैं (आत्मा में)। देखो तो, यही आया न भाई, (`समयसार') सातवीं गाथा में आया था। आहा...

विषय याद आया। व्यवहारनय वह निश्चयनय और वह तो भेद का लक्ष है न प्रभु ! लिंग अर्थात् गुण अर्थात् गुणी के अनंतगुण। नाम भले `अर्थावबोध' शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु कहना चाहते हैं यह। कुछ समझ में आया ? लिंग माने गुण। मतलब यह लिंग जिसमें नहीं है, वह अलिंग। आहा..हा...! उसे अलिंगग्रहण कहते हैं। जिसमें गुण नहीं है।

आहा..हा...! अर्थात् समान्य वस्तु में विशेष नहीं है। आहा..हा...! शुभ राग तो नहीं है, निमित्त तो नहीं है। ऐसी बात। वीतराग का मार्ग है, प्रभु ! अरेरे ! वीतराग की सभा में तो ऐसा चलता है, आहा..हा...!

आजकल तो इसे छोड़कर (बाकी सब) बहुत (चल रहा है)। व्रत, तप, भक्ति, पूजा, दान, दया और मंदिर बनवाने और इन सब शुभभाव और उनसे निश्चय निर्विकल्प समाधि और शांति होगी। अरेरर... प्रभु ! तू क्या कह रहा है ? निर्विकल्प सम्यग्दर्शन, समाधि नव्य शांति, सम्यग्दर्शन में साथ में आनंद है, साथ में अकषाय परिणाम का अंश है, आहा..हा...!

वह सम्यक्दर्शन और सम्यक् शांति, गुणी और गुण के इस भेद के विचार में जायेगा तो यह सम्यग्दर्शन नहीं होगा। आहा..हा...! अर्थात् लिंग जो गुण है, इस प्रकार जो है वह विशेष हुआ है ! गुण ऐसा जो ग्रहण अर्थात् `अर्थावबोध' अर्थात् पदार्थ का ज्ञान। अर्थ माने पदार्थ (और) इसके गुण।

आहा..हा...! `अर्थावबोध' शब्द पड़ा है। है ! अर्थ। पदार्थ माने गुण, अर्थ माने पदार्थ के गुण। पदार्थ के गुण, लिंग माने गुण लेना। कुछ समझ में आया ? अंत में यह शब्द लेंगे। ज्ञान की प्रधानता से कथन किया है न ! यह तो धीर-गंभीर लोगों का काम है, भाई ! जल्दबाजी करने से आम के वृक्ष नहीं फल-फूल जाते।

यहाँ तो, आम अर्थात् आम्रवृक्ष फले-फूले, गुणों का आम्रवृक्ष रोपित किया हो इसलिये तुरंत आम (लग जायें); इस प्रकार आत्मा का ज्ञान हो गया हो तो तुरंत

केवलज्ञान हो जायेगा, ऐसा नहीं है। कहते हैं कि, वह पूर्ण ज्ञान और श्रद्धा अर्थात् त्रिकाली ज्ञानस्वरूप जो भगवान - अनंत गुण का धनी। आहा..हा...! इसकी दृष्टि में (अ)भेद भासित होता है। सम्यक्दृष्टि की दृष्टि में अभेद भासित होता है।

ये गुण हैं न ! यह आनंदगुण है, गुण है न। लिंगगुण है। शांति और चारित्रगुण हैं। ऐसा जिसमें भेद नहीं है ऐसा लिंग का ग्रहण जिसके स्वरूप में नहीं है। आहा..हा...! यह गुण-भेद तो व्यवहार से है (ऐसा) सातवीं गाथा में आता है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद करना ऐसा ज्ञानी को नहीं होता, ऐसा वहाँ कहा। एक व्यक्ति कहता था - तब ज्ञानी को ज्ञान-दर्शन-चारित्र नहीं है तो (क्या) अज्ञानी को है ?! ऐसा कहता था।

अरे प्रभु ! क्या कहता है ? स्थानकवासी ने पढ़ा। लोगों को ज़रा भी अता-पता तो है नहीं। ज्ञानी को दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं है। नहीं आता है उसमें ? आता है उसमें ! किस अपेक्षा से कहते हैं ? सुन तो सही, भाई। धर्मी की दृष्टि गुण-गुणी के गुण के ऊपर नहीं है। (अर्थात् भेद के ऊपर नहीं है)। आहा..हा...! पूरा अभेद (दृष्टि में है)। अनंतगुण अभेद रूप स्थित हैं। वह भेद दृष्टि में नहीं है। आहा..हा...!

यह गुण है और यह गुणी है। ऐसे लिंग का जिसमें अभाव है। गुणी में गुण माने लिंग का जिसमें अभाव है। सातवीं गाथा में ऐसा आया है। व्यवहार से ज्ञानी को ज्ञान, दर्शन, चारित्र होता है। निश्चय से ज्ञानी को ज्ञान-दर्शन है ही नहीं। अतः (जब) पर्याय पर लक्ष जाता है तब ज्ञान-दर्शन-चारित्र को जानते हैं।

परंतु वस्तु की दृष्टि से देखने पर ऐसे गुण-भेद दृष्टि के विषय में नहीं हैं। दृष्टि के विषय में, दृष्टि के जोर में सामान्य में विशेष नहीं है। अतः विशेष ऐसा जो गुण अर्थात् उसका जो ग्रहण - सामान्य में वह ग्रहण नहीं है। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं।

जिसे सम्यक्दर्शन, धर्म की प्रथम सीढ़ी प्रगट करनी हो उसे विशेष सामान्य में नहीं है -इसकी (ऐसे सामान्य की) दृष्टि करने से उसे सम्यग्दर्शन होता है। कहिए, ऐसी बात है।

देखो, आज रविवार है। शशीभाई ! भावनगर से आये हैं न ! जयंतिभाई आज नहीं आये? `बुखार आ रहा है।' वरना आते हैं बेचारे। आहा..हा...! ये तीन बोल

तो अलौकिक हैं। १८, १९, २० (बोल) भाग्यशाली के कान पड़े ऐसी बात है। आहा..हा...! देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, वह भक्ति तो राग है।

आहा..हा...! उसकी बात तो यहाँ छोड़ दी। वह बात तो बिलकुल दूर रह गई। आहा..हा...! परंतु भगवानआत्मा अनंत अनंतगुण का पिंड प्रभु ! इसके अभेद में गुण हैं तो सही, परंतु वह गुण और गुणी ऐसे दो विचार करने जाय तो उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता। राग होगा, तुझे पुण्य का बंध होगा। आहा..हा...! बंध के आश्रय से सम्यग्दर्शन के अबंध परिणाम होने चाहिये, वे नहीं होंगे।

आहा..हा...! गुण-गुणी का जगत को कठिन पड़ता है। और अभी तो वहाँ उलझ गये। व्यवहार व्रत और तप और यह मुनिपने का पालन सब करते हैं, सम्यग्दर्शन के बिना मानते हैं कि उससे हमें धर्म होगा। निश्चय होगा। प्रभु ! बहुत कठिन बात, भाई ! आहा..हा...!

गुणी जो अनंतगुण का पिंड प्रभु ! इसके लिंग विशेष (पर) लक्ष जाने से तुझे सम्यग्दर्शन नहीं होगा। विकल्प उठेगा। (और उससे) मुझे लाभ होगा (ऐसा मानेगा तो) मिथ्यात्व होगा। आहा..हा...! क्या कहा ? लिंग माने गुण है, आनंद है। आनंद नाम का गुण है। यह आत्मा है, (इसमें) आनंद नाम का गुण है। भेद पर से ऐसा विकल्प उठेगा और उससे मुझे लाभ होगा। ऐसा माने तो तुझे मिथ्यात्व होगा।

आहा..हा...! अंदर भगवान जो बिराजमान है। इसके अंतर में गुण स्थित हैं। किन्तु लिंग माने गुण ऐसे दो भेद करके खड़ा रहता है। तू राग में खड़ा है। इस अभेद में नहीं गया। ऐसी बातें हैं। किसी को जचे न जचे। आहा..हा...!

तब कोई कहता था कि, शुभ उपयोग से शुद्ध उपयोग होता है। यहाँ तो कहते हैं कि, भेद के लक्ष से राग होता है, भेद के लक्ष से अभेद नहीं होता। है इसमें ? लिंग माने गुण। लिंग माने गुण, गुणी पूरा, उसका जो ग्रहण अर्थात् पदार्थ के गुण। पदार्थ व पदार्थ के गुण जिसे नहीं हैं। पदार्थ में गुण नहीं हैं। आहा..हा...!

सामान्य में, गुणभेद-विशेष नहीं है ऐसा कहना है। कुछ समझ में आया ? अर्थावबोध जिसमें नहीं है। गुण ऐसा जो लिंग ऐसा जो अर्थावबोध। पदार्थ माने गुण ऐसा कुछ जिसमें नहीं है। अर्थात् आत्मा में नहीं है। आहा..हा...! क्योंकि अनंतगुण का एकरूप की जहाँ दृष्टि करता है वहाँ लिंग माने गुण का भेद दृष्टि में रहता नहीं है।

आहा..हा...!

गुण माने लिंग। ज्ञान है, दर्शन है वह तो अभेद है। परंतु वस्तुरूप में अंदर अभेद देखने से वह गुण और गुणी ऐसे भेद रहते नहीं हैं। पर्याय को अंतर में झुकाने पर लिंग माने गुण का दृष्टि में (भेद) नहीं रहता। आहा..हा...! ऐसा है। अभी यहाँ तो धर्म की प्रथम भूमिका की बात है।

चारित्र में स्थिरता आदि की तो अलौकिक बातें (हैं)। वस्तु, अभेद एकाकार है। इसकी दृष्टि में जब अभेद आ जाय, उसके बाद इसमें स्थिरता होना यह चारित्र है। चारित्र अर्थात् यह व्रत और तप का विकल्प है वह चारित्र नहीं है। आहा..हा...! यह तो अपने यहाँ १७वें बोल में आ चुका। "**लिंगों का अर्थात् धर्मचिह्नों का ग्रहण जिसके नहीं है वह अलिंगग्रहण है; इसप्रकार `आत्मा के बहिरंग यतिलिंगों का अभाव है'...**" मुनिपने में पंचमहाव्रतादि का जो विकल्प उठा, २८ मूलगुण, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, विनय (इन) यति लिंगों का (अभाव है)। बाह्य (आचरण) स्वरूप में नहीं है, यह तो पहले बता चुके।

मुनि को व्यवहार क्रियाकाड के (जो) भाव कहे जाते हैं, ये सभी भाव जिसके स्वरूप में नहीं हैं। आहा..हा...! ये तो सभी विकल्प के भाव-भेद के भाव हैं। वे कोई स्वरूप में नहीं हैं। यहाँ तो वहाँ तक बात ले गये कि लिंग अर्थात् गुण भी स्वरूप में नहीं हैं। कुछ समझ में आया ?

यहाँ तो अभी मुनि के पंचमहाव्रत, समिति, गुप्ति, व्यवहार यह सारा भाव लिया, वह भाव वस्तु में नहीं है। वस्तु जो ज्ञायक ज्योति प्रभु है। उस (शुभभाव के) द्वारा वह प्राप्त किया नहीं जा सकता। इस वस्तु में वे (शुभभाव) नहीं हैं। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? वहाँ तो अभी महाव्रतादि के शुभभाव में रुक गया। वह वस्तु में नहीं है। फिर भी वहाँ से मुझे आनंद प्राप्त होगा। (ऐसा मानता है वह मिथ्यात्व है)।

आहा..हा...! कठिन काम है। यहाँ पर तो अभी, इससे आगे की बात बताई कि, प्रभु वस्तु जो द्रव्य है, सामान्य है, ध्रुव है, नित्य है, अभेद है, शुद्धरूप त्रिकाल है। (उसमें गुणभेद नहीं है) शुद्धभाव अधिकार में आता है। और शुद्धभाव में पर्याय नहीं है। वहाँ नियमसार शुद्धभाव अधिकार (में आता है)। शुद्धभाव त्रिकाल है। पर्याय

की बात वहाँ नहीं है।

आहा..हा...! त्रिकाली शुद्धभावरूप वस्तु जो है। इसमें गुण माने लिंग है। वह अलिंगग्रहण है, न ! लिंग माने भेद अर्थात् गुण वह 'अ' (अर्थात्) नहीं है। ग्रहण अर्थात् उसमें वह नहीं है। लिंग अर्थात् गुण ऐसा जो ग्रहण माने जिसके नहीं है। 'अ' बाद में आया। लिंग - उसका ग्रहण जिसमें नहीं है। आहा..हा...!

कुछ समझ में आया ? यह तो हर्ष के कारण दी गयी दावत है। समझ रहे हो सेठ ? प्रीतिभोजन। शादी करने के बाद प्रीतिभोजन देते हैं। ज्यादा पैसेवाले होते हैं वे (देते हैं)। हमारे समय में पहले नौ भोजन देते थे। (बारात) तीन दिन रुकती थी। नौ समय (का भोजन) तो मंडपवाले (कन्यापक्षवाले) और फिर एक दसवाँ समय (का भोजन) वरराजा की ओर से (होता था)। आजकल तो शाम को शादी करे और तुरंत वापस। समय कहाँ है ? हमारे गाँव में तो शादी में (मेहमान) आते थे वे महीनाभर रुकते थे।

आजकल बंबई में तो चार बजे शादी करके, छह बजे भोजन खिलाकर फिर विदाई कर देते हैं। आहा..हा...! खिलाने का तो फिर लोज-होटल में, घर में नहीं। बंबई में देखा है न ! यहाँ तो कहते हैं कि इस चैतन्य का अनुभव होना यह भोजन है। वह हर्षभोजन (विशेष दावत) है। आहा..हा...! वह कैसे हो ? कि लिंग भगवान अनंतगुण का पिंड है। इसके ऊपर दृष्टि पड़ने से अभेद में जो आनंद की दशा का वेदन होता है (वह प्रीतिभोजन है)। आहा..हा...!

जिसमें अनंतकाल से नहीं पायी हुई (नहीं अनुभव की हुई) शांति इसमें से आये उस शांति और आनंद का वेदन द्रव्य के आश्रय से होता है। गुणभेद के आश्रय से आनंद का वेदन नहीं आता। राग का वेदन आता है। कहते हैं... आहा... समकित के बिना (किये हुए), आत्मज्ञान बिना के व्रत (सब व्यर्थ हैं)। आनंदघनजी में आता है न सुबह ज़रा... 'आतमज्ञानी स्वयं कहावे बाकी तो द्रव्यलिंगी...' आहा..हा...!

श्वेतांबर में आनंदघनजी ऐसा कह गये हैं। आत्मज्ञान...! यह आत्मज्ञान माने, अभेद के ऊपर दृष्टि करने से आत्मा का जो ज्ञान (होता है वह आतमज्ञान)। उसमें ऐसा नहीं कहा कि निमित्त का ज्ञान, राग का ज्ञान पर्याय का ज्ञान, लिंग अर्थात् गुण-लिंग का ज्ञान। कुछ समझ में आया ? है ? आतमज्ञान। आत्मा ध्रुव वस्तु है।

आहा..हा...! कठिन बातें हैं। कठिन लगे ऐसा है। उसकी समझ बाहर की (अनजानी) यह बात है।

आहा..हा...! पूरे दिन व्रत-तप और उपधान करते हैं और सुबह से शाम तक भगवान को खमासन (वंदन) देते हैं। एक समय खाते हैं। पन्द्रह-पन्द्रह मिठायाँ बनाते हैं। ढोकला और ढोकली और फलाँ चीज और एक समय खाये उसमें कितना कितना... ! कुछ ज्ञान नहीं है। भान तो, वस्तु के भान बिना (सब व्यर्थ है)। प्रभु ! वह तो सब राग की क्रिया है। भाई ! वह शुभराग है। करो तो करो। मान के लिये, दूसरों को दिखाने के लिये, मैंने उपधानव्रत किया और मुझे लोग तपस्वी मानेंगे। हम कुछ कल्याण कर रहे हैं, ऐसे भाव तो मिथ्यात्व का भाव हैं। आहा..हा...! बहुत कठिन काम है, भाई ! उन्हें तो यहाँ याद भी नहीं किया है।

यहाँ तो गुण (लिये हैं)। इसमें गुण है। भगवान आत्मा एक वस्तु है। इसमें अनंतगुण हैं। ४७ शक्तियाँ नहीं हैं ? उसमें आ चुकी है। ऐसी तो अनंत शक्ति हैं। शक्तिवान भगवान तो एकरूप है। परंतु उसमें गुण-शक्ति तो अनंत हैं। अतः अनंतगुण हैं। ऐसे अनंतगुण को लिंग कहकर, अनंतगुण के भेद को लिंग कहकर वह लिंग जिसमें भेद-विशेष जिसके अंदर नहीं है, ऐसा आत्मा उसे यहाँ अभेद आत्मा सम्यग्दर्शन का विषय कहते हैं।

आहा..हा...! कहाँ फुर्सत मिले नहीं... भाई ! मार्ग तो यह है। निजसत्ता पूर्ण ध्रुव (है) वहाँ उस पंथपर जा। आहा..हा...! और इसका आश्रय ले। (`समयसार') ग्यारहवीं गाथा में यह आया है न ! `भूयत्थमस्सिदो खलु' वहाँ ऐसा नहीं कहा कि, लिंगगुण का आश्रय करो तो सम्यग्दर्शन होगा, ऐसा नहीं कहा।

ग्यारहवीं गाथा (`समयसार') `भूयत्थमस्सिदो खलु' भूतार्थ, सत्यार्थ, एकरूप वस्तु त्रिकाल के आश्रय (से), सम्यगदर्शन होता है। यह तो संतों की वाणी है। इसका आश्रय करे तब (होता है)। भेद का आश्रय (करे) तब समकित होता है, (इसके लिये) ना बोल रहे हैं। उस प्रकार व्यवहार दया-दान-व्रत के परिणाम उठे, उसका आश्रय करे तो समकित होता है, उसके लिये भी (इन्कार करते हैं)। उनको (भी) छोड़कर स्व की दृष्टि करे तो शुद्ध उपयोग होता है। इस प्रकार भेद को भी छोड़कर अभेद के ऊपर दृष्टि करे तो अंदर शुद्ध उपयोग से सम्यग्दर्शन होता है। आहा..हा...!

कुछ समझ में आया ?

कठिन बात, बच्चों को बाहर की पढ़ाई रहती है, बेचारों को। यह लंडन गये और यह अमरीका गये। ऐसे बहुत यहाँ आते (हैं)। अमरीका-इग्लेंडवाले (बहुत आते हैं)। ओहोहो... क्या है ? ऐसे सब आते हैं और कहते हैं महाराज के पास से मांगलिक सुनकर जायेंगे तो, पैसा खूब पैदा होगा। महीने के पच्चीस-पच्चीस हजार पैदा होते हैं।

अरेरे ! ऐसे पालग सरीखे लोग हैं। किनके साथ (बात) कर रहा हूँ ? और किस तरह बोल रहा हूँ ? इसका पता नहीं है। आहा..हा...!

यहाँ पर तो परमात्मा ऐसा कहते हैं, प्रभु ! आहाहा...! तेरा नाथ जो वस्तु इसके अंदर स्थित गुण को भी विशेष कहा गया। लिंग अर्थात् गुण जो विशेष भेद पड़ा। वह विशेष जो लिंग वह जिसके अंदर नहीं है। आहा..हा...! यह तो मुद्दे की रकम की बात है न भाई ! आहा..हा...! यह अभी ही इसका स्वरूप ऐसा है; भेद भी इसमें नहीं है। आहा..हा...! यह तो है प्रभु ! पूर्णानंद का नाथ ! इसकी दृष्टि करने में भेद का आश्रय करना योग्य नहीं है।

फिर उसमें शुभभाव का आश्रय करे और उसे सम्यग्दर्शन हो जाय, निर्विकल्प समाधि हो जाय (यह मिथ्यात्व है)। अरे ! भगवान बापू अरेरे !!! बाह्य में कितना समय पसार कर दिया? बापू ! भूल गया है तू। आहा..हा...! यह नरक में अनंतकाल बिताया भाई ! कल वह बहिन आयी थी न, उसे देखकर बहुत विचार आ रहे थे। अरे ! बेचारी बिटिया, छोटी उम्र की - तेरह साल की, आहा..हा... मैंने तो कहा, अररर... ऐसे ऐसे दुःख, पूर्व में अनंतबार भोगे हैं बापू ! वह नरक के (दुःख अनंतबार भोगे हैं)।

तुम भगवान हो, तुम भगवान हो ! ऐसा बोलता है, हाँ ! किन्तु तूने अपनी भावना नहीं भायी। आहा..हा...! उसकी वर्तमान पर्याय के समीप में (ही) पड़ा है। पर्याय एक समय की है। उस समय को एक समय कहा जाता है। और यहाँ इस कायम रहनेवाली (वस्तु की) बात है। आहा..हा...! ऐसे ध्रुवतत्त्व को सामान्य का लक्ष कराने और सामान्य के ऊपर लक्ष जाने से उसे सम्यग्दर्शन होता है। अतः उसको लिंग-भेद में गिनकर वह लिंग जिसमें नहीं है - वह भेद जिसमें नहीं है।

आहा..हा...! ऐसा अर्थ निकाला है।

वस्तुस्वरूप बहुत सूक्ष्म है। आहा..हा...! प्रभु तुझे क्या बतायें ? अपनी अभेद चीज को प्रभु, तू सन्मान नहीं दे रहा है। और अन्य चीजों को मान देकर तूने, गुण-गुणी को भी अधिक समझा। तो तुझे गुणी का अभेद माहात्म्य नहीं आयेगा। कुछ समझ में आया ? आहा..हा... कि पैसे से मैं बड़ा हूँ। स्त्री-संतान के कारण में बड़ा हूँ। हमारी पत्नी तो दीवान की बेटी है। इन बातों से उसका पारा ऊँचा चढ़ जाता है। आहा..हा...! हमारे घर में पत्नी है उसका बाप अरबपति है। लेकिन क्या, तुझे उससे क्या (बड़ाई) है ?

आहा..हा...! यहाँ तो आत्मा अनंत गुणवान है। वे भी काम नहीं आयेंगे (ऐसा) कहते हैं। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? समय तो होने आया। लिंग माने ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध पदार्थ का - गुणी का गुण - वह जिसमें नहीं है। गुणी में जिसे गुण नहीं है। आहा..हा...! जिसे अर्थात् आत्मा को, आत्मा में गुण-भेद नहीं है। आहा..हा...! एक शब्द में संतों ने कितना समा दिया है !!

दिगंबर संतों के अलावा यह बात कहीं भी नहीं है। उसमें (दिगंबर में) जन्म लिया उन लोगों को बेचारों को खबर नहीं है। पचास-पचास, साठ-साठ साल गुजार दिये फिर भी (खबर नहीं है)। आहा..हा...! तुम दिगंबर हो न! शुरू से... आहा..हा... ! क्या कहा ? "**...अर्थावबोध (पदार्थज्ञान) जिसके नहीं है सो अलिंगग्रहण है; इसप्रकार `आत्मा गुणविशेष से...'-**" अब, उसका स्पष्टीकरण (करते हैं)। अर्थ प्रथम कहा। `अर्थावबोध' ऐसा लिया था न। अतः गुण विशेष शब्द में ले लिया। अर्थावबोध जिसे नहीं है। ऐसा कहा। अर्थ-गुण जिसमें नहीं है। पदार्थ में, पदार्थ के गुण जो हैं, वे पदार्थ में नहीं हैं। अर्थ अंत में कर दिया।

मुझे अंत में यह कहना था। गुण अर्थात् "**...गुणविशेष से आलिंगित न होनेवाला ऐसा शुद्ध द्रव्य है ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।**" आहा..हा...! सामान्य जो द्रव्य है। वह गुण से विशेष (से) नहीं स्पर्शित (ऐसा ध्रुव द्रव्य है)। पुनःश्च (`समयसार') तीसरी गाथा में ऐसा कहते हैं कि अपने धर्म का चुंबन करता है। यह तो वस्तुस्थिति बताते हैं। तीसरी गाथा (`समयसार') आत्मा अपने अनंत गुण और पर्याय को चुंमता है। किन्तु पर को चुंमता नहीं। इतना सिद्ध करने के लिये यह बात कही।

कुछ समझ में आया ? यहाँ तो ज़रा इससे आगे चलकर दृष्टि का विषय (बतलाना है)। आहा..हा...! गुण-गुण विशेष है ! "**आत्मा गुण विशेष से आलिंगित न होनेवाला...**" आत्मा गुणों के विशेष से नहीं स्पर्शित - उसका (भेद का) अवलम्बन जिसे नहीं है। आहा..हा...!

अब, यहाँ तो अभी पर का अवलम्बन और पर के चुंबन का तो उसने स्पर्थ तक नहीं किया और मुफ्त में मानता है। यह तो अंदर गुणविशेष को द्रव्य छूता नहीं है। कुछ समझ में आया !

"**आलिंगित न होनेवाला ऐसा शुद्ध द्रव्य है ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है।**" यह तो सिद्ध-ध्रुव-एकरूप वस्तु है। यह सम्यग्दर्शन का विषय (है)। इसे आत्मा कहा जाता है।

विशेष कहेंगे...



जिसे संसारकी तथा परकी रुचि नहीं, परन्तु अखण्ड-ज्ञायकस्वभावकी ही रुचि है - वह जैन है। जिसे स्वभावकी रुचि नहीं, उसे संसारकी रुचि है; अतः वह सच्चा जैन नहीं है।
(परमागमसार - ८८३)

प्रवचन : दि. १९-१२-१९७७

प्रवचनसार। अलिंगग्रहण (का) १८वाँ बोल चला था। जब वस्तु है। वस्तु में गुण है। और वस्तु त्रिकाल है। उसके गुण भी उसमें त्रिकाल है। फिर भी द्रव्य के भेद की अपेक्षा से गुणविशेष का प्रकार द्रव्य में नहीं है। आत्मा में कर्म नहीं है, शरीर नहीं है; अनंत पदार्थ भिन्न भिन्न हैं। देव-गुरु-शास्त्र (भी) आत्मा में नहीं हैं। अन्य स्थान पर कहते हैं कि, आत्मा में पाँचों ही (पंचपरमेष्ठी) पद हैं। अपने स्वभाव की अपेक्षा से वे पाँचों पद जो भिन्न हैं वे आत्मा के नहीं हैं।

किन्तु आत्मा के स्वभाव में अरिहंत पद का स्वरूप, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु पाँचों पद का स्वरूप इसमें नहीं हैं। कुछ समझ में आया ! किन्तु यहां पर तो कहते हैं कि पर, स्त्री, कुटुंब-परिवार, आबरु तो नहीं हैं (इनके अलावा) देव-गुरु-शास्त्र इसमें नहीं हैं। परंतु जो वस्तु है, इसका जो दृष्टि का (विषय) - सम्यग्दर्शन का जो विषय है, ऐसा जो द्रव्य अर्थात् पदार्थ वस्तुरूप है; यह वस्तु गुण के - विशेष के प्रकार का स्पर्श नहीं करती। आहा..हा...!

यहाँ तो अभी पर का करना (और) पर का स्पर्श करते हैं यह बात अभी (अंदर से) खिसक नहीं पाती। पर का किया जा सकता है, एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कर सकता है, इसी में बड़ी भारी आपत्ति उठती है। आहा..हा...! यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि, परद्रव्य का तो आत्मा कभी चुंबन भी नहीं करता। शरीर का, कर्म का, स्त्री-कुटुंब परिवार को जो (कि) बाह्य चीजें हैं, उनका आत्मा कभी चुंबन नहीं करता, छूता नहीं, स्पर्श नहीं करता। आहा..हा...! यह (इसमें) जो गुण (और) पर्याय है, उसे चुंमता है इतनी बात (है)। अब वहाँ तो वस्तु की स्थिति सिद्ध करी ('समयसार' तीसरी गाथा में)।

अब, वस्तु जो है, भगवानआत्मा, ऐसा जिसका एकरूप सामान्य स्वरूप-अभेद ध्रुव स्वरूप है; वह द्रव्यस्वभाव गुण-भेद को स्पर्श नहीं करता। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं। अब कठिन पड़ता है। अभी झगड़ा (चल रहा है)। एक जगह यह अभी ही आया था (कि) एकान्त है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ न कर सके यह एकान्त है। अरे प्रभु ! क्या कह रहा है, भाई ! ऐसा बोले (कि) हमारे समकित-सुख-धर्म को आवरण है। इसलिये हमें समकित व सुख प्रगट नहीं होता। अरे ! प्रभु ! तू क्या कह रहा है यह ? आहा..हा...! उस कर्म के कारण आत्मा में समकित में और सुख में आवरण है। और विपरीत दुःख की दशा, उसमें अटका हुआ है, विपरीत मान्यता है (और) मानता है, उसके (कारण) आवरण है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! ऐसी बात है।

यहाँ पर तो विशेष बात यह है कि प्रभु ! जो आत्मा सामान्य है, ध्रुव है, नित्य है, एकरूप जिसका स्वभाव है। उसके गुण के भेद को अर्थात् विशेष को यह द्रव्य छूता नहीं है। आहा..हा...! आलिंगन शब्द है न ? आलिंगन करता नहीं। आहा..हा...! इस उँगली को यह उँगली स्पर्श नहीं करती, ऐसा कहते हैं। पहले कहा था स्थूल बात है। वह तो स्थूल रहा। बिच्छू का डंक शरीर को छूता तक नहीं है। क्योंकि परद्रव्य है। (शरीर है) वह परद्रव्य के (डंक के) अभाव स्वरूप है। इसलिये उसे छूता नहीं है। आहा..हा...! वह स्थूल बात तो एक तरफ रह गई। अब यहाँ तो सामान्य प्रभु, सदृशता एकरूप जो ध्रुव वस्तु है, इसके गुण हैं। इसमें अभेद में गुण हैं। किन्तु भेदरूप से इसका स्पर्श नहीं करता। आहा..हा...! ऐसी बात है। फिर यह शरीर विषयभोग के समय इन्द्रिय को छूता है वह (बात) तो कहाँ की कहाँ रह गई प्रभु ! वह बात तो दूर रह गई। मार्ग (ऐसा) है।

चमत्कारिक वस्तु है। चमत्कारिक पदार्थ ही ऐसा है। (कोई) कहे ऐसा करना, (कोई) कहे कि यह (इसको) छूआ है, (कोई) कहे कि पानी ने अग्नि को छूआ है (तो) कहे नहीं। किन्तु (पानी) गरम हुआ है न ? गरम हुआ है (परंतु) पानी ने (अग्नि को) छूआ है इसलिये गरम नहीं हुआ है। आहा..हा...! उसकी अपनी ही पर्याय उष्णरूप होने के काल में स्वयं उष्ण हुई है। अग्नि के कारण नहीं। अग्नि ने तो उसको छूआ (भी) नहीं है। आहा..हा...!

दुनिया में अर्थात् द्वैतपने में रहने जैसा नहीं है। दुनिया अर्थात् द्वैत, हाँ ! आहा..हा...! इसमें है न ! धर्मदास की 'सम्यक्ज्ञानदीपिका' में 'दुनिया' शब्द है। दुनिया में दो न्याय हैं। इसमें - प्रभु के (आत्मा के) स्वरूप में एक ही न्याय है। ऐसी बातें हैं। आहा..हा...!

क्या कहा ? देखो। लिंग अर्थात् गुण, इसमें १८वें बोल में अपने यहाँ आया न, ऐसा जो ग्रहण (वह जिसे नहीं है)। वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्यध्वनि बिना इच्छा के खिरी। उस दिव्यध्वनि में ऐसा आया कि, भगवान ! तू वस्तु है न प्रभु ! भगवंत स्वरूप तेरा है। आहा..हा...! यह एकरूप अभेद है। यह अभेद (स्वरूप) भेद का स्पर्श नहीं करता। गुण के भेद का - विशेष का स्पर्श नहीं करता। आहा..हा...! यह तो बात है कोई, हाँ !

(द्रव्य का गुणों के साथ) नित्य तादात्म्य संबंध है। और पर्याय के साथ अनित्य तादात्म्य संबंध है। फिर भी द्रव्य और गुण ऐसा भेद पड़ा वह विशेष है। भेद की यहाँ बात करी। कुछ समझ में आया ? मार्ग बापू (ऐसा है)। भगवान तेरा स्वरूप ही अलौकिक है। चमत्कारिक वस्तु है। आहा..हा...!

कहा नहीं था उस दिन ? पैर ज़मीन का स्पर्श नहीं करता और पैर चलते हैं। अरे क्या है यह ? पैर, ज़मीन का स्पर्श करता ही नहीं। क्योंकि पैर का आधार तो उसकी पर्याय, गुण के आधार से उसके अपने में है। अपने आधार से वह चलता है और हिलता है। ज़मीन के आधार से पैर चलता ही नहीं है। यह तो कोई बात है ! यह द्रव्य, गुण और पर्याय ऐसी ही कोई चमत्कारिक चीज है। उसे अपने ज्ञान में बात बैठना बहुत कठिन (लगे ऐसा है), बापू !

आहा..हा...! कहते हैं कि पर का स्पर्श नहीं करता। इस बात को तो एक तरफ रखो। यह तो इसके स्वयं के अंदर (वस्तु में) द्रव्य और गुण ऐसे दो भेद हैं। द्रव्य का नाम द्रव्य, गुण का नाम गुण। द्रव्य का लक्षण अन्य, गुण का लक्षण अन्य। द्रव्य का प्रयोजन अन्य, गुण का प्रयोजन अन्य। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! सूक्ष्म बात (है), बापू ! उसने कभी भी (सुनने की) आवश्यकता महसूस की नहीं। हैरान होकर मर गया है।

यहाँ तो परमात्मा ऐसा फरमाते हैं कि, आत्मा वस्तु है। इसमें अनंतगुण हैं, परंतु

वे विशेष हैं। सामान्य है वह एकरूप है और (गुणों के) भेद हुए विशेष, वह विशेष है। उस विशेष का लक्ष करने जायेंगे तो उसे राग उत्पन्न होगा। आहा..हा...! पर का लक्ष करने जायेगा, भगवान का (भी) लक्ष करने जायेगा, तो उसे राग ही होगा, चाहे तो तीनलोक के नाथ तीर्थंकर परमात्मा हो, किन्तु परद्रव्य के ऊपर लक्ष जायेगा तो उसे राग ही होगा। शुभराग (होगा)। इस प्रकार भगवानआत्मा अनंतगुण का पिंड प्रभु ! (इसमें विशेष का लक्ष करेगा तो राग होगा)। आहा..हा...! उसने कभी कुछ सोचा है ? उसने गुण के भेद का, विशेष का (विचार किया नहीं है)। आहा..हा...!

नयों में लेंगे। (भेद को) जानता है, ऐसा नय में लेंगे। भेदरूप नय है, विकल्परूप नय है। आता है। इसके बाद आयेगा। विकल्परूप नय है। अविकल्परूप नय है। उसको जानता है। भेद को (भेद जानता है) अभेद को अभेद जानता है। वहाँ ज्ञान के प्रकार में उसका वर्णन करते हुए भेदनय का भी एक विषय (आता) है। अभेदनय का विषय है और भेदनय का विषय है। आहा..हा...! नय में (आयेगा)। यह पूरा हो जाय इसके बाद नय लेने हैं।

'प्रवचनसार' में भगवान परमात्मा ऐसा कहते हैं कि आहा..हा... अंदर तुमने शरीर को छूआ ही नहीं है, (और) शरीर ने तुझे नहीं छूआ। कर्म को तूने नहीं छूआ है, कर्म ने तुझे नहीं छूआ है। आहा..हा...! गजब बातें हैं प्रभु ये तो ! किन्तु यह तो अभी (पर का) आलिंगन नहीं करता, यह (बात) तो एक तरफ रही। परंतु सामान्य जो ध्रुव है (वह गुण-भेद का स्पर्श नहीं करता)। अरे! सामान्य की भी कुछ खबर नहीं है। द्रव्यस्वभाव जो एकरूप अभेद है, इसमें गुण का भेद लक्ष में लेना, ऐसा भेद जिसमें नहीं है। आहा..हा...!

वह अखंड द्रव्य अभेद, वह भेद का स्पर्श भी नहीं करता। भेद का चुंबन भी नहीं करता। भेद का आलिंगन भी नहीं करता। सूक्ष्म बातें बहुत, बापू ! दुनिया में चौरासी के अवतार कर करके बाहर के भाव में परेशान होकर मर गया है। यहाँ ज़रा थोड़ी प्रतिकूलता आ जाय तो चीख पड़ता (है), हें ? अरे ! आँख से दिखता नहीं है, कान से सुनाई नहीं देता, पेट में वजन महसूस हो रहा है, सिर फट रहा है, बायीं और दायीं तरफ सिर में सुइयाँ चुभ रही हो ऐसा दर्द हो रहा है, श्वास लिया नहीं जा रहा। अरे ! वह पीड़ा तो बापू ! अनंतवें भाग की है, भाई! उससे

अनंतगुनी पीडा प्रभु ! तूने नरक में सहन की है। किन्तु भूल गया, यह आदमी।

वह (पीड़ा) किस वज़ह से (सहन करी तो) कहते हैं मिथ्यात्व के कारण। चारित्रदोष के कारण कोई भव बदल जाय। कहीं स्वर्ग आदि में जाना पड़े। किन्तु इस मिथ्यात्व के दोष के कारण तो (परिभ्रमण में भटकना पड़ता है)। आहा..हा...! अनंत अनंत नरक और निगोद के भव का मूल मिथ्यात्व है। तुझको यहाँ परमात्मा ऐसा कहते हैं कि, तू द्रव्य है न प्रभु ! शुद्ध स्वरूप वस्तु (है)। इसमें गुणभेद की विशेषता (नहीं है)। सामान्य द्रव्य है, यह सामान्य अर्थात् क्या (चीज) होगी ?

एकरूप त्रिकाली जो द्रव्य है (यह सामान्य है)। इसके ज्ञेय के विशेष में जो भेद हैं; द्रव्य उस भेद का स्पर्श नहीं करता। और भेद का लक्ष करने जाय तो रागी प्राणी है इसलिये उसे राग होगा। आहा..हा...! भगवान का लक्ष करने जाय तो भी राग ही होगा। आहा..हा...! दुःख होगा, ऐसा कहते हैं। इस प्रकार परमात्मा (स्वयं) के भेद का लक्ष करने जायेगा तो तुझे दुःख होगा। अरे ! ऐसी बातें (हैं)।

जैसे बिच्छू काटे व सर्प काटे और दुःख है न, वैसे बापू भेद का लक्ष (दुःखदायक है)। आहा..हा...! वस्तु अंदर भगवानआत्मा एकरूप चिदानंदघन में इस गुण के भेद का आलिंगन नहीं है। और विशेष का और गुण व गुणी के भेद का लक्ष करने जायेगा (तो) प्रभु ! तू दुःखी हो जायेगा। कुछ समझ में आया ? ऐसा मार्ग है। किन्तु इस अभेद में भेद नहीं है। ऐसे अभेद की दृष्टि करने जायेगा तो तुझे आनंद होगा।

भाई ! ऐसी बातें हैं। बंबई में सुना तक नहीं है। धूल व पैसे की चिंता कर करके मर गया है। आहा..हा...! जिनेन्द्रदेव के द्वारा प्ररूपित धर्म कोई अलौकिक है। कहते हैं कि, वस्तु अनंतगुण का एकरूप द्रव्य (है)। अनंतगुण का द्रव्य तो एकरूप है। गुण अनेकरूप है। उसका एकरूप द्रव्य उन अनेक का स्पर्श नहीं करता है। आहा..हा...!

अनेक कहो या विशेष कहो। भगवान सूक्ष्म बात है। परंतु यह परम सत्य है। सुख के पथ पर जाना हो तो यह रास्ता है। आहा..हा...! निमित्त का लक्ष करने जायेगा, स्त्री-कुटुंब और परिवार का लक्ष करने जायेगा जब तो पाप होगा ही। आहा..हा...! किन्तु देव-गुरु-शास्त्र का लक्ष करने जायेगा तो पुण्य व राग और दुःख होगा। वह

तो ठीक किन्तु भगवान सामान्य एकरूप प्रभु है ! इसके भेद का लक्ष करने जायेगा तो प्रभु ! दुःख होगा तुझे। आहा..हा...!

ऐसी बात है। आहा..हा...! वीतराग परमात्मा जिनेश्वरदेव की यह पुकार है। आहा..हा...! इतना भरा है इसमें कि पार नहीं पा सकते। एक-एक शब्द के अंदर गज़ब काम किया है। आहा..हा...! एकरूप अभेद चीज में गुण के भेद (हैं सही)। अंदर गुण हैं सही, किन्तु भेद करने जायेगा तो दुःखी हो जायेगा। इस अभेद में दृष्टि करेगा तो सुखी हो जायेगा। आहा..हा...!

ऐसे में बाहर के पैसे, दो-पाँच करोड़ धूल इकट्ठी होने से सुखी हुआ (ऐसा माने वह) मूढ़ है। आहा..हा...! पद बड़ा मिल गया हो और पच्चीस-पचास हजार की महीने की (आमदनी हो) (और माने कि हम) बड़े हो गये, वह मर गया। बड़ा कहाँ हुआ ? सुन तो सही, भाई ! तुझे पता नहीं है। तेरी चीज तो अंदर एकरूप ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव सामान्य एकरूप चली आ रही है।

चाहे जितनी पर्याय आये परंतु वस्तु तो सामान्य एकरूप चली आ रही है। इस एकरूप की दृष्टि करने में इसमें गुण हैं, उनके भेद का लक्ष भी छूट जाता है। और भेद का - गुण की विशेषता का लक्ष छूटने से, अभेद पर दृष्टि पड़ने से, तुझे आनंद का स्वाद आयेगा। तब तुझे धर्म होगा। यह अठारहवाँ बोल तो हो चुका है। आज थोड़ा विशेष कहा गया है। इसमें लक्ष करो उतना निकलता (ही) जाय उतना माल भरा है।

आहा..हा...! गुण अनंत (परंतु) वस्तु एक। एक में अनंत का लक्ष करने जायेगा (तो तुझे दुःख उत्पन्न होगा)। आहा..हा...! तेरे में भी एक में अनेक का लक्ष करने जायेगा तो तुझे दुःख होगा, तुझे राग होगा। भले शुभराग हो। किन्तु वह शुभराग दुःख है। आहा..हा...! संतों ने गज़ब काम किये हैं।

दिगंबर मुनि अर्थात् आहा..हा...! पंचपरमेष्ठी में शामिल भगवंतरूप (मुनिजन)। आहा..हा...! कुंदकुन्दाचार्य ने कहा न ? अरिहंत से लेकर हमारे गुरुपर्यंत (सब) विज्ञानघन में निमग्न थे। आहा..हा...! वे (कोई) राग में नहीं थे, निमित्त में भी नहीं थे, भेद में नहीं थे, भाई ! गज़ब काम किया है न !

भगवान अरिहंत परमात्मा तीर्थंकरदेव अंदर विज्ञानघन में निमग्न थे। वहाँ से

लेकर हमारे गुरुपर्यंत (सब विज्ञानघन में निमग्न थे)। आहा..हा...! प्रभु ! आपने सब कुछ जान लिया ? छद्मस्थ हैं न ! वह सब धारावाही (चला आ रहा है)। हमारे गुरुपर्यंत भी (सब) विज्ञानघन में निमग्न थे। वह महाव्रत में थे और शरीर में थे और पर के प्रति दया पालते थे इसके लिये ना बोला है। वहाँ तो वह गुण-भेद में थे इसके लिये भी ना कहा है। क्या कह दिया !! गज़ब काम किया है, प्रभु !

आहा..हा...! यह वाक्य तो देखो। चारों ओर से देखो तो सत्य ही सामने आ जाता है। इसका ना सिद्धांत कहा गया है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? लो। केवली भगवान गुरु का विनय करे वह तो परद्रव्य है। विनय करे तो राग होता है। केवली को राग होता नहीं। यहाँ तो अन्य बात कहनी है। विज्ञानघन में निमग्न हैं ऐसा कहना है। केवलज्ञानी भी विज्ञानघन में निमग्न हैं। भाई ! अतः गुरु का विनय करे ऐसा वहाँ है ही नहीं। आहा..हा...! वस्तु तो देखो, वस्तु। वहाँ से (अरिहंत से) लेकर हमारे गुरु(पर्यंत) वे (सब) विज्ञानघन में निमग्न थे। आहा..हा...! पर्याय भी ध्रुव में - विज्ञानघन में निमग्न थी। आहा..हा...!

देखो तो, सत्य का प्रवाह ! किसी भी गाथा की कोई भी पंक्ति लो, तो यथार्थ है। आहा..हा...! सनातन वस्तु, जैनदर्शन, उसकी किसी भी पंक्ति से शुरू करो। किसी भी शब्द से लो (सबकुछ यथार्थ है)। आहा..हा...! जिससे वीतरागता ही पैदा हो ऐसी वह चीज है। यहाँ पर ऐसा कहा है। आहा..हा...!

अंदर गुणी और गुण के भेद में आना भी जहाँ राग है। तो फिर केवली अपने छद्मस्थ गुरु का विनय करें और वंदन करें - यह न्याय इससे मिलता नहीं है। आहा..हा...! और यहाँ तो कहा है कि, विज्ञानघन में निमग्न थे। कौन ? केवली। वे वाणी का उच्चारण कर रहे थे न ! वे नहीं (कर रहे थे)। वे तो विज्ञानघन में निमग्न थे। और वहाँ से लेकर हमारे गुरुपर्यंत परंपरा शुरू से चली आ रही है।

आहा..हा...! वे दिगंबर संत, भगवान से लेकर अब तक के सभी विज्ञानघन में निमग्न थे। उन्होंने हमें शुद्धात्मा का उपदेश दिया। कुछ समझ में आया ? यह शुद्ध की बात चलती है न! इसमें आया देखो। "**आत्मा गुणविशेष से आलिंगित न होनेवाला ऐसा शुद्ध द्रव्य है।**" अंत में शुद्ध शब्द आया। गुण में लिंग अर्थात् गुण।

ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध - अर्थात् पदार्थ का भाव वह गुण भाग; वह जिसे नहीं है, वह अलिंगग्रहण है। इस प्रकार आत्मा गुणविशेष से नहीं स्पर्शित ऐसा शुद्धरूप है। आहा..हा...! दो बातें हुई।

अब उन्नीसवाँ (लेते हैं)। आधा घंटा हुआ, इसमें (१८वें में) कल एक घंटा चला था। इसका तो अंत नहीं। १८, १९, २० ये तीन बोल ऐसे हैं। आहा..हा...! भाग्यवान को तो कान में पड़े ऐसी बात है। त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव का प्रवाह है वह इस वाणी का प्रवाह है। आहा..हा...!

अब उन्नीस। "**लिंग अर्थात् पर्याय ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोधविशेष...**" बात तो ऐसी लेंगे कि पदार्थ माने बोधविशेष; किन्तु इसमें पर्याय विशेष (है)। जितना पदार्थ-आत्मा है उतनी पर्याय-विशेष आत्मा की है। अर्थात् अर्थावबोध माने ज्ञान की ही पर्याय ऐसा नहीं। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...!

भगवानआत्मा अंदर वस्तु जो है। वस्तु जो सम्यग्दर्शन का विषय (है) (इसे पर्यायविशेष नहीं है)। आहा..हा...! वह 'पर्याय ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोधविशेष वह जिसे नहीं है।' ये अनंत पर्यायें द्रव्य में नहीं हैं। आहा..हा...! अभी तो परद्रव्य का कुछ करना और पर में प्रवेश करे तो कुछ कर सके, क्या कहा ? पर में और शरीर में उसके पुण्य के अनुसार हो सकता है। बाकी तो पर में हो नहीं सकता। आहा..हा...! (परद्रव्य का कुछ कर नही सकता) इसी में आपत्ति उठाते हैं।

देखो, सोनगढ के सामने (आपत्ति उठायी है)। सोनगढ के विरुद्ध (आपत्ति उठायी) है या भगवान के विरुद्ध (उठायी) है ? आहा..हा...! भाई ! तुझे पता नहीं है, प्रभु ! तेरा तो द्रव्य है न वस्तु, उसका निर्णय करनेवाली पर्याय है। क्या कहा यह ? निर्णय करनेवाली पर्याय है। इसे जाननेवाली पर्याय है। इसमें स्थिर होनेवाली पर्याय है। आहा..हा...! परंतु ये अनंती पर्यायें जो विशेष हैं, उनका द्रव्य आलिंगन नहीं करता, द्रव्य पर्याय का स्पर्श नहीं करता।

आहा..हा...! यहाँ वर्तमान की बात है न, दूसरे की बात कहाँ है। यह तो जिसकी वर्तमान निर्मल पर्याय है। आहा..हा...! सम्यग्दर्शन, ज्ञान की निर्मल पर्याय, उसको द्रव्य स्पर्श (अर्थात्) आलिंगन नहीं करता। आहा..हा...! विकार की पर्याय तो कहाँ की कहाँ रह गई। उसे तो (निर्मल) (भी) छूती नहीं है। वह तो परद्रव्य में शामिल

है।

आहा..हा...! `नियमसार' में (निर्मल पर्याय को) परद्रव्य कहा है। यहाँ दूसरी अपेक्षा है। वहाँ परद्रव्य क्यों कहा ? कि जिस प्रकार परद्रव्य में से नयी पर्याय अपने को नहीं आती, उस प्रकार अपनी निर्मल पर्याय में से नयी पर्याय नहीं आती। शांति की, आनंद की नयी पर्याय तो द्रव्य में से आती है।

यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि, वह शुद्ध आनंद की पर्याय हुई, आहा..हा...! उसको द्रव्य छूता (भी) नहीं है। वस्तु जो भगवानआत्मा ध्रुव है, वह मोक्षमार्ग की पर्याय को छूता नहीं है। आहा..हा...! कहो, भाई ! ऐसा सब कहीं भी नहीं सुना। कहाँ जा रहा है भाई तू ! यह तेरा भगवान अंदर बिराजमान है न ! वह प्रभु ! तुझे पता नहीं है। आहा..हा...! अपरिमित शक्ति का सागर, फिर भी शक्तिवान इस शक्ति का स्पर्श नहीं करता।

आहा..हा...! ऐसा भगवानआत्मा - शुद्ध द्रव्य इसे कहते हैं कि, जो द्रव्य है, वह अपनी निर्मल पर्याय को भी छूता नहीं है, चुंबन करता नहीं है, स्पर्श करता नहीं है। आहा..हा...! कल एक साधु आया था वह कह रहा था कि, यहाँ का (सोनगढ का) साहित्य श्वेताम्बरवाले पढ़ते हैं। आपने तो खोल-खोलकर एक एक बात का स्पष्टीकरण किया है, ऐसा कहते थे।

ऐसी बात ! खोल करके, इतना स्पष्ट करके बात आयी नहीं है। वे कहते थे `हमारे में है। इस `अध्यात्मसार' में...वह तो अभी बनाया। यहाँ से जो खोल करके स्पष्टीकरण हुआ है, ऐसी स्पष्टता हुई नहीं है।'

यह तो भगवान के घर की बातें हैं। भगवान ने इसका स्पष्टीकरण किया है। आहा..हा...! संतों ने फोलवा... फोलवा... बनाकर... `फोलवा' का सीधा अर्थ क्या होता है ? फोलवा... फोलवा... ये भुने हुई चने की दाल को `फोलवा' बोलते हैं। छिलके (रहित) होते हैं न ! अरे ! उस बेचारे को सुनने को भी नहीं मिलती न, वह कहाँ जाय और क्या करें ? यूँ ही जिंदगी (चली जाती है)। अरेरे... साधारण मनुष्य, बनिया तो मांस, दारू नहीं खाता, अतः नरक में तो नहीं जाता। किन्तु श्रद्धा का भी तो ठिकाना नहीं। (ज्ञान का) भी ठिकाना नहीं, पुण्य का भी ठिकाना नहीं, आहा..हा...! वे (बनिये) मरकर पशु में जानेवाले हैं, पशु में (जानेवाले हैं)। अरेरर !

पशु क्यों ? `बध्यते इति पशुः'

यहाँ पर कहते हैं कि, पर्याय का द्रव्य स्पर्श नहीं करता। वह पर्याय का लक्ष करे तो उसे राग होगा; उसे राग होगा और (उससे) लाभ मानेगा तो मिथ्यात्व होगा। और मिथ्यात्व होगा तो `बध्यते इति पशुः'। मिथ्यात्व से बँधता है। इसलिये उसे पशु कहा। कहाँ का कहाँ ? १४ बोल आते हैं न पशु के लिये ! `समयसार' में (आते हैं)।

आहा..हा...! यहाँ पर तो प्रभु ! ऐसा कहते हैं कि, तू प्रभु स्वरूप अंदर बिराजमान हैं। आहा..हा...! वह बात कल कही थी न कि तेरी जो पर्याय, द्रव्य की जो पर्याय है, उसका (युगपत्) ज्ञान प्रमाण है; किन्तु निश्चय का विषय पर्याय बिना का मात्र अकेला द्रव्य है।

दिगंबरलोग ऐसा मानते हैं कि द्रव्य पर्याय को नहीं करता, यह प्रश्न किया था। द्रव्य पर्याय को नहीं करता, ऐसा प्रश्न था। दिगंबर सही है ऐसा तो माना। आजकल (जो) संप्रदाय है वहा कहाँ दिगंबर है ? उससे ऐसा नहीं कहा था, लेकिन यह तो आज मुझे (विचार आया था) कि वस्तु है, यह पर्याय को नहीं करती। आहा..हा...! और पर्याय को छूती नहीं तो करे कहाँ से ?

आहा..हा...! सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र जो धर्मदशा (है) उसे भी द्रव्य छूता नहीं है तो करे कहाँ से ? आहा..हा...! ऐसी बातें हैं। लिंग अर्थात् पर्यायविशेष। (उनसे) ग्रहण अर्थात् अर्थावबोधविशेष। (अर्थात्) पदार्थ की विशेष अवस्थाएँ, वह जिसे नहीं है। त्रिकाली पदार्थ में - द्रव्यस्वभाव में इसकी विशेष दशाएँ नहीं हैं।

आहा..हा...! इस द्रव्य में पर्याय नहीं है। क्या कहते हैं ? यहाँ तो अभी स्त्री, बच्चे और कुटुंब मेरा नहीं है, ऐसा मानने में तो पसीना छूट जाता है। वे तेरे नहीं, नहीं, नहीं। वे तीन बार (तीनोंकाल में) तेरे नहीं हैं। अपना मानेगा तो मर जायेगा। चार गति में भटक के मर जायेगा। अरे, यहाँ तो कहते हैं कि, पर्याय का आश्रय लेने जायेगा तो मर जायेगा। राग होगा और दुःखी होकर (मर जायेगा)। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? ऐसी बातें हैं। यह तो दिगंबर संतों की वाणी, पूर्वापर अविरोधवाणी (है)। आहा..हा...!

भगवानआत्मा यह वस्तु है। विकार को तो यह स्पर्श नहीं करता। दया-दान-

व्रत के विकल्प तो विकार हैं। विकार को इसने छूआ नहीं है। परंतु आत्मा में जिस द्रव्य के आश्रय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान होता है, धर्म (अर्थात्) आनंद की दशा होती है, उसको वह द्रव्य छूता नहीं है। उस दशा में (जो) दशा है, वह दशा द्रव्य में नहीं है। ऐसी बातें हैं। फिर लोग बेचारे सोनगढ के नाम से (उलटा-सीधा) बोलते हैं। आहा..हा...!

ऐसा तो वे दिगंबर साधु होकर बोलते हैं बेचारे। ऐसी बात दो सो वर्ष में आयी नहीं है। और स्वामीजी ! यह जो आप कहते हो उसके अनुसार तो हम साधु नहीं हैं, दिगंबर हैं। (किन्तु) हम साधु नहीं हैं, ऐसा कहा। अब, श्वेताम्बर की तो बात क्या करनी ? कुछ समझ में आया ! ऐसी बातें, बापू ! कठिन बहुत। क्या करें ? आहा..हा...! अपूर्व है। द्रव्य पर्याय को छूता नहीं है। मनुष्य को कहते हैं न ! 'छूता' है। किसीके साथ कुछ (बोलता नहीं है)। आहा..हा...!

यहाँ परमात्मा जिनेन्द्रदेव, संत आढ़तिया बनकर वीतराग की बात जगत के सामने प्रसिद्ध करते हैं कि, तेरी जो निर्मल पर्याय सम्यग्दर्शन आदि होती है। आहा..हा...! उसे द्रव्य वस्तु सामान्य है वह छूती नहीं है। आहा..हा...! वह पर्याय द्रव्य (के) ऊपर-ऊपर तैरती है। आहा..हा...!

जिस प्रकार पानी में तेल की बूँदें ऊपर-ऊपर तैरती है, अंदर प्रवेश नहीं करती, आहा..हा...! तेल की बूँदें ऊपर-ऊपर तैरती है, अंदर पानी के दल में भीतर प्रवेश नहीं करती। आहा..हा...! अरेरे...! उस प्रकार शरीर-वाणी-मन-कर्म की (तो) क्या बात करनी ? यहाँ तो अभी कर्म के कारण विकार होता है, कर्म के कारण ऐसा होता है। अभी (तो) कहाँ पड़े हैं ? आहा..हा...! यहाँ तो कहते हैं कि, राग के कारण आत्मा में कुछ होता है ? राग आत्मा को छूता भी नहीं है। उस प्रकार राग को जाननेवाली जो सम्यग्दर्शन की पर्याय है उसे आत्मा छूता नहीं है।

आहा..हा...! क्या कहा ! अनित्य तादात्म्य (संबंध) है। निर्मल पर्याय के साथ वह अनित्य तादात्म्य (संबंध है)। और विकार के साथ अनित्य तादात्म्य संबंध (है) किन्तु वह संयोगीभाव है। यह निर्मलपर्याय संयोगीभाव नहीं है। कर्ता-कर्म अधिकार में ६९-७० (गाथा में) आ चुका है। पुण्य व पाप, दया और दान, व्रत और भक्ति और तप के भाव (हैं) वे संयोगीभाव हैं। उपाधिभाव हैं। इसके स्वरूप में नहीं हैं।

आहा..हा...! यहाँ तो निर्मलपर्याय होती है... आहा..हा...! गज़ब काम कर रहे हैं न संत!! संतों को जगत से क्या लेना-देना ? समाज को यह (बात) जचेगी या नहीं ? समाज संतुलन में रहेगा या नहीं ? आहा..हा...! वह कहाँ है ? अनित्य संबंध कहा न ! नित्य संबंध नहीं है। अनित्य संबंध कहा जाता है, किन्तु वास्तव में तो उसे छूता भी नहीं है। द्रव्य (की) वह पर्याय (एक) समय की है। उसे अनित्य कहा जाता है। वास्तव में, द्रव्य उसे छूता तक नहीं है। उस पर्याय का स्वरूप अनित्य है, इतना। कुछ समझ में आया ?

अनित्य संबंध है ऐसा कहना भी व्यवहार है। 'सर्व संबंध निषेध' (कलश) २१६। कलश टीका में आता है। आहा..हा...! गज़ब बात (है)। तेरे कानों में पड़ना भी मुश्किल है और जिंदगी यूँ ही पशु के माफिक गई। आहा..हा...! यहाँ त्रिलोकनाथ जिनेन्द्रदेव तीर्थंकर परमात्मा के (मुख से ध्वनि खिरी)। 'मुख ॐकार ध्वनि सुनि, अर्थ गणधर विचारे।' भगवान के मुख से ध्वनि उठी। ॐ ध्वनि। गणधर उससे शास्त्र रचना करते हैं। आहा..हा...! 'रचि आगम उपदेश, भविक जीव संशय निवारे।' आहा..हा...! भव्यप्राणी संशय का निवारण करते हैं।

भगवान की वाणी में ऐसा आया कि, द्रव्य पर्याय का स्पर्श नहीं करता है। ऐसा जानकर द्रव्यदृष्टि करे और पर्यायदृष्टि छोड़ दे, उसका संशय चला जाता है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? ऐसी बातें अब। ऐसी बात सुननेवाले को संप्रदाय में रहने नहीं देते। यहाँ तो (हम) जंगल में हैं। बाहर में किसी संप्रदाय में नहीं हैं, बापू ! (अंदर बात) बैठे तो बिठाओ, वरना भटको। आहा..हा...! भटको... आहा..हा...! पर्याय विशेष है !

ऐसा जो 'अर्थावबोधविशेष'। अर्थ माने पदार्थ का ज्ञानविशेष इतना लिया है। परंतु पदार्थ की पर्यायविशेष इस प्रकार सब लेना, सभी पर्याय लेना। अर्थावबोध, अर्थ माने पदार्थ उसका बोध माने ज्ञान की जो पर्याय (है) वह द्रव्य में नहीं है। किन्तु उसमें शब्दार्थ संक्षिप्त करने के लिये ज्ञान व आत्मा ऐसा बताने के लिये यह शब्द लिया। इस प्रकार जितनी पर्यायगुण की हैं उन सभी पर्यायविशेष (को) सामान्य द्रव्य छूता नहीं है, चुंबन करता नहीं है। अरर... उस महाशय को दाल-चावल और लड्डू खाय उसमें रस आता है रस। चूरमे (के लड्डू) को आत्मा छूता भी नहीं है। शरीर को

छूता भी नहीं है। तुझे पता नहीं है। आहा..हा...!

वह (अज्ञानी) उसका लक्ष करके ठीक लग रहा है (ऐसा मानकर) राग उत्पन्न करता है। राग के रस को खाता है। आहा..हा...! अरेरे ! सत्य बात उसके कानों में (भी) पड़ती नहीं है। सत्य के बिना क्या करे ? कहाँ जाय ? आहा..हा...! `विशेष से आलिंगित न होनेवाला', ऐसा है न ? ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध विशेष जिसे नहीं है, इतनी बात। वस्तु द्रव्य जो त्रिकाली आनंद प्रभु, इसमें वर्तमान की पर्याय भी नहीं है। वह वर्तमान पर्याय (त्रिकाली में नहीं है)। आहा..हा...! अभी (तो) शरीर मेरे में नहीं है, मैं शरीर में नहीं हूँ, स्त्री मेरे में नहीं है, मैं स्त्री में नहीं हूँ। ऐसा बैठना अभी कठिन पड़ता है; उसे कहते हैं कि, पर्याय द्रव्य में नहीं है। कुछ समझ में आया ?

आहा..हा...! देखो, "**अर्थावबोधविशेष जिसके नहीं है।**" इस अलिंगग्रहण शब्द का यह अर्थ है। अलिंग। लिंग अर्थात् पर्यायविशेष। ग्रहण अर्थात् जिसे नहीं है। आहा..हा...! आत्मा पर्यायविशेष से नहीं स्पर्शित ऐसा शुद्ध द्रव्य है। यह उस बात का कुल मिलाकर सार लिया। आहा..हा...! ये तीनों बोल तो अलौकिक हैं। पर्याय गुण में नहीं है। द्रव्यस्वभाव में पर्याय नहीं है। नहीं है अर्थात् अलिंगग्रहण हुआ। इस प्रकार आत्मा पर्यायविशेष से नहीं आलिंगित ऐसा शुद्ध द्रव्य है।

भगवानआत्मा... आहा..हा...! यह (द्रव्य) केवलज्ञान की पर्याय का स्पर्श नहीं करता। द्रव्य गज़ब है न !! द्रव्य का अस्तित्व कब सिद्ध हो ? पर्याय है और द्रव्य है, इस अस्तित्व-सत्ता को कोई पर का हेतु हो नहीं सकता। पर्याय द्रव्य के कारण है, ऐसा नहीं है। पर्याय द्रव्य में नहीं है। आहा..हा...! बड़े शहर में ऐसा पढ़ने जाय वहाँ (स्वयं) पकड़ नहीं सकता।

आहा..हा...! परमात्मा जिनेन्द्रदेव का यह फरमान है प्रभु ! तुझे पता नहीं है। यहाँ पर तो प्रभु ! ऐसा कहते हैं कि, द्रव्य में जो अनंतगुण हैं, उनकी जो अनंत पर्यायें हैं, निर्मल हाँ ! उन निर्मलपर्याय का लक्ष करने जायेगा तो तुझे राग होगा और तुझे दुःख होगा। आहा..हा...! १६वीं गाथा में अष्टपाहुड में कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा न, `परदव्वाओ दुग्गई' आहा..हा...!

त्रिलोकनाथ ऐसा कहते हैं कि, हम तेरे से भिन्न-परद्रव्य हैं। हमारा लक्ष करने

जायेगा तो तुझे अपने चैतन्य की गति (नहीं होगी परंतु) दुर्गति होगी। अर्थात् (कि) राग होगा राग। अर्थात् चैतन्य की गति नहीं है न ! आहा..हा...! आहा..हा...! वादविवाद उत्पन्न करके झगड़ा खड़ा करता है न ! बापू ! यह वादविवाद का विषय नहीं है। प्रभु ! यह तो अंतर का विषय है।

अरे...! साधु नाम धारण करनेवालों को खबर नहीं है। अभी साधु तो है कहाँ? सम्यग्दर्शन नहीं है तो साधुपना कहाँ है ? अभी तो व्रत-तप करे और मुझे उससे धर्म होगा, ऐसा माननेवाले हैं, वे मिथ्यादृष्टि अज्ञानी हैं। यहाँ तो पर्याय का लक्ष करने जायेगा तो राग और दुःख होगा। उस निर्मल पर्याय का लक्ष करने जायेगा तो भी विकल्प उठेगा। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! निर्मल पर्याय का आश्रय करने जायेगा वहाँ विकल्प उठेंगे। भगवान त्रिकाली वस्तु है, यह पर्याय को छूती नहीं है न ! छूती नहीं है तो फिर तुझे पर्याय के लक्ष का क्या काम है? आहा..हा...!

भगवानआत्मा परिपूर्ण अंदर है। आहा..हा...! इसका स्पर्श करनेवाली पर्याय भी द्रव्य में नहीं है। आहा..हा...! ऐसा है जैनदर्शन। वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म है। आहा..हा...! दिगंबर दर्शन में यह बात है। ऐसी बात अन्यत्र कहीं है नहीं। आहा..हा...! क्या करें ? संप्रदाय बाँधकर बैठे हैं अपना (अलग) पंथ स्थापित करने के लिये। यहाँ तो परमात्मा की यह पुकार वाणी में आयी।

संत आढ़तिया होकर जगत में जाहिर करते हैं। प्रभु ! एकबार सुन तो सही ! तेरी जो निर्मल पर्याय होती है उसे भी द्रव्य छूता नहीं है। ऐसी द्रव्य की स्थिति स्वतंत्र-भिन्न है। आहा..हा...! जिससे धर्म प्रगट हुआ। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की पर्याय भी जिसे नहीं है, अर्थात् द्रव्य में नहीं है। आहा..हा...! (द्रव्य में) नहीं है तो... आयी कहाँ से फिर, (द्रव्यमें से) आयी ऐसा कहा जाता है। परंतु हुई तो स्वतंत्र है। आहा..हा...! तीनों सत् स्वतंत्र हैं। द्रव्य सत्, गुण सत् और पर्याय सत्। अब, इसमें क्या समझना ?

घंटेभर के लिये ऐसी सब बातें। घर से पत्नी (सुनने) नहीं आयी हो तो पूछे कि क्या कह रहे थे, महाराज ? कौन जाने ? ऐसा कहते थे, ऐसा और वैसा, कुछ पकड़ में नहीं आता था। आहा..हा...! और बाहर में अन्य (लौकिक) बातें करने बैठ जाय तो बड़े चतुर और समझदार के बेटे, बैठे पाप की... ऐसी बातें करें (वहाँ

सब समझ में आता है)। आहा..हा...!

कुन्दकुन्दाचार्यदेव की गाथा की यह टीका अमृतचंद्राचार्यदेव ने की है। वर्तमानकाल में तीर्थंकर जैसा काम तो कुन्दकुन्दाचार्य ने किया और अमृतचंद्राचार्य ने उनके गणधर जैसा काम किया है। ये शब्द तो देखो, बापू ! कहीं भी सुनने को (भी) मिले ऐसा नहीं है। ऐसा सत्य का प्रवाह (है)। भगवान सत्य का प्रवाह ध्रुवरूप है। इसे अनित्य जो क्षणिक पर्याय है, वह द्रव्य को छूती (भी) नहीं है। अभी तो द्रव्य और पर्याय की (भी) खबर नहीं है। किसे कहना द्रव्य ? और किसे (कहना पर्याय) ?

द्रव्य अर्थात् पैसा ! यहाँ एक भाई बहुत साल पहले आये थे। "द्रव्यदृष्टि वह सम्यग्दृष्टि" ऐसा यहाँ पर लिखा हुआ था। (उसे पढ़कर कहने लगे) `महाराज ! यह द्रव्यदृष्टि माने करोड़पति, यहाँ बहुत आते हैं। करोड़पति माने द्रव्यदृष्टि। पैसे की दृष्टि वह सम्यग्दृष्टि।' अरे! भाई ! पैसों का यहाँ कहाँ काम है, बापू !

आहा..हा...! द्रव्य अर्थात् आत्मा। `द्रवति इति द्रव्यम्' (द्रव्य कि) जो पर्याय में द्रवित होता है। आहा..हा...! यह भी अभी अपेक्षा से बात है। आहा..हा...! वह पर्याय पर से नहीं होती। इतना बताने के लिये द्रव्य जो द्रवित होता है और पर्याय होती है इतना बताना है। अब, यहाँ तो, उससे आगे जाकर... आहा..हा...! जो निर्मल पर्याय प्रभु, आनंद की दाता पर्याय है, आहा..हा...! उसका द्रव्य दाता नहीं है। ऐसा कहा था एकबार, यह द्रव्य पर्याय का दाता नहीं। आहा..हा...!

यहाँ कहते हैं कि, द्रव्य में वह पर्याय नहीं है। इस प्रकार आत्मा पर्यायविशेष से, पर्याय के भेद के प्रकार से नहीं आलिंगित - (भेद का स्पर्श नहीं करता), ऐसा शुद्ध द्रव्य है। ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। अलिंगग्रहणमें से ऐसा अर्थ निकलता है।

विशेष कहेंगे...





प्रवचनसार। १७२ गाथा। इसका ('अलिंगग्रहण' का) १९वाँ बोल चला। अलिंगग्रहण। क्या कहा ? अलिंगग्रहण में, सूक्ष्म बात है, भाई ! सूक्ष्म (बात है)। वीतराग का कहा हुआ तत्त्व बहुत अलौकिक है।

यहाँ कहते हैं कि, जो यहाँ आत्मा है, यह देह से तो भिन्न है। देह से (एवं) कर्म से भिन्न है। परंतु अंदर पुण्य-पाप के विकल्प-राग होता है, उससे भी प्रभु ! भिन्न है। यह आत्मा स्वयं द्रव्य-वस्तु है। यह पर्याय को छूता नहीं है। आहा..हा...! क्या कहते हैं ? आहा..हा...! यह वस्तु जो अंदर चैतन्यघन द्रव्य है। (यह पर्याय को छूता नहीं है)। द्रव्य अर्थात् यह पैसा नहीं, हाँ ! द्रव्य अर्थात् यह वस्तु अंदर अनंत आनंद और अनंत ज्ञान और शांति की जिसे लहर है; ऐसा जो भगवानआत्मा - द्रव्य यह शरीर को तो छूता नहीं है, आहा..हा...! अंदर कर्म है उसे भी छूता नहीं है, आहा..हा...! परंतु यह पर्याय को छूता नहीं है। (ऐसा) कहते हैं। ऐसी बात है, बापू !

बहुत सूक्ष्म बातें हैं। आहा..हा...! तत्त्व-वस्तु जो है, अपना अस्तित्व जो ध्रुव सामान्यरूप से एक स्वस्वरूप जो है भगवानआत्मा, वह इसकी पर्याय-स्वयं को जाननेवाली पर्याय, स्व को जाननेवाली पर्याय (उसे द्रव्य छूता नहीं है)। जगत को कहाँ दरकार है ? कहाँ समय है समझने का ? आहा..हा...! वह पर्याय जो ज्ञान की पर्याय अर्थात् वर्तमान अवस्था, वह ज्ञेयस्वरूप भगवानआत्मा पूर्ण स्वरूप को जाने और श्रद्धा की पर्याय पूर्णस्वरूप की श्रद्धा करे फिर भी वह ज्ञान की पर्याय व श्रद्धा की पर्याय को द्रव्य छूता नहीं है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

साग है न ? सब्जी - लौकी, करेला (इत्यादि) (और) छुरी है न ? छुरी, वह छुरी सब्जी को छूती भी नहीं है। और सब्जी के टुकडे हो जाते हैं। यह बात किसे बैठे ? सब्जी के... आहा..हा...! क्योंकि छुरी परद्रव्य है। और सब्जी, लौकि, करेला इत्यादि पर हैं। उस पर चीज को यह छुरी छूती भी नहीं है। और छुरी सब्जी को छूती नहीं है। अरे ! ऐसी बातें। अब, यह बात तो एक तरफ रही। परंतु यह आत्मा जो अस्ति है। भगवान पूर्णानंद प्रभु ! इसकी कहाँ खबर है उसे ?

और खबर के बिना बेखबर। बेखबर अर्थात् दो खबर होगी ? बेखबर अर्थात् खबररहित, भानरहित। आहा..हा...! अंतर में भगवान अरूपी आनंदघन, सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा और देखा यह तो विज्ञानघन है, आहा..हा...! यह परमात्म स्वरूप, परमस्वरूप-भगवानस्वरूप है (सर्वज्ञ परमेश्वर तो ऐसा) कहते हैं। वह स्वरूप उसकी वर्तमान पर्याय (अर्थात्) स्वयं को जाननेवाली पर्याय को छूता नहीं है। आहा..हा...! भेदज्ञान का मार्ग अरूपी (और) अलौकिक है। बापू आहा..हा...! क्या करें ? आजकल सब कुछ बिखर गया है। संप्रदाय में यह बात है ही नहीं। अरेरे ! सत्य बात है ही नहीं।

संप्रदाय के हमारे गुरु (हीराजी महाराज) संप्रदाय की वाणी के अनुसार कहते थे कि, किसी भी प्राणी का हनन नहीं करना। स्थानकवासी संप्रदाय के हजारों मनुष्य उनका व्याख्यान सुनने के लिये आते थे। वे ऐसा कहते थे कि, भगवान की वाणी का, ज्ञानी के कथन का यह सारांश है कि किसी भी प्राणी का हनन नहीं करना। भगवान ऐसा कहते हैं कि, किसी भी प्राणी का हनन नहीं करना। यह अहिंसा है। (हीराजी महाराज) शांत शांत स्वभाव के थे।

आहा..हा...! इस (अहिंसा को) जिसने जाना उसने सब जाना, ऐसा कहते थे। परप्राणी को बिलकुल नहीं मारना वह अहिंसा। (सभी) सिद्धांत का सार है, ऐसा कहते थे। यहाँ कहते हैं कि, वे सभी बात झूठी है। आहा..हा...! यहाँ तो कहते हैं कि, पर को मारने या जिलाने में वह (पर को) छूता भी नहीं। यह जीव और शरीर जब भिन्न होते हैं उसे मरण कहते हैं। प्राण का वियोग हो उसे मरण कहते हैं।

(मरण में) आत्मा का कहाँ वियोग होता है ? आत्मा तो अंदर आत्मा है। यह जड़-मिट्टी का वियोग होता है उसे मरण कहते हैं और प्राण की रक्षा करना उसका नाम जीवों की दया कहते हैं। यहाँ कहते हैं कि, यह बात झूठी है। आत्मा पर

की रक्षा कर नहीं सकता। प्रभु ! तुझे पता नहीं है। यह पर को छू नहीं सकता। तो रक्षा करे किस तरह ?

आहा..हा...! ऐसी बातें हैं। यह तो एक तरफ रहा, परंतु अंदर में पुण्य व पाप के भाव होते हैं, वे जीवतत्त्व नहीं हैं। दया-दान-व्रत-भक्ति के भाव होते हैं, वे पुण्यतत्त्व हैं। हिंसा-झूठ-चोरी-विषय-कामभोग-कमाना-धन उपार्जन करना-धंधा आदि की जाल - ये सब पाप हैं। नव तत्त्वों में दो तत्त्व पुण्य व पाप से आत्मतत्त्व भिन्न चीज है।

आहा..हा...! वह तो भिन्न है। किन्तु यह द्रव्य जो है इसकी पर्याय जो है, सम्यक्पर्याय - दर्शन-ज्ञान और आनंद की (उस पर्याय से भी भिन्न है)। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं। बापू ! दुनिया में क्या चल रहा है, उसका सब पता है न ! वीतरागमार्ग कोई अलौकिक है। बेचारे को सुनने भी न मिले न ! आहा..हा...! अरेरे...! उसके जन्म-मरण का अंत (फिर तो) किस दिन आयेगा?!

कहते हैं कि, आत्मा, अपनी जो निर्मलपर्याय है, सम्यक्दर्शन (आदि की उसे छूता नहीं है)। वस्तु जो त्रिकाली आनंद का नाथ प्रभु ! द्रव्य-शुद्ध चैदन्यघन है; इसके सन्मुख होकर इसका आश्रय करके जो सम्यक्दर्शन होता है उस सम्यक्दर्शन की पर्याय को द्रव्य छूता नहीं है। आहा..हा...! भाई ! जिंदगी में सुना नहीं। यूँ ही (जिंदगी गुजार दी)। बापू ! क्या हो गया ? अरेरे! भगवान त्रिलोकनाथ जिनेन्द्रदेव ऐसा फरमाते हैं। प्रभु ! तू जो द्रव्यवस्तु है व तेरी पर्याय है - उसे यह द्रव्य छूता नहीं है। आहा..हा...!

क्या कहते हैं ? एक तरफ 'समयसार' की तीसरी गाथा में ऐसा कहते हैं कि, प्रत्येक द्रव्य अपने धर्म अर्थात् जो शक्ति की पर्याय (है) उसे चूमता है। चूमता है अर्थात् उसके अस्तित्व में है। ('समयसार' की) तीसरी गाथा में आया। आत्मा अपने गुण व अपनी पर्याय को चूमता है, किन्तु कर्म को व शरीर को कभी छूआ भी नहीं है। आत्मा ने (उनका) चुंबन नहीं किया। स्पर्श नहीं किया। छूआ नहीं। आत्मा कर्म को, शरीर को कभी (कदापि) छूता भी नहीं है।

आहा..हा...! यह शरीर आदि रजकण है, उसे यह आत्मा छूता भी नहीं है। अंदर में छूआ भी नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहा..हा...! छू दे तो दो चीज एक हो जाती है। कुछ समझ में आया! यहाँ तो उससे अधिक कहते हैं। त्रिलोकनाथ

जिनेन्द्रदेव ऐसा कहते हैं कि लिंग ऐसी जो पर्याय - वह निर्मलपर्याय लेना। (उसे द्रव्य छूता भी नहीं है)। कुछ समझ में आया !

आहा..हा...! यह वस्तु चीज अखंड है। प्रभु ! एक समय में चिदानंद भगवान ज्ञानघन-विज्ञानघन आत्मा जो है। द्रव्य, यह वस्तु जो है। इसकी श्रद्धा करनेवाली जो पर्याय, इसे जाननेवाली जो ज्ञान की पर्याय, उसे यह द्रव्य छूता नहीं है, स्पर्श करता नहीं है। आहा..हा...! अरेरर... किसी दिन सुनने भी न मिली हो ऐसी बात है, यह तो। आहा..हा...! लिंग अर्थात् पर्याय उसका ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध - यानी पर्यायें - ऐसे जो विशेष - वे जिसके नहीं हैं (वह अलिंगग्रहण है)।

आहा..हा...! इस द्रव्य में वह निर्मलपर्याय नहीं है। क्या कहते हैं ?! पर्याय भी है, द्रव्य भी है। दोनों का अस्तित्व है. परंतु (इस) अस्तित्व में द्रव्य जो वस्तु भगवानआत्मा यह पर्याय को छूता नहीं है, स्पर्शता नहीं है। यह पर्याय को स्पर्शता नहीं है। क्या है यह ?! पागल जैसा लगे ऐसा है। आहा..हा...! यह डोक्टर इन्जेक्शन देते हैं न ! वह इन्जेक्शन शरीर को छूता नहीं है। (ऐसा) कहते हैं। वह तो बहुत स्थूल बात रह गई। किन्तु यहाँ अंदर जो आत्मा है, आहा..हा...! अंदर विज्ञानघन आत्मा चिदानंदघन प्रभु ! "सिद्ध समान सदा पद मेरो" ऐसा जो स्वरूप। सिद्ध स्वरूप ध्रुव है। इसकी श्रद्धा करनेवाली पर्याय, इसको माननेवाली पर्याय, इसको जाननेवाली पर्याय, ऐसी जो वर्तमान अवस्था (है) उसे द्रव्य छूता नहीं है। आहा..हा...! यह १९वाँ बोल हुआ।

यह अलिंगग्रहण का १९वाँ बोल है। आहा..हा...! है ? "**पर्यायविशेष से आलिंगित न होनेवाला...**" इतना भेद हुआ। आहा..हा...! आत्मा अरूपी भगवान, वह रूपी शरीर (और) कर्म को कभी छूआ नहीं है। अज्ञानभाव में भी इसने पर को छूआ नहीं है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! यहाँ तो कहते हैं कि, ज्ञानभाव में यह वस्तु भगवान पूर्णानंद अतीन्द्रिय ज्ञान, आनंद, अतीन्द्रिय दर्शन, अनंत आनंद का कंद आत्मा है। इसे जाने वह पर्याय, जिस पर्याय ने इसकी श्रद्धा करी उस पर्याय को द्रव्य छूता नहीं है।

आहा..हा...! भाई ! कभी सुना नहीं है। मजदूरी कर करके मर गये सब। मजदूर (हैं) सब, हाँ ! ये सब बड़े बड़े (सेठ) मजदूर (हैं)। हमें तो ऐसा लगता (है) गुलामी,

गुलामी (करते हैं)। बात तो ऐसी है। बापू ! अरेरे ! मजदूर तो अच्छे। मजदूर तो ८ से १२ चार घंटा काम करते हैं। और दोपहर २ से ६ चार घंटा (काम करते हैं)। ये तो सुबह ६ से रात के १० बजे तक (मजदूरी करते हैं)। यही की यही उठाधरी-पाप की उठाधरी (करते हैं)। बड़ा मजदूर है।

यहाँ तो, परमात्मा ऐसा फरमाते हैं। त्रिलोकनाथ जिनेन्द्रदेव ने दिव्यध्वनि के द्वारा जो कहा इसका यह (सार)-प्रवचनसार है। प्र(अर्थात्) विशेष, वचन-दिव्यध्वनि का यह सार है। आहा..हा...! भगवान एकबार सुन तो सही ! आहा..हा...! भगवान कहकर बुलाते हैं। आत्मा को भगवान कहकर बुलाते हैं, प्रभु कहकर बुलाते हैं। आहा..हा...! तेरा भगवान दिव्यगुण सहित (विराजमान है)। शुद्ध चिद्घन आनंद यह द्रव्य है, वस्तु है, तत्त्व है, महासत्ता है।

इसकी वर्तमान एक समय की पर्याय की सत्ता इसे (अन्य) कोई महासत्ता छूती नहीं है। ऐसी बात कही सुनने मिले ऐसी नहीं है। कहीं भी न मिले न ! आहा..हा...! आजकल तो भाई व्रत का पालन करो और उपवास करो और भक्ति करो। आहा..हा...! बापू ! यह मार्ग अलग है, भाई ! जन्म-मरण के - परिभ्रमण के फेरे मिटाने का रास्ता कोई अलौकिक है।

यहाँ तो प्रभु कहते हैं, आहा..हा...! जिस पर्याय ने द्रव्य के प्रति झुककर द्रव्य की श्रद्धा करी (वह पर्याय द्रव्य को छूती नहीं है)। आहा..हा...! पर्याय समझते हैं? वर्तमान अवस्था-वर्तमान हालत-वर्तमान दशा - वह आत्मा की वर्तमान पर्यायरूप दशा। आहा..हा...! यह वस्तु जो त्रिकाली है इसका आश्रय करके, इसके सन्मुख होकर सम्यग्दर्शन किया। वह धर्म की प्रथम श्रेणी में सम्यग्दर्शन हुआ। उस पर्याय को द्रव्य छूता नहीं है। आहा..हा...! क्योंकि पर्याय में द्रव्य आता नहीं है।

क्या कहा वह ? यह तो भगवान का लोजिकमार्ग - (न्यायमार्ग) अलग तरह का है। सम्यग्दर्शन अर्थात् सच्ची सत्दृष्टि। त्रिकाली ध्रुव आनंद का नाथ प्रभु ! इसके सन्मुख होकर ज्ञान के अनुभव में इसकी प्रतीति करना, आहा..हा...! उसका नाम सम्यग्दर्शन। धर्म की प्रथम सीढ़ी। मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी। छहढाला में आता है। वह सम्यग्दर्शन की पर्याय (कि) (जिसने) भगवानआत्मा-निर्विकल्प स्वरूप आत्मा की प्रतीति उसने करी। अनंतकाल में हुई नहीं थी ऐसी प्रतीति करी। अनंतकाल में इसकी

ज्ञान की पर्याय ने प्रतीति करी (नहीं थी)। ज्ञेय अधिकार है न ? कौन सा अधिकार है ?! ज्ञेय अधिकार। (वह प्रतीति करी)।

ज्ञान की पर्याय में, पूरा ज्ञेयतत्त्व कभी भी आया नहीं था। (अर्थात्) ज्ञान में ज्ञात हुआ नहीं था। **इसको जिसने ज्ञान की पर्याय में, ज्ञेय वस्तु (जो) सम्यक्दर्शन का विषय (है) इसे जाना। ज्ञेयतत्त्व अधिकार है यह।** प्रवचनसार का दूसरा भाग है। आहा..हा...! यह वस्तु जो है, अनंत चैतन्य रत्नाकर का समुद्र भगवान है। आहा..हा...! यह जो भगवानआत्मा का ज्ञान की पर्याय में जिसने ज्ञान किया, उस पर्याय में इसका ज्ञान हुआ किन्तु उस पर्याय में यह ज्ञेय आया नहीं। ऐसी बातें हैं। उस पर्याय में ज्ञेय वस्तु-अखंड पूर्णानंद सच्चिदानंद आत्मा है, इसका ज्ञान किया, निर्विकल्प ज्ञान किया। राग के अभाव स्वभावरूप पूरे चैतन्य तत्त्व को जिसने सम्यग्दर्शन-ज्ञान में जाना, फिर भी, उस पर्याय में यह द्रव्य आता नहीं है। पर्याय इस द्रव्य में आती नहीं है। - यह बाद में कहेंगे।

आहा..हा...! यह क्या ? किस प्रकार का उपदेश ? वे तो कहते हैं, व्रत का पालन करो और व्रत रखो और भक्ति करो और उपवास करो। अरे भगवान ! सुन तो सही बापू ! वे तो सब विकल्प और राग की क्रिया की बातें हैं। आहा..हा...! यहाँ तो, परमात्मा का स्वरूप, जो अंदर अखंड पूर्णघन वस्तु-इसकी जो प्रतीति और ज्ञान (किया), निर्विकल्परूप से इसके आश्रयपूर्वक दृष्टि करी, उस पर्याय को भी (द्रव्य छूता नहीं है)। उस ज्ञान की पर्याय में पूरी ज्ञेयवस्तु को जाने परंतु उस ज्ञान की पर्याय में ज्ञेयवस्तु-द्रव्य है, यह नहीं आती। उसी प्रकार यह ज्ञेयद्रव्य है, यह ज्ञान की पर्याय का स्पर्श नहीं करता। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं ये।

अनजाने (अनभिज्ञ) मनुष्य को तो यह (सब) पागल जैसा लगे ऐसा है। क्या बात करते हैं यह ? भगवान ! एकबार सुन तो सही, भाई ! जिनेन्द्रदेव भगवान त्रिलोकनाथ परमेश्वर की वाणी में यह आहा है। आहा..हा...! वह यह प्रवचनसार है। आहा..हा...! यहाँ पर कहते हैं, लिंग ऐसी जो पर्याय, उसका जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध, अर्थावबोध तो एक शब्द लिया है। पदार्थ का बोधविशेष (उसमें) अनंतगुणों (का परिणमन लेना) है।

पूरे द्रव्य के अनंतगुणों की जो पर्याय है। ऐसी जो पर्यायविशेष, जिसे नहीं है।

आहा..हा...! आत्मा में वह पर्याय नहीं है। धर्मी ऐसा भगवानआत्मा को पर्याय में अर्थात् धर्मदशा में प्रगट जाना। सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र यह धर्मपर्याय है। यह वीतरागीपर्याय है। उस पर्याय में द्रव्य जानने में आया, श्रद्धान करने में आया और इसमें स्थिर हुआ, किन्तु इन तीनों पर्याय को, ये तीन पर्याय अवस्था है, उन्हें द्रव्य छूता नहीं है।

आहा..हा...! क्या कहते हैं यह ? यह तो उथल-पुथल मचानेवाली बातें हैं, बापू ! आहा..हा...! भगवान त्रिलोकनाथ की दिव्यध्वनि की यह आवाज है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? भाई ! यह तो जितना डालो उतना निकले ऐसी सब चीज है। २० बोल तो ऐसे हैं कि, दिगंबर संतों ने भगवान केवली के पेट खोले हैं। आहा..हा...! ऐसी बात अन्यत्र कहीं, किसी में भी नहीं है। उसमें (दिगंबर में) जन्म लिया है उसे भी खबर नहीं है कि, क्या द्रव्य और क्या पर्याय और क्या यह ?

आहा..हा...! कुछ समझ में आया ! ऐसा कहते हैं कि, अर्थावबोध माने पदार्थ की विशेष दशा, वह (दशा) आत्मा में नहीं है। वह अलिंगग्रहण है। "**इसप्रकार आत्मा पर्यायविशेष से आलिंगित न होनेवाला ऐसा शुद्ध द्रव्य है।**" इसकी दशा (जो) निर्मल हैं उनका आत्मा स्पर्श नहीं करता, आलिंगन नहीं करता, इसकी पर्याय को यह द्रव्य छूता नहीं है, उस पर्याय को यह द्रव्य चूमता नहीं है। आहा..हा...! निर्मलपर्याय को द्रव्य छूता नहीं है। आहा..हा...! क्या कहते हैं यह?! कुछ समझ में आया !

यह तो भगवान की वाणी है। उसे दिगंबर संत- अंतर आनंद के अनुभवी - आनंद के वेदन में पड़े हैं (वे आढ़तिया होकर जगत के सामने जाहिर करते हैं)। एक विकल्प उठा और इन शास्त्रों की रचना हो गई है। कुछ समझ में आया ! आहा..हा...! (पर्यायविशेष से) नहीं आलिंगित ऐसा शुद्ध द्रव्य है। ऐसा भगवान शुद्ध द्रव्य है। आहा..हा...! जो सम्यक्दर्शन का विषय है, जो सम्यक्ज्ञान शुद्ध निश्चय पर्याय का विषय है, ऐसा शुद्ध द्रव्य है; यह पर्याय को छूता नहीं है। आहा..हा...! यह बात हो चुकी है। आधा घंटा आज (बोल) चला। कल (आधा) हो चुका है।

अब, २०वाँ बोल। अंतिम है। एक अलिंगग्रहण (शब्द के) ६ अक्षर हैं। उसके २० अर्थ निकाले। अमृतचंद्राचार्य दिगंबर संत, हजार वर्ष पूर्व हुए। उससे पूर्व दो हजार वर्ष पहले भगवान कुन्दकुन्दाचार्य हुए। उनका (लिखा हुआ) श्लोक है। और

उसकी टीका अमृतचंद्राचार्य ने करी। उस अलिंगग्रहणमें से २० अर्थ निकाले। हम २०वाँ बोल अब शुरू करें। १९ चले हैं। यह (अलिंगग्रहण) चौदह दिन से चल रहा है। २० बोल चौदह दिन से चल रहे हैं।

आहा..हा...! बीच में तो बहुत सूक्ष्म अधिकार आ गया। भाई ! मार्ग ऐसा सूक्ष्म, बापू ! २०वें बोल यहाँ कहते हैं, "**लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण...**" भाषा भी (ऐसी) कभी कान में न पड़ी हो ऐसी है। संसार के चतुर। संसार के होशियार(लोग), संसार में गहराई में जानेवाले (हैं), भाई! यहाँ तो आत्मा में चतुर होवे उनकी बात है यह। आहा..हा...! क्या करें ?

कहते हैं कि, `लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण' (प्रत्यभिज्ञान) अर्थात् यह कल था वह आज है। आज था वह (आनेवाले) कल में है ऐसा। उदाहरण के तौर पर एक मनुष्य को देखा। `मैंने कल देखा था वही यह।' वैसे यह आत्मा (जो) कल था वह (आज) अभी है। यह प्रत्यभिज्ञान का कारण। अर्थात् है सो है। जो कल (था) वह अभी है। ध्रुव (है)। आहा..हा...! कुछ समझ में आया !

प्रत्यभिज्ञान अर्थात् लघुजैन सिद्धांतप्रवेशिका में आता है। जैन सिद्धांतप्रवेशिका है न गोपालदास बरैया (द्वारा रचित), उसमें यह स्पष्टीकरण आता है। यहाँ तो, अध्यात्म में प्रत्यभिज्ञान अर्थात् यह आत्मा कल था वह आज है और आज है वह कल रहेगा। उस प्रकार अनंतकाल रहेगा। आहा..हा...! "**लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य जिसके नहीं है वह अलिंगग्रहण है।**" गजब बात है !!

अर्थ माने पदार्थ सामान्य। त्रिकाली द्रव्य भगवान त्रिकाली द्रव्य। आहा..हा...! है ? वह जिसे नहीं है। वह त्रिकाली द्रव्य आत्मा में नहीं है। क्या कहते हैं, यह ? सुनो इसका स्पष्टीकरण... धीरे धीरे अब आयेगा। यह कोई कथा-वार्ता नहीं है। यह तो भागवत कथा (है)। आत्मा के भगवत् स्वरूप की कथा है। आहा..हा...! कहते हैं कि, "**लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण...**" अर्थात् यह (जो) था वह यह है। कल था वह यह है ऐसा जो त्रिकाली ध्रुव, त्रिकाली सामान्य; एक समय की पर्याय के बिना का त्रिकाली सामान्य - एक समय की वर्तमान दशा से रहित त्रिकाली सामान्य, आहा..हा...! "**ऐसा जो ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य जिसके नहीं है वह**

अलिंगग्रहण है।" आत्मा में वह द्रव्य नहीं है। किस अपेक्षा से यह बात है इसका ध्यान रखना। आहा..हा...! "**अर्थावबोध सामान्य जिसके नहीं है वह अलिंगग्रहण है।**"

यहाँ क्या कहना है ? सामान्य जो ध्रुव है। इसका भाव हुआ, सम्यक्दर्शन-ज्ञान हुआ, शांति और आनंद का वेदन हुआ। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? सम्यग्दर्शन होने से अतीन्द्रिय आनंद का वेदन हुआ। सम्यग्दर्शन होने पर अनंतगुण आंशिक रूप से व्यक्त हुए, प्रगट हुए, जो 'सर्व गुणांश वह समकित'। सभी गुणों का अंश प्रगट हुआ। इसको (ध्रुव को) प्रतीति में लिया और इसको ज्ञान में लिया उसका नाम सम्यग्दर्शन। ऐसी जिस सम्यग्दर्शन की पर्याय में आनंद का वेदन आया वह आनंद का वेदन आत्मा का स्पर्श नहीं करता। पहले ऐसा आया था न कि, द्रव्य पर्याय का स्पर्श नहीं करता। तब फिर यहाँ पर्याय द्रव्य का स्पर्श नहीं करती। सूक्ष्म बात है, भाई! क्या कहते हैं ? आहा..हा...!

भगवान शुद्ध चैतन्य वस्तु है। 'जिन सो ही आत्मा' यह आ चुका न ? समयसार नाटक में आता है। 'घट घट अंतर जिन बसे ने घट घट अंतर जैन, मत मदिरा के पानसो, मतवाला सुमुझै न।' घट घट अंतर जिन बसे (अर्थात्) भगवान पूर्णानंद का नाथ प्रभु ! जिन स्वरूप ही यह बिराजमान है। आहा..हा...! शक्तिरूप से हाँ ! शक्ति-स्वभावरूप से जिन स्वरूप भगवानआत्मा है। आहा..हा...! 'घट घट अंतर जिन बसे ने घट घट अंतर जैन।' जैन(त्व) कोई बाहर के क्रियाकांड में नहीं है। आहा..हा...! वह राग की एकता तोड़कर स्वभाव की एकता होना, आनंद का अनुभव होना उसका नाम जैन कहने में आता है। कुछ समझ में आया !

अब, यहाँ पर ऐसा कहते हैं कि, जो प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा जो ग्रहण अर्थात् त्रिकाली द्रव्य जिसे नहीं है। वेदन में नहीं है ऐसा कहते हैं। वेदन में तो पर्याय है। आहा..हा...! सूक्ष्म बात है, भाई ! भगवान तेरी लीला अलौकिक है। वे कहते हैं, ईश्वर की लीला अलौकिक है। ईश्वर या कोई कर्ता-हर्ता है नहीं। यहाँ तो आत्मा की लीला की बातें करते हैं। यहां तो प्रभु कहते हैं कि, यह आत्मा जो द्रव्य शुद्ध चैतन्यघन, इसकी श्रद्धा-ज्ञान और वेदन आया। चारित्र में आनंद का वेदन है। सम्यक्दर्शन में अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव है। सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र

में स्वसंवेदन की उग्र दशा है। आहा..हा...! वह पर्याय है। तो यहाँ कहते हैं कि, पर्याय में जो वेदन है, वह पर्याय द्रव्य का स्पर्श नहीं करती। यह तो पहले आया था कि द्रव्य पर्याय का स्पर्श नहीं करता, अब ऐसा कहते हैं (पर्याय द्रव्य का स्पर्श नहीं करती)। आहा..हा...! शांति से (समझना) बापू ! यह तो वीतरागमार्ग है। भाई ! तीनलोक के नाथ जिनेन्द्रदेव, उनकी कही हुई बात अन्य किसी जगह है नहीं। उनके मार्ग के अलावा अन्यत्र कहीं मार्ग है ही नहीं।

आहा..हा...! और उनका मार्ग क्या है ? उसकी खबर उसके संप्रदाय में जन्म लेनेवालों को है नहीं। आहा..हा...! यहाँ कहते हैं, लिंग अर्थात अर्थावबोध प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा जो द्रव्य जिसे नहीं है। अर्थात् वेदन में तो द्रव्य आता नहीं है। (ऐसा) कहते हैं। वेदन में तो पर्याय आती है। अतीन्द्रियआनंद, अतीन्द्रियज्ञान, अतीन्द्रियशांति, स्वच्छता, ईश्वरता, प्रभुता, ऐसे अनंतगुण की वर्तमान प्रगट पर्याय, वह पर्याय वेदन में आती है। वह वेदन में आती है वह पर्याय सो आत्मा।

अपनी शुद्ध पर्याय का वेदन करता है वह (पर्याय) द्रव्य को छूती नहीं है। ऐसा सूक्ष्म है, भाई ! मार्ग (ऐसा है)। क्या करें ? आहा..हा...! क्या कहा, सुना ? फिर से, लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारण, ग्रहण अर्थात् त्रिकाली वस्तु - त्रिकाली ध्रुव सामान्य वस्तु। जो वर्तमान पर्यायरहित की वस्तु। आहा..हा...! अभी तो पर्याय क्या ? और द्रव्य क्या ? ये सब थोथे सरीखे समझते नहीं हैं और कुछ भान भी नहीं है।

यह तो बापू, अनोखी बातें हैं। क्या करें ? भगवान बनने की बातें हैं, भगवान ! उसमें भी यहाँ तो कहते हैं कि, भगवान पूर्ण स्वरूप है। उसे जो वेदन में आया वह, सामान्य वेदन में नहीं आता। आहा..हा...! ध्रुव जो चीज है - नित्यानंद प्रभु ! यह ध्रुव है। यह वेदन में नहीं आता। वेदन में तो पर्याय आती है। आहा..हा...! क्या कहते हैं यह ? अहोहो... सर्वज्ञ परमेश्वर के कहे हुए मार्ग को संत, दिगंबर मुनिजन आढ़तिया बनकर जगत को माल बेच रहे हैं।

एकबार सुन तो सही प्रभु ! यह जो आत्मा है इसमें द्रव्य व पर्याय दो हैं। द्रव्य जो है यह त्रिकाल है और पर्याय जो है वह वर्तमान है। आत्मा वर्तमान पर्याय का वेदन करता है वह (पर्याय) द्रव्य को छूती नहीं है। यह सारी भाषा अलग तरह

की। यह बहीखातों में कहीं आनेवाला नहीं है। यह तो निहाल हो जाने की बातें हैं, बापू, हाँ ! सच्चे अर्थ में निहाल, हाँ ! यह झूठे निहाल नहीं। क्या कहते हैं? फिर से कहते हैं। हम बात को एकदम छोड़ नहीं देते।

यह आत्मा है, इसके दो भाग। एक त्रिकाली द्रव्य ध्रुव और (दूसरा) वर्तमान पर्याय। ये दोनों मिलकर पूरा द्रव्य (जो) प्रमाण का विषय (है)। पर के साथ तो कहीं भी संबंध नहीं है। पर तो पर में है। अब, जो त्रिकाली द्रव्य है - जो वस्तु, इसका जो वेदन हुआ, इसको जानने से, श्रद्धान करने से, इसमें जमने से, इसमें चारित्र आदि के कारण वेदन में जो आनंद आया उस आनंद का वेदन पर्याय में है। उस आनंद के वेदन में द्रव्य नहीं आता। आहा..हा...! ऐसी भाषा। इसके सन्मुख होनेवाली... ज्ञान की पर्याय में, सम्यग्दर्शन में हाँ ! शास्त्र इत्यादि पढ़े वह ज्ञान नहीं है।

ज्ञान तो (इसे कहते हैं कि जो) भगवान चैतन्यमूर्ति का प्रकाश, नित्यज्ञान, ध्रुव इसका जो अंतर्मुख होकर ज्ञान हुआ उसे यहाँ सम्यक्ज्ञान की पर्याय कही जाती है। उस ज्ञान की पर्याय में वेदन है। आनंत व शांति की पर्याय का वेदन है। उस पर्याय के वेदन में द्रव्य नहीं आता। ध्रुव वेदन में नहीं आता। पर्याय के वेदन में द्रव्य नहीं आता। पर्याय का वेदन द्रव्य को नहीं छूता। आहा..हा...!

१९वें (बोल) में ऐसा था न कि, द्रव्य पर्याय को नहीं छूता। निर्मल आनंद के वेदन की (पर्याय को नहीं छूता) हाँ ! सम्यक्दर्शन, ज्ञान (के साथ) अतीन्द्रिय आनंद का वेदन है। अतीन्द्रिय आनंद के वेदन को धर्म कहते हैं। आहा..हा...! वह धर्म माने पर्याय, उस पर्याय को द्रव्य छूता नहीं है। यहाँ तो ऐसा कहते हैं। पर्याय के वेदन में द्रव्य आता नहीं है। आहा..हा...! समझ में आये ऐसा है। समझ में न आ सके ऐसा नहीं है। भाई ! भगवान का मार्ग न्याययुक्त है। न्याय... न्याय 'नी' धातु है। जैसा वस्तु स्वरूप है, इसके प्रति ज्ञान ले जाना, उसका नाम न्याय। भगवान न्याय से कहते हैं।

आहा..हा... आहा..हा... प्रभु ! जो आत्मा है, आहा..हा...! उन (अनंत) गुण को सम्यक्दर्शन-ज्ञान में जाने, श्रद्धान करे, और इसमें जो अनंतगुण की अवस्था, व्यक्त अवस्था का वेदन हुआ वह वेदन सो आत्मा। वह वेदन द्रव्य को छूता नहीं है। अतः वेदन सो आत्मा। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं। आहा..हा...! आत्मा को हरि कहा

जाता है। सुना है ? पंचाध्यायी में रागद्वेष को, अज्ञान को हर ले सो हरि। पंचाध्यायी में है। लोग (जिसे) हरि कहते हैं वह यहाँ नहीं है ! यह तो, अखंड आनंद का नाथ प्रभु ! ध्रुव, अनंतगुण का पिंड है। आत्मा शुद्ध ज्ञानघन अनंत आनंद का कंद (है)। आहा..हा...! इसकी दृष्टि होने पर यह आत्मा राग एवं अज्ञान का नाश करता है। अतः इस आत्मा को हरि कहने में आता है।

हर तो शिव को भी कहा जाता है। परंतु यह तो प्रभु अंदर (जो है), आहा..हा...! जिस में अनंत गुण की राशि का ढ़ेर पड़ा है। आकाश के (अनंत) प्रदेश हैं। अनंत आकाश के प्रदेश अनंत हैं न ! यह लोक और अलोक मिलकर आकाश के प्रदेश (अनंत हैं)। अंत बिना का... अंतरहित आकाश है। उसके जितने प्रदेश हैं, उसमें एक रजकण (जितनी जगह) रोके उसे प्रदेश कहते हैं। उसके अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... चारों ओर अनंत (प्रदेश) हैं। उससे अनंतगुने गुण एक जीव में हैं। आहा..हा...! इतनी बड़ी संख्या !! बापू, क्या करें ?

प्रभु (ने) आत्मा में तो इतने अनंतगुण कहे हैं, परंतु प्रभु ने, परमाणु में भी अनंतगुण (कहे हैं)। आकाश के प्रदेश से अनंतगुने गुण एक जड़ परमाणु में कहे हैं। जड़ के गुण, हाँ ! आहा..हा...! जितने गुण आकाश में उतनी संख्या में गुण एक आत्मा में हैं। और उतनी ही संख्या में गुण एक परमाणु में हैं।

आहा..हा...! ऐसे जो त्रिकाली गुण और (ऐसा) त्रिकाली द्रव्य, इसका अनुभव होने पर वेदन में शांति और आनंद का वेदन आता है, उस पर्याय का वेदन सो आत्मा, मुझे तो वेदन में आया वह मैं। ध्रुव तो वेदन में आता नहीं है। कुछ समझ में आया ! सूक्ष्म बातें, बापू ! प्रभु भगवान ! तू इतना बड़ा है, इसकी तुझे खबर नहीं है।

आहा..हा...! यह धूल (अर्थात्) पाँच-पचास लाख, करोड़, दो करोड़ मिले उतने में जैसे बड़ा हो जाता है। और कुछ पुण्य करे दया-दान और व्रत, उतने में महान हो गया। वह तो सब विकार है। आहा..हा...! अनंतगुण का नाथ प्रभु ! अंदर चिदानंद का नाथ आत्मा, जिन स्वरूप बिराजमान (है)। सम्यक्दर्शन में... इसके जिनस्वरूप का ज्ञान और वेदन किया। आहा..हा...!

मुनि को स्वसंवेदन-अतीन्द्रिय आनंद की उग्र दशा होती है। सच्चे संत जिसे

कहते हैं (उन्हें प्रचुर स्वसंवेदन होता है)। कुछ समझ में आया ! आता है न ! ('समयसार') पाँचवीं गाथा में। प्रचुर स्वसंवेदन। कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, मुझे प्रचुर स्वसंवेदन है। इससे मैं यह समयसार कहूँगा। आनंद की उग्रता का मुझे वेदन है। आहा..हा...! वह मेरा वैभव है। अपने वैभव से मैं समयसार कहूँगा। वह वैभव यह (बाह्य) धूल का ? आपलोग क्या कहते हो ? घरगृहस्थी का सामान - फर्निचर - पाँच-पाँच लाख के और दस-दस लाख के फर्निचर और यूँ (अंतर में) होली जल रही हो। धूल के बराबर भी नहीं है तेरा फर्निचर, सुन तो सही।

इसे (जीव को) इनमें से (बाह्य वैभवमें से) निकलना कठिन पड़ जायेगा। यहाँ प्रभु कहते हैं कि, रागमें से निकलना इसे अनंतकाल से कठिन पड़ता है।

राग-दया-दान-व्रत-भक्ति का विकल्प भी राग है। उस राग से भगवान अंदर भिन्न है। आहा..हा...! क्योंकि राग (है) वह पुण्यतत्त्व है। भगवानआत्मा ज्ञायकतत्त्व है। यह ज्ञायकतत्त्व है इसमें पुण्यतत्त्व का अभाव है। ऐसे आत्मा को जिसने जाना, इसका जिसने अनुभव किया इसे पर्याय में अनंत आनंद इत्यादि आया तो कहते हैं कि, वह (जो) पर्याय है - वह आत्मा है। क्योंकि पर्याय ध्रुव को छूती नहीं है। वेदन ध्रुव को छूता नहीं है। ध्रुव में वेदन आता नहीं है।

यह तो कैसी बात है ? ऐसी तो कैसी बात ? ये तो पूरे दिन बेचारे व्रत करो और उपवास करो और मंदिर बनाओ और भक्ति करो। सारी बातें, बापू ! यह तो पर की क्रिया है। और उसमें तुझे (शुभ)भाव आता है तो (वह तो) राग है, विकल्प है, पुण्य है, वह धर्म नहीं।

परंतु यहाँ तो कहते हैं कि, आत्मा का-पूर्णानंद के नाथ का आश्रय और अवलंबन लेकर जिसे सम्यक्दर्शन-ज्ञान और धर्म की निर्मल-वीतरागी पर्याय प्रगट हुई वह पर्याय द्रव्य को छूती नहीं है। १९वें (बोल में) ऐसा कहा कि, द्रव्य पर्याय को छूता नहीं है। आहा..हा...! अब इन सारी उपाधियों में यह बात कहाँ से बैठे ? आहा..हा...!

यहाँ पर तो, सच्चे संत जिनको सच्ची सम्यक्दर्शन की दशा (प्रगट हुई) उस दशा को भी द्रव्य छूता नहीं है। वह दशा द्रव्य को छूती नहीं है। ऐसी दो भिन्न भिन्न सत्ता का स्वीकार करना है। कुछ समझ में आया ? इस समय... राग के वेदन का प्रश्न नहीं है। कुछ समझ में आया ? राग तो उसकी पर्याय में भी

नहीं है। धर्मी को सम्यक्दर्शन में शुद्ध चैतन्य भगवान के आनंद का वेदन है। आहा..हा...! राग है वह तो पृथक् रहता है। परंतु यहाँ सम्यग्दर्शन में पूर्ण परमात्म जिनस्वरूप प्रभु है, ऐसा जानने में आया, उसका वेदन आया। जिनस्वरूप वीतराग है इसलिये ही पर्याय में वीतरागता की पर्याय का वेदन आया। आहा..हा...! वह कहते हैं।

उस वेदन में सामान्य जो उसे नहीं है। उस वेदन में सामान्य नहीं है। आहा..हा...! ऐसी क्या बातें ! अरेरे ! उसने अनंतकाल में दरकार करी नहीं है। बाहर में ही बाहर में नौवीं ग्रैवेयक अनंतबार गया। द्रव्यलिंग धारण करके, पंचमहाव्रत, पाँच समिति, गुप्ति (का पालन किया)। व्यवहार इतना स्वच्छ कि शुक्ललेश्या (पर्यंत का)। ऐसा व्यवहार अनंतबार किया। परंतु बापू ! उसके भव का अंत नहीं आया।

"मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रैवेयक उपजायो, पर आत्मज्ञान बिन लेश सुख न पायो।" जिसने आत्मा का ज्ञान (किया)। वस्तु जो है, चिदानंद प्रभु का ज्ञान, इसकी श्रद्धा, इसमें स्थिरता, इसके आनंद का वेदन, वह पर्याय द्रव्य को छूती नहीं है। उस पर्याय में द्रव्य नहीं है। द्रव्य में पर्याय नहीं है। अब, ऐसी बातें कहते हैं। है ? यह "**...अर्थावबोध सामान्य जिसके नहीं है...**" वेदन में सामान्य नहीं है।

आहा..हा...! वेदन की पर्याय द्रव्य को छूती नहीं है। आहा..हा...! इसलिये "**...इसप्रकार आत्मा द्रव्य से नहीं आलिंगित...**" आहा..हा...! भगवानआत्मा द्रव्य को छूता नहीं है, स्पर्शता नहीं है... वेदन स्पर्श किये बिना वेदता (वेदन करता) है। ऐसी बातें हैं। है कि नहीं अंदर ? पाठ है कि नहीं ? अंदर देखो न ! बापू ! भाई ! भगवान तेरी ऋद्धि (चमत्कारिक है)। आहा..हा...! वस्तु है। यह तो द्रव्य रूप में (तो) कर्ता है। इसकी पर्याय, द्रव्य को छूती नहीं है। एक समय की दशा में द्रव्य आता नहीं है। और वेदन में भी द्रव्य आता नहीं है।

आत्मा (अर्थात्) यहाँ तो शुद्ध वेदन की पर्याय यह आत्मा है। अरे ! क्या कहा ? यह निश्चय है इसलिये ! है आश्रय द्रव्य का, परंतु अपना वेदन हुआ वह निश्चय है। आहा..हा...! परंतु निश्चय है न ! सूक्ष्म बात है भाई ! कुन्दकुन्दाचार्य ने अमृतचंद्राचार्य ने गज़ब काम किये हैं। आहा..हा...! वीतराग सर्वज्ञ का मार्ग खुल्ला कर दिया है।

अरेरे... जिसे सुनने को भी न मिले वह कहाँ जाय ? क्या करेंगे ? यहाँ तो प्रभु कहते हैं। आहा..हा...! इस प्रकार "**जिसके नहीं है**" (अर्थावबोध सामान्य वह) कहा।

समझ में आया ? जिसके नहीं है अर्थात् द्रव्य में नहीं है। द्रव्य में वेदन नहीं है। द्रव्य का वेदन नहीं है। आहा..हा...! परंतु द्रव्य है यह ध्रुव है। इसका वेदन नहीं होता। वेदन तो पर्याय का होता है। मोक्षमार्ग पर्याय है। मोक्षमार्ग द्रव्य नहीं है। आहा..हा...! सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। वह पर्याय है। परंतु किसकी श्रद्धा और ज्ञान पर्याय (है) ? तो कहते हैं कि, त्रिकाली की श्रद्धा, ज्ञान और रमणता होने पर भी उस मोक्षमार्ग की पर्याय में द्रव्य आता नहीं है। आहा..हा...!

विशेषदशा में सामान्य नहीं आता। १९वें (बोल में) सामान्य में विशेष आता नहीं है। (ऐसा कहा)। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? ऐसी बातें हैं। निश्चय... निश्चय... करके लोग उड़ा देते हैं। परंतु निश्चय यह वस्तु ही इस प्रकार है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! यहाँ तो कहते हैं कि, मुझे आनंद का जो वेदन आया उसे हम आत्मा कहते हैं - यह आत्मा। उस आत्मा का (अर्थात् पर्याय का) वेदन है। द्रव्य का वेदन नहीं है। वेदन में आत्मा और द्रव्य नहीं है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? पर्याय द्रव्य को छूती नहीं है। पहले ऐसा कहा कि, द्रव्य पर्याय को छूता नहीं है।

आहा..हा...! यहाँ तो वेदन में जो पर्याय आयी (अर्थात्) सम्यक्दर्शन-सम्यक्ज्ञान होने पर जो आनंद का वेदन आया उसमें अनंत गुण का (अर्थात्) - संख्या से शक्ति जितनी अनंत है - उन सब का एक एक अंश सम्यग्दर्शन में प्रगट हुआ। ज्ञानादि जितने गुण हैं उनका एक एक अंश सम्यग्दर्शन होने पर प्रगट हुआ। 'सर्वगुणांश वह समकित' आहा..हा...!

'सर्वगुणांश है वह समकित' वह द्रव्य को छूता नहीं है। ऐसी बातें हैं। कुछ समझ में आया! ऐसी लीला है इसकी, क्या करें ? बापू ! मार्ग तो यह है। लोगों ने यह गड़बड़ तो कर डाली। (लेकिन) इसमें गड़बड़ हो सके ऐसा है ही नहीं। **"आत्मा द्रव्य से नहीं आलिंगित ऐसी शुद्ध पर्याय है।"** आत्मा द्रव्य का स्पर्श नहीं करता, आहा..हा...! ऐसी शुद्ध पर्याय है। राग की यहाँ बात ही नहीं है।

राग तो विकृत अवस्था (है)। व्यवहार रत्नत्रय है वह तो विकृत अवस्था (है)। यहाँ तो, त्रिकाली भगवान के आश्रय से जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई ऐसी शुद्ध पर्याय सो आत्मा है। विशेष कहेंगे...

(अब टीकाकार श्री अमृतचंद्राचार्यदेव परिशिष्टरूप से कुछ कहते हैं :)

'यह आत्मा कौन है (कैसा है) और कैसे प्राप्त किया जाता है' ऐसा प्रश्न किया जाय तो इसका उत्तर (पहले ही) कहा जा चुका है और (यहाँ) पुनः कहते हैं :-

प्रथम तो, आत्मा वास्तव में चैतन्यसामान्य से व्याप्त अनंत धर्मों का अधिष्ठाता (स्वामी) एक द्रव्य है, क्योंकि अनंत धर्मों में व्याप्त होनेवाले जो अनन्त नय हैं उनमें व्याप्त होनेवाला जो एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण है, उस प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से (वह आत्मद्रव्य) प्रमेय होता है (ज्ञात होता है)।

वह आत्मद्रव्य द्रव्यनय से, पटमात्र की भाँति, चिन्मात्र है (अर्थात् आत्मा द्रव्यनय से चैतन्यमात्र है, जैसे वस्त्र वस्त्रमात्र है तदनुसार)। १।

आत्मद्रव्य पर्यायनय से, तंतुमात्र की भाँति, दर्शनज्ञानादिमात्र है (अर्थात् आत्मा पर्यायनय से दर्शनज्ञानचारित्रादिमात्र है, जैसे वस्त्र तंतुमात्र है)। २।

आत्मद्रव्य अस्तित्वनय से स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला है; - लोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित, संधानदशा में रहे हुए और लक्ष्योन्मुख बाण की भाँति। (जैसे कोई बाण स्वद्रव्य से लोहमय है, स्वक्षेत्र से डोरी और धनुष के मध्य में स्थित है, स्वकाल से संधान-दशा में है, अर्थात् धनुष पर चढ़ाकर खेचीं हुई दशा में है, और स्वभाव से लक्ष्योन्मुख है अर्थात् निशान की ओर है, उसी प्रकार आत्मा अस्तित्वनय से स्वचतुष्टय से अस्तित्ववाला है)। ३।

आत्मद्रव्य नास्तित्वनय से परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्ववाला है; अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधानदशा में न रहे हुए और अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले के बाण की भाँति। (जैसे पहले का बाण अन्य बाण के द्रव्य की अपेक्षा से अलोहमय है, अन्य बाण के क्षेत्र की अपेक्षा से डोरी और धनुष के मध्य में स्थित नहीं है, अन्य बाण के काल की अपेक्षा से संधानदशा में नहीं रहा हुआ और अन्य बाण के भाव की अपेक्षा से अलक्ष्योन्मुख है, उसी प्रकार आत्मा नास्तित्वनय से परचतुष्टय से नास्तित्ववाला है)। ४।

आत्मद्रव्य अस्तित्वनास्तित्वनय से क्रमशः स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्वनास्तित्ववाला है; लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधान अवस्था में रहे हुए तथा संधान अवस्था में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले के बाण की भाँति। (जैसे पहले का बाण क्रमशः स्वचतुष्टय की तथा परचतुष्टय की अपेक्षा से लोहमयादि और अलोहमयादि है, उसीप्रकार आत्मा अस्तित्व-नास्तित्वनय से क्रमशः स्वचतुष्टय और परचतुष्टय की अपेक्षा से अस्तित्ववाला और नास्तित्ववाला है)। ५।

आत्मद्रव्य अवयक्तनय से युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अव्यक्त है; - लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी और धनुष में नहीं स्थित, संधान अवस्था में रहे हुए तथा संधान अवस्था में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले के बाण की भाँति। (जैसे पहले का बाण युगपत् स्वचतुष्टय की और परचतुष्टय की अपेक्षा से युगपत् लोहमयादि तथा अलोहमयादि होने से अवक्त्व्य है, उसी प्रकार आत्मा अवक्त्व्यनय से युगपत् स्वचतुष्टय और परचतुष्टय की अपेक्षा से अवक्त्व्य है)। ६।

आत्मद्रव्य अस्तित्व-अवक्त्व्यनय से स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला-अवक्त्व्य है; - (स्वचतुष्टय से) लोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित, संधान अवस्था में रहे हुए और लक्ष्योन्मुख ऐसे तथा (युगपत् स्व-परचतुष्टय से) लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधान अवस्था में रहे हुए तथा संधान अवस्था में रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले के बाण की भाँति। (जैसे पहले का बाण (१) स्वचतुष्टय से तथा (२) एक ही साथ स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से (१) लोहमयादि तथा (२) अवक्त्व्य है, उसी प्रकार आत्मा अस्तित्व-अवक्त्व्यनय से (१) स्वचतुष्टय की तथा (२) युगपत् स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से (१) अस्तित्ववाला तथा (२) अवक्त्व्य है)।७।

आत्मद्रव्य नास्तित्व-अवक्तव्यनय से परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्ववाला-अवक्तव्य है; - (परचतुष्टय से) अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधान अवस्था में रहे हुए और अलक्ष्योन्मुख ऐसे तथा (युगपत् स्वपरचतुष्टय से) लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधान अवस्था में रहे हुए तथा संधान अवस्था में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्षयोन्मुख ऐसे पहले के बाण की भाँति। (जैसे पहले का बाण (१) परचतुष्टय की तथा (२) एक ही साथ स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से (१) अलोहमयादि तथा (२) अवक्त्व्य है, उसी प्रकार आत्मा नास्तित्व-अवक्त्व्यनय से (१) परचतुष्टय की तथा (२) युगपत् स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से (१) नास्तित्ववाला तथा (२) अवक्त्व्य है)।८।

आत्मद्रव्य अस्तित्व - नास्तित्व-अवक्त्व्यनय से स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से, परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपत् स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला - नास्तित्ववाला अवक्त्व्य है; - (स्वचतुष्टय से) लोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित, संधान अवस्था में रहे हुए और लक्ष्योन्मुख ऐसे, - (परचतुष्टय से) अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधान अवस्था में न रहे हुए और अलक्ष्योन्मुख ऐसे तथा (युगपत् स्वपरचतुष्टय से) लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा प्रत्यच्चा और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधान अवस्था में रहे हुए तथा संधान अवस्था में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले के बाण की भाँति। (जैसे पहले का बाण (१) स्वचतुष्टय की, (२) परचतुष्टय की तथा (३) युगपत् स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से (१) लोहमय, (२) अलोहमय तथा (३) अवक्त्व्य है, उसी प्रकार आत्मा अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्य से (१) स्वचतुष्टय की, (२) परचतुष्टय की तथा (३) युगपत् स्व-परचतुष्टय की अपेक्षा से (१) अस्तित्ववाला, (२) नास्तित्ववाला तथा (३) अवक्तव्य है)।९।

आत्मद्रव्य विकल्पनय से, बालक, कुमार और वृद्ध ऐसे एक पुरुष की भाँति,

सविकल्प है (अर्थात् आत्मा भेदनय से, भेदसहित है, जैसे कि एक पुरुष बालक, कुमार और वृद्ध ऐसा भेदवाला है)।१०।

आत्मद्रव्य अविकल्प से, एक पुरुषमात्र की भाँति, अविकल्प है (अर्थात् अभेदनय से आत्मा अभेद है, जैसे कि एक पुरुष बालक, कुमार और वृद्ध ऐसे भेदरहित एक पुरुषमात्र है)।११।

आत्मद्रव्य नामनय से, नामवाले की भाँति, शब्दब्रह्म को स्पर्श करनेवाला है (अर्थात् आत्मा नामनय से शब्दब्रह्म से कहा जाता है, जैसे कि नामवाला पदार्थ उसके नामरूप शब्द से कहा जाता है)।१२।

आत्मद्रव्य स्थापनानय से मूर्तिपने की भाँति, सर्व पुद्गलों का अवलम्बन करनेवाला है (अर्थात् स्थापनानय से आत्मद्रव्य की पौद्गलिक स्थापना की जा सकती है, मूर्ति की भाँति)।१३।

आत्मद्रव्य द्रव्यनय से बालक सेठ की भाँति और श्रवण राजा की भाँति, अनागत और अतीत पर्याय से प्रतिभासित होता है (अर्थात् आत्म द्रव्यनय से भावी और भूत पर्यायरूप से ख्याल में आता है, जैसे कि बालक सेठपने स्वरूप भावी पर्यायरूप से ख्याल में आता है और मुनि राजास्वरूप भूतपर्यायरूप से आता है)।१४।

आत्मद्रव्य भावनय से, पुरुष के समान प्रवर्तमान स्त्री की भाँति, तत्काल (वर्तमान) की पर्यायरूप से उल्लसित-प्रकाशित-प्रतिभासित होता है (अर्थात् आत्मा भावनय से वर्तमान पर्यायरूप से प्रकाशित होता है, जैसे कि पुरुष के समान प्रवर्तमान स्त्री पुरुषत्वरूपपर्यायरूप से प्रतिभासित होती है)।१५।

आत्मद्रव्य सामान्यनय से, हार-माला-कंठी के डोरे की भाँति, व्यापक है, (अर्थात् आत्मा सामान्यनय से सर्व पर्यायों में व्याप्त रहता है, जैसे मोती की माला का डोरा सारे मोतियों में व्याप्त होता है)।१६।

आत्मद्रव्य विशेषनय से, उसके एक मोती की भाँति, अव्यापक है (अर्थात् आत्मा विशेषनय से अव्यापक है, जैसे पूर्वोक्त माला का एक मोती सारी माला में अव्यापक है)।१७।

आत्मद्रव्य नित्यनय से, नट की भाँति, अवस्थायी है (अर्थात् आत्मा नित्यनय से नित्य-स्थायी है, जैसे राम-रावणरूप अनेक अनित्य स्वांग धारण करता हुआ भी नट तो वह का वही नित्य है)। १८।

आत्मद्रव्य अनित्यनय से, राम-रावण की भाँति, अनवस्थायी है (अर्थात् आत्मा अनित्यनय से अनित्य है, जैसे नट के द्वारा धारण किये गये राम-रावणरूप स्वांग अनित्य हैं)।१९।

आत्मद्रव्य सर्वगतनय से, खुली हुई आँख की भाँति, सर्ववर्ती (सब में व्याप्त होनेवाला है)।२०।

आत्मद्रव्य असर्वगतनय से, मिची हुई (बन्द) आँख की भाँति, आत्मवर्ती (अपने में रहनेवाला है)। २१।

आत्मद्रव्य शून्यनय से, शून्य (खाली) घर की भाँति, एकाकी (अमिलित) भासित होता है।२२।

आत्मद्रव्य अशून्यनय से, लोगों से भरे हुए जहाज की भाँति, मिलित भासित होता है।२३।

आत्मद्रव्य ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय से (ज्ञान और ज्ञेय के अद्वैतरूप नय से), महान ईंधनसमूहरूप परिणत अग्नि की भाँति, एक है। २४।

आत्मद्रव्य ज्ञानज्ञेयद्वैतनय से, पर के प्रतिबिम्बों से संपृक्त दर्पण की भाँति, अनेक है (अर्थात् आत्मा ज्ञान और ज्ञेय के द्वैतरूपनय से अनेक है, जैसे पर-प्रतिबिम्बों के संगवाला दर्पण अनेकरूप है)।२५।

आत्मद्रव्य नियतिनय से नियतस्वभावरूप भासित होता है, जिसकी उष्णता नियमित (नियत) होती है ऐसी अग्नि की भाँति। (आत्मा नियतिनय से नियतस्वभाववाला भासित होता है, जैसे अग्नि के उष्णता का नियम होने से अग्नि नियतस्वभाववाली भासित होती है)।२६।

आत्मद्रव्य अनियतनय से अनियतस्वभावरूप भासित होता है, जिसके उष्णता नियति (नियत) से नियमित नहीं है ऐसे पानी की भाँति। (आत्मा अनियतिनय से अनियतस्वभाववाला भासित होता है, जैसे पानी के (अग्नि के निमित्त से होनेवाली)

उष्णता अनियत-होने से पानी अनियतस्वभाववाला भासित होता है)।२७।

आत्मद्रव्य स्वभावनय से संस्कार को निरर्थक करनेवाला है (अर्थात् आत्मा को स्वभावनय से संस्कार निरूपयोगी है), जिसकी किसी से नोक नहीं निकाली जाती (किन्तु जो स्वभाव से ही नुकीला है) ऐसे पैने काँटे की भाँति। २८।

आत्मद्रव्य अस्वभावनय से संस्कार को सार्थक करनेवाला (अर्थात् आत्मा को अस्वभावनय से संस्कार उपयोगी है), जिसकी (स्वभाव से नोक नहीं होती, किन्तु संस्कार करके लुहार द्वारा नोक निकाली गई हो ऐसे पैने बाण की भाँति।२९।

आत्मद्रव्य कालनय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार रखती है ऐसा है, गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले आम्रफल की भाँति। (कालनय से आत्मद्रव्य की सिद्धि समय पर आधार रखती है, गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले आम की भाँति)।३०।

आत्मद्रव्य अकालनय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार नहीं रखती ऐसा है, कृत्रिम गर्मी से पकाये गये आम्रफल की भाँति। ३१।

आत्मद्रव्य पुरुषकारनय से जिसकी सिद्धि यत्नसाध्य है ऐसा है, जिसे पुरुषाकार से [१]नीबू का वृक्ष प्राप्त होता है (-उगता है) ऐसे पुरुषकारवादी की भाँति। (पुरुषार्थनय से आत्म की सिद्धि प्रयत्न से होती है, जैसे किसी पुरुषार्थवादी मनुष्य को पुरुषार्थ से नीबू का वृक्ष प्राप्त होता है)।३२।

आत्मद्रव्य दैवनय से जिसकी सिद्धि अयत्नसाध्य है (-यत्न बिना होता है) ऐसा है; पुरुषाकारवादी द्वारा प्रदत्त नीबू के वृक्ष के भीतर से जिसे (बिना यत्न के, दैव से) माणिक प्राप्त हो जाता है वैसे दैववादी की भाँति)।३३।

आत्मद्रव्य ईश्वरनय से परतंत्रता भोगनेवाला है, धाय की दुकानपर दूध पिलाये जानेवाले राहगीर के बालक की भाँति। ३४।

आत्मद्रव्य अनीश्वरनय से स्वतंत्रता भोगनेवाला है, हिरन को स्वच्छन्दता

---

[१]संस्कृत टीका में 'मधुकुक्कटी' शब्द है, जिसका अर्थ यहाँ 'नीबू का वृक्ष' किया है; किन्तु हिन्दी टीका में श्री पांडे हेमराजजी ने 'मधुछत्ता' अर्थ किया है। ३२

(स्वतन्त्रता,स्वच्छा) पूर्वक फाड़कर खा जानेवाले सिंह की भाँति। ३५।

आत्मद्रव्य गुणीनय से गुणग्राही है, शिक्षक के द्वारा जिसे शिक्षा दी जाती है ऐसे कुमार की भाँति। ३६।

आत्मद्रव्य अगुणीनय से केवल साक्षी ही है (-गुणग्राही नहीं है), जिसे शिक्षक के द्वारा शिक्षा दी जा रही है ऐसे कुमार को देखनेवाले पुरुष (-प्रेक्षक) की भाँति। ३७।

आत्मद्रव्य कर्तृनय से, रंगरेज की भाँति, रागादि परिणाम का कर्ता है (अर्थात् आत्मा कर्तानय से रागादि परिणामों का कर्ता है, जैसे रंगरेज रंगने के कार्य का कर्ता है)।३८।

आत्मद्रव्य अकर्तृनय से केवल साक्षी ही है (-कर्ता नहीं), अपने कार्य में प्रवृत्त रंगरेज को देखनेवाले पुरुष (प्रेक्षक) की भाँति। ३९।

आत्मद्रव्य भोक्तृनय से सुखदुःखादि का भोक्ता है, हितकारी - अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगी की भाँति। (आत्मा भोक्तानय से सुखदुःखादि को भोगता है, जैसे हितकारक या अहितकारक अन्न को खानेवाला रोगी सुख या दुःख को भोगता है)। ४०।

आत्मद्रव्य अभोक्तृनय से केवल साक्षी ही है, हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगी को देखनेवाले वैद्य की भाँति। (आत्मा अभोक्तानय से केवल साक्षी ही है - भोक्ता नहीं है; जैसे सुखदुःख को भोगनेवाले रोगी को देखनेवाले वैद्य वह तो केवल साक्षी ही है)। ४१।

आत्मद्रव्य क्रियानय से अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि सधे ऐसा है, खम्भे से सिर फूट जाने पर दृष्टि उत्पन्न होकर जिसे निधान प्राप्त हो जाय ऐसे अंध की भाँति। (क्रियानय से आत्मा अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि हो ऐसा है; जैसे किसी अंधपुरुष को पत्थर के खम्भे के साथ सिर फोड़ने से सिर के रक्त का विकार दूर होने से आँखें खुल जायें और निधान प्राप्त हो, उसप्रकार)। ४२।

आत्मद्रव्य ज्ञाननय से विवेक की प्रधानता से सिद्धि सधे ऐसा है; मुट्ठीभर

चने देकर चिंतामणि-रत्न खरीदनेवाले घर के कोने में बैठे हुए व्यापारी की भाँति। (ज्ञाननय से आत्मा को विवेक की प्रधानता से सिद्धि होती है जैसे घर के कोने में बैठा हुआ व्यापारी मुट्ठीभर चना देकर चिंतामणि-रत्न खरीद लेता है, उसप्रकार)। ४३।

आत्मद्रव्य व्यवहारनय से बंध और मोक्ष में [१]द्वैत का अनुसरण करनेवाला बंधक है, (बंध करनेवाले) और मोचक (मुक्त करनेवाले) ऐसे अन्य परमाणु के साथ संयुक्त होनेवाले और उससे वियुक्त होनेवाले परमाणु की भाँति। (व्यवहारनय से आत्मा बंध और मोक्ष में (पुद्गल के साथ) द्वैत को प्राप्त होता है, जैसे परमाणु के बंध में वह परमाणु अन्य परमाणु के साथ संयोग को पानेरूप द्वैत को प्राप्त होता है और परमाणु के मोक्ष में वह परमाणु अन्य परमाणु से पृथक् होनेरूप द्वैत को पाता है, उसप्रकार)। ४४।

आत्मद्रव्य निश्चयनय से बंध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है, अकेले बध्यमान और मुच्यमान ऐसे बंधमोक्षोचित स्निग्धत्वरूक्षत्वगुणरूप परिणत परमाणु की भाँति। (निश्चयनय से आत्मा अकेल ही बद्ध और मुक्त होता है, जैसे बंध और मोक्ष के योग्य स्निग्ध या रूक्षत्वगुणरूप परिणमित होता हुआ परमाणु अकेला ही बद्ध और मुक्त होता है, उसप्रकार)। ४५।

आत्मद्रव्य अशुद्धनय से, घट और रामपात्र से विशिष्ट मिट्टीमात्र की भाँति, सोपाधिस्वभाववाला है। ४६।

आत्मद्रव्य शुद्धनय से, केवल मिट्टीमात्र की भाँति, निरुपाधिस्वभाववाला है।४७।

इसलिये कहा है :-

जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया।।

---

[१]द्वैत=द्वैतपन, (व्यवहारनय से आत्मा बंध में कर्म के साथ के संयोग की अपेक्षा आती है इसलिये द्वैत है और आत्मा की मुक्ति में कर्म के वियोग की अपेक्षा आती है इसलिये वहाँ भी द्वैत है।) ४४

परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होदि सव्वहा वयणा।
जइणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचि वयणादो।।

(अर्थ :- जितने [१]वचनपंथ हैं उतने वास्तव में नयवाद हैं; और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय (परमत) हैं।

परसमयों (मिथ्यामतियों) का वचन सर्वथा (अर्थात् अपेक्षा बिना) कहा जाने के कारण वास्तव में मिथ्या है; और जैनों का वचन कथंचित् (अर्थात् अपेक्षासहित) कहा जाता है इसलिये वास्तव में सम्यक् है।)

इस प्रकार इस (उपरोक्त) सूचनानुसार (अर्थात्) ४७ नयों में समझाया है उस विधि से) एक-एक धर्म में एक-एक नय (व्यापे), इस प्रकार अनंत धर्मों में व्यापक अनंत नयों से निरूपण किया जाय तो, समुद्र के भीतर मिलनेवाले [२]श्वेत-नील गंगा-यमुना के जलसमूह की भाँति, अनंतधर्मों को परस्पर अतद्भावमात्र से पृथक् करने में अशक्य होने से, आत्मद्रव्य [३]अमेचक स्वभाववाला, एक धर्म में व्याप्त होनेवाला, एक धर्मी होने से यथोक्त एकान्तात्मक (एकधर्मस्वरूप) है। परन्तु युगपत् अनंतधर्मों में व्यापक ऐसे अनंत नयों में व्याप्त होनेवाला एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण से निरूपण किया जाय तो, समस्तनयादियों के जलसमूह के समवायात्मक (समुदायस्वरूप) एक समुद्र की भाँति, अनंत धर्मों को वस्तुरूप से पृथक् करना अशक्य होने से आत्मद्रव्य [४]मेचकस्वभाववाला, अनंत धर्मों में व्याप्त होनेवाला, एक धर्मी होने से यथोक्त अनेकान्तात्मक (अनेक धर्मस्वरूप) है। (जैसे एक समय नदी के जल को जाननेवाले ज्ञानांश से देखा जाय तो समुद्र एक नदी के जलस्वरूप ज्ञात होता है, उसी प्रकार एक समय एक धर्म

---

[१]वचनपंथ=वचन के प्रकार (जितने वचन के प्रकार हैं उतने नय हैं। अपेक्षासहित नय वे सम्यक्नय हैं और अपेक्षारहित नय वे मिथ्यानय हैं; इसलिये जितने सम्यक्नय हैं उतने ही मिथ्यानय हैं)।

[२]गंगा का पानी श्वेत होता है और यमुना का पानी नील होता है।

[३]अमेचक=अभेद; विविधतारहित; एक।

[४]मेचक=पृथक् पृथक्; विविध; अनेक।

को जाननेवाले एक नय से देखा जाय तो आत्मा एक धर्मस्वरूप ज्ञात होता है; परंतु जैसे एक ही साथ सर्व नदियों के जल को जाननेवाले ज्ञान से देखा जाय तो समुद्र सर्व नदियों के जलस्वरूप ज्ञात होता है, उसी प्रकार एक ही साथ सर्वधर्मों को जाननेवाले प्रमाण से देखा जाय तो आत्मा अनेक धर्मस्वरूप ज्ञात होता है। इस प्रकार एक नय से देखने पर आत्मा एकान्तात्मक है और प्रमाण से देखने पर अनेकान्तात्मक है)।

अब इसी आशय को काव्य द्वारा कहकर "आत्मा कैसा है" इस विषय का कथन समाप्त किया जाता है :)

(अर्थ :-) इस प्रकार स्यात्कारश्री (स्यात्काररूपी लक्ष्मी) के निवास के वशीभूत वर्तते नयसमूहों से (जीव) देखें तो भी और प्रमाण से देखें तो भी स्पष्ट अनंत धर्मोवाले निज आत्मद्रव्य को भीतर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखते ही हैं।

इस प्रकार आत्मद्रव्य कहा गया। अब उसकी प्राप्ति का प्रकार कहा जाता है:-

प्रथम तो, अनादि पौद्गलिक कर्म जिसका निमित्त है ऐसी मोहभावना के (मोह के अनुभव के) प्रभाव से आत्मपरिणति सदा चक्कर खाती है, इसलिये यह आत्मा समुद्र की भाँति अपने में ही क्षुब्ध होता हुआ क्रमशः प्रवर्तमान अनन्त [1]ज्ञप्तिव्यक्तियों से परिवर्तन को प्राप्त होता है, इसलिये ज्ञप्तिव्यक्तियों के निमित्तरूप होने से जो ज्ञेयभूत हैं ऐसी बाह्यपदार्थव्यक्तियों के प्रति उसकी मैत्री प्रवर्तती है, इसलिये आत्मविवेक शिथिल हुआ होने से अत्यन्त बहिर्मुख ऐसा वह पुनः पौद्गलिक कर्म के रचयिता रागद्वेषद्वैतरूप परिणमित होता है और इसलिये उसके आत्मप्राप्ति दूर ही है। परन्तु अब जब यही आत्मा प्रचण्ड कर्मकाण्ड द्वारा अखण्ड ज्ञानकांड को प्रचंड करने से अनादि-पौद्गलिककर्मरचित मोह को [2]वध्य-घातक के विभागज्ञानपूर्वक विभक्त करने से (स्वयं) केवल आत्मभावना के (आत्मानुभव के) प्रभाव से परिणति निश्चल की होने से समुद्र की भाँति अपने में ही अति निष्कंप रहता हुआ एक साथ ही अनंत ज्ञप्तिव्यक्तियों में व्याप्त होकर अवकाश के अभाव के कारण सर्वथा विवर्तन (परिवर्तन)

---

[1] व्यक्तियों=प्रगटताओं; पर्यायों; विशेषों। (बाह्यपदार्थविशेष ज्ञप्तिविशेषों के निमित्त होने से ज्ञेयभूत हैं।)

को प्राप्त नहीं होता, तब ज्ञप्तिव्यक्तियों के निमित्तरूप होने से जो ज्ञेयभूत हैं ऐसी बाह्यपदार्थव्यक्तियों के प्रति उसे वास्तव में मैत्री नहीं प्रवर्तती और इसलिये आत्मविवेक सुप्रतिष्ठित (सुस्थित) हुआ होने के कारण अत्यन्त अन्तर्मुख हुआ ऐसा यह आत्मा पौद्गलिक कर्मों के रचयिता रागद्वेषद्वैतरूप परिणति से दूर होता हुआ पूर्व में अनुभव नहीं किये गये अपूर्व ज्ञानान्दस्वभावी भगवान्आत्मा को आत्यंतिक रूप से ही प्राप्त करता है। जगत भी ज्ञानानन्दात्मक परमात्मा को अवश्य प्राप्त करो।

यहाँ श्लोक भी है :-

(अर्थ :-) आनंदामृत के पूर से भरपूर बहती हुई कैवल्यसरिता में (मुक्तिरूपीनदी में) जो डूबा हुआ है, जगत को देखने में समर्थ ऐसी महासंवेदनरूपी श्री (महाज्ञानरूपी लक्ष्मी) जिसमें मुख्य है, जो उत्तम रत्न-किरण की भाँति स्पष्ट है और जो इष्ट है ऐसे उल्लसित (प्रकाशमान, आनंदमय) स्वतत्त्व को जन स्यात्कारलक्षण जिनेश शासन के वश से प्राप्त हों। (-`स्यात्कार' जिसका चिह्न है ऐसे जिनेन्द्रभगवान के शासन का आश्रय लेकर के प्राप्त करो।)

(अब, `अमृतचंद्रसूरि इस टीका के रचयिता हैं' ऐसा मानना योग्य नहीं है ऐसे अर्थवाले काव्य द्वारा यथार्थ वस्तुस्वरूप को प्रगट करके स्वतत्त्वप्राप्ति की प्रेरणा की जाती है :-)

(अर्थ :-) (वास्तव में पुद्गल ही स्वयं शब्दरूप परिणमित होते हैं, आत्मा उन्हें परिणमित नहीं कर सकता, तथा वास्तव में सर्व पदार्थ ही स्वयं ज्ञेयरूप-प्रमेयरूप परिणमित होते हैं, शब्द उन्हें ज्ञेय बना - समझा नहीं सकते इसलिये) `आत्मासहित विश्व वह व्याख्येय (समझाने योग्य) है, वाणी का गुंथन वह व्याख्या है और अमृतचंद्रसूरि वे व्याख्याता हैं, इस प्रकार जन मोह से मत नाचो (-मत फूलो) (किन्तु स्याद्वाद विद्याबल से विशुद्ध ज्ञान की कला द्वारा इस एक समस्त शाश्वत स्वतत्त्व को प्राप्त करके आज (जन) अव्याकुलरूप से नाचो (-परमानन्दपरिणामरूप परिणत होओ)।'

(अब काव्य द्वारा चैतन्य की महिमा गाकर, वही एक अनुभव करने योग्य है ऐसी प्रेरणा करके, इस परम पवित्र परमागम की पूर्णाहुति की जाती है :-)

[२]आत्मा वध्य (हनन योग्य) है और मोह घातक (हननेवाला) है।

(अर्थ :-) इस प्रकार (इस परमागम में) अमन्दरूप से (बलपूर्वक, जोरशोर से) जो थोड़ा-बहुत तत्त्व कहा गया है, वह सब चैतन्य में वास्तव में अग्नि में होमी गई वस्तु के समान (स्वाहा) हो गया है। (इस अग्नि में होमे गये घी को अग्नि खा जाती है, मानो कुछ होमा ही न गया हो ! इसी प्रकार अनंत माहात्म्यवंत चैतन्य का चाहे जितना वर्णन किया जाय तथापि मानो उस समस्त वर्णन को अनंत महिमावान चैतन्य खा जाता है; चैतन्य की अनंत महिमा के निकट सारा वर्णन मानो वर्णन ही न हुआ हो इस प्रकार तुच्छता को प्राप्त होता है।) उस चैतन्य को ही चैतन्य आज प्रबलता-उग्रता से-प्रबलता से अनुभव करो (अर्थात् उस चित्स्वरूप आत्मा को ही आत्मा आज अत्यन्त अनुभवो) क्योंकि इस लोक में दूसरा कुछ भी (उत्तम) नहीं है, चैतन्य ही परम (उत्तम) तत्त्व है।

इस प्रकार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री प्रवचनसार शास्त्र की श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित) तत्त्वदीपिका नामक संस्कृत टीका के श्री हिंमतलाल जेठालाल शाह कृत गुजराती अनुवाद का पंडित परमेष्ठीदास जैन न्यायतीर्थ कृत हिन्दी भाषानुवाद समाप्त हुआ।

(अब टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव परिशिष्टरूप से कुछ कहते हैं :-)

`यह आत्मा कौन है (कैसा है) और कैसे प्राप्त किया जाता है' ऐसा प्रश्न किया जाय तो इसका उत्तर (पहले ही) कहा जा चुका है और (यहाँ) पुनः कहते हैं :-

प्रथम तो, आत्मा वास्तव में चैतन्यसामान्य से व्याप्त अनंत धर्मों का अधिष्ठाता (स्वामी) एक द्रव्य है, क्योंकि अनंत धर्मों में व्याप्त होनेवाले जो अनंत नय हैं उनमें व्याप्त होनेवाला जो एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण है, उस प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से (वह आत्मद्रव्य) प्रमेय होता है (ज्ञात होता है)।

प्रवचन : दि. २१-१२-१९७७

प्रवचनसार। नय अधिकार है। जरा सूक्ष्म अधिकार है। यह (`प्रवचनसार') अधिकार तीन अधिकार में हो चुका है। "**अब टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित परिशिष्टरूप से कुछ कहते हैं।**)" अमृतचन्द्राचार्य मुनि थे। एक हजार वर्ष पहले (हो चुके हैं)। दिगंबर संत, आत्मा के आनंद के अनुभवी, अतीन्द्रिय आनंद का सागर प्रभु, सच्चे मुनि जिन्हें कहे वे। अत्यंत स्वसंवेदन, अतीन्द्रिय आनंद का वेदन होता है। अतीन्द्रिय आनंद (से) भरा प्रभु सागर है। आत्मा अतीन्द्रिय आनंद का सागर है। आहा..हा...! इसका जिन्होंने भान करके, सम्यक्दर्शन करके। अर्थात् स्वरूप पूर्णानंद शुद्ध है, इसकी प्रतीति अनुभव में करी और फिर स्वरूप में विशेष रमणता करते हैं। उन्हें (मुनि को) अतीन्द्रिय आनंद का भोजन बहुत होता है। प्रचुर... (अतीन्द्रिय आनंद का वेदन होता है।)

आहा..हा...! सम्यक्धर्म, प्रथम धर्म, सम्यक्दर्शन है। उसमें भी (चतुर्थ गुणस्थान में) अतीन्द्रिय आनंद के स्वाद का आंशिक वेदन होता है। आहा..हा...! यह जो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा का भाव (है), वह सब राग है। वह पुण्य है, वह धर्म नहीं है। सूक्ष्म बात है, भाई ! जगत तो उसे (पुण्य को) धर्म मनवाकर चलता है। आहा..हा...! वैसे हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग, वासना, पाप इत्यादि के भाव वे सब पाप (भाव हैं)। दुर्गति (के कारणरूप हैं) विष है। आहा..हा...! धर्मी को अपनी पर्याय में थोड़ा (राग) होता है। पूर्ण वीतराग न हो तब तक उन्हें (चतुर्थ गुणस्थानवर्ती धर्मी को) (राग) होता है, किन्तु उनकी दृष्टि उस पर नहीं है। उनकी (दृष्टि) आनंदस्वरूप, शुद्ध चैतन्य वस्तु-द्रव्य जो है (इस पर है)। आहा..हा...! वह आत्मा पूर्णानंद सर्वज्ञस्वभावी है। क्यों ? (कि) जो सर्वज्ञ परमेश्वर अरिहंत हुए, वे कहाँ से हुए ? वे कोई बाहर से आते हैं ? वह अंतर में - आत्मा में सर्वज्ञशक्ति - स्वभाव - सामर्थ्य स्थित है, आहा..हा...! उसका स्वभाव का अंतर में अनुभव कर के और स्थिरता द्वारा, रमणता द्वारा, उस सर्वज्ञशक्ति को पर्याय में सर्वज्ञरूप में प्रगट की है, ऐसे अरिहंत को, जिनेश्वर को परमात्मा कहा जाता है। उस परमात्मा के श्रीमुख से (जो) दिव्यध्वनि आयी, आहा..हा...! उसका यह सार है। आहा..हा...! सूक्ष्म तो है, भाई ! दुनिया की लाईन से पूरा का पूरा अलग है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया?

टीकाकार कह रहे हैं कि, मैं परिशिष्टरूप में थोड़ा कहना चाहता हुँ। बहुत सारा तो कहा जा चुका है, फिर भी अभी थोड़ा कुछ कहना चाहता हूँ। तो फिर अब प्रश्न आता है कि, जिस किसी आत्मा का ऐसा प्रश्न होवे कि `**आत्मा है कौन ?**' आपने ऐसे आत्मा की व्याख्या तो बहुत करी। आत्मा आनंद... आनंद और आनंद(स्वरूपी) और आत्मा जिनस्वरूपी और आत्मा वीतरागस्वरूपी, और आत्मा ज्ञानानंद, सहजात्मस्वरूप (है)। ऐसी जो आप व्याख्या करते हो, कर रहे हो। तो शिष्य को प्रश्न उठा कि, `महाराज, यह आत्मा है कौन ? वह कौन है ? कैसा है ?' आहा..हा...! देखो, प्रश्नकार का यह प्रश्न है। आहा..हा...! हम पैसा किस तरह कमाये ? और हमें अनुकूलता किस तरह प्राप्त हो ? ऐसा प्रश्न नहीं है। उसी प्रकार हमें दया, दान, व्रत के परिणाम (कैसे) हो ऐसा भी प्रश्न नहीं है।

मूल प्रश्न उसका यह है कि प्रभु ! यह आत्मा है कौन ? आप आत्मा... आत्मा

जो अंदर में क रते हो (कहते हो) वह सर्वज्ञ वीतराग, जिनेश्वरदेव, परमेश्वर ने जो आत्मा देखा और कहा, वह है कौन ? आहा..हा...! प्रश्नकार की आत्मा को जानने की इतनी तो जिज्ञासा है। ऐसे जीव को यहाँ लिया है। आहा..हा...! देहदेवल(मंदिर) में (विराजमान है।) यह तो (देह तो) हड्डी, मिट्टी, धूल है। उसकी हिलने - डोलने की जो समस्त क्रियाएँ होती हैं वे सभी धूल की, जड़ की क्रियाएँ हैं। आत्मा में जो कुछ पुण्य-पाप के भाव, शुभ-अशुभ भाव होते हैं वह सब विकार है। वह विकार उसकी पर्याय में (है) हाँ... परंतु वह त्रिकाली वस्तु कैसी है ? उसकी पर्याय में विकार किस तरह होता है ? आहा..हा...! सूक्ष्म बात है। भाई ! यह तो जिनेन्द्रदेव, सर्वज्ञ, वीतराग परमेश्वर का कोई अलौकिक मार्ग है। जगत के साथ जरा भी मेल मिल पाये ऐसा नहीं है।

कहते हैं कि यह आत्मा कौन है ? क्या है यह ? कोई व्यक्ति आये तो कहते नहीं है कि `यह कौन है ?' तो कहते हैं कि `मैं (इस) गाँव का एक राजा हूँ।' उस प्रकार यहाँ पूछ रहे हैं कि `**आत्मा है कौन ?**' अंदर यह वस्तु, यह तो (है कौन) ? एक बात। `**किस प्रकार प्राप्त हो सकता है ?**' यह दूसरा प्रश्न। प्रभु ! यह आत्मा अंदर है कौन ? प्रभु ! उसे प्राप्त करने की विधि कौन सी है ? आहा..हा...! ऐसा प्रश्न किया है। ऐसे प्रश्नों का तो (किसी को) कुछ पता तक नहीं है। सारे भटकने के प्रश्न संसार के (करता है)। सच्ची बात है न भाई ? ऐसे सवाल उठे नहीं हैं ऐसे कह रहे हैं। आहा..हा...! इस देह में भगवानआत्मा (बिराजमान है)। आहा..हा...! यह है कौन ? और है तो प्राप्त किस प्रकार हो ? एक ही बात की है (कि) आत्मा प्राप्त किस प्रकार हो ? दूसरी बात नहीं। आहा..हा...! प्रश्न करनेवाले की - शिष्य की पहले ऐसी भूमिका होती है, ऐसा सिद्ध कर रहे हैं। श्रोता ऐसे होते हैं। आहा..हा...! धर्म के श्रोता ऐसे होते हैं कि, उसकी जिज्ञासा में (ऐसा) (रहता है) (कि) आत्मा कौन है ? और किस विधि से प्राप्त होता है ? ऐसे श्रोता होते हैं।

यहाँ तो प्रश्न करनेवाला कैसा होता है ? जिसको कि आत्मा को जानना है और जिसे आत्मा समझना है, ऐसा धर्म की जिज्ञासावाला कैसा होता है ? इसकी पहले भूमिका बनाई। आहा..हा...! है ? आत्मा कौन है ? कैसा है ? यह आत्मा तो अंदर में है कौन ? आहा..हा...! ये हीरे और मणिक इन सब की (लोग) परीक्षा

करने लगे। `**परखे माणिक मोती, और परखे हेम-कपूर, पर एक न परखा आत्मा।**' अंदर क्या चीज है इसे जानने की कभी आवश्यकता नहीं लगी। और उसके बिना ये सब क्रियाकांड करने लगे। दया, दान, व्रत, यात्रा और भक्ति ये सब राग की क्रियाएँ, पुण्यबंध की क्रियाएँ, चार गति में भटकने की (क्रियाएँ) हैं। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? सूक्ष्म बात बापू ! जगत क्या करता है उसका पता तो है न ! फिर भी आचार्य महाराज यह प्रश्न शिष्य के मुख में रख रहे हैं। आहा..हा...! आत्मा किस प्रकार प्राप्त हो ? ऐसा कह रहे हैं प्रभु ! अंदर वह कौन है ? और किस प्रकार प्राप्त होता है ? है न ? किस प्रकार प्राप्त होता है ? उसे प्राप्त करने की विधि क्या ? आहा..हा...! यह बात समझने लायक है। ऐसा तो सवाल किया जा रहा है ! ऐसा सवाल किया जाता है तो उसको उत्तर दे रहे हैं। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

आहा..हा...! संत अंतर आनंद के अनुभवी (हैं)। मुनियों से कहें कि जिसे अतीन्द्रिय आनंद के उबाल (बाढ) आते हो। जिस प्रकार समुद्र के किनारे पानी की बाढ़ आती है उस तरह जिसे अतीन्द्रिय आनंद का सागर भगवानआत्मा (उसके आनंद की बाढ़ आती है)। सम्यक्दृष्टि होने पर भी आनंद की थोड़ी बाढ़ आती (है) और मुनि हो जाय फिर तो अतीन्द्रिय आनंद की दशा में झूला झूलते हैं। बापू, सूक्ष्म बातें। वीतराग मार्ग (की) (ये) कोई सूक्ष्म बातें हैं।

आत्मा किस प्रकार प्राप्त हो ? ऐसा प्रश्न किया जाय तो उसका उत्तर कहा जा चुका है। पूरे समयसार, प्रवचनसार में (उसका) उत्तर कहा जा चुका है। यहाँ फिर से प्रश्न किया जा रहा है। आहा..हा...! किन्तु पहली बात समझ में आयी ? उसे (शिष्य को) ये पैसा किस प्रकार प्राप्त हो ? स्वर्ग में कैसे जा सकते हैं ? पुण्यबंध किस तरह हो ? ऐसा प्रश्न ही नहीं है। उसका प्रश्न तो (यह) (है) कि प्रभु ! यह देह जब (एक) वस्तु है, जड़, मिट्टी, धूल (है) तो (आत्मा) वस्तु है न ! आत्मा अंदर एक वस्तु (है), तो वह है कौन ? और किस प्रकार प्राप्त हो ? आहा..हा...! उसे प्राप्त करने की विधि कौन सी ? प्रथम प्रश्न ही यह है। ऐसे शिष्य को (प्रश्न का) उत्तर दे रहा हूँ। बेगार भुगतने की तरह सुनने के लिये आये हो और मूल आत्मा को समझ ने के लिये न (आये) हो, उनको मैं उत्तर नहीं दे रहा हूँ।

आहा..हा...! अंदर आत्मा सत् चिदानंद प्रभु ! सत् - शाश्वत और अतीन्द्रिय आनंद और अतीन्द्रिय ज्ञान का सागर है। उसकी पर्याय में विकार है। परंतु वस्तु और वस्तु के गुण तो अनंत और महापवित्र है। ऐसे आत्मा को मुझे प्राप्त करना है। प्रभु ! मुझे (ऐसे) (आत्मा को) देखना है। आहा..हा...! आहा..हा...! ऐसा यदि प्रश्न किया जाय तो... ऐसा है न ? तो उसका उत्तर तो पहले विस्तार से कहा जा चुका है और यहाँ फिर से भी कहा जा रहा है। सूक्ष्म बात है प्रभु! यह तो अपूर्व बात है बापू ! अनंतकाल में उसने सम्यग्दर्शन पाया नहीं। शुरूआत करी नहीं। आहा..हा...! इसमें यदि राग की मंदता कर रहा हो तो पुण्य है, धर्म नहीं। आहा..हा...! कठिन बातें। जगत आजकल (पुण्य को) धर्म मानकर, मनवा रहा है। आहा..हा...! वह वीतराग सर्वज्ञ के मार्ग से विरुद्ध प्रकार से मानकर मनवा रहा है। आहा..हा...! अब प्रथम तो मुख्य बात कहनी है। कहते हैं कि मुद्दे की मुख्य बात, इस जिंदगी में (कभी) सुनी नहीं है, ऐसी ये बातें हैं। दृष्टांत पहले दिया था कि, जो बैल होता है (वह) जहाँ धुरा होता है वहाँ सिर मारता है। क्योंकि धुरा ऊँचा रहता है। दीवाल में सिर मारे तो दीवाल ऊपर नहीं उठती है। उस प्रकार जगत जहाँ तहाँ सिर पटके कि इसका कर दूँ और इसका कर दूँ (परंतु) किसी का तीनकाल में तिलभर भी कर नहीं सकता। कर दूँ.. कर दूँ... कर दूँ (उस प्रकार करने में) माथापच्ची करता है।

आहा..हा...! दिगंबर संत, वीतरागी आनंद में झूलनेवाले जंगल में बसते हैं। आहा..हा...! जो अतीन्द्रिय आनंद के झूले में झूलते हैं वे (मुनिराज) इस प्रकार कह रहे हैं कि, हमसे कोई ऐसा प्रश्न करे तो उसे हम उत्तर देंगे। बाकी (व्यर्थ के) वैसे प्रश्न करे तो उसका उत्तर यहाँ नहीं है।

आहा..हा...! अब उत्तर दे रहे हैं। पहले हमें मुद्दे की (मुख्य) बात यह कहनी है कि, भगवान आत्मा कौन है ? हमें तो यह बताना है। `**प्रथम तो, आत्मा वास्तव में चैतन्यसामान्य से व्याप्त अनंत धर्मों का अधिष्ठाता (स्वामी) एक द्रव्य है,...**' सूक्ष्म बात है प्रभु ! भगवंतस्वरूप है नाथ तेरा। तू अंदर महान भगवान है। आहा..हा...! यदि भगवानस्वरूप न हो तो, पर्याय में परमात्मा भगवान कहाँ से होगा ? (वह) (परमात्मापना) कहीं बहार से आनेवाला है ? आहा..हा...! अंदर वह भगवानस्वरूप है। उसकी पर्याय

में विकृति है। वह बात (आगे) कहेंगे। किन्तु उसका स्वरूप तो, (उसका) द्रव्य (और) गुण तो भगवत्स्वरूप, जिनस्वरूप है।

आहा..हा...! यह `**आत्मा वास्तव में चैतन्यसामान्य से...**' आहा..हा...! चेतन, चैतन्यसामान्य से... आहा..हा...! सूक्ष्म बात है प्रभु ! सम्यक्दर्शन व सम्यक्ज्ञान कैसे हो ? उसकी बातें हैं। भाई! जो अनंतकाल में किया नहीं है और सम्यग्दर्शन (हुए) बिना उसने साधुपना अनंतबार लिया, व्रतपालन किये, सब फोकट में - निरर्थक गया। आहा..हा...! यहाँ तो एक का अंक हो तो उपर शून्य लगाकर दस होवे। और बिना एक के अंक के लाख शून्य लगाये तो एक एक का अंक (उस) संख्या में आ नहीं सकता है। न्याय समझ में आ रहा है ?

यहाँ कह रहे हैं... `**वास्तव में चैतन्यसामान्य से व्याप्त...**' (अर्थात्) चैतन्यवस्तु अंदर भगवान है, उसमें `व्याप्त' (अर्थात्) अनंत धर्म। आहा..हा...! उसमें अनंतधर्म हैं, अनंतगुण हैं, अनंतीपर्याय हैं। वे सब उसके अनंत धर्म हैं। अनंत धर्म माने उसने धारण करके रखे हुए गुण व पर्यायें।

आहा..हा...! यहाँ कह रहे हैं, प्रभु ! एकबार सुन। अंदर यह वस्तु है न ! वह अनंत धर्म से व्याप्त आत्मपदार्थ है। अनंत धर्म माने ? वह वस्तु है, उसमें अनंतगुण हैं और वर्तमान (में) उसकी अनंती पर्यायें, परिणतिरूप दशा है। इन अनंत धर्मो से धारित तत्व है। आहा..हा...! ऐसी व्याख्या।

व्रतपालन करो, यह भक्ति करनी, पूजा करनी, यात्राओं का आयोजन करना, लो ! एकदम सीधा और सरल। कुछ समझने की उसमें जरूरत है ? अरे ! भाई ! ऐसा तो अनंतबार किया, बापू ! सून, तुझे तत्त्व की खबर (नहीं है)।

आहा..हा...! वस्तु एक, और उसने धारण करके रखे हुए और टीके हुए गुण व पर्यायें (ऐसे) अनंत धर्मो से व्याप्त आत्मा है। धर्म माने यहाँ सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय - वह धर्म (इस प्रकार) सिर्फ उसकी बात नहीं है। यहाँ तो त्रिकाली गुण हैं उन्हें भी धर्म कहें और उसकी पर्याय में विकृत व अविकृत अवस्था है उसे भी धर्म (कहें)। (धर्म) अर्थात् वस्तु को धारण करके रखी हुई चीज है वह।

आहा..हा...! `**अनंत धर्मों का अधिष्ठाता (स्वामी) एक द्रव्य है,...**' अंदर जो पुण्य-पाप के भाव होते हैं उसका भी वह स्वामी है। उसमें होते हैं। (समयसार) ७३ गाथा

में ऐसा कहा था कि, पुण्य-पाप के जो भाव होते हैं, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा, करूणा, कोमलता ये सभी शुभभाव विकार हैं। उसका स्वामी पुद्गल कर्म है। वहाँ तो ऐसा कहा (है)। वह तो वस्तु की दृष्टि को - दृष्टि के विषय को सिद्ध करने के लिये, वह विकृत भाव उसका नहीं है, उसका स्वामी कर्म है, ऐसा सिद्ध किया था। अब यहाँ तो ज्ञानप्रधान (कथन है)। उसके द्रव्य में, गुण में और पर्याय में जो है (वह) उसमें है, उसका है। ऐसी सिद्ध करके वह निर्मल - विकाररहित धर्म की पर्याय होती है, वह भी उसमें स्थित है। और उसमें पुण्य व पाप के विकल्प होते हैं, वह भी उसकी पर्याय में स्थित (है)। उसका वह स्वामी है, उसका वह अधिष्ठाता है। यह तो (कोई गजब) बात है। हाँ !

किस प्रकार कहा ? वह शुभ-अशुभ भाव, उस(रूप) स्वभाव (वह) द्रव्य, गुण में नहीं है। उसका (स्वभाव की) दृष्टि का विषय चल रहा हो तब (वह) (शुभ-अशुभ भाव) कर्म का है। आत्मा का नहीं, ऐसा कहते हैं। परंतु यहाँ ज्ञान का (विषय चल रहा है)। जो ज्ञान निश्चय को भी जाने और जो ज्ञान वर्तमान पर्याय को भी जाने ऐसा श्रुतज्ञान जो प्रमाण(ज्ञान) उसमें - उन सब गुण व पर्याय का स्वामी आत्मा है। ऐसा जानता है। अरे ! समझ में आये इतना समझो बापू ! यह तो वीतराग (का) अलौकिक मार्ग है।

यहाँ दोनों ही बातें पक्की कर दी हैं कि वस्तु (जो) है, भगवानआत्मा - वह शुद्ध है, पवित्र है, आनंदकंद है, ज्ञान की मूर्ति है। अनंत गुण का पवित्रता का वह धाम है। वह दृष्टि, वह सम्यग्दर्शन निर्विकल्प है और उसका विषय निर्विकल्प है। उसके (दृष्टि के) विषय में निर्मल पर्याय भी नहीं आती (तो) विकार की पर्याय उसके विषय में (कहाँ से) (आयेगी ?) अरे ! ऐसी बातें। ये किस प्रकार की और कहाँ की बातें हैं ? यह जल्दी समझ में न आये ऐसी बात है।

देह तो मिट्टी - धूल है। वह तो कितनी दूर की अलग चीज है। जो आठ कर्म हैं वे जड़, मिट्टी, धूल अलग चीज है। अंदर में सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान जिसको आत्मा कहते हैं - उस आत्मा में अनंत धर्म माने गुण व पर्याय व्याप्त हैं। कर्म और कर्म की शक्तियाँ और शरीर उसकी कोई पर्याय आत्मा में व्याप्त नहीं है। यह शरीर है उसकी यह पर्याय है। यह अवस्था आत्मा में व्याप्त नहीं है। वह जड़ में व्याप्त

है। आहा..हा...! वह बोलने की - चलने की जो क्रिया होती है वह सभी जड़ में व्याप्त है, जड़ में स्थित है, जड़ में प्रसरी हुई है - आत्मा में नहीं। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं।

आत्मा में तो आनंद आदि जो अनंत शुद्ध गुण हैं वे आत्मा में व्याप्त हैं और उसकी पर्याय में, अवस्था में, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की जो निर्मल - वीतरागी धर्म की पर्याय वह आत्मा में व्याप्त है। एवं उसके साथ हुआ जरा सा राग का भाव, पुण्य-पाप के विकल्प का भाव वह भी आत्मा में व्याप्त है। आत्मा की पर्याय के अस्तित्व में वह है। ऐसा है। वीतराग जिनेन्द्रदेव उनका मार्ग कोई अलौकिक है। परंतु वह मार्ग सारा अभी लुप्त हो गया है। बहार की माथापच्ची में सिर्फ धर्म... धर्म मान लिया गया है।

आहा..हा...! यहाँ परमात्मा ऐसा कह रहे हैं... संतगण आढ़तिया होकर परमात्मा की बात कर रहे हैं। सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो कहा वह स्वयं संतगण - अनुभवीलोग (कह रहे हैं)। आहा..हा...! संतगण अतीन्द्रिय आनंद के अनुभवी हैं। (वे ऐसा कह रहे हैं कि) पर्याय विकृत है और पर्याय निर्विकल्प है - शुद्ध है, गुण शुद्ध हैं, वह सब जीव में व्याप्त है। '**चैतन्यसामान्य से व्याप्त अनंत धर्मों का अधिष्ठाता (स्वामी) एक द्रव्य है,...**' जिस प्रकार दुनिया कहती है न कि यह ईश्वर जगत का अधिष्ठाता है। वह झूठी बात है। जगत स्वतंत्र चीज है। उसका कोई ईश्वर - कर्ता, अधिष्ठाता है नहीं।

आहा..हा...! यहाँ कह रहे हैं कि यह आत्मा उसके जो अनंतगुण, जो अनंती पर्यायें, आहा..हा...! उसमें कुछेक निर्विकल्प अर्थात् निर्मल और कुछेक मलिन ये सब धर्म। अर्थात् धारण करके रखे हुए हैं ऐसा आत्मा है। यहाँ साधक की बात है, केवली की बात नहीं है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! यह भाषा। समझना कठिन। वह सीधा, सरल रास्ता। दो-पाँच लाख खर्च कर दो, दो हजार - पाँच हजार लोगों की यात्रा निकालो। आपको धर्म हो गया। धूल में भी धर्म नहीं है, सून तो सही ! ऐसी मझदूरी तो अनंतबार करी है।

आहा..हा...! यह अंदर आत्मा कौन है ? उसके गुण व पर्याय के ज्ञान बिना (सब) (व्यर्थ) (है)। यहाँ श्रुतज्ञान लिया है न ? सूक्ष्म बात है। धीरे धीरे समझना।

आहा..हा...! `चैतन्यसामान्य से व्याप्त अनंत धर्मो का स्वामी एक द्रव्य है।' वस्तु-द्रव्य, स्वयं प्रभु, परद्रव्य से भिन्न परंतु अपने अनंत गुण और अनंती निर्मल (तथा) विकारी पर्याय से व्याप्त है। उसका स्वामी आत्मा है। आहा..हा...! तब फिर राग का स्वामी कर्म है, यह बात कहाँ गई ? वहाँ दृष्टिप्रधान कथन में, पर्याय उसमें, उसकी है (फिर भी) उसे गौण करके, कर्म की है ऐसा कहा गया है, अभाव करके नहीं। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? अरे ! ऐसी बातें, अब फुर्सत कहाँ (मिले) ?

आहा..हा...! सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेन्द्रदेव तीर्थंकर भगवान ऐसा कह रहे हैं कि यह आत्मा जो है वह अनंत शक्ति - गुणरूपी धर्म व पर्यायरूपी धर्म (का) (धारक) है। धर्म अर्थात् धारण करके रखा हुआ तत्व। धर्म अर्थात् मोक्ष का मार्ग ऐसा नहीं। मोक्ष का मार्ग है उसे भी यहाँ धर्म कहा जाता है और रागादि पर्याय होती है उसे भी धर्म (कहा जाता है)। धर्म अर्थात् धारण करके रखी हुई बात कही जाती है। आहा..हा...! समझ में आया कुछ ? आहा..हा...! `अनंत धर्मो का अधिष्ठाता (स्वामी) एक द्रव्य है।' अनंत धर्मो के होने के बावजूद वस्तु तो एक द्रव्य है। आहा..हा...! द्रव्य अर्थात् पैसा नहीं, हाँ ! पैसा धूल है। वह जड़द्रव्य है।

आहा..हा...! भगवान जिनेन्द्रदेव त्रिलोकनाथ परमेश्वर साक्षात् महाविदेह क्षेत्र में सीमंधर प्रभु बिराजमान हैं। यह वहाँ से आई हुई बात है। महाविदेह क्षेत्र में, समवसरण में भगवान बिराजमान हैं (वहाँ) इन्द्र, नरेन्द्र, बाघ और शेर जिनकी सभा में श्रवण के हेतु आते हैं। आहा..हा...! भगवान महावीर थे तब भी ऐसा (ही) था। प्रभु तो मोक्ष सिधारे। महावीर आदि तीर्थंकर तो... णमो सिद्धाणं में गये। वे कोई अब अरिहंतपद में नहीं हैं। और ये (सीमंधर प्रभु) तो अभी अरिहंतपद में हैं। णमो अरिहंताणं इस पद में हैं। और २४ तीर्थंकर णमो सिद्धाणं - सिद्ध(पद में) हैं। अरिहंत को वाणी होती है। सिद्ध को वाणी नहीं होती। उन अरिहंत भगवान त्रिलोकनाथ की (यह) वाणी है। संतगण उस वाणी का सार यहाँ जगत के सामने खुला कर रहे हैं।

आहा..हा...! एक तो बाहर के धंधो के मारे फुर्सत न पाये। भाई, ऐसा कहते हैं कि (हमें) सारे दिन इस जड़ का पोषण करना है। यह स्त्री, यह बच्चें, यह धंधा, यह भगदड़ और यह शोरगुल... मानो जैसे इसका (सब हम) कर लेंगे। धूल का भी कुछ कर नहीं सकता, सुन तो सही ! परद्रव्य को छूता भी नहीं है (तो)

करेगा कहाँ से ? कुछ समझ में आया ?

गाथा २६८, पृष्ठ ५०७ (प्रवचनसार) (वहाँ ऐसा कहा है) (कि) '**विश्व के वाचक, 'सत्' लक्षणवान् ऐसा जो शब्दब्रह्म...**' अधिष्ठाता विश्व माने जगत। उसका वाचक सत् लक्षणवाला समूचा शब्दब्रह्म। '**और उस शब्दब्रह्म के वाच्य 'सत्' लक्षणवाला जो सम्मपूर्ण विश्व उन दोनों के ज्ञेयाकार अपने में गूँथ जाने से (-ज्ञातृत्व में एक ही साथ ज्ञात होने से) उन दोनों का अधिष्ठानभूत ऐसा 'सत्' लक्षणवाले ज्ञातृत्व का निश्चय किया होने से 'जिसने सूत्रों और अर्थो के पद को (-अधिष्ठान को) निश्चित किया है ऐसा' हो,...**' क्या कह रहे हैं ? इस जगत में जितना सत् है, जगत के पदार्थ उसका भी आकार इसके ज्ञान में आता है। और (जो) शब्द हैं उनका भी यहाँ ज्ञान होता है। शब्द व सत् पूरी चीज - उसका अधिष्ठाता - भगवान आत्मा - जाननेवाला है।

आहा..है...! '**ज्ञेयाकार अपने में युगपत् गुंथ जाने से...**' यह क्या कह रहे हैं ? सूक्ष्म बात है। प्रभु ! (यह) समस्त जगत है। छह द्रव्य, उनके गुण और उनकी अनंती पर्यायें - उनको कहनेवाले (बतानेवाले) ये शब्द (हैं) (कि) जो बारह अंग की वाणी है - ये शब्द हैं और यह तत्व है यह वस्तु है। उस वस्तु का भी यहाँ ज्ञान है और उन शब्दों का भी ज्ञान है। ऐसा ज्ञेयाकाररूप होनेवाला भगवान आत्मा, उन सबका अधिष्ठाता है। वह (आत्मा) ज्ञान की पर्याय और गुण का अधिष्ठाता है, शब्द का नहीं। अरे ! ऐसी व्याख्या। २६८ गाथा है न ?

"सूत्रार्थ पद निश्चय, कषायप्रशांति, तप-अधिकत्व है,
ते पण असंयत होवे, यदि छोड़े न लौकिक-संग को।" ।।२६८।। (प्रवचनसार)

आहा..हा...! क्या वाणी ! क्या कहें ! समस्त जगत है न ? चौदह ब्रह्मांड ! भगवान ने छह द्रव्य देखें। इन छह द्रव्यों का समुदाय समस्त जगत और अलोक। यह सब 'सत्' है। और उसके कहनेवाले - 'सत्' को कहनेवाले शब्द भी 'सत्' है। ये शब्द व सत् - पूरी चीज - अपने ज्ञान में जानने का - ज्ञेयाकार होनेवाला भगवान आत्मा, उसके ज्ञान की पर्याय का अधिष्ठाता - स्वामी आत्मा है। शब्दों का एवं पर का (अधिष्ठाता) नहीं। आहा..हा...! ऐसी व्याख्या ! यह भगवान का मार्ग... बापू... यह दुःख से मुक्त होने का पंथ प्रभु ! बहुत सूक्ष्म।

श्रोता :- पहले सूक्ष्म कहते थे, आज बहुत सूक्ष्म कह रहे हो।

पूज्य गुरुदेवश्री :- अलिंगग्रहण के २० अर्थ कल पूरे हो गये। छपने के लिये दिये हैं। यह तो जो क्रिया होनेवाली हो (वह) (होवे)... देनेवाले दे... और वह सब आये और जाये। होता ही रहता है।

आहा..हा...! यहाँ कह रहे हैं प्रभु ! एक बार सून तो सही। यह जो पूरी दुनिया है - लोकालोक - सत् - उसका ज्ञान यहाँ होता है। और समस्त ब्रह्मांड को कहनेवाले जो शब्द - बारह अंग की वाणी - उन शब्दों का भी यहाँ ज्ञान होता है। ज्ञान की पर्याय में उन शब्दों का ज्ञान और समस्त लोकालोक का ज्ञान (होता है)। उसका वह अधिष्ठाता - स्वामी है। अपनी ज्ञान की पर्याय के अलावा अन्य अनंत सत् है और उसकी (कथन करनेवाली) वाणी है। आत्मा उसका अधिष्ठाता - स्वामी नहीं है। यह अधिकार चले तब स्पष्ट होवे, इसके बिना बैठता नहीं।

आहा..हा...! यहाँ प्रभु ऐसा कह रहे हैं भाई ! तुम ज्ञानस्वरूपी प्रभु हो न ! तेरे ज्ञान में लोकालोक का ज्ञान होता है और शब्दों का भी ज्ञान होता है। लोकालोक में - लोकालोक सत्स्वरूप कहा और उनका कथन करनेवाले शब्द - दो बात हुई। सूक्ष्म बात है। प्रभु ! क्या करें ? आहा..हा...! भगवान ने - परमात्माने पूरा जगत - लोक व अलोक जाना। उस प्रकार यहाँ ज्ञान की पर्याय में भी लोकालोक 'सत्' है ऐसा जानने में आये व इसके अलावा चौदह ब्रह्मांड के सत्व को कहनेवाले वे शब्द हैं, उन शब्दों का यहाँ ज्ञान हो। उन शब्दों का तथा अन्य (जो) सत् है उनका यह (आत्मा) स्वामी नहीं है, परंतु उससे संबंधित यहाँ ज्ञान होता है उसका वह स्वामी है। आहा..हा...! दुनिया का लोजिक (तर्क) कर करके मर गया। अरेरे ! आत्मा क्या है? वह किस प्रकार प्राप्त हो ? प्रभु ! यहाँ फरमाते हैं कि भाई ! एकबार सून तो सही भाई ! और वह भी ऐसा सवाल जिसे उठा है उससे हम कह रहे हैं हाँ... आहा..हा...! जो सिर्फ कहने के लिए (दिखाने के लिए) सुनने आये हैं, समय पास करने आये हैं, उनके लिए यह नहीं है। आहा..हा...! कितनी शर्त है ? श्रोता के लिए भी ये शर्त हैं।

आहा..हा...! जिसे भगवान आत्मा कौन है ? उसे किस प्रकार प्राप्त किया जा सके ? ऐसी जिसे धगश उठी है, जिज्ञासा हुई है, ऐसे शिष्य के लिए हम यह उत्तर दे रहे हैं। आहा..हा...! ऐसी बात है, बापू ! क्या करें ? सोनगढ की बात

निश्चय की है, ऐसा कहकर आदमी छोड़ देते हैं। अरे ! प्रभु ! सुन तो सही।

भाई ! यहाँ तो कहते हैं कि, व्यवहार का राग आदि हो - परंतु राग का ज्ञान कब यथार्थ हो ? कि राग से भिन्न हुयी है ऐसे चैतन्य की दृष्टि व अनुभव हो तब राग मेरी पर्याय में है, इस प्रकार उसे सच्चा ज्ञान होता है। वह राग कर्म को लेकर है ऐसा नहीं। आहा..हा...!

दूसरी तरह (कहें तो) इस शुद्ध ज्ञानसवरूपी आत्मा में, शुद्ध ज्ञान में भी, समस्त लोकालोक - जितना कुछ 'सत्' है, उसका यहाँ ज्ञान होता है। उसका नहीं परंतु तत्संबंधित अपना ज्ञान यहाँ होता है। और उसके कहनेवाले शब्द हैं, उन शब्दों को लेकर नहीं परंतु यहाँ शब्दों का ज्ञान अपने स्व-पर प्रकाशक स्वभाव के कारण से ज्ञान होता ऐसा जो भगवान आत्मा - उस 'सत्' का - पूर्ण 'सत्' का - ज्ञान और शब्दों का ज्ञान - उस ज्ञान का वह (आत्मा) अधिष्ठाता और स्वामी है। परंतु परचीज का, शरीर का, पत्नी का (या) बच्चों का वह स्वामी नहीं है।

आहा..हा...! आत्मा में अनंतगुण हैं। आकाश है वह सर्वव्यापक है। यह लोक - ब्रह्मांड तो असंख्य योजन में है और फिर खाली... खाली.. खाली... भाग अनंत... अनंत... अनंत... उसके जितने प्रदेश हैं, वैसे अनंत प्रदेशों से भी बढ़कर अनंतगुने गुण, एक आत्मा में है। एक परमाणु जितनी जगह को रोके उसे प्रदेश कहते हैं। वह भी उसका धर्म है। उसका वह (आत्मा) अधिष्ठाता स्वामी है। आहा..हा...! उसका स्वामी कोई ईश्वर है ऐसा नहीं है। आहा..हा...! कैसी शैली ! आहा..हा...! देखो, तो सही !

उस ज्ञान की पर्याय में लोकालोक ज्ञात हुआ और शब्दों का ज्ञान हुआ, आहा..हा...! उस प्रकार इस ज्ञान का गुण व ज्ञान की पर्याय का स्वामी आत्मा है। स्वामी का स्वामी, कोई ईश्वर है, ऐसा नहीं।

आहा..हा...! इस तीनलोक के नाथ वीतराग (प्रभु) ! इन्द्रों व गणधरों के बीच वाणी निकलती होगी, आहा..हा...! उन बारह सभाओं में सैकडों शेर, सैकडों बाघ, सैकडों काले नाग, पचास पचास हाथ लम्बे, ऊपर लम्बे फनवाले (नाग) सुनने आते हैं। सुनकर जम जाते हैं ! समवसरण में पिल्लों की भाँति सुनने बैठते हैं। आहा..हा...! बापू ! वह वाणी कैसी होगी ? भाई! वह वीतराग त्रिलोक के नाथ की वाणी (अलौकिक

होती है)।

आहा..हा...! यहाँ तो कह रहे हैं, उस वाणी में (ऐसा आया कि) यह आत्मा कौन है ? यदि तू ऐसा प्रश्न पूछना चाहता है तो हम कह रहे हैं कि तू ज्ञानस्वरूपी, अनंत गुणस्वरूपी और पर्याय में (जो) निर्मल और विकृत अवस्था (है) उसका तू स्वामी है। आहा..हा...! कुछ समझ में आ रहा है ? 'वास्तव में चैतन्यस्वभाव से व्याप्त अर्थात् (उसमें) स्थित अनंत धर्मो का स्वामी, एक द्रव्य है' आहा..हा...! यह कथा नहीं है। प्रभु ! यह तो भगवानआत्मा की भागवत्कथा है। जिनेन्द्र भगवान की भागवतकथा, आहा..हा...! ये सब लोग बाहर में 'सप्ताह' बिठाकर (भागवतकथा) करते हैं वह नहीं। यह तो भगवान के घर की तीर्थंकर त्रिलोकनाथ आहा..हा...! उनकी कथा है। सुन नाथ ! (यहाँ ऐसा कहना चाहते) कि पुण्य के परिणाम जीव में होते हैं उसका वह स्वामी है। यहाँ तो ऐसा सिद्ध करना है। क्योंकि उसकी पर्याय में होते हैं। वह कोई कर्म के कारण और कर्म में होते हैं ऐसा नहीं है।

आहा..हा...! आहा..हा...! ज्ञानी को पर्याय में कोई रौद्रध्यान की भी पर्याय होती है। आहा..हा...! परंतु वह उसकी पर्याय में है। किन्तु किसको ? जिसको कि आत्मा के आनंदस्वरूप का ज्ञान और भान हुआ है उसे अपनी पर्याय में है। उसका स्वामी मैं हूँ, ऐसा वह मानता है। यहाँ तो सभी - अनंती पर्याय निर्मल व विकृत, और अनंतगुण (उन) सभी का स्वामी आत्मा (ऐसे) लेना चाहते हैं। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? यहाँ ऐसे नहीं लेना है कि केवल विकृत अवस्था है और उसका वह जाननेवाला है, ऐसा नहीं लेना है। यहाँ तो साधक जीव है, पूर्ण दशा नहीं है, इसलिये उसे राग की पर्याय भी होती है और राग के साथ सम्यक्दर्शन (और) (सम्यक्)ज्ञान की (पर्याय) (भी) (है)। शुद्ध चैतन्य स्वरूप है उसकी प्रतीति व ज्ञान की पर्याय भी है। उन सभी पर्यायों और गुणों का स्वामी आत्मा है। आहा..हा...! यहाँ ध्येय क्या है उसका सवाल नहीं है। यहाँ तो ज्ञान में ज्ञेय कितना बड़ा है ? (उसकी बात है)। ध्येय तो द्रव्य है। सम्यग्दर्शन में ध्येय तो द्रव्य है। ध्येय अर्थात् आश्रय करने लायक तो द्रव्य है। परंतु यहाँ तो ज्ञानप्रधान कथन में उसकी पर्याय को - विकृत (और) अविकृत - अवस्था और उसका स्वामी कहकर उसका भान कराया है।

आहा..हा...! ऐसी बात है। परंतु ऐसा धर्म कहाँ से निकाला ? ऐसा हम कभी

भी सुनते नहीं थे। ईच्छामी, पडिक्कमयं... (और ऐसा सब) करते थे। 'पालेज' में मैं दुकान पर बैठता था तब (वह) 'मिच्छामिदूक्कडम्' करते थे। मैं तो 'भगत' कहलाता था। हमने तो प्रतिक्रमण आदि याद करके कंठस्थ किये थे। और मैं प्रतिक्रमण करवाता था। पर्युषण में आठ दिन (प्रतिक्रमण करवाता था)। जितने अपने स्थानकवासी होते थे (वे) सब इकट्ठे होते थे। 'पालेज' में ऐसा सब चलता था। आहा..हा...! वह मार्ग कुछ दूसरा मालूम पड़ता था। वह मार्ग नहीं है।

आहा..हा...! यहाँ तो प्रभु ! प्रश्न करने की योग्यतावाला जीव कैसा ? और उसको उत्तर देनेवाले भगवान, मुनि, संत कैसे ? और उन्होंने क्या कहा ? आहा..हा...! प्रभु ! तुम एक आत्मा हो न ! यहाँ (आत्मा को) जान लेने के बाद की बात है। अभी आत्मा जाना नहीं है उसकी बात नहीं है। आहा..हा...! क्योंकि श्रुतज्ञान प्रमाण से ज्ञेय होता है। ऐसा कह रहे हैं न ? भावश्रुत ज्ञान है (वह) (प्रमाणज्ञान है)... सूक्ष्म बहुत बापू !

क्या कह रहे हैं ? देखो। क्योंकि अनंत धर्मो में व्याप्त होनेवाले अनंते नय (हैं)। यहाँ तो ४७ नय कहेंगे। परंतु नय अनंत हैं। आहा..हा...! भावश्रुतज्ञान, प्रमाण(ज्ञान) वह द्रव्य को जानता है, गुण को जानता है और पर्याय को जानता है। परंतु उस प्रमाण का भेद जो नय हैं, वे अनंत हैं। ऐसा प्रमाण(ज्ञान) है वह अवयवी है, अर्थात् समस्त द्रव्य को और पर्याय को दोनों को जानने का उसका स्वभाव है। (यहाँपर) भावश्रुत ज्ञान की बात है। इन शब्दों की (बात) नहीं है। आहा..हा...! और उस भावश्रुतज्ञान का जो उपयोग है, उसमें अनंत नय, उसके अवयव (हैं)। अनंत नय हैं। परंतु अनंत किस प्रकार से कहें ? ४७ नय को कह कर फिर, (नय) अनंत हैं ऐसा कह देते हैं। (लौकिक में भी ऐसा होता है न) कि 'थोड़ा सा लिख पाये हैं उसे ज्यादा समझकर पढना।' उस प्रकार यहाँ भगवान कह रहे हैं (इस प्रकार) ४७ नय कहेंगे (परंतु) ज्यादा करके समझना कि, नय अनंत हैं।

आहा..हा...! धीरे धीरे पकड़ना प्रभु ! क्या करें ? मार्ग केवली परमात्मा का (बहुत) (सूक्ष्म)। 'केवलीपण्णत्तो धम्मो' इस प्रकार मांगलिक में सब कुछ बोले। परंतु वह कुछ समझे नहीं कि 'केवली' क्या और 'धम्मो' क्या ? यहाँ कह रहे हैं कि '**अनंत धर्मो में व्याप्त होनेवाले जो अनंत नय...**' एक एक धर्म को बतानेवाला एक

एक नय (है)। इसलिये अनंत नय (हुए)। इसलिये अनंत नय (हैं)। (वे) श्रुतज्ञान प्रमाण का अवयव (है), भाग (है)।

ऐसे `**अनंत नय हैं उनमें जो व्याप्त होनेवाला जो एक श्रुतज्ञानस्वरूप...**' वह श्रुतज्ञान एक स्वरूप है। उसके अनंत नय हैं। आहा..हा...! सूक्ष्म बातें हैं। यह सब जाहिर हो जाय (तो) लोगो के कान में तो पड़े। अलिंगग्रहण, ३२० गाथा (जयसेनाचार्यदेव की टीका), ये ४७ शक्ति, ४७ नय... (ये सब) जैनदर्शन के पेट (हैं), नवनीत-मक्खन (है)।

आहा..हा...! अरेरे ! ऐसा मौका आया, मनुष्यत्व मिला, उसमें भगवान क्या कह रहे हैं ? उसका सच्चा ज्ञान ही न करूँ ? अरे भाई ! तूने क्या किया ? आहा..हा...!

श्रोता :- सार में (भी) सारस्वरूप आ गया।

पूज्य गुरूदेवश्री :- हाँ, सार है।

अनंत नय (हैं) उनमें व्याप्त होनेवाला कौन ? (तो कहते हैं कि) `**एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण...**' भावश्रुतज्ञान (की बात है)। भावश्रुत द्वारा द्रव्य, गुण व पर्याय का ज्ञान होता है, उस ज्ञान को भावश्रुतप्रमाण कहते हैं। भावश्रुतप्रमाण रहता है पर्याय में। क्या कहा ? भावश्रुतप्रमाण पर्याय में है, परंतु उसका विषय द्रव्य, गुण, पर्याय तीनों हैं। अभी तो लम्बा है... विशेष कहेंगे...



प्रवचन : दि. २२-१२-१९७७

प्रवचनसार - नय का अधिकार है। फिर से (लें), शिष्य का प्रश्न है कि आत्मा कौन है? उसने ऐसा प्रश्न नहीं किया कि ये छह द्रव्य किस प्रकार हैं ? कुछ समझ में आया ? छह द्रव्य कौनसे हैं ? ऐसा सवाल नहीं किया है। आहा..हा...! आत्मा कौन है ? ऐसा प्रश्न किया है। मूल मुद्दे की मुख्य बात है। आहा..हा...! वह आत्मा कैसा है ? और किस प्रकार प्राप्त किया जाता है ? वह आत्मा कैसा है ? और किस विधि से उसे पाया जा सके, प्राप्त किया जा सके ? ऐसा प्रश्न शिष्य का है। मुद्दे की मुख्य बात का (प्रश्न) है। बाकी सब ये भक्ति और पूजा और व्रत तो विकल्प-राग है। यहाँ तो आत्मा कौन है ? और किस प्रकार प्राप्त किया जा सके ? व्यवहार रत्नत्रय किस प्रकार प्राप्त किया जा सके ? ऐसा प्रश्न उसका है ही नहीं।

आहा..हा...! कैसा है अंदर यह आत्मा ? क्योंकि अपनी पर्याय में छह द्रव्य को जाने, ऐसा तो उसकी पर्याय का सामर्थ्य है। इसलिये छह द्रव्य कैसे हैं ? यह नहीं कहकर आत्मा कैसा है ? इस प्रकार उसकी ही बात की, आहा..हा...! और वह किस प्रकार प्राप्त हो ? आत्मा किस प्रकार प्राप्त हो जिससे कि जन्म-मरण मिटे ? अर्थात् प्रश्नकार की मर्यादा कितनी होती है, यह भी बताया है। आहा..हा...! उसका सवाल ही यह है। प्रभु ! इस देह में भगवान आत्मा है - किन्तु वह है कौन ? आहा..हा...! और उसे प्राप्त किस प्रकार किया जा सके ? कुछ समझ में आया? हम निर्धन है इसलिये पैसा किस प्रकार प्राप्त हो ? ऐसा नहीं पूछा, आहा..हा...! वह धूल तो अनादिकाल से पुण्य के कारण मिलती है (और फिर) चली जाती है। चढ़ती-उतरती छाया है, उसमें कोई आत्मा नहीं है। आहा..हा...! चढ़ती-उतरती छाया

समझ में आ रहा है ? धूप निकले और जरा देर में छाया हो जाय। उस प्रकार पूर्व का पुण्य हो तो धूल का ढेर पाँच-पचास लाख, करोड़-दो करोड़ मिट्टी दिखे और पाप का उदय हो तो निर्धनता दिखे। वह कोई आत्मा की चीज नहीं है। आहा..हा...! उसी प्रकार हमें किस तरह पुण्य का बंध हो ? और स्वर्ग में जायें; फिर भगवान के पास जाकर धर्म प्राप्त करेंगे, ऐसा भी नहीं पूछा है। आहा..हा...! पंचमकाल के शिष्य के लिए ऐसी शर्तें ! ऐसी जिम्मेदारी है। और कुछ नहीं है। धूल-मिट्टी जो ये पाँच, पचास, दो करोड़ धूल मिले, ऐसी तो धूल अनंतबार मिली और उसमें भटककर मर गया।

आहा..हा...! यहाँ तो आत्मवस्तु कही है, हाँ ! आहा..हा...! और वह कैसे प्राप्त हो ? किस विधि से उसकी प्रप्ति हो ? जिससे कि हमें अनुभव हो और जिससे हमें मोक्ष का कारण बने। ऐसा प्रश्न यहाँ किया है। किस विधि से ? ऐसा प्रश्न किया जा रहा है। आहा..हा...! कहो, ऐसा प्रश्न कहाँ है ? इसमें तो आत्मा मिले उसमें सर्वस्व है। बाहर में धूल में भी (पैसा, परिवार आदि में) कुछ नहीं है। वह अनंतबार स्वर्ग का देव हुआ, राजा, अरबपति (हुआ)। अभी है न दो देश! एक देश में एक राजा, देश छोटा परंतु एक घंटे के डेढ़ करोड़ की आमदनी है। आजकल अरबस्तान में एक देश है, और उसके अलावा एक देश है। वहाँ उस देश की एक अरब की आमदनी है। आमदनी, हाँ ! मूल रकम नहीं। और मरकर फिर जायेंगे नर्क में। आहा..हा...! यह चीजें किस प्रकार प्राप्त हो वह बात यहाँ नहीं है। दूसरी तरह से आत्मा की पर्याय किस प्रकार प्राप्त हो ? ऐसा भी कहा नहीं है। समझ में आया ? आत्मा है, वह किस प्रकार प्राप्त हो ? पूरा जो आत्मा है (वह) आहा..हा...! वस्तु अखंड आत्मा द्रव्य है। आहा..हा...! वह किस प्रकार प्राप्त हो ? ऐसा प्रश्नकार का प्रश्न है अथवा ऐसा प्रश्न जिसका है उसे उत्तर दिया जा रहा है। है (पुस्तक में) ? उसका उत्तर कहा जा चुका, किन्तु इस समय ऐसे जीव को उत्तर दिया जा रहा है। आम तौर से बेगार भुगतने के लिये सुनने आये हो और हमें सुनना चाहिए, सुनने न जाय तो सब लोग ऐसा कहते हैं कि आप जाते नहीं हो, इस प्रकार बेगार भुगतने के लिए सुनने आये हो, उसके लिए यह जवाब नहीं है। जिसे अंतरमें से धगश आई है कि आहा..हा...! अरेरे ! मैं आत्मा कौन हूँ ? उसको मैने

प्राप्त नहीं किया, मैं कौन हूँ ? उसे मैने प्राप्त नहीं किया ? और (जो) मैं नहीं हूँ उसे प्राप्त किया - ये सारे भटकने के रास्ते हैं। कुछ समझ में आया ? उसका उत्तर दिया जा रहा है।

यहाँ फिर से भी कहा जा रहा है, अब प्रथम तो मुद्दे की (मुख्य) बात यह है कि - प्रथम का अर्थ यह है - (सब से) पहले यह कहना है कि - बापू ! वीतराग का मार्ग अनंतकाल से एक सेकंड भी (जीव) समझा नहीं है। आहा..हा...! शास्त्र पढ़ डाले, क्रियाकांड, दया-दान, व्रत, भक्ति के भी भाव अनंतबार किये, (किन्तु) वह कोई (मतलब की) चीज नहीं है। आहा..हा...! तो पहली बात यह है कि यह आत्मा वास्तव में यथार्थ से, निश्चय से, चैतन्यसामान्य से, यह चैतन्य जो जाननेवाला - देखनेवाला ऐसा भगवान आत्मा, उसके साथ में व्याप्त अर्थात् अनंती पर्यायों से व्याप्त है। आहा..हा...! यहाँ तो व्याप्त अनंत धर्म का अधिष्ठाता आत्मा है। आहा..हा...! क्या यह शब्द है ! भगवान आत्मा उसके अनंते धर्मों का वह स्वामी है।

आहा..हा...! यहाँ ऐसा कह रहे हैं कि शरीर का, स्त्री का, कु टुम्ब का, देश का, पैसा का वह स्वामी नहीं है। वह तो परचीज है। उसका स्वामी तू कहाँ से (हो गया) ? आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? तब वह किसका मालिक है ? वह आत्मा कि जिसमें अनंतधर्म निहित हैं। अर्थात् उसमें अनंते गुण स्थित हैं। और उसकी पर्याय में, विकारी या अविकारी सारी जो अनंती पर्यायें हैं। वे विकारी-अविकारी पर्याय और अविकारी त्रिकाली गुण उसका वह अधिष्ठाता, स्वामी है। आहा..हा...! भाई ! वह तुम्हारी धूल का स्वामी नहीं है, ऐसा कह रहे हैं।

आहा..हा...! यहाँ कह रहे हैं कि वह भगवान आत्मा किसका स्वामी है ? वह किसका नाथ है ? किसका वह मालिक है ? इस पत्नी का मैं पति हूँ। लड़के का मैं बाप हूँ, मैं पैसेवाला हूँ, नृपति। मनुष्य का मैं राजा हूँ, नृपति कहते हैं न ! नृ माने मनुष्य, उसका पति, वे सब झूठी बातें हैं। कहते हैं कि आहा..हा...! यदि वह स्वामी या नाथ होवे तो उसके अंदर जो अनंतगुण भरे हैं और उसकी स्वयं की अवस्था में जो निर्मल या विकारी पर्यायें होती है, उसका वह स्वामी है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? यह अनंत धर्म है उसका वह अधिष्ठाता है।

आहा..हा...! जगत में ईश्वर अधिष्ठाता है ऐसा नहीं है। उस प्रकार आत्मा का

कोई अधिष्ठाता - आधार कोई अन्य है ऐसा नहीं है। आहा..हा...! वह स्वयं ही ईश्वर, अनंतगुण और अनंती पर्यायों का अधिष्ठाता स्वामी, स्वयं परमेश्वर है।

आहा..हा...! इस पूरी दृष्टि को उठाकर, ५०, ६०, ७० वर्ष से, अनंतकाल से यह पत्नी मेरी और मेरे बच्चे और मकान मेरा, कितने 'मारा' (गुजराती में 'मारा' अर्थात् एक अर्थ 'मेरा' है और दूसरा अर्थ 'मारनेवाला' ऐसा है) खड़े कर दिये उसने? हाँ ! एक मारा (मारनेवाला) आया हो तो मुश्किल हो जाय ! हाय हाय ! वे डाकू आयेंगे और मारेंगे।

यहाँ शिष्य प्रभु से ऐसा पूछ रहे हैं। प्रभु, मेरा आत्मा है वह कौन है ? और मुझे किस प्रकार प्राप्त होगा ? मुझे तो वही चाहिए। आहा..हा...! अनंतकाल में कभी यह ही नहीं किया है। धर्म का स्वरूप व धर्मी आत्मा कैसा है और कितना बड़ा है ! उसको उसने जाना नहीं है। बाकी संसार की सारी धूल उलट-पलट कर दी है। उसने राग-द्वेष के भाव करके यह मैंने किया, यह मैंने किया, यह मैंने किया, ऐसे राग-द्वेष को किया। किन्तु जितनी बड़ी राग-द्वेष की पर्याय है उतना ही बड़ा आत्मा नहीं है। आहा..हा...! आत्मा तो अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... गुण का नाथ। अनंत... अनंत... अनंत... ऐसे अनंत को अनंतबार कहो तो उतने उतने गुण का नाथ है वह, आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? चक्रवर्ति के ९६ करोड़ ग्राम होते हैं। ९६ हजार स्त्री होती हैं। परंतु यहाँ तो कहते हैं कि एक आत्मा में अनंते अनंते करोड़ गुण हैं। भाई ! तुझे पता नहीं है। आहा..हा...! इस आत्मा में अनंतानंत करोड़ गुण हैं और उसकी पर्याय भी अनंती अनंती करोड़ पर्यायें हैं।

अरे ! ये ऐसी बातें कहीं भी सुनने तक नहीं मिलती। आहा..हा...! यहाँ प्रभु ऐसा कह रहे हैं। अरे ! पूछनेवाला ऐसा पूछ रहा है। मेरा देश कौनसा है ? और मैं कौन हूँ ? और कहाँ हूँ? और मुझे अपनी प्राप्ति किस प्रकार से हो सकती है? आहा..हा...! इस प्रकार प्रश्न करते हुए उससे कहते हैं (कि) भगवान सून ! अनंत धर्मो का स्वामी एक द्रव्य है। वस्तु स्वयं एक द्रव्य है, पदार्थ है। परंतु अनंत गुण व पर्यायों का स्वामी एक द्रव्य है। आहा..हा...! गुण अनंत, पर्याय - अवस्था अनंत और उसका स्वामी एक द्रव्य ही है। द्रव्य दो, तीन, चार, पाँच नहीं है। द्रव्य स्वयं एक है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? क्योंकि एक द्रव्य है (वह) अनंतगुण

और अनंती पर्यायों का स्वामी एक द्रव्य है। उसका कारण कि अनंत धर्मों में व्यापनेवाला स्वामी एक द्रव्य है। उसका कारण कि अनंत धर्मो में व्यापनेवाले जितने गुण-शक्ति आत्मा में हैं, जो आकाश के प्रदेश की संख्या के मुकाबले अनंतगुने गुण (संख्या में) हैं। आत्मा में, आहा..हा...! अनंतगुण, उसको जाननेवाला नय, एक-एक गुण को, एक-एक पर्याय को जाननेवाला ज्ञान का अंश, नय अर्थात् ज्ञान का अंश। आहा..हा...! वे अनंत अनंत नय हैं। आहा..हा...! उन ज्ञान के अंशो को नय कहते हैं। वे नय अनंत हैं। ये सब ऐसी बातें हैं। क्योंकि अनंत गुण और अनंती पर्यायें और एक-एक गुण व एक-एक पर्याय को जाननेवाले को नय कहा जाता है। ऐसे अनंते नय, उसमें व्याप्त होनेवाला (ज्ञान), सूक्ष्म बात है प्रभु ! यह तो सार का भी सार मक्खन कहा है। पूरा प्रवचनसार कहा जा चुका। उसके शीर्ष पर कलश चढ़ाया है। जिस प्रकार मंदिर बनाकर (ऊपर) सोने का कलश चढ़ाते हैं न ! आहा..हा...! उस प्रकार ये अनंत नय, उसमें व्याप्त होनेवाला (ज्ञान) स्थित है। एक श्रुतज्ञान स्वरूप, श्रुतज्ञान प्रमाणज्ञान है। नय है वह प्रमाण का - विशेषरूप से वस्तु का नाप करनेवाला ऐसा जो प्रमाणज्ञान उसके - अंश को नय कहते हैं।वह अनंत नय में व्याप्त श्रुतप्रमाण (है), आहा..हा...!

यहाँ कह रहे हैं कि नय अनंत हैं, परंतु अनंत नयो में व्याप्त होनेवाला एक श्रुतज्ञान है। जैसे पहले (ऐसा) कहा था कि अनंत धर्मो का अधिष्ठान एक द्रव्य है। क्या कहा ? अनंत धर्म माने ज्ञानगुण, अनंत गुण और पर्यायें। उसे यहाँ धर्म माने धारण करके रखी हुई चीज, उन अनंत धर्मो को धारण करके रखा हुआ अधिष्ठान एक द्रव्य है। उस प्रकार अनंत नयों में व्याप्त श्रुतज्ञानप्रमाण एक है। आहा..हा...! सूक्ष्म बातें बहुत भाई ! वस्तु है वह अनंत धर्म (धारण करनेवाला) धर्म अर्थात् ये सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ऐसा यहाँ कुछ नहीं है। धर्म अर्थात् गुण धारण किये हैं, पर्याय धारण की हैं, विकारी पर्याय - अविकारी पर्याय धारण की है। साधक जीव की बात है न ! उसने धारण कर रखी है अतः उसे धर्म कहा जाता है। ऐसे अनंत धर्मो का स्वामी एक द्रव्य है, वस्तु आत्मा (है)। अब उसे जाननेवाले अनंत गुण व अनंत पर्याय को एक-एक नय लागू होता है; उसके अनंत नयो में व्याप्त होनेवाला भावश्रुतज्ञान जिस पर्याय में होता है वह एक भावश्रुत है। नय अनंत हैं

वे उसके अवयव हैं और श्रुतप्रमाण है वह अवयवी है।

आहा..हा...! यह शरीर है वह पूरा अवयवी कहलाता है। और ये हाथ और पैर और ऊँगलियाँ और मुँह - (ये) उसके अवयव कहलाते हैं। इन अवयवों का संपूर्ण रूप अवयवी कहलाता है। उस प्रकार एक-एक गुण व पर्याय को जाननेवाला नय अवयव है। नय अनंत, उसका अवयवी भावश्रुत (है) वह एकरूप है, वह अवयवी पूरा अखंड है।

कैसी कथा-वार्ता ! जैन में जन्म लिया पर कभी भी जैन की चीज क्या है? इसका तो कुछ पता नहीं। आहा..हा...! बाहर की यह मजदूरी करी और उसमें दो, पाँच, दस, करोड़ रुपये मिल गये हो तो देखो तुम, मैं चौड़ा और गली संकरी (ऐसा अभिमान) उसे हो जाता है।

यहाँ तो बड़प्पन भगवान को देना है। कह रहे हैं कि यह जो भगवान आत्मा अंदर बिराजमान है, वह अनंत गुणों के धर्मों का एकरूप द्रव्य है, स्वामी है। और उसको जाननेवाले एक-एक गुण को, पर्याय को, जाननेवाला पर्याय का अंश अनंत हैं। और उन अनंत नय का एक-रूप (है) वह श्रुतज्ञान है। ये पृष्ठ नहीं, हाँ ! भावश्रुत ज्ञान - अंदर जिस भावक्षुत ज्ञान द्वारा आत्मा ज्ञात होता है, गुण ज्ञात होते हैं और ये विकारी, अविकारी पर्याय ज्ञात होती है। आहा..हा...! ऐसा है। बापू ! वीतराग का मार्ग ! एक श्रुतज्ञान ऐसा कहा न ! एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण अनेक नयरूप व्याप्त होनेवाला ऐसा कहा न ! एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण अनेक नयरूप व्याप्त होनेवाला एक श्रुतप्रमाण (है) वह प्रमाण है, पर्याय में भावश्रुत अर्थात् जिस ज्ञान में आत्मा ज्ञात हो, गुण ज्ञात हो, पर्याय ज्ञात हो, विकारी-अविकारी दशा ज्ञात हो। ऐसा जो श्रुतज्ञानी, आहा..हा...! वह प्रमाणपूर्वक, उस श्रुतज्ञान के प्रमाण सहित - प्रमाणपूर्वक स्वानुभव द्वारा, आहा..हा...! वह तो अंतर के अनुभव द्वारा प्रमाण - श्रुतज्ञान के अनुभव द्वारा (उस) स्वानुभव द्वारा आत्मद्रव्य प्रमेय होता है।

क्या कह रहे हैं ? अनंत अनंत उसके गुण। धर्म माने गुण व पर्यायरूपी धर्म अर्थात् विकारी-अविकारी (पर्याय को) धारण करके रखी इसलिए धर्म इस प्रकार इसका धारण करके रखनेवाला एक द्रव्य - ऐसे आत्मा को जाननेवाला अनंत नयों में व्याप्त होनेवाला ऐसा एक श्रुतज्ञान। वह श्रुतज्ञान प्रमाण वर्तमान पर्याय में अखंड श्रुतज्ञान

प्रमाण द्वारा आत्मा प्रमेय माने ज्ञान में ज्ञात होता है। आहा..हा...! उसे इसमें कहाँ ले जाना ? माथा घूम जाता है ! (समझे) तब होता है। जल्दी समझ में आये ऐसा है परंतु अब उसे जाने, धारण करे तब होवे न ! आहा..हा...! अभ्यास करे, थोड़ा-बहुत पढ़े, फिर उसका अर्थ क्या होता है ? (यह समझे) तब उसे समझ में आये। किन्तु अभ्यास ही न मिले (तो आगे कैसे करें ?) वे सारे (लौकिक) अभ्यास व्यर्थ के सब। भावश्रुतज्ञान पर्याय है, परंतु वह पर्याय अनंत नय स्वरूपवाली अखंड पर्याय है।

भाई ! यह तो वीतराग जिनेन्द्रदेव तीर्थंकर परमात्मा का मार्ग ! बापू ! अन्यत्र कहीं नहीं है। आहा..हा...! उसके संप्रदायों में भी अभी (यह) नहीं मिलता, पता तक नहीं है। भगवान आत्मा अनंत धर्मो का अधिष्ठान - स्वामी। एक द्रव्य - वस्तु है। उसके एक-एक गुण को - पर्याय को जाननेवाले श्रुतज्ञान प्रमाण के अंश (वे) नय। (वे) नय एक-एक गुण को और एक-एक पर्याय को जानते हैं और ऐसे अनंत नयों में व्याप्त होनेवाला भावश्रुतज्ञान, जिस ज्ञान द्वारा आत्मा प्रमेय होता है। श्रुतज्ञान प्रमाण द्वारा आत्मा प्रमेय होता है। अर्थात् ज्ञान में ज्ञात होता है। पर्याय ज्ञानगुण की एक पर्याय है। आत्मा वस्तु है, उसमें ज्ञानस्वभाव है। उसकी पर्याय जो अवस्था है, वह निर्मल श्रुतज्ञान वह उसकी पर्याय अवस्था अंश है। त्रिकाली की अपेक्षा से अंश है। परंतु उसके नय की अपेक्षा से वह अखंड ज्ञान प्रमाण पूरा है। यह अपने आप समझ नहीं सकते। (परंतु) बेचारे पढ़ तो सही...

यहाँ पर कह रहे हैं कि प्रभु ! एक बार सून तो सही भाई ! यह तो तीन लोक के नाथ तीर्थंकर सर्वज्ञ परमेश्वर के पंथ की बातें हैं। वे परमात्मा ऐसा फरमाते हैं कि जो तू पूछ रहा है कि कौन है आत्मा ? तो मैं कहता हूँ कि वह आत्मा अनंतगुण व पर्यायोंरूपी धर्म माने - धारण करके रखा हुआ तत्त्व है। एक है। अब किस प्रकार प्राप्त हो ? ऐसा दूसरा प्रश्न था और पहला प्रश्न ऐसा था कि आत्मा कौन है ? कि अनंत धर्मो में व्यापक एक द्रव्य है वह आत्मा। अब किस प्रकार प्राप्त हो ? उसका उत्तर यह है कि एक-एक गुण को, पर्याय को जाननेवाला जो नय, उसका एकरूप जो श्रुतज्ञान प्रमाण उसके द्वारा जानने लायक जाना जा सकता है। फिर से कहें। अपने को यहाँ कौनसी जल्दी पड़ी है ? धीरे-धीरे आहा..हा...!

यह तो अनादिकाल में कभी किया नहीं है। बाहर की सब उधमबाजी कर करके मर गया।

आहा..हा...! यह शुभभाव (है) वह राग की मंदता, वे लोग पाप के लिए पत्नी, बच्चें और दुकानें सम्हालते हैं, वह पापभाव है। उसके मुकाबले यह धर्म के बहाने शोभा, प्रभावना आदि में यदि राग की मंदता हो तो पुण्य है। संयोगी विकारीभाव, उनसे तो तुझे संयोग मिलेंगे, धर्म नहीं। आहा..हा...! यहाँ कह रहे हैं कि, आत्मा जो है अंदर, अनंत गुणों के धर्म का धारक, देखो यहाँ तो विकारी - अविकारी सभी पर्यायें लेनी है। आहा..हा...! उसे अनंत नय, ज्ञान के अंश, उसको धारण करनेवाला जो श्रुतज्ञान अंशी प्रमाण है तो उस पर्यायों को भी अनंत नय की अपेक्षा से उसे अंशी प्रमाण अवयवी कहा जाता है। और त्रिकाली आत्मा की अपेक्षा से श्रुतज्ञान की पर्याय को, अंश को अवयव कहा जाता है। भाई ! ऐसे श्रुतज्ञान प्रमाण द्वारा आत्मा प्रमेय होता है, प्रमाण द्वारा प्रमेय होता है। कोई अंदर दया, दान, व्रत के विकल्प से वह प्रमेय होता है ? (ऐसा नहीं)। वह श्रुतज्ञान उसको जानता है वह प्रमाण। कुछ समझ में आया ?

आहा..हा...! भावश्रुत, भाव होता है उसे ज्ञान जानता है, नय जानता है और प्रमाण भी उन सब को और उसको जाने, परंतु जानने में ज्ञान तो राग को जानता है, परंतु उस राग से ज्ञान ज्ञात होता है ऐसा नहीं है। आहा..हा...! जो राग को जाननेवाला और द्रव्य को जाननेवाला, ऐसा श्रुतज्ञान प्रमाण - वह पर्याय है। उसके द्वारा आत्मा - प्रमेय है। प्रमेय अर्थात् ज्ञान में जानी जा सके ऐसी चीज है। वह श्रुतज्ञान प्रमाण में प्रमेय हो सकती है। आहा..हा...! कहो ! समझ में आता है कि नहीं ? भाई ! भाषा तो सादी है, प्रभु ! भाव तो (जो) है सो है, बापू क्या करे ?

आहा..हा...! तीनलोकका नाथ, अंदर सत्चिदानंद प्रभु पड़ा है न ! आहा..हा...! उसे अपनी पर्याय में - यहाँ तो साधक भी है, और अनंतगुण व द्रव्य निर्मल है। उन सभी को इस श्रुतज्ञान के प्रमाण में यह द्रव्य ज्ञात होता है, गुण ज्ञात होते हैं तथा विकारी-अविकारी पर्याय प्रमेय हो सकती है। श्रुतज्ञान में वह प्रमेय अर्थात् ज्ञात हो सकती है। कुछ समझ में आया ? पहले तो ऐसा कहा था कि अनंतगुण और अनंती पर्यायें, विकारी या अविकारी, उनका धारण करनेवाला आत्मा स्वामी है -

अधिष्ठाता है। अब इन सब को धारण करनेवाला आत्मा, उसे श्रुतज्ञान प्रमाण द्वारा वह प्रमेय हो सकता है। केवल पृष्ठों द्वारा, सुनने के शब्दो द्वारा वह जाना नहीं जा सकता।

क्या कहना भाई, 'अमृतचंद्राचार्य' कौन हैं ? आहा..हा...! वे चलते-फिरते सिद्ध हैं। आहा..हा...! उन्हों ने 'कुन्दकुन्दाचार्य' के एक शब्दमें से - जो उसमें भाव भरा था - उसे निकालकर बात की है। उसे (जीव को) समझ में न आये ऐसी बात हो नहीं सकती। एक अलिंगग्रहणमें से बीस अर्थ निकाले। चौदह दिन तक (प्रवचन) चले हैं। चौदह घंटे, अक्षरः उसका व्याख्यान चौदह घंटे चला। बीस अर्थ आहा..हा...! वीतराग संतो की बलिहारी है। बापू, संत किसे कहें ! बापू वे तो नजर आना मुश्किल, आहा..हा...! चारित्रवंत संत किसे कहते हैं ! अरेरे ! भाग्य कहाँ हे जगत के, आहा..हा...! चारित्रवंत संत, वे तो अलौकिक चीज हैं बापू! आहा..हा...!

वे संत वीतरागी दशा में रमण करनेवाले। वे ऐसा अर्थ कर रहे हैं कि अनंतनय से व्याप्त एक श्रुतज्ञान, अनंतधर्मों से धारण किया हुआ जो स्वामित्व माने द्रव्य, उसमें धारण की हुई पर्यायें विकारी और अविकारी सभी शामिल है, हाँ ! उसको जाननेवाला भावश्रुतज्ञान अर्थात् जो निर्मल श्रुतज्ञान (है) उसके द्वारा इन द्रव्य, गुण व पर्याय प्रमेय माने ज्ञात किये जाते हैं। आहा..हा...! समझ में आता है कुछ ? ये तो अगम-निगम की बातें हैं प्रभु ! क्या करें ? आहा..हा...! पूरा संसार उड़ा दिया न, आहा..हा...! तीनलोक का नाथ, आत्मा प्रभु, आत्मा से ऊँची वस्तु जगत में कोई है ही नहीं। सर्वोत्कृष्ट प्रभु आत्मा, उसके अंदर जो गुण व उसकी पर्यायें, आहा..हा...! उसे प्रमाण ज्ञान-प्रमाण हुआ है न ? निश्चयनय का विषय एक सिर्फ एक द्रव्य। पर्यायनय का विषय अवस्था, परंतु प्रमाण का विषय द्रव्य, गुण व पर्याय तीनों हैं। समझ में आये उतना समझना बापू!

यह तो आहा..हा...! तीर्थंकर सर्वज्ञदेव परमात्मा, आहा..हा...! जिनकी वाणी सुनने के लिए जंगलमें से नाग - बड़े पचास पचास हाथ लम्बे, बड़े नाग, लम्बे फूत्कार करते हुए शांत (चित्तपूर्वक) चले आते हैं सभा में। और केसरी शेर जंगलमें से सैकडों शेर पिल्ले कि भांति चले आते हैं - समवसरण में सुनने के लिए, आहा..हा...! बापू ! वह वाणी और वे भगवान कैसे होंगे, भाई ! आहा..हा...! वे सभा में बैठे हो तो

इस प्रकार पिल्ले कि माफिक - शेर तो यों हाथ जोड़कर, नाग यों खड़े होकर यों (बैठते हैं)। वह वाणी (कैसी) ? वे भगवान कौन ? बापू, वह चीज कोई अलौकिक है। आहा..हा...! उनके समवसरण में वह अनंतबार गया।

आहा..हा...! महाविदेह में भगवान तो त्रिकाल - तीनों काल बिराजमान हैं। महाविदेह क्षेत्र में कभी भी तीर्थंकर का विरह नहीं होता। इस समय प्रभु बिराजमान हैं। सीमंधर भगवान पाँच सो धनुष्य का देह, करोड़ पूर्व की आयु। लाखों केवली हैं। आहा..हा...! बारह सभा में भगवान की वाणी आती है। हाल में है। आहा..हा...! तो किसी भी काल में महाविदेह में तीर्थंकर के वगैर का कोई काल हो नहीं सकता, ऐसे तीर्थंकर के समवसरण में - महाविदेह में जन्म लेकर, अनंतबार गया, अनंतबार वहाँ जन्म लिया और समवसरण में वहाँ अनंतबार गया। परंतु उन्हें क्या कहना है वह समझा नहीं। आहा..हा...! केवली के सामने रह गया कोरा। कहा था न कि दुकान पर (बैठे-बैठे) पढ़ा था। सझ्झाईमाला एक है उसमें २००-२५० सझ्झाई (स्तवन) हैं। ऐसी चार पुस्तेकें हैं। वे चारों ही ले आये दुकान पर। वे पढ़ी। उसमें यह एक आया था उस दिन, हाँ ! अठारह-उन्नीस-बीस वर्ष की उम्र में कि केवली के आगे रह गया (कोरा)। बिलकुल कोरा (अनभिज्ञ) वापिस निकल आया। कोई बात छूने नहीं दी अंदर। कुछ समझ में आया ?

सझ्झाईमाला में आता है। इसकी (जीव की) योग्यता नहीं है। उसकी आवश्यकता नहीं लगती - आवश्यकता। अरे ! कौन हूँ अंदर यह ? उस जाननेवाले को जाना नहीं। पर को जानने में रुक गया, उसे जाननेवाला जानने में नहीं आया। आहा..हा...! क्या कहा ? जाननेवाली पर्याय है। वह जाननेवाला पर को जानने में रूक गया। जाननेवाला अंदर कौन है ? उसे जानने में नहीं रुका।

ऐसा यह द्रव्य... आहा..हा...! आहा..हा...! प्रमाण वह प्रमाणपूर्वक उसे स्वानुभव द्वारा देखा! स्वानुभव द्वारा। आहा..हा...! वह व्यवहार रत्नत्रय के राग द्वारा जानने में आये ऐसा नहीं है। ऐसा कह रहे हैं और वह व्यवहार रत्नत्रय का राग, उसे ज्ञान जाने, परंतु उसके द्वारा आत्मा जानने में आये ऐसा नहीं है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! कितना भरा है? संतों के एक शब्द में... आहा..हा...!

'श्रीमद्' में आता है कि ज्ञानी के एक वाक्य में अनंत आगम निहित हैं। आहा..हा...!

'श्रीमद् राजचंद्र' तो एकावतारी हो गये। एक भव करके मोक्ष जायेंगे। आहा..हा...! परंतु ये अंदर की बातें समझना बापू, यह बहुत कठिन बात है। है तो अंतर की। सत् है, सर्वत्र है, सरल है आहा..हा...! परंतु बतानेवाले गुरु चाहिए, ऐसा लिखा है। आहा..हा...! प्रभु पूर्णानंद का नाथ बिराजमान है न प्रभु ! आहा..हा...! भावश्रुत ज्ञान द्वारा वह ज्ञात होता है। ऐसा है वह, द्रव्यश्रुत से नहीं, राग से नहीं, क्योंकि राग है परंतु उसे श्रुतज्ञान जानता है। परंतु वह राग, निर्मल पर्याय, गुण और द्रव्य, उसे जाननेवाला श्रुतज्ञान प्रमाण है। कुछ समझ में आया ?

प्रभु ! तू अनंतगुण तो क्या अनंती पर्यायों का धारक ऐसा धर्मी द्रव्य है न ! आहा..हा...! उसे जानेवाला अनंत नयों में व्याप्त भावश्रुत - अंतर की ज्ञान की परिणति जो निर्मल भावश्रुत है। वह पर्याय भावश्रुत है। और वह पर्याय भी उस भावश्रुत में प्रमेय (होती है)। द्रव्य, गुण और उसकी विकारी - अविकारी पर्याय उस भावश्रुत में प्रमेय हो सकती है।

आहा..हा...! राग द्वारा ये प्रमेय हो सकते हैं ऐसा नहीं। व्यवहार क्रियाकांड के राग द्वारा वह ज्ञात होती है, ऐसा (है) नहीं। क्योंकि व्यवहार जो राग (वह) तो धर्मी को होता है, परंतु उस राग को जाननेवाला नय है और नय का एक रूप श्रुतज्ञान है। वह श्रुतज्ञान, द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों को प्रमेयरूप में जान सकता है।

यह भगवान ! तेरा यह देश है उसे तूने देखा है ? हाँ ! अनंतबार वहाँ जन्म लिया है, कनाडा में भी अनंतबार जन्म लिया है, अमेरीका में भी एक-एक कण में अनंतबार जन्म ले चुका है आत्मा। आहा..हा...! देश तो था न ! वह (अमेरीका) तो प्रसिद्ध नहीं था, वहाँ तो प्रसिद्ध था न ! आफ्रिका में एक-एक कण में अनंतबार जन्म ले चुका है यह जीव। (परंतु) अब उसे कहाँ (पता है) परंतु उसके स्वदेश अंदर असंख्य प्रदेशी स्वदेश है। आहा..हा...! उसमें वह गया नहीं है। कुछ समझ में आया ?

वह (धर्मी) पुण्य-पाप में आये तो उसे ऐसा लगे कि अरेरे ! यह कहाँ ! यह कहाँ (आ गये)? धर्मी को आत्मा के आनंद का व ज्ञायक स्वभाव का आश्रय (होने के बावजूद) पुण्य के भाव में आना पड़े (वह परदेश जैसा लगता है)। 'बहिन' ने

लिखा है। `बहिन' का वचनामृत छपा है। पुस्तक बहुत उच्च कोटि की है। लाखों पुस्तकों का सार है। पढ़े तो सही। क्या बापू ! यह तो! आहा..हा...! उसमें एक शब्द ऐसा आया है, धर्मी जब पुण्य के भाव में आता है, तब उसे ऐसा लगता है कि, `अरेरे...! हम परदेश में कहाँ आ पहुँचे ?' हमारा वतन तो अंदर आनंदधाम ! उसमें से हम कैसे खिसक गये ? कुछ समझ में आया ? कोई ऐसा बोल रहा था। चार बार `बहिन' की पुस्तक पढ़ी। परंतु मैंने कहा कि चार बार नहीं परंतु सो बार पढ़नी पड़ेगी। आहा..हा...! अरे! आत्मा जिसे अंदर आनंद का नाथ अनुभव में आया। आहा..हा...! उसे राग में पुण्य-पाप का विकल्प आता तो है, परंतु उसे ऐसा लगता है कि अरेरे...! इस दुःख में मैं कहाँ आया ? यह मेरे देश की चीज नहीं है, मेरे घर की चीज नहीं है। आहा..हा...! यहाँ तो स्वदेश - आत्मा, अंदर आनंद के देशमें से निकलकर धर्मी को राग में आना पड़े तो उसे बोझा लगता है।

आहा..हा...! वह दया-दान और भगवान का नामस्मरण, माला फेरने का राग, धर्मी को यह राग बोझा लगता है। आहा..हा...! परंतु उसे यह आत्मा श्रुतज्ञानप्रमाण द्वारा जानता है, ऐसा यहाँ कहना चाहते हैं। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! समय पूरा होनेवाला है, हाँ ! स्वानुभव द्वारा आत्मद्रव्य (प्रमेय होता है)। आत्मद्रव्य पहले कहा था न ! अनंत धर्मों का अधिष्ठान - वह आत्मद्रव्य - उसमें पर्याय विकारी - अविकारी और गुण सब आ गया। साधक है न ! आहा..हा...! उस श्रुतज्ञान द्वारा आत्मद्रव्य प्रमेय होता है, ज्ञात होता है। अंतर की दृष्टि होने पर वह भावश्रुत अंदर ज्ञात होता है, आहा..हा...! इसके अलावा जानने का अन्य कोई उपाय है नहीं। विशेष कहेंगे...

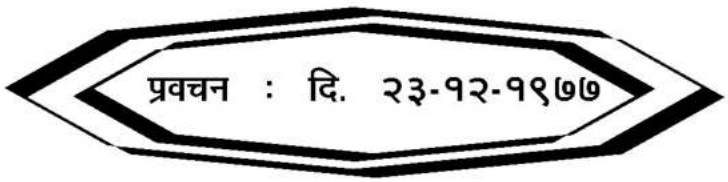


(अब टीकाकार श्री अमृतचंद्राचार्यदेव परिशिष्टरूप से कुछ कहते हैं :-)

`यह आत्मा कौन है (कैसा है) और कैसे प्राप्त किया जाता है' ऐसा प्रश्न किया जाय तो इसका उत्तर (पहले ही) कहा जा चुका है और (यहाँ) पुनः कहते हैं :-

प्रथम तो, आत्मा वास्तव में चैतन्यसामान्य से व्याप्त अनन्त धर्मों का अधिष्ठाता (स्वामी) एक द्रव्य है, क्योंकि अनन्त धर्मों में व्याप्त होनेवाले जो अनन्त नय हैं उनमें व्याप्त होनेवाला जो एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण है, उस प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से (वह आत्मद्रव्य) प्रमेय होता है (ज्ञात होता है)।

वह आत्मद्रव्य द्रव्यनय से, पटमात्र की भाँति, चिन्मात्र है (अर्थात् आत्मा द्रव्यनय से चैतन्यमात्र है, जैसे वस्त्र वस्त्रमात्र है तदनुसार।) १।



प्रवचनसार। यहाँ से आखरी अधिकार शुरू होता है न ! अब टीकाकार अमृतचंद्राचार्यदेव परिशिष्टरूप से थोड़ा कह रहे हैं।

यह प्रवचनसार शास्त्र है। भगवान की दिव्यध्वनि का सार है। प्र अर्थात् विशेषवचन, दिव्यवचन, भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ को वीतराग होने के बाद बिना ईच्छा के वाणी निकली, ॐ ध्वनि... उसका यह सार प्रवचनसार है। इस प्रवचनसार में २७५ गाथायें तो हो गई। परंतु टीकाकार आचार्य अमृतचंद्राचार्य कह रहे हैं कि, हम कुछ विशेष कह रहे हैं... स्पष्ट करने के लिए विशेष कह रहे हैं।

अब इसमें शिष्य का प्रश्न है। ऐसा शिष्य के मुख से प्रश्न किया है कि आत्मा कौन है ? प्रभु ! यह आत्मा है (कौन ?) भाषा क्या है कि यह आत्मा कौन है ? ऐसा उसने प्रश्न किया... श्रोता अपने आत्मा की दशा समझने के लिए, आत्मा कौन है ? ऐसा कहते हैं।

आहा..हा...! भगवान ने छह द्रव्य कौन से कहे यह प्रश्न नहीं किया है। अंदर यह आत्मा कौन है ? और समयसार में भी `कुंदकुंदाचार्यदेव' ने ऐसा कहा (कि) हमारे गुरु ने हमें शुद्धात्मा का उपदेश दिया है। पाँचवीं गाथा में ऐसा कहा है (कि) अरिहंत भगवान निर्मल विज्ञानघन में निमग्न थे। समयसार पाँचवीं गाथा में है... सर्वज्ञ परमात्मा वीतराग परमेश्वर प्रभु, विज्ञानघन आत्मा, चैतन्यघन पिंड उसमें निमग्न-लीन थे। और फिर गणधर, वे भी विज्ञानघन में लीन थे। और वहाँ से (उनके पास से लौटकर) हमारे गुरू `कुन्दकुन्दचार्यदेव' कह रहे हैं कि, हमारे गुरु पर्यंत (सभी) उस विज्ञानघन भगवान आत्मा में लीन थे। वे मुनि हमारे गुरु भी (आत्मा में लीन थे)। आहा..हा...! ऐसा पाँचवीं गाथा में आया है। विज्ञान - विज्ञान का घन पिंड प्रभु आत्मा उसमें हमारे गुरु (लीन थे)। अरिहंत से लेकर हमारे गुरु पर्यंत (सभी) संत विज्ञानघन में लीन थे। आहा..हा...! उसका नाम मुनि और संत कहा जाता है।

आहा..हा...! वे हमारे गुरु विज्ञानघन में लीन थे। उन्हों ने हम पर कृपा करके, महेरबानी करके, हमें शुद्धात्मा का उपदेश दिया, ऐसा `कुन्दकुन्दाचार्य' कह रहे हैं, हाँ ! आहा..हा...! हमारे गुरु विज्ञानघन में लीन थे। पंच महाव्रत का पालन कर रहे थे, नग्न थे, ऐसा कहा वह तो बाह्य चीज है... आहा..हा...! चैतन्यस्वभाव का पुंज प्रभु (है)। उसमें गुरु से शरू करके अरिहंत पर्यंत एकधारा ली है। आहा..हा...! दिगंबर संतो की बात है, हाँ ! कुछ समझ में आया? यह विज्ञानघन प्रभु, चैतन्य पिंड प्रभु आत्मा, चैतन्य का सागर अंदर में भरा है... आहा..हा...! उसमें लीन थे। उन गुरु ने महेरबानी करके शुद्धात्मा का उपदेश दिया, और कोई (अन्य) उपदेश नहीं दिया। दूसरा भी दिया पर (उसमें) सारी शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिए बात है... आहा..हा...! कुछ समझ में आया... प्रभु !

यहाँ शिष्य ने यह प्रश्न किया (कि) यह आत्मा कौन है ? कौन है... यह आत्मा ?! आप आत्मा, आत्मा (करके जिसकी) प्रशंसा कर रहे हो, प्रसिद्ध कर रहे हो वह आत्मा कौन है ?! और कैसा है ? (वह) प्रश्नकर्ता उतनी योग्यतावाला लिया है कि जिसे आत्मा कौन है और कैसा है यह जानने की इच्छा है। ऐसा श्रोता लिया है यहाँ... और दूसरी बात... किस विधि से प्राप्त किया जाता है ? प्रभु ! हमें आत्मा कैसा है यह कहो... और वह आत्मा किस विधि से प्राप्त होता है ? हमारे अनुभव में वह आत्मा किस प्रकार आये, ये दो बात बताइए... कुछ समझ में आया? ऐसा प्रश्न किया जाय तो (उसका उत्तर दे रहे हैं)। आहा..हा...! क्या कह रहे हैं ? संतो दिगंबर मुनि `अमृतचंद्राचार्य,' `कुन्दकुन्दाचार्यदेव' के अनुगामी, हजार वर्ष बाद हुए। उनके हृदय की

(हृहय में स्थित भावों की) स्पष्ट टीका करके शब्दों का व भाषा का खुलासा किया। ऐसे टीकाकार कह रहे हैं कि हमसे कोई ऐसा प्रश्न करे... दूसरा नहीं। हमें पुण्य कैसे हो और व्यवहार कैसे हो, हम दया-दान का पालन किस प्रकार कर सके, ऐसा प्रश्न नहीं किया है।

आहा..हा...! प्रभु ! यह आत्मा कौन है अंदर ? कैसी चीज है अंदर ? और किस प्रकार प्राप्त होता है ? हमें अपने अनुभव में किस प्रकार आये ? ऐसा प्रश्नकार का प्रश्न है, तो कह रहे हैं कि ऐसा प्रश्न किया जाय तो उसका उत्तर दे रहे हैं... आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? यूँ ही समय पास के लिए सुनने आया हो कि अपने को तो सुनने जाने से मतलब। चलो सुनने के लिए, ऐसा नहीं। अथवा समाज सुनने के लिए जा रहा है तो हम भी सुने, ऐसा नहीं। (इस प्रकार से देखादेखी, सुनने के लिए सुनने आया हो, उसके लिए नहीं है)।

भगवान आत्मा सत्चिदानंद प्रभु, पूर्णानंद से, ज्ञानानंद से भरा पड़ा आत्मा, यह है कौन? उसका अस्तित्व कैसा है ? आहा..हा...! उसकी मौजूदगी, भगवान आत्मा का अस्तित्व - मौजूदगी कैसी है ? और किस प्रकार प्राप्त होता है ? ऐसा प्रश्न करने में आये तो उसे हम उत्तर दे रहे हैं। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? यह तो अध्यात्मवाणी है। यह कोई कथा नहीं है, वार्ता नहीं है। यह कोई भागवत कथा (अन्य लोग) करते हैं वह नहीं है। यह तो सर्वज्ञ परमेश्वरने जो आत्मा भगवत् स्वरूप देखा, उसकी यह कथा है। फिर से विशेष स्पष्ट कर रहे हैं।

प्रवचनसार की २७५ गाथाएँ हैं। वे पूर्ण हो गई। फिर ऊपर कलश चढ़ाया... मंदिर बनाते हैं न ! फिर कलश चढ़ाते हैं। उस प्रकार से कलश चढ़ाया... आहा..हा...! भगवान प्रभु ! यह आत्मा कौन है ? और अंदर यह चीज है वह हमें प्राप्त किस प्रकार से हो ? आहा..हा...! जिसे आत्मा की प्राप्ति की धगश है, अंतर में प्राप्त करने की रुचि है। अन्य कुछ उठाधरी नहीं है कि हमें पुण्यबंध हो जाय और फिर स्वर्ग में देव बन जाय, या फिर (हम) राजा हो जाय। वह बात नहीं है। प्रभु ! हमें यह आत्मा कौन है ? और किस प्रकार प्राप्त होता है ? जिससे (कि) हमें निर्मल आनंद की प्राप्ति होने से हमारा मोक्ष हो। उसकी प्राप्ति किस तरह से हो ? यह प्रश्न (जिसने) किया हो उसे (हम) उत्तर दे रहे हैं। आहा..हा...!

अरेरे ! मेरा प्रभु अंदर यह कौन है ? मैंने स्वयं को पहिचाना नहीं। मैंने अपने को पहचाना नहीं। वह चीज है कौन ? और किस प्रकार पहचानने में आये, ऐसा प्रश्न जिसके हृदयमें से उठा हो, उसे आचार्य महाराज, दिगंबर संत `अमृतचंद्राचार्यदेव', केवलज्ञानी के अनुगामी... आहा..हा...! केवलज्ञान की पगदंडी पर चलनेवाले वे संत कह रहे हैं कि उसे हम उत्तर दे रहे हैं।

प्रथम तो अब उत्तर दे रहे हैं। हमें मुख्य बात तो यह कहनी है कि, 'प्रथम' शब्द लिया न... 'प्रथम'... प्रथम यह आत्मा कहना है कि वास्तव में, हकीकत में भगवान आत्मा चैतन्यसामान्य से व्याप्त। आहा..हा...! चैतन्यसामान्य से इतनी बात। चैतन्यस्वरूप जो है उसमें अब व्याप्त - चैतन्यसामान्य से व्याप्त, अनंत नयों का अधिष्ठाता है। एक द्रव्य है... आहा..हा...! क्या कह रहे हैं ! कि भगवान आत्मा सामान्यरूप से जो चीज है। उसमें अनंत नय व्याप्त (हैं)। क्योंकि उसमें अनंत धर्म हैं, धर्म माने मोक्ष का मार्ग (जो है वह) धर्म, वह बात यहाँ नहीं लेनी है... धर्म शब्द से आत्मा में धारण करके रखे हुए गुण व रही हुई निर्मल पर्याय, और विकार, इन सभी को धर्म कह रहे हैं। धर्म माने मोक्ष का मार्ग ऐसा प्रश्न नहीं है। मोक्ष के मार्ग की पर्याय, वह भी भगवान आत्मा ने धारण करके रखी हुई है। अनंतगुण भी धारण करके रखे हुए हैं। और अल्पज्ञ है, साधक है तो (इसलिए) विकार की पर्याय भी है। उसको भी आत्मा ने धारण करके रखी है। आहा..हा...!

अभी बातें हैं। पहले तो सीधा - सरल था कि व्रतपालन करना, उपवास करना, भक्ति करनी, जाओ हो गया धर्म। अरे प्रभु ! सुन तो सही भाई ! वह आत्मा कौन है ? उसकी प्राप्ति किये बिना तेरा सब (क्रियाकांड) थोथा (खोखला) है। कुछ समझ में आया ? तो कह रहे हैं कि '**चैतन्यसामान्य से व्याप्त अनन्त धर्मों का अधिष्ठाता (स्वामी) एक द्रव्य है,...**' आहा..हा...! अनंत धर्म समझ में आया ? आत्मा में ज्ञान, दर्शन, आनंद आदि अनंत गुण हैं, उन्हें भी धर्म कहते हैं, धर्म का अर्थ, धर्मी (ऐसा) जो आत्मा उसने धर्म धारण करके रखें हैं। यह अर्थ यहाँ 'धर्म' शब्द से लेना है। यहाँ मोक्ष का मार्ग जो सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वही धर्म यह बात नहीं लेनी। यहाँ तो आत्मा वस्तु है उसमें अनंत... अनंत... आकाश के प्रदेशों से (भी) अनंत संख्या (गुण की) है। लोक एवं अलोक आकाश का अनंत... अनंत... अनंत... अनंत उसका कोई अंत नहीं है। ऐसे जो अनंत प्रदेश हैं, उनसे भी अनंतगुने गुणरूपी धर्म आत्मा में हैं। आहा..हा...! किस प्रकार की यह बात ! ...उन्हें भी धारण करके रखा है। और पर्याय में अनंती पर्यायें निर्मल हैं और कुछ पर्याय विकारी भी हैं, उनको भी आत्मा ने धारण करके रखा है और वह उसमें है। वह कोई पर में है, ऐसा नहीं है। है ? उन अनंत धर्मों का स्वामी है।

आहा..हा...! वहाँ (समयसार) ७३ गाथा में ऐसा कहा कि, पुण्य व पाप जो विकार है, उसका स्वामी कर्म है, ऐसा कहा था। कर्ता-कर्म की ७३ गाथा में कह रहे हैं न ? दृष्टिप्रधान कथन में दृष्टि निर्विकल्प सम्यग्दर्शन है। उसका विषय पूर्णानंद अभेद चीज है। अतः दृष्टिप्रधान

कथन में विकृत अवस्था नहीं आती। विकृत अवस्था उसमें से निकल जाती है। इस वजह से वह कर्म का कार्य है। कर्म उसका स्वामी (है)। आत्मा उसका स्वामी नहीं। यह दृष्टिप्रधान और दृष्टि का विषय बताने के लिए बात करी। परंतु यहाँ ज्ञान की (प्रधानता की बात है)। (इसमें) जितनी विकृत पर्यायें हैं वे भी उसकी हैं और उसमें हैं। यह बताने के लिए विकार की अवस्था को भी यहाँ धर्म कहा (है)। धर्म शब्द से टिकी हुई अपनी पर्याय अपने में है। इस अपेक्षा से उसे धर्म कहा गया है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

अनंत धर्मों का स्वामी एक द्रव्य है। अनंत धर्म हैं। परंतु मालिक - स्वामी उसका... एक द्रव्य आत्मा - एक वस्तु है। कुछ समझ में आया ? यह वीतराग मार्ग सूक्ष्म है। प्रभु ! आजकल तो बहुत फेरफार हो गया है... आहा..हा...! तीनलोक के नाथ वीतराग परमेश्वर प्रभु का भरतक्षेत्र में विरह पड़ा और केवलज्ञान की उत्पत्ति का अभाव हो गया। आहा..हा...! उसमें धर्म की बात बहुत दुर्लभ हो गई।

यहाँ प्रभु `अमृतचंद्राचार्य' उत्तर दे रहे हैं कि अनंत गुण धर्मी ऐसा आत्मा एक द्रव्य, उसमें अनंत धर्म अर्थात् अनंत गुण और अनंत पर्याय, उसमें कुछ निर्मल, उसका स्वामी एक द्रव्य है। कुछ समझ में आया ? वे गुण व पर्याय, विकृत या अविकृत (साधक जीव की) उनका स्वामी आत्मा एक द्रव्य है। आहा..हा...! यह ऐसी व्याख्या अब (समझने की) फुर्सत नहीं है कि आत्मा क्या है ? किस तरह प्राप्त करना ? कुछ समय (मिलता) नहीं... धूल - मिट्टी जिंदगी की... बाहर में... और ज्यादा से ज्यादा... ये व्रत-तप और भक्ति-पूजा में जिंदगी (खर्च कर) डाली। वे तो विकृतभाव हैं। सिर्फ विकृत अवस्था आत्मद्रव्य ने धारण कर रखी ऐसा तो है नहीं। यहाँ पर तो... आहा..हा...!

निर्मल अविकारी अवस्था भी है। और कुछ विकृत अवस्था भी है। और अंदर गुण भी हैं, वे तो पूर्ण निर्मलानंद गुण हैं। सभी को धर्म अर्थात् धारण करके रखने की अपेक्षा से धर्म कहा है। और उसका स्वामी आत्मा कहा है। है ? सूक्ष्म बात है... प्रभु !

अनंत धर्मों में व्याप्त... क्या कहते हैं ? (कि) अनंत - अनंतगुण प्रभु में हैं। आत्मा में अनंती पर्यायें हैं। उसमें विकृत व अविकृत अवस्थाएँ हैं। उस प्रत्येक गुण को एक एक नय जानता है। नय अर्थात् ज्ञान का एक अंश। श्रुतप्रमाण जो भावश्रुत है (उसका अंश) है तो एक पर्याय। परंतु भावश्रुत प्रमाण है, वह अवयवी अखंड चीज है। उस भावश्रुत प्रमाण में भेद पड़ता है - नय का; अनंत नय के भेद पड़ते हैं। कुछ समझ में आया ? यह तो कल बात हो चुकी है। आहा..हा...!

क्या कहा... यह...! अनंत धर्मों में व्याप्त होनेवाले अनंत नय हैं। आहा..हा...! उस ज्ञान के अनंत नय हैं क्योंकि आत्मा में अनंतगुण हैं और अनंती पर्यायें हैं। तो एक गुण की पर्याय को जाननेवाले को नय कहते हैं। तो ऐसे अनंत नय हैं... आहा..हा...! है कि नहीं ? आहा..हा...! '**(अनंत धर्मो में) व्याप्त होनेवाले जो अनंत नय हैं उनमें व्याप्त होनेवाला जो एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण है।**' आहा..हा...! भावश्रुत, हाँ ! यह वाणी नहीं। द्रव्य(श्रुत) नहीं। भावश्रुत जो है उसमें अनंत नय व्याप्त है। अनंत नय का समूह, वह प्रमाण है... भावश्रुत (है) क्या कहा ? कुछ समझ में आया ?

वस्तु तो त्रिकाली है और उसके गुण जो धर्म-स्वभाव है वह भी त्रिकाली है। अब उसकी पर्याय में - अनंत पर्याय में, एक श्रुतज्ञान की - प्रमाण की पर्याय है। यहाँ तो साधक की बात लेनी है... न ? अनंती पर्याय में एक श्रुतज्ञान, भावश्रुतज्ञान, हाँ...! जो भावश्रुतज्ञान निर्मल निर्विकारी भावश्रुतज्ञान दशा... आहा..हा...! वह पर्याय है तो श्रुतज्ञान प्रमाण। एक पर्याय में अनंत नय व्याप्त होते हैं। धीरे धीरे समझना... यह... तो अंतर का मार्ग है। और सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर के अलावा अन्य किसी जगह यह बात है ही नहीं। अरे...! ऐसी बात दिगंबर जैनधर्म के अलावा अन्यत्र कहीं है नहीं... कुछ समझ में आया...!

यह वस्तु का स्वरूप बता रहे हैं। तीनलोक के नाथ द्वारा कथित धर्म यह है। अंदर वस्तु जो भगवानआत्मा (उसमें) अनंतगुण हैं और अनंती पर्यायें हैं। विकारी व अविकारी दोनों। साधक लेना है न ?! तो इन अनंतगुण को अनंती पर्याय को एक (एक) नय, एक एक गुण को, एक एक पर्याय को विषय बनाता है। तो अनंत नयों का समूह श्रुतज्ञानप्रमाण है। भावश्रुतज्ञान, हाँ... वाणी नहीं (शास्त्र के) पृष्ठ नहीं, अक्षर नहीं। ऐसा समझने के लिए... कहाँ फुर्सत मिलती है ? आहा..हा...!

यहाँ प्रभु ऐसा कह रहे हैं... कि आत्मा में जो अनंतगुण हैं वे धर्म कहे जाते हैं। और उनकी अनंती पर्यायों को भी धर्म कहा जाता है। धर्म अर्थात् धारण करके रखी हुई चीज। टिकती, टिकी हुई चीज उसे धर्म कहा जाता है। अतः धारण करके रखे कौन ? कि आत्मा... उन अनंत धर्मो को धारण करके रखनेवाला आत्मा, वह एक द्रव्य है, अब उसमें जो अनंत नय हैं, वे व्याप्त (अर्थात्) श्रुत प्रमाण में व्याप्त हैं। श्रुतप्रमाण अवयवी है, और अनंत नय उसके अवयव हैं। श्रुतप्रमाण अंशी है, और अनंत नय उसके अंश हैं। आहा..हा...! बापदादा ने भी कभी सुनी न हो... (ऐसी बातें हैं)... वह तो बाहर की उठाधरी में जिंदगी पूरी निकाल दी... भाई ! बापू, बातें... बहुत

सूक्ष्म हैं। बापू... प्रभु... तेरी बातें बहुत सूक्ष्म हैं... अरे ! कभी... तुझे अपनी आवश्यकता लगी नहीं।

अब कहते हैं - आहा..हा...! उन अनंत ज्ञान के अंश जो नय कहे जाते हैं। निश्चय, व्यवहार, नैगमनय, संग्रहनय आदि नय हैं न ! वे अनंत नय हैं। और अनंत नयों का समुदाय श्रुतप्रमाण है। श्रुतप्रमाण है तो पर्याय। पर्याय माने अवस्था। अवस्था माने हालत, हालत माने दशा। ऐसे तो अर्थ होते हैं।

सुवर्ण है न... सोना-सुवर्ण। उसे द्रव्य कहते हैं। उसमें पीलापन-चीकनापन-वजन आदि (है) उसे गुण कहते हैं और उसमें कुंडल-कड़ा-अंगुठी आदि दशा होती है उसे अवस्था, पर्याय कहते हैं। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? उसी प्रकार भगवान आत्मा द्रव्य - वस्तु त्रिकाल है। (जिस प्रकार) सोना है। सोने में जिस प्रकार चीकास-वजन (आदि) गुण हैं उस प्रकार आत्मा में ज्ञान-दर्शन (आदि) अनंत गुण हैं। और उसकी बदलती अवस्थाएँ, पलटती अवस्थाएँ - पर्याय अनंत हैं और ध्रुव तो ध्रुव है। वे अनंत नय श्रुतप्रमाण में व्याप्त हैं... आहा..हा...! अंदर देखो न! इसी का तो अर्थ हो रहा है... बापू !

वीतराग त्रिलोकनाथ परमेश्वर का मार्ग बहुत सूक्ष्म। भाई ! उन्होंने मार्ग को बहुत सूक्ष्म बताया है। वे कह रहे हैं कि अनंत नय व्याप्त एक श्रुतज्ञान स्वरूप। देखा ? वे... नय अनंत श्रुतज्ञान एक प्रमाणज्ञान। श्रुतज्ञान प्रमाण शब्द, वह है तो पर्याय, प्रमाण द्रव्य-गुण-पर्याय को जाने इसलिए प्रमाण कहा जाता है। आहा..हा...! इसका अभ्यास करना पड़ेगा।

प्रभु ! यहाँ तो आत्मा को भगवान के रूप में बुलाते हैं। भगवान आत्मा... उस प्रकार (समयसार) ७२ गाथा में कहा। भग... अर्थात् लक्ष्मीवान है। भगवान आत्मा में ज्ञान-दर्शन-आनंद आदि लक्ष्मी (है)। भग अर्थात् लक्ष्मी... वह उसका वान, वह लक्ष्मीवान आत्मा है। आहा..हा...! उसे यहाँ भगवान कहकर बुला रहे हैं।

कह रहे हैं... वह आत्मा जो अनंत गुण और अनंती पर्यायों का स्वामी - मालिक - अधिष्ठाता एक द्रव्य है। उसकी पर्याय में श्रुतज्ञान प्रमाण है। प्रमाण, जो अनंत नयों के समुदायरूप एक (प्रमाण) है। नय अनंत हैं। जिस प्रकार धर्म अनंत बताये, परंतु उनका धारक द्रव्य एक है, उसी प्रकार नय अनंत हैं। परंतु उसका धारक और उसका अवयवी चीज श्रुतप्रमाण एक है, आहा..हा...! ऐसा उपदेश।

भाई ! दयापालन करो - व्रत करो - उपवास करो। ऐसा तो अनंतकाल से किया... अब सुन तो सही ! आत्मा क्या है ? इसकी दृष्टि हुई नहीं है। सम्यक्दर्शन बिना सब खोखला है।

आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? बिना एक के अंक के शून्य है... क्या कह रहे हैं ? बिना एक अंक के सारे शून्य हैं... आहा..हा...! वह यहाँ सम्यक्दर्शन - सम्यक्ज्ञान का विषय क्या है! यह बता रहे हैं। सम्यक्दर्शन का विषय तो अभेद एक है। परंतु यहाँ सम्यक्ज्ञान का ही विषय बता रहे हैं। सम्यक्ज्ञान श्रुतप्रमाण ज्ञान, जो भावश्रुत, साथ में जरा आनंद भी आता है। भावश्रुतज्ञान में साथ में अतीन्द्रिय आनंद आता है। उसका नाम भावश्रुत ज्ञान कहा जाता है। आहा..हा...! उस भावश्रुत ज्ञान में अनंत नय व्याप्त - स्थित हैं। अनंत नय हैं उनमें व्याप्त होनेवाला एक श्रुतज्ञान स्वरूप प्रमाण है। वह श्रुतज्ञान प्रमाण है। यह वाणी नहीं। अंदर श्रुतज्ञान - भावश्रुतज्ञान प्रमाण है। आहा..हा...! प्रमाण... प्र... अर्थात् विशेष नाप। समस्त द्रव्य-गुण-पर्याय का नाप जिसमें आ जाय। उसे श्रुतज्ञान प्रमाण कहते हैं... कुछ समझ में आया ! ऐसा है स्वरूप... सुनना और करना... किसको फुर्सत है ? बाहर में रुककर... यूँ ही जिंदगी गुजर जाती है...प्रभु!

आत्मा... भावश्रुतज्ञान प्रमाण से प्रमेय हो सकता है। कैसा है ? ऐसा पहले कहा। अब भावश्रुतज्ञान द्वारा वह जाना जा सकता है। किस प्रकार प्राप्त हो ? इस (भावश्रुतज्ञान) द्वारा ज्ञात हो सकता है। आत्मा कौन है ? तो कहा कि अनंत धर्मों का अधिष्ठाता - स्वामी है। एक बात। अब कैसे प्राप्त हो ? (तो) कि अनंत नय (के) समूहरूप भावश्रुत प्रमाण (उसके द्वारा ज्ञात हो सकता है)। निर्विकल्प सम्यक्ज्ञान के साथ आनंद का अंश, उसके साथ प्रतीति ऐसा जो श्रुतज्ञान है। उसके द्वारा आत्मा प्रमेय अर्थात् ज्ञात हो सकता है। आहा..हा...! भाषा में जरा आ जाता है। वह देव-गुरु द्वारा ज्ञात नहीं होता ऐसा कह रहे हैं। एवं वह दया-दान-व्रत के विकल्प से ज्ञात नहीं होता ऐसा कह रहे हैं। क्योंकि विकल्प को जाननेवाला नय और नय का समूह वह श्रुतप्रमाण उस श्रुतप्रमाण से ज्ञात होता है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? ऐसा स्वरूप है।

अरे...प्रभु ! यह तो भगवान का मार्ग है, बापू ! सोनगढ का नहीं है। आहा..हा...! तीनलोक के नाथ तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ परमात्मा का यह फरमान है। वह संत आढ़तिया होकर जगत के सामने जाहिर करते हैं। माल तो सर्वज्ञ परमात्मा का है। दिगंबर संत आढ़तिया बनकर माल बेच रहे हैं। कि प्रभु तो ऐसा कह रहे हैं कि तेरा माल यह है... आहा..हा...! आत्मा में तो अनंत गुण पड़े हैं। तेरे आत्मा में... वह आत्मा... और उसकी अनंती पर्यायें हैं। वह आत्मा... आहा..हा...! दृष्टि के विषय में तो केवल अभेद आता है। सम्यग्दर्शन में तो भूतार्थ आश्रित सम्यक्दर्शन, समयसार ११वीं गाथा में है... 'भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो' वहाँ तो भूतार्थ

त्रिकाली द्रव्य, आनंदकंद प्रभु। सत्य ध्रुव। सत्य - उसके आश्रय से सम्यक्दर्शन होता है। उस सम्यक्दर्शन का विषय बता रहे हैं। यही तो ज्ञान को बताना है। सम्यक्दर्शन के साथ में तो ज्ञान होता है, वह क्या जानता है ? वह द्रव्य को जानता है - गुण को जानता है - और विकृत एवं अविकृत पर्याय को जानता है वह श्रुतज्ञान प्रमाण। ऐसे अनंत धर्मो का धारक स्वामी - आत्मा, वह श्रुतज्ञानप्रमाण से प्रमेय हो सकता है। वह प्रमाण से ज्ञान में ज्ञात हो जाता है। आहा..हा...! ऐसा है... कठिन पड़ता है भाई... क्या करें ?

आहा..हा...! परमात्मा त्रिलोकनाथ का यह धरोहर है। इस धरोहर को लेने के लिए अधिकारी बनना चाहिए। आहा..हा...! वह भावश्रुतज्ञान है तो पर्याय किन्तु वह प्रमाण है। प्रमाण माने पूर्ण द्रव्य, पूर्ण गुण और समस्त पर्यायें... उसे जाननेवाला (ज्ञान)। एक एक नय, एक एक धर्म को जानता है... और अनंत नयों का समूह (वह) श्रुतप्रमाण। द्रव्य स्वयं अनंतगुण (और) उसकी अनंती पर्यायें ऐसा जो आत्मा उसे भावश्रुत प्रमाण (जानता है)। अनंत धर्म का अधिष्ठाता उसे प्रमेयरूप में श्रुतज्ञान प्रमाण जान सकता है। एक शब्द का फर्क हो जाय तो पूरा तत्त्व बदल जाय, ऐसा है। ऐसा मार्ग प्रभु का है... बापू ! कुछ समझ में आया ? महंगा लगे प्रभु... किन्तु मार्ग तो यह है। कभी भी... (ऐसा) किया नहीं है। कभी भी यथार्थतापूर्वक, रुचिसहित सुना भी नहीं है... आहा..हा...!

आता है... न... `पद्मनंदि पंचविंशती' में कि... `तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्ताऽपि हि श्रुतः' प्रभु! तूने अपनी कहानी को प्रीति से रुचिपूर्वक सुनी तक नहीं है। आहा..हा...! पद्मनंदि आचार्य महाराज दिगंबर संत ऐसा कह रहे हैं कि प्रीति चित्तेन... वस्तु का स्वरूप तूने प्रेमपूर्वक, रुचिवंत होकर (उसकी बात तक) सुनी नहीं है। किन्तु यदि `तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्ताऽपि हि श्रुताः भावी निर्वाणभाजनम्' अल्पकाल में तू मोक्ष का अधिकारी है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया? `पद्मनंदि पंचविंशती' में अधिकार २६ हैं। परंतु उसका नाम पंचविंशती बोला जाता है। अधिकार २६ हैं। पद्मनंदि श्रुत शास्त्र है।

यहाँ कह रहे हैं, वह प्रमाणपूर्वक (ज्ञात होता है)। इसमें ऐसा कहा कि वह व्यवहाररत्नत्रय के राग से ज्ञात हो सके ऐसा यह आत्मा नहीं है। देव-गरू-शास्त्र की श्रद्धा, पंच महाव्रत के परिणाम एवं शास्त्र का विकल्पात्मक ज्ञान - रागवाला ज्ञान उसके द्वारा आत्मा ज्ञात हो सके ऐसा नहीं है। आहा..हा...! बिना दुल्हा की बारात... दुल्हा आया नहीं और बारात एकत्र करके चल दिये... वह बारात ही नहीं कही जाती... उसी प्रकार आत्मा वस्तु क्या है ? इसके ज्ञान बिना सभी

व्रत और नियम धारण किये... ये सब बिना दुल्हा की बारात (है)। झूठा है।

(अब) कह रहे हैं... `**उस प्रमाणपूर्वक स्वानुभु से (वह आत्मद्रव्य) प्रमेय होता है (ज्ञात होता है)।**' भाषा देखो। स्वानुभव से, स्व माने आत्मा जो अनंत गुणों का अधिष्ठाता - मालिक प्रभु ऐसा स्व - अपना अनुभव - आहा..हा...! `अनुभव रत्नचिंतामणि, अनुभव है रसकूप, अनुभव मारग मोक्ष का, अनुभव मोक्षस्वरूप' ऐसे अंतर के अनुभवपूर्वक श्रुतज्ञान के प्रमाण द्वारा अनुभवपूर्वक ज्ञात हो सकता है। आहा..हा...! आत्मा किस प्रकार प्राप्त हो उसकी यह बात करी।

अब उसमें नयों का विस्तार करेंगे, (४७) नय हैं तो अनंत। परंतु आचार्य महाराज ४७ नय कहकर... अनंत नय हैं, ऐसा कहकर संक्षिप्त करेंगे। `समयसार' में ४७ शक्तियों का वर्णन किया है। अनंत शक्ति आत्मा में (हैं)। अनंतगुण... एक-दो-तीन-चार इस प्रकार गिनने चले तो आत्मा में अनंत-अनंत-अनंत गुण हैं। किन्तु उतने सारे वाणी द्वारा कहे नहीं जा सकते। आहा..हा...! एक-एक गुण को एक-एक समय में कहना चाहे तो भी तीन काल के समय से अनंतगुने गुण हैं। एक आत्मा में, हाँ ! एक ज्ञान को (फिर) दर्शन को, चारित्र को, एक-एक समय में एक-एक गुण को कहना चाहे तो तीन काल के समय हैं, उनसे अनंतेगुन हैं। वे तीनकाल के समय में कहे नहीं जा सकते। आहा..हा...! इतनी तो उसमें गुण की संख्या है। ऐसे अनंत गुणों के धारक आत्मा को और उसकी अनंत पर्याय को श्रुतज्ञान प्रमाण द्वारा अंतर्मुख होकर, भावश्रुत द्वारा अंतर्मुख होकर, द्रव्य का अनुभव करे उसे वह द्रव्य ज्ञात होता है। आहा..हा...! अब ऐसी बातें।

(अब) व्यवहार तो व्यवहार से होवे यह बात तो इसमें आती तक नहीं है। व्यवहार होता जरूर है। प्रमाण के विषय में व्यवहार को जानता है - निश्चय को जानता है - पर्याय निर्मल हुई उसे जानता है - हाँ परंतु उसके द्वारा (व्यवहार से) प्राप्त हो सके ऐसा नहीं है। उसे जाननेवाला ज्ञान है। उस ज्ञान से आत्मा प्राप्त हो सके ऐसा है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ! कहो... ऐसी बातें हैं। लगे कठिन परंतु क्या करें ?

उसमें... आता नहीं है... सम्मेदशिखर `एक बार वंदे जो कोई ताही नरक पशुगति नहि होय' क्या कहा ? नरक - पशु (गति) नहीं होती, इससे क्या काम सरा ? एक गति में ऐसा शुभभाव हो तो नरकगति नहीं होती परंतु मिथ्यात्व के मिटे बिना अनंत संसार सिर पर सवार है... आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? कहते हैं न कि सम्मेदशिखर की यात्रा करे उसका अल्प भव में मोक्ष होता है। भगवान ऐसा कह रहे हैं कि आत्मा की यात्रा करे उसका मोक्ष होता है।

अनंतगुण का नाथ प्रभु, उसमें आरुढ़ होवे, श्रुतज्ञान प्रमाण द्वारा अनंतगुण का नाथ - उसमें आरुढ़ होवे तो उसका मोक्ष हो... आहा..हा...!

ऐसा क्या होगा ?... ये सब... बापू ! मार्ग प्रभु का ! तेरा पंथ नाथ ! निराला रास्ता है! तू भगवान स्वरूप हो... भाई ! तुझे उसकी महिमा नहीं आती है... और ये दया-दान-व्रत के शुभभाव की महिमा ! उसके द्वारा आत्मा ज्ञात होगा उसकी महिमा ! प्रभु ! अपने स्वभाव द्वारा ज्ञात होता है उसकी महिमा उसको आती नहीं है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया !

अलिंगग्रहण में २० बोल में आ चुका कि इन्द्रिय द्वारा ज्ञात हो सके ऐसा आत्मा नहीं है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय आत्मा नहीं है। ये २० बोल हैं। दूसरों के द्वारा अनुमान से ज्ञात हो ऐसा आत्मा नहीं है। (अलिंगग्रहण) चार बोल हुए। बीस बोल हैं। अलिंगग्रहण के छह अक्षर हैं। अभी चौदह व्याख्यान हुए। स्वयं अकेला अनुमान करे ऐसा आत्मा नहीं है। अब आया है छट्ठा बोल... **स्वयं के स्वभाव से ज्ञात हो ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञाता है।** ये बीस बोल `प्रवचनसार' की १७२ गाथा (में हैं)। अपना इस दसवीँ को पूरा हुआ... यह कहा कि आत्मा वस्तु है। वह स्वयं के स्वभाव से ज्ञात हो ऐसा है। स्वभाव कौन ? निर्मलगुण - निर्मलश्रद्धा - निर्मलज्ञान उस निर्मलज्ञान द्वारा वह ज्ञात हो ऐसा है। यहाँ ऐसा कहा कि श्रुतज्ञान प्रमाण से प्रमेय हो सकता है। यह तो तीनलोक के नाथ वीतराग (के) मार्ग की यह बात है।

यहाँ प्रमाणपूर्वक प्रमेय हो सकता है। इतना ही नहीं लेकर `प्रमाणपूर्वक अनुभव से प्रमेय होता है' आहा..हा...! यह कोई वार्ता नहीं है कि पूरी हो जाय। यह तो अध्यात्म शैली (है)। तीन पंक्तियों में कितना भर दिया है ! दिगंबर संतों की वाणी तो देखो... आहा..हा...! संत... (किसे कहते हैं ?) शांति प्राप्त कराये उसे संत कहते हैं। यह शांति प्राप्त करानेवाला पंथ है। प्रभो ! ऐसा कहा कि अनंत धर्म का अधिष्ठाता उसका स्वामी वह एक द्रव्य है। एक व्याख्या करी... अब किस प्रकार प्राप्त हो ? कि अनंत नयों द्वारा व्याप्त जो अनंत गुण व पर्याय, अनंत नयों से व्याप्त एक श्रुतप्रमाण, उस श्रुतप्रमाण से (प्राप्त होता है)। भावश्रुत (लेना) है, यह द्रव्यश्रुत शास्त्र पढ़े और पढ़ाये उसके द्वारा प्राप्त हो सके ऐसा नहीं है। ग्यारह अंग अनंतबार पढ़ चुका... नौ पूर्व की लब्धि भी अनंतबार हो चुकी परंतु उसने आत्मा को जाना नहीं।

एक-एक आचारांग के १८ हजार पद... एक-एक पद में ५१ करोड़ से ज्यादा श्लोक... आहा..हा...! ऐसे ऐसे स्थानांग दुगुने। आचारांग के १८ हजार पद। सूयडांग में ३६ हजार, स्थानांग में ७२ हजार, समवायांग में... १ लाख, ४४ हजार ऐसे दुगने - २ लेना। ऐसा ग्यारह

अंग का ज्ञान भी अनंतबार किया। परंतु वह तो परलक्षी। जिस ज्ञान से आत्मा ज्ञात हो वह ज्ञान कभी उसने किया नहीं। आहा..हा...! ऐसा यहाँ कहा। प्रमाणपूर्वक - श्रुतज्ञान के प्रमाण-पूर्वक, भावश्रुतज्ञान जो आनंद की दशा के साथ (है)। आहा..हा...! ऐसा जो भावश्रुतज्ञान उससे स्वानुभव (होता है)। स्वानुभव से वह आत्मा का आनंद है। उसका अनुभव होकर श्रुतज्ञान में (ज्ञात होता है)। आहा..हा...!

`शुद्धता विचारे ध्यावे, शुद्धता में केलि करे...' आहा..हा...! आता है न ! `शुद्धता में स्थिर रहे।' ... आहा..हा...! श्रुतज्ञान... भावश्रुतज्ञान द्वारा, अभी तो भावश्रुत (है)। आहा..हा...! क्या कह रहे हैं ? उसके द्वारा अनुभवपूर्वक, अनुभव से प्रमेय होता है। प्रमेय अर्थात् श्रुतज्ञान में उसका ज्ञान, ज्ञेय का ज्ञान होता है। वह वस्तु शुद्ध ज्ञान में नहीं आती। भावश्रुतज्ञान में वस्तु नहीं आती। परंतु वस्तु का ज्ञान उसमें आता है... आहा..हा...! एक क्षण में। (क्या) कह रहे हैं ? (कि) श्रुतज्ञान की एक क्षण पूरे आत्मा का अनुभव करती है। ऐसा कह रहे हैं... आहा..हा...! ऐसा है।

आहा..हा...! द्रव्यश्रुत के पहाड़े ! लाख, करोड़। (किन्तु उससे क्या ?) आहा..हा...! शिवभूति अणगार। शिवभूति मुनि जिन से मारुष और मातुष कहा। अर्थात् किसी के प्रति द्वेष करना नहीं और किसी के प्रति राग करना नहीं। ज्ञाता-दृष्टा रहना ऐसा कहा। परंतु मातुष और मारुष ये शब्द याद नहीं रहे ! परंतु अंदर भाव याद रहा... आहा..हा...! कि ये जो दया-दान आदि विकल्प उठ रहे हैं, वे छिक्कल... छिक्कल क्या कहते हो वह...! छिलका (बाहर) और माल अंदर पड़ा है, वह अंदर सत्त्व है। आहा..हा...! छिलका और उड़द दोनों को भिन्न करते हैं। एक ही शब्द जहाँ सुना... शिवभूति को भान तो था। फटाक से उतर गये अंदर। (छिलके से) (विकल्प से) भिन्न प्रभु अंदर बिराजमान है। आहा..हा...! अंदर उतरे और केवलज्ञान हुआ!!!

आहा..हा...! द्रव्यश्रुत में तो मातुष और मारुष - ये शब्द याद नहीं रहे। परंतु भावश्रुत अंदर पड़ा (था) आहा..हा...! क्या ! भावश्रुतज्ञान जिससे (कि) आत्मा पकड़ में आता है ऐसा जो भावश्रुतपूर्वक स्वानुभव से (ज्ञात होता है।) आहा..हा...! अंतर के आनंद के अनुभव से वह प्रमेय अर्थात् जानने में आ सकता है। आहा..हा...! दोनों का उत्तर हो गया।

अब जो नय है, उसका विस्तार कर रहे हैं। अनंत नय हैं न ! वह क्या है ? किस प्रकार से उसे नय कहते हैं ? किसे कहते हैं ? आहा..हा...! (आत्मा) प्रमेय होता है, ज्ञात होता है। अब वह शुरू करें... नय। इन अनंत नय का समूह वह श्रुतप्रमाण और श्रुतप्रमाण से वह आत्मा अधिष्ठाता जानने में आता है। अब नय किसे कहें ? और नय किस अपेक्षा से है ? वह बात कह

रहे हैं... यह आत्मद्रव्य... वहाँ तो कहा था अधिष्ठाता - अनंत धर्मो का अधिष्ठाता वह आत्मद्रव्य। कुछ समझ में आया ? यह आत्मद्रव्य। `**वह आत्मद्रव्य द्रव्यनय से, पटमात्र की भाँति, चिन्मात्र है (अर्थात् आत्मा द्रव्यनय से चैतन्यमात्र है, जैसे वस्त्र वस्त्रमात्र है तदनुसार।)**' वस्तु, द्रव्य-नय से (चिन्मात्र है।) द्रव्यनय अर्थात् **जो त्रिकाली द्रव्य है, उसे जाननेवाला ज्ञान उसे द्रव्यनय कहते हैं।** अपने आप पढ़े तो यह कुछ समझ में आये - पकड़ में आये ऐसा नहीं है... आहा..हा...! वस्तु सूक्ष्म (है)।

प्रभु, क्या करें ? लोग चाहे जो माने... चाहो जो कहे... वस्तु की यह स्थिति है। आहा..हा...! ऊपर कहा था न कि यह आत्मा द्रव्य है। ऐसा कहा था न ? अनंत धर्मों का अधिष्ठाता एक द्रव्य (है)। द्रव्य माने पैसा नहीं। आतम द्रव्य, वस्तु जो है वह। त्रिकाली पदार्थ प्रभु ! आत्मद्रव्य। द्रव्यनय से (अर्थात्) उस द्रव्य को देखनेवाले ज्ञान के अंश से - एक अंश है, उस द्रव्यनय से द्रव्य चिन्मात्र है। वह ज्ञानमात्र प्रभु है ! आहा..हा...!

द्रव्यनय से देखे तो प्रभु आत्मा ज्ञानमात्र है। फिर भी वह एक नय है। ऐसे अनंत नयों का समूह श्रुतप्रमाण ! उस श्रुतप्रमाण द्वारा अनुभव हो सकता है। कुछ समझ में आया ? इस एक नय द्वारा आत्मानुभव नहीं हो सकता ऐसा कह रहे हैं... ये ऐसी व्याख्याएँ... क्या करे प्रभु ! जैनधर्म अलौकिक चीज है। अन्यत्र कहीं यह (बात) है नहीं।

कई लोग ऐसा कहते हैं कि वेदान्त में भी है और वैशेषिक में, फलाँ में है। धूल में भी कहीं नहीं है। वीतरागमार्ग के अलावा तीनकाल में कहीं भी धर्म नहीं है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! क्या कहें ? ऐसी बात श्वेतांबर में भी नहीं है। बापू ! यह तो जैनधर्म अलौकिक चीज है। श्वेतांबर भी भगवान (महावीर) के बाद (और) हाल में तो दो हजार वर्ष पूर्व निकले हैं... अरे... सनातन धर्म तो यह है। श्वेतांबरमें से स्थानकवासी ५०० वर्ष पहले (ही) निकलकर हुए हैं... उसमें से २०० वर्ष पहले तेरापंथी निकले। आहा..हा...! तेरापंथी स्थानकवासी तुलसी, हाँ ! दिगंबर तेरापंथी नहीं। सनातन मार्ग तो यह है।

आत्मद्रव्य, द्रव्यनय से अर्थात् वस्तु जो है उसे देखनेवाले ज्ञान के अंश से देखे तो वह पटमात्र की भाँति (चिन्मात्र है)। जिस प्रकार पूरा वस्त्र है। उसके तानेबाने को लक्ष में न ले वहाँ पूरा पट-वस्त्र इस प्रकार, पूरी (एक) चीज है। जिस नय का अंश पूरी चीज को लक्ष में ले, वह आत्मा चिन्मात्र है। अर्थात् आत्मा द्रव्यनय से चैतन्यमात्र है। आहा..हा...! यह एक नय... हाँ! अभी एक नय से ज्ञात हो ऐसा नहीं है। इस समय, जैसे वहाँ दृष्टि के विषय में निश्चयनय से

आत्मा ज्ञात होता है... वैसे यहाँ नहीं है। इस एक नय से चिन्मात्र है। अतः एक नय से पूरा आत्मा ज्ञात हो जाय ऐसा नहीं है। फिर भी बात तो यह करी कि चिन्मात्र है।

सम्यक्दर्शन का विषय भी भूतार्थ, त्रिकाल ज्ञायक, प्रभु, ज्ञायकभाव, भगवान, वह सम्यक्दर्शन का विषय, परंतु उसमें तो अनंत अनंतगुण और सब कुछ आ गया। यहाँ जो द्रव्य कहा... वह तो एक नय... एक अंश लिया... उस नय से पूरा आत्मा ज्ञात हो जाय ऐसा नहीं है... आहा..हा...हाँ !

'**जैसे वस्त्र... वस्त्रमात्र है।**' वस्त्र तो वस्त्रमात्र है... वैसे भगवान चिन्मात्र - ज्ञानमात्र (है)। एक द्रव्यनय की अपेक्षा से ज्ञानमात्र है। ऐसे अनंत नयों से, अनंत गुणों को जानकर, फिर अनंत श्रुतज्ञान, प्रमाण द्वारा वह पूरा आत्मा अनुभव में आ सकता है। एक नय द्वारा अनुभव में नहीं आ सकता... विशेष कहेंगे...



जीवको मरणकी पीड़ाकी अपेक्षा विषयोंकी पीड़ा बहुत असह्य व असाध्य लगती है, अतः ज्ञानस्वभावकी प्रीति करना सुखदायक है। (अन्यथा विषयोंकी दाह उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती)। (परमागमसार - ८७१)

'यह आत्मा कौन है (कैसा है) और कैसे प्राप्त किया जाता है' ऐसा प्रश्न किया जाय तो इसका उत्तर (पहले ही) कहा जा चुका है और (यहाँ) पुनः कहते हैं :-

प्रथम तो, आत्मा वास्तव में चैतन्यसामान्य से व्याप्त अनंत धर्मों का अधिष्ठाता (स्वामी) एक द्रव्य है, क्योंकि अनंत धर्मों में व्याप्त होनेवाले जो अनंत नय हैं उनमें व्याप्त होनेवाला जो एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण है, उस प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से (वह आत्मद्रव्य) प्रमेय होता है (ज्ञात होता है)।

प्रवचन : दि. २४-१२-१९७७

प्रवचनसार। नय का अधिकार चल रहा है। पहले तो इसमें शिष्य का यह प्रश्न था कि यह आत्मा कैसा है ? अन्य प्रश्न नहीं करके यह प्रश्न किया। (जिस) शिष्य को आत्मा समझने की जिज्ञासा है, वह ऐसा प्रश्न करता है।

समाधिशतक में - आत्मा पूछना, आत्मा जानना, बहुत बोल दिये हैं। सुबह (प्रवचन में) 'पद्मनंदिपंचविंशति' में भी यह आता है। आत्मा जानना - आत्मा सुनना - विचारना इत्यादि पूछना। आहा..हा...'यह आत्मा कौन है (कैसा है) और कैसे प्राप्त किया जाता है' ऐसा प्रश्न किया जाय तो इसका उत्तर (पहले ही) कहा जा चुका है और (यहाँ) पुनः कहते हैं :-

प्रथम तो, आत्मा वास्तव में चैतन्यसामान्य से व्याप्त अनंत धर्मों का अधिष्ठाता (स्वामी) एक द्रव्य है, क्योंकि अनंत धर्मों में व्याप्त होनेवाले जो अनंत नय हैं उनमें व्याप्त होनेवाला जो एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण है, उस प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से (वह

आत्मद्रव्य) प्रमेय होता है (ज्ञात होता है)। कि यह आत्मा है कौन ? और है तो किस विधि से प्राप्त होता है ? ये दो प्रश्न हैं - जिसे आत्मा जानना है और कल्याण करना है, ऐसे शिष्य की जिज्ञासा ऐसी है कि यह आत्मा कौन है ? जिसकी कि मुझे प्राप्ति करनी चाहिए। आहा..हा...'यह आत्मा कौन है (कैसा है) और कैसे प्राप्त किया जाता है' ऐसा प्रश्न किया जाय तो इसका उत्तर (पहले ही) कहा जा चुका है और (यहाँ) पुनः कहते हैं :-

प्रथम तो, आत्मा वास्तव में चैतन्यसामान्य से व्याप्त अनंत धर्मों का अधिष्ठाता (स्वामी) एक द्रव्य है, क्योंकि अनंत धर्मों में व्याप्त होनेवाले जो अनन्त नय हैं उनमें व्याप्त होनेवाला जो एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण है, उस प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से (वह आत्मद्रव्य) प्रमेय होता है (ज्ञात होता है)। तो भगवान अमृतचंद्र आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसा प्रश्न होने के कारण - उसकी ऐसी जिज्ञासा है, उसे हम उत्तर दे रहे हैं। उसकी भी यह जिम्मेदारी है। जिसे अंतरमें से आत्मा कौन है ? और किस प्रकार प्राप्त हो ? ऐसी अंतर की जिज्ञासा हो और कोई बात (से मतलब) नहीं। कुछ समझ में आया ?

कुंदकुंदाचार्य ने कहा ('समयसार' ५वीँ गाथा में) हमारे गुरु पर्यंत, अरिहंत से (लेकर)... गुरु पर्यंत (सभी) संत विज्ञानघन में निमग्न थे। आहा..हा...'यह आत्मा कौन है (कैसा है) और कैसे प्राप्त किया जाता है' ऐसा प्रश्न किया जाय तो इसका उत्तर (पहले ही) कहा जा चुका है और (यहाँ) पुनः कहते हैं :-

प्रथम तो, आत्मा वास्तव में चैतन्यसामान्य से व्याप्त अनंत धर्मों का अधिष्ठाता (स्वामी) एक द्रव्य है, क्योंकि अनंत धर्मों में व्याप्त होनेवाले जो अनन्त नय हैं उनमें व्याप्त होनेवाला जो एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण है, उस प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से (वह आत्मद्रव्य) प्रमेय होता है (ज्ञात होता है)। उन मुनियों ने - हमारे गुरुओं ने हमारे ऊपर मेहरबानी करके कृपा करके हमें शुद्धात्मा का उपदेश दिया। क्योंकि सब कुछ जानने में - जानने से पहले आत्मा कैसा है ? उसे जाने बिना, उसमें - चारित्र में वह स्थिर हो नहीं सकती। उसे जाने बिना, उसकी खबर (भी) न हो और चारित्र कहाँ से आ जायेगा ? तो कहते हैं कि जिसे ऐसा जिज्ञासापूर्ण प्रश्न है, उसे हम उत्तर दे रहे हैं। तो यह उत्तर अपने को यथार्थ समझने के लिए काम आयेगा।

आहा..हा...! छह द्रव्य कैसे हैं, ऐसा नहीं पूछा। छह द्रव्य का ज्ञान भी आत्मा की पर्याय में आ जाता है। पर्याय का स्वभाव उन छह द्रव्यों को जाने इतना तो है। यहाँ तो प्रश्न ऐसा है कि - 'आत्मा कौन है ? और किस प्रकार प्राप्त होता है ?' तो कहते हैं कि 'अनंत धर्मो का अधिष्ठाता स्वामी आत्मा है।' आहा..हा...!... ये शब्द... अनंत धर्म माने अनंत गुण हैं और अनंती पर्याय हैं। वे सारी स्वयं ने अपने आत्मा में धारण कर रखी हैं।

तो उन सभी गुणों - पर्यायों का स्वामी एक आत्मा है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! परद्रव्य का स्वामी नहीं। शरीर-वाणी-देश-पत्नी-पुत्र-लक्ष्मी उनका वह स्वामी नहीं है। आहा..हा...! वह तो अपने में जो अनंतगुण हैं और अनंती पर्यायें हैं उनका स्वामी वह (स्वयं) है।

यहाँ तो कहते हैं न कि लक्ष्मीपति, नरपति व पत्नी का पति - ये सभी भ्रम हैं, अज्ञान है। कुछ समझ में आया ?

भगवान आत्मा, अनंत धर्मों का अधिष्ठाता - स्वामी है। यहाँ तो नय में विकारी पर्यायों का भी स्वामी कहा है। जहाँ दृष्टि का विषय चल रहा हो, वहाँ तो दृष्टि निर्मल, निर्विकल्प है। और उसका विषय अभेद निर्विकल्प है। उसमें विकार नहीं आता। उस अभेद के द्वारा दृष्टि का विषय जो ध्रुव नित्य सामान्य प्रभु, उसकी दृष्टि करने से निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है। परंतु उस निर्मल पर्याय का विषय द्रव्य है।

कुछ समझ में आया ?

वह दृष्टि और दृष्टि का विषय जब चल रहा हो तब विकार को गौण करके (विकार उसमें नहीं है ऐसा कहे) शक्ति का वर्णन लिया है... 'समयसार' में तो 'अमृतचंद्राचार्य' ने लिया कि आत्मा वस्तु है और उसमें अनंत गुण-शक्ति है। कुछ समझ में आया ? वहाँ ऐसा कहा। और यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है। क्योंकि श्रुतज्ञान में अनंत नयों का समूह (है) वह श्रुतज्ञान है। बहुत सूक्ष्म बात... परिचय नहीं न ! अभ्यास नहीं किया न ! आहा..हा...! जो नय है, वह श्रुतज्ञान का भेद है। मतिज्ञान और अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान का वह भेद नहीं... आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

एक-एक धर्म के गुण को और पर्याय को जाननेवाले नय-ज्ञान का अंश (है)

वह श्रुतज्ञान का भेद है। मति का भेद नहीं... अवधि का भेद नहीं, मनःपर्यय का भेद नहीं, केवल(ज्ञान) का तो है ही नहीं। आहा..हा...! यहाँ तो इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं। श्रुतज्ञान का भेद जो नय है। वह नय ज्ञान का अंश है। और एक अंश एक-एक धर्म को जानता है, इतनी बात... परंतु उसमें पूरा आत्मा इस तरह देखने में नहीं आया। अनंत धर्म को धारण करनेवाला (है)। धर्म अर्थात् गुण - पर्याय, धर्म अर्थात् इस मोक्ष का मार्ग और ऐसा कुछ नहीं। आहा..हा...!

धर्म कर रहे हैं तो यह धर्म ऐसा प्रश्न यहाँ नहीं है। यहाँ धर्म माने आत्मा में जितने गुण हैं, उन्हें धारण कर रखे हैं तो उन्हें धर्म कहा और निर्मल पर्याय और विकारी पर्याय भी उसमें रहती है। उसे भी धर्म कहा। तो धर्म का अधिष्ठाता - धारण करनेवाला आत्मा - आहा..हा...! उसे एक-एक नय से जानना वह श्रुतज्ञान का भेद है। परंतु जिस प्रकार धर्म और अनंती पर्यायों का एकरूप द्रव्य है, उसी प्रकार अनंत नय का एकरूप भावश्रुतज्ञान है। इस भावश्रुतज्ञान के द्वारा - भावश्रुतज्ञानपूर्वक स्वानुभव से आत्मा प्रमेय होता है। आहा..हा...!

आहा..हा...! आदमी बाहर में कहाँ अटककर पड़ा है। व्रत करना और तपस्या करनी और पौषधव्रत करने और अरे प्रभु ! सुन तो सही... आहा..हा...! यहाँ तो धर्मी को भी यह विकल्प आता है। परंतु वह विकल्प को जाननेवाला है। विकल्प करनेवाला अर्थात् कर्तृत्वबुद्धिपूर्वक विकल्प (आते हैं ऐसा) नहीं। परंतु स्वयं की अस्थिरता के कारण परिणमन है। ऐसा अपना धर्म है। आहा..हा...! पर्याय में अपनी यह स्थिति धारण कर रखी है। इस अपेक्षा से उसे धर्म (कहा है)। धर्म शब्द (अर्थात्) मोक्ष का मार्ग ऐसा यहाँ है ही नहीं। आहा..हा...! योग्यता कहो, पर्याय कहो, स्वभाव से तो योग्यता (है वह) वस्तुस्थिति है। और निर्मल पर्याय भी वस्तु की स्थिति है। विकार भी परिणमन करता है और उस अपेक्षा से कर्ता कहा जाता है। ऐसा सूक्ष्म है... आहा..हा...!

'समाधिशतक' में एक बात आई थी कि अनादि से इन इन्द्रियों द्वारा ही उसने सब कुछ देखा है। इन्द्रिय द्वारा ही यह... यह... यह... यह... यह... यह... ऐसे देखकर ही वहाँ रुक गया है। ये तो इन्द्रियाँ तो - द्वार है, जाननेवाली तो ज्ञान की पर्याय अंदर है। परंतु वह ज्ञान की पर्याय - अवस्था इन्द्रिय द्वारा यह देखे

यह... यह... यह... यह परंतु जो ज्ञान की पर्याय है, उसे वह नहीं देखता। आहा..हा...! सूक्ष्म बातें हैं, भाई ! सुबह आया था। `इन्द्रिय द्वारा', यह गजब की बातें हैं। `समाधिशतक' और `इष्टोपदेश' बहुत ऊँचा (है) स्वाध्याय (करना) - आहा..हा...! भगवान आत्मा तो अंदर ज्ञानस्वरूपी प्रभु, अनंत शक्ति और अनंत पर्याय सम्पन्न है। जो इन्द्रिय द्वारा काम ले, वह अनादिकाल से देखा, जाना, पढ़, सुना वह सब वास्तविक तत्त्व नहीं। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

इन्द्रिय द्वारा श्रवण करने में आये और भगवान भी इन्द्रिय द्वारा देखने में आये वह वस्तु नहीं। अतीन्द्रिय द्वारा - श्रुतज्ञानरूपी अतीन्द्रियज्ञान द्वारा आत्मा देखने में आता है और अनुभव में आता है। आहा..हा...! इन बनियों को जैनधर्म मिला परंतु जैनधर्म की दरकार (भी) की नहीं। तीर्थंकर तो सभी क्षत्रिय थे, बनिये तीर्थंकर नहीं होते। अंदर जो क्षत्रिय होता है उसे ज्ञान व वीर्य बहुत ज्यादा ऊँचा होता है... और यहाँ तीर्थंकर क्षत्रिय को कहते हैं... परंतु अभी तो (जैनधर्म) बनियों के हाथ आया (है)।

भगवान ने बताया है - बनिया आदि सभी को धर्म हो सकता है। हरिजन हो तो भी धर्म हो सकता है। भले वह तीर्थंकर नहीं हो सकता, हरिजन को मुनिपना व केवलज्ञान नहीं हो सकता और बनिया-वैश्य-ब्राह्मण केवली हो सकते हैं - मुनि हो सकते हैं... आहा..हा...! कुछ समझ में आ रहा है ...! शूद्र जाति है वह धर्म प्राप्त कर सकता है। परंतु (उसे) मुनिपना व केवलज्ञान नहीं हो सकता।

यहाँ कह रहे हैं कि यह आत्मा जिसमें अनंता - अनंता - अनंता अनंतगुने गुनो तो गुणाकार करे तो अंत नहीं आता। अनंते धर्म अर्थात् गुण उसमें भरे हुए हैं। और उतनी ही अनंत - अनंत -अनंत - अनंत का अंत नहीं उतनी उसकी एक समय की पर्याय है। इन सभी पर्याय का व गुणों का अधिष्ठाता - स्वामी आत्मा एक द्रव्य है। अब जिस प्रकार धर्म अनंत है परंतु द्रव्य एक, उस प्रकार नय अनंत है परंतु श्रुतज्ञान एक (है), सूक्ष्म बात है भाई ! आहा..हा...! वे अनंत नय हैं, फिर भी उसका एकरूप श्रुत(ज्ञान) है वह एक है। उसमें आया था न, एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण है। आहा..हा...! और वह श्रुतज्ञान मतलब ये (शास्त्र के) पृष्ठ नहीं; उस प्रकार इन्द्रिय द्वारा सुना वह ज्ञान भी श्रुतज्ञान नहीं। आहा..हा...! भावश्रुतज्ञान जो अतीन्द्रियज्ञान,

जिसके भेद नय-श्रुतज्ञान के भेद नय होते हैं न... 'श्रुत विकल्पा नयाः।' उस श्रुतज्ञान के भाव जो शुद्ध चैतन्य उसका ज्ञान जो अनंत नय के समूहरूप जो श्रुतप्रमाण उस श्रुतज्ञान प्रमाणपूर्वक स्वानुभव द्वारा अनंतगुण का अधिष्ठाता जो आत्मा एक द्रव्य उसे प्रमेय कर सकता है। प्रमेय अर्थात् उसका ज्ञान कर सकता है। आहा..हा...! ऐसी बातें (हैं) सब। कुछ समझ में आया ?

यह तो ऊपर ऊपर से थोड़ा सुना है और हो गया हमें ज्ञान और सब आ गया। अरे भाई! सुन बापू... आहा..हा...! श्रुतज्ञान में तो आत्मा को समाधि और शांति आती है। उस ज्ञान द्वारा आत्मा प्रमेय हो सकता है। आहा..हा...! द्रव्यश्रुत है वह तो सब विकल्पात्मक भाव है। इसलिए क्या कहा ? कि इन्द्रियों द्वारा जो सुना हुआ ज्ञान है, वह तो विकल्पात्मक दुःखदशा है। आहा..हा...! परंतु जो श्रुतज्ञान - भावश्रुतज्ञान है; उसमें साथ में अतीन्द्रिय आनंद है। ऐसे भावश्रुतज्ञान द्वारा अनंत धर्मो का धारक अधिष्ठाता स्वामी आत्मा वह श्रुतज्ञानपूर्वक अनुभव से जाना जा सकता है। यह तो आखिर में सार(रूप) कहा न...! (लोगों को) पाप के (धंधों के) मारे फुर्सत नहीं मिलती।

आत्मा अनंत धर्म व पर्याय का एकरूप द्रव्य है। एकरूप जो श्रुतज्ञान - अनंत नय का समूह ऐसा जो श्रुतज्ञान, जिसमें अतीन्द्रिय आनंद का (स्वाद आता है)। भावश्रुतज्ञान में तो आनंद होता है। द्रव्यश्रुत ज्ञान में - परलक्ष में तो विकल्प होता है। आहा..हा...! विकल्प माने दुःख। आनंद माने आत्मा की सुखदशा। जैसे भगवान अतीन्द्रिय आनंद स्वरूप है (जैसे) उसको जाननेवाला ज्ञान भी अंदर में अतीन्द्रिय आनंदसहित होता है। आहा..हा...! यह तो वीतराग का मार्ग है... बापू... सूक्ष्म है.... भाई ! सूक्ष्म कहने से उसकी सूक्ष्म बुद्धि होनी चाहिए। इस तरह स्थूलबुद्धि से पकड़ में आये ऐसा नहीं है... वह आहा...हा...! अंदर में ज्ञान जो स्थूल है - राग के लक्षवाला, उसकी ज्ञान की पर्याय को, उपयोग को बहुत सूक्ष्म करे तब उसके द्रव्य में ध्रुव को स्पर्श करे... वह...!

यहाँ कहते हैं, सुन तो सही... प्रभु... एक बार... अरेरे... अनंतगुण और अनंती पर्यायों का स्वामी द्रव्य एक। उसे जानने के लिए अनंत नयों का समूह ऐसा श्रुतज्ञान एक। उस श्रुतज्ञानपूर्वक, स्वानुभव द्वारा (ज्ञात होता है।) यह तो सिर्फ ज्ञान आया परंतु उसके साथ अनुभव (है)। अनंत गुणों का पिंड, उसका अनुभव (है)। श्रुतज्ञान

तो एक ज्ञान की पर्याय हुई। कुछ समझ में आया...समझ में जाय उतना समझना बापू... यह तो अगाध विषय है। आहा..हा...! उसने अनंतकाल में यह ध्रुव भगवान और उसकी पर्यायें, उसका उसने प्रमाणज्ञान कभी किया नहीं है। आहा..हा...! और प्रमाणज्ञान करे तो उसमें प्रमेय - ज्ञात हो जाय। प्रमेय ज्ञात हो उसे सम्यक्ज्ञान - सम्यक्दर्शन होता है। कुछ समझ में आया ! यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है। हम (प्रवचन में) यहाँ तक तो आ चुके हैं और एक बोल कल चला था। अब नय की व्याख्या कर रहे हैं।

आत्मा में जो अनंत गुण व पर्यायें हैं; उसके एक-एक गुण को और एक-एक पर्याय को जाननेवाला ज्ञान का एक अंश उसकी बात कर रहे हैं। हालाँकि एक अंश से पूर्ण आत्मा ज्ञात नहीं होता। परंतु उन नयों का वर्णन करके अनंत नयों के एकरूप श्रुतज्ञानपूर्वक अनुभव होता है यह पहले बताने के लिए नय का विषय बता रहे हैं। आहा..हा...! कुछ समझ में आया...! ऐसी बातें सूक्ष्म बहुत बापू... क्या करे ! आहा..हा...! अरे... कभी (ज्ञान) किया नहीं। जो ज्ञानस्वरूप प्रभु... वह इन्द्रियों द्वारा काम लेता है, तो वह बाह्य पदार्थ उसमें ज्ञात होता है। स्व को जाने बिना का बाह्य पदार्थ का भी उसे यथार्थ ज्ञान नहीं होता।

आहा..हा...! स्व चैतन्य को... आया था न, 'कलशटीका' में नहीं (आया था)? स्वरूपग्राही ज्ञान। क्या कहा वह ? कि यह पानी ठंडा है। और अग्नि के निमित्त से अपनी पर्याय में उष्णता आई है। उस उष्णता व ठंडी का ज्ञान भी यथार्थ किसे हो ? जिसको कि स्वरूप का ज्ञान हुआ है, उसे उसका यथार्थ ज्ञान होता है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! अर्थात् उसका अर्थ यह कि करणानुयोग में, चरणानुयोग में, कथानुयोग में जो सारे कथन हैं (वे निमित्तप्रधान कथन हैं)। आहा..हा...!

देखो, फिर से लेते हैं। यह आत्मा कौन है ? शिष्य का प्रश्न है। ऐसा शिष्य लिया है जिसने कि आत्मा के बारे में प्रश्न किया है। ऐसा शिष्य यथार्थ श्रोता है, ऐसा कह रहे हैं। आहा..हा...! जिस शिष्य ने छह द्रव्य कैसे हैं, ऐसा प्रश्न नहीं (किया) परंतु छह द्रव्यों का जाननेवाला आत्मा, वह कैसा है ? आहा..हा...! देखा प्रश्न ? आत्मा कैसा है ? कौन है अंदर आत्मा ? आहा..हा...! एक प्रश्न हुआ। और किस प्रकार प्राप्त होता है ? यह दूसरा प्रश्न तो उसका अनुभव किस प्रकार

हो ? आत्मा कौन है ? और उसकी प्राप्ति किस विधि से होती है ? आहा..हा...! ऐसा तो शिष्य के मुख से प्रश्न किया। ऐसा कहकर आचार्यदेव यों कह रहे हैं... जब किसी शिष्य के अंतरमें से ऐसा प्रश्न उठता है, (उसे हम उत्तर दे रहे हैं।) देखो ! '**ऐसा प्रश्न किया जाय तो...**' ऐसे...शब्द हैं... देखो...

आहा..हा...! 'अमृतचंद्राचार्य महाराज'... आनंद का प्रचुर स्वसंवेदन जिनका लिंग है। वस्त्ररहितपना व नग्नपना ये तो बाहर की बात है। जिनका भावलिंगपना... आहा..हा...! प्रचुर स्वसंवेदन जिनका भावलिंग है। प्रचुर क्यों कहा ? समकितदृष्टि को भी वेदन तो आत्मा का होता है। परंतु कम (होता है)। मुनि के तो प्रचुर होता है। बहुत (होता है)। आहा..हा...! जिस प्रकार समुद्र में ज्वार - बाढ़ आती है। आहा..हा...! उस प्रकार भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनंद व ज्ञान का समुद्र - सागर है। उस ओर झुकी हुई दशा या पर्याय में प्रचुर अतीन्द्रिय आनंद होता है। आहा..हा...! उस संत को भावलिंगी मुनि कहे जाते हैं। एक बात (हुई)। ऐसे भावलिंगी मुनि अपनी बात बताना चाहते हैं। परंतु (उसे सुननेवाला) शिष्य कैसा होता है ? यह भी साथ में लिया। कुछ समझ में आया...! आहा..हा...!

तो ऐसा प्रश्न नहीं किया कि हमें पैसे किस प्रकार मिलेंगे और हमें पुण्य कैसे होगा, हमारा व्यवहार कैसा होना चाहिए, ऐसा प्रश्न नहीं किया। ये सब (बातें तो) पता है उसे - ऐसा शिष्य लिया है।

'पद्मनंदि' में आया है न भाई ! बारह-तेरह बोल आये हैं, 'पद्मनंदि' में तेरह बोल (हैं)। आत्मा को पूछना - सुनना - विचारना - चिंतवन करना - परिचर्यन करना इत्यादि तेरह बोल हैं। और 'समाधिशतक' यही आया था। बोलना... उसे पूछना - आत्मा कौन है ? यह पूछना - उसका विचार करना - उसका परिचर्यन करना - उसकी भावना करना। आहा..हा...! यहाँ शिष्य का प्रश्न है। ऐसा प्रश्न किया जाय तो, ऐसा प्रश्न है और ऐसा शब्द है। '**ऐसा प्रश्न किया जाय तो इसका उत्तर (पहले ही) कहा जा चुका है और (यहाँ) पुनः कहते हैं :-**' आहा..हा...!

परिशिष्ट है न ! आहा..हा...! समुद्र है... प्रभु ! ऐसा कह रहे हैं। अनंत - अनंत - अनंत - अनंत को अनंतगुना से गुणाकार करके (जो) अनंत आये उससे भी अंत न आये उतने अनंत धर्म उसमें (आत्मा में) हैं। धर्म अर्थात् गुण... आकाश

के प्रदेश का जहाँ अंत नहीं है, तो देखो वहाँ क्या है भाई ! आकाश के (प्रदेशों को) अनंत - अनंत - अनंत - अनंत - अनंत - अनंत - अनंत और अनंत वर्ग से गुणा करो फिर भी उसका अंत नहीं आता। आहा..हा...! क्या कह रहे हैं... यह ?! क्षेत्र की चमत्कारी दशा और काल की चमत्कारी दशा आदि नहीं - आदि नहीं - आदि नहीं - आदि नहीं... आहा..हा...!

उसके (आत्मा के) गुण की अनंत, भाव की अनंत, चमत्कृति (हो)। क्षेत्र इतना परंतु अनंत - अनंत - अनंत - अनंत - अनंत का वर्ग करने से, एक अनंत को एकबार (अनंत से) गुणा करो, फिर जो आये उसे दूसरी बार (अनंत से) गुणा करो। फिर अनंतबार गुणा करो, उसे वर्ग कहा जाता है। फिर भी उसकी शक्ति के समूह में गुण की संख्या का अंत नहीं आता। उसके भाव का भी चमत्कार, क्षेत्र का चमत्कार, काल की आदि नहीं - आदि नहीं.... परंतु प्रथम - प्रथम - क्या भाई प्रथम...! पर्याय प्रथम कौनसी ? प्रथम पर्याय कौनसी ? कहो तो... प्रथम पर्याय कभी भी... भी नहीं। है तो पर्याय एक समय की अवस्था। द्रव्य तो भले ही पहला नहीं, परंतु पर्याय प्रथम कौनसी ? वह चमत्कारी वस्तु है। प्रथम है ही नहीं। अनादि वस्तु है। आहा..हा...!

ऐसी तो द्रव्य की - क्षेत्र की - भाव की चमत्कृति - चमत्कार उसको जाननेवाला भगवान आत्मा वह क्षेत्रज्ञ, कालज्ञ और भावज्ञ। आहा..हा...! ऐसा आत्मा कौन था ? ऐसा शिष्य का प्रश्न था। और वह किस विधि से प्राप्त हो सकता है ? ऐसा प्रभु हमें कैसे मिले ? आहा..हा...! ऐसा प्रश्न किया जाय तो... गजब काम है न ? उसका उत्तर कहा है। फिर से कहते हैं।

पहले तो मूल में बात यह है कि, पहले में `**तावत्**' शब्द है। संस्कृत में `**तावत्**' शब्द है। कुछ समझ में आया...! आहा..हा...! है न ! शब्द `**आत्मा ही तावत्**' दूसरी पंक्ति है। संस्कृत (में) क्या कहते हैं ? यहाँ प्रभु कहते हैं कि - मूल मुद्दे की बात हम कर रहे हैं। `**प्रथम तो, आत्मा वास्तव में चैतन्यसामान्य से व्याप्त...**' वह चैतन्यसामान्य है। उसमें व्याप्त है अनंत धर्म... आहा..हा...! गजब बात है। यहाँ धर्म शब्द से दर्शन-ज्ञान-चारित्र ऐसा नहीं। यहाँ धर्म शब्द से धारण करके रखा हुआ, आत्मा ने धारण करके रखे हुए भाव को यहाँ धर्म कहते हैं। कुछ समझ में आया... यह तो अध्यात्म की बातें, बापू ! यह तो भाई !! बहुत सूक्ष्म (बात) भगवान, तेरी बातें सूक्ष्म हैं...

आहा..हा...!

कह रहे हैं कि - चैतन्यसामान्य से व्याप्त क्या ? अनंत धर्मो का अधिष्ठाता... आहा..हा...! भगवान आत्मा तो अनंतगुण वह भी धर्म, उसे धारण करके रखा है। अनंती निर्मलपर्याय, वह भी उसने धारण करके रखी हुई है, वह भी धर्म और विकारी पर्याय उसे (भी) धारण कर रखा है इसलिए धर्म। वह धर्म मोक्ष का मार्ग नहीं (परंतु) धारण करके रखा है वह धर्म। आत्मा बताना है न ! आहा..हा...! अनंत धर्मों का स्वामी... आहा..हा...! ('समयसार') ७३ गाथा में ऐसा कहा। विकार का स्वामी कर्म है। ऐसा कर्ता-कर्म अधिकार में पाठ है।

कर्ता-कर्म की ७३ गाथा में तो दृष्टि और दृष्टि के विषय को सिद्ध करने के लिए, उसमें रहनेवाली चीज नहीं है। उसे वहाँ विकार कहकर उस विकार का स्वामी कर्म है, (ऐसा कहा है)। क्योंकि छूट जाता है। वह अपेक्षा यहाँ नहीं है। यहाँ तो अपने में है, इस अपेक्षा से विकार का स्वामी भी आत्मा है। आहा..हा...! भगवान आत्मा... अनंत धर्म माने गुण, अनंती पर्याय माने धर्म, धर्म माने धारण करके रखा हुआ। और कुछेक गुण की विकारी पर्याय विकृत है। यहाँ तो समकिती की बात है, हाँ ! उसकी जो विकृत पर्याय है उसे भी यहाँ धर्म कहा गया। धर्म अर्थात् धारण करके रखा हुआ तत्त्व। भगवान आत्मा ने धारण करके रखा हुआ, टिकाकर रखा हुआ तत्त्व, उसे यहाँ धर्म कहते हैं।

यहाँ धर्म (अर्थात्) मोक्ष का मार्ग - उत्तम क्षमा आदि धर्म। यहाँ पर इस तरह से बात नहीं है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? ऐसी कठिन बातें... बापू... गुजराती में चला था। हिन्दी में चला था। और यह तीसरी बार चला। स्पष्ट... स्पष्ट है। बापू ! (अनंत) धर्मों का अधिष्ठाता (है)। देखो... जगत का अधिष्ठाता ईश्वर है ऐसा कोई कह रहा हो तो वह बात झूठी है। स्वयं अपने गुण व पर्याय का अधिष्ठाता स्वामी (है), स्वयं अधिष्ठाता है। कुछ समझ में आया... आहा..हा...!

सर्वज्ञ वीतराग और संतों, दिगंबर मुनियों के अलावा ऐसी बात कहीं भी है नहीं। आहा..हा...! परम सत्य - अंदर परम सत्य के आसार पड़े हैं। आहा..हा...! प्रभु तू सत् स्वरूप है। यह तो जानने की अपेक्षा से (कहा) है। नाथ स्वयं को जानता है न इस अपेक्षा से कहा है और 'सर्वगत' भी कहा है। सबको जाने - जानता है

न, इस अपेक्षा से 'सर्वगत' कहा। 'प्रवचनसार' में आ चुका है। और जहाँ 'पंचाध्यायी' में यह अधिकार लिया वहाँ 'सर्वगत' माने तो मिथ्यानय है। ऐसा कहा है। भाई ! किस अपेक्षा से (है वह) समझना चाहिए, भाई ! वहाँ 'पंचाध्यायी' में 'सर्वगत' नयाभास में लिया है। और यहाँ 'प्रवचनसार' में सर्वगत (इसलिए कहा है कि) आत्मा को केवलज्ञान हुआ है, वह सर्वगत है, ऐसा लिया है। किस अपेक्षा से ? (कि) सब जानता है इस अपेक्षा से। और वह सर्वगत सर्व में व्यापक है, ऐसा नहीं है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

अरे प्रभु ! तेरे घर की क्या बातें हैं ? कह रहे हैं कि अनंत धर्म अर्थात् गुण व पर्याय, विकारी या अविकारी उसे यहाँ धर्म कहते हैं। उसका अधिष्ठाता - स्वामी एक द्रव्य है। देखा ? है ? अनंत गुण व अनंती पर्यायें और अनंत धर्म, परंतु वस्तु द्रव्य एक है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? एक बात, दूसरी बात, क्योंकि अनंत धर्मों में व्याप्त होनेवाले अनंत नय हैं। आहा..हा...! एक द्रव्य है वह कैसे ? एक द्रव्य में जानने में किस प्रकार से आते हैं ? अनंत धर्मो में व्याप्त होनेवाले अनंत नय हैं। इतने प्रश्न में तो (आत्मा) कैसा है यह कहा।

अब किस प्रकार से प्राप्त हो सकता है यह यहाँ दूसरे प्रश्न का उत्तर है। कुछ समझ में आया ? अनंत धर्मों का अधिष्ठाता है। वह एक द्रव्य है। ऐसा आत्मा कौन है ? उसका उत्तर है। अब किस प्रकार प्राप्त हो ? यह दूसरा प्रश्न है। उसकी व्याख्या करते हैं। आहा..हा...! अनंत धर्मों में व्याप्त, अनंत धर्मों में रहे हुए जो अनंत नय, एक-एक धर्म को एक-एक नय जानता है। (आत्मा) राग का कर्ता है वह भी एक नय है। आत्मा राग का कर्ता है। किस अपेक्षा से ? कि परिणमन करे वह कर्ता। इस अपेक्षा से कर्तानय लिया है। ४७ नय में कर्तानय लिया है। और एक तरफ ऐसा कहते हैं कि राग करने योग्य है, ऐसी कर्ताबुद्धि ज्ञानी के होती नहीं है। करने योग्य व्यवहार है परंतु व्यवहार का (सहज) परिणमन है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ! आहा..हा...!

अनंत धर्मों का (अधिष्ठाता है।) यह लिया, और अब कैसे ज्ञात हो ? अनंत धर्मो में व्याप्त होनेवाले अनंत नय हैं। अनंत नय (हैं) कहेंगे ४७। ऐसे तो शक्ति भी अनंत हैं परंतु ४७ (कही है)। उपादान-निमित्त का दोहरा है न वह भी ४७

(है)। आठ कर्म के, चार घाति कर्म की प्रकृति, ज्ञानावरणीयादि की ४७ प्रकृति हैं। आहा..हा...! अनंत कहेंगे बाद में। वैसे तो एक-एक आत्मा में सामान्य गुण अनंत हैं। और विशेष (गुण) अनंत हैं। साधारण में - सामान्य में छह (गुण) कहे। अस्तित्व-वस्तुत्व-प्रमेयत्व परंतु है सामान्य गुण अनंत। और विशेष में ज्ञान-दर्शन-आनंद आदि आत्मा में (हैं)। और उसमें (पुद्गल में) वर्ण-रस-गंध आदि विशेष (गुण) कहे हैं। परंतु विशेष (गुण) अनंत हैं। आहा..हा...!

एक परमाणु हाँ ! एक क्षेत्र का एक परमाणु। आकाश के जितने धर्म-गुण हैं, उतने गुण एक परमाणु में है। आहा..हा...! क्षेत्र छोटा-बड़ा नहीं देखना है। उसका स्वभाव-शक्ति का सामर्थ्य - (देखना है)। वह (भी) एक वस्तु है। उसके स्वभाववाली वस्तु है। बस, इतना (लेना है)। वैसे देखने जाओगे तो परमाणु इतना छोटा... और... इतना...! `तत्त्वार्थसार' में कहा है। आप परमाणु को इस प्रकार वस्तु के स्वभाववाली, स्वभाववान चीज है, ऐसे लेना। आहा..हा...!

यहाँ कह रहे हैं कि, '**जो अनंत नय हैं उनमें व्याप्त होनेवाला जो एक श्रुतज्ञानस्वरूप...**' देखा ! उसमें अनंत धर्मों का अधिष्ठाता कहकर एक द्रव्य कहा था। और यहाँ अनंत नयों में व्याप्त होनेवाला एक श्रुतज्ञान (कहा)। वह श्रुतज्ञान द्रव्यश्रुत नहीं। वह (द्रव्यश्रुत तो) इन्द्रियाँ हैं। इन इन्द्रियों द्वारा जितना सुनने में और देखने में आता है, वह सब पर है। भगवान भी इन्द्रियों द्वारा देखने में आते हैं। वे पर हैं। और जितना इन्द्रियों द्वारा देखा उतना ही है, ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि अतीन्द्रिय जाननेवाला, अतीन्द्रिय से ज्ञात हो सके ऐसा कभी देखा नहीं उसने। आहा..हा...! कुछ समझ में आया !

द्रव्यलिंगी जैनसाधु। नौवीं ग्रैवेयक गया। उसे ग्यारह अंग का ज्ञान, परंतु इन्द्रिय द्वारा - मन द्वारा उसमें पर जानने में आया स्वयं (जानने में) नहीं आया। कुछ समझ में आया ! आहा..हा...! वह यहाँ कह रहे हैं। अनंत नय हैं। उसमें व्याप्त होनेवाला - समूहरूप एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण है। पर्याय भावश्रुतज्ञान (की) है। पर्याय गुण नहीं है, परंतु वह पर्याय प्रमाण है। अंशी है। नय उसका अंश है। नय उसका अवयव है। और पर्याय - श्रुतप्रमाण की पर्याय है वह अंशी - अवयवी है। आहा..हा...! तो कहते हैं कि श्रुतज्ञान - एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण - तो यह प्रमाण है। यह प्रमाण

कोई गुण नहीं है, पर्याय है। श्रुतज्ञान स्वरूप प्रमाण भी पर्याय है। आहा..हा...! पर्याय की कितनी ताकत है कि उसमें अनंते नय समूह समाविष्ट हो गये हैं। ये तो सब चमत्कारिक बातें हैं, बापू !

कहा नहीं था ? बहुत कहा था। यह लकड़ी, यहाँ उसके आधार से नहीं रही है। यह... यह... इसके आधार से नहीं रहा। ऐसा तो क्या होगा ? उसकी पर्याय में - उसमें - आधार नाम का गुण है - शक्ति है, उस शक्ति के कारण से स्वयं अपने आधार से रहा है, इसके आधार से नहीं। यह तो क्या है ? एक बार कहा था न, लकड़ी न दीवाल को छूती है, न हाथ को छूती है। चलते समय पैर जमीन को छूता तक नहीं है। यह क्या ? बापू ! पर्याय की चमत्कृति भी स्वतंत्र रहती है। इस चमत्कार को दुनिया न माने, परंतु यह चमत्कार अलौकिक है, हाँ ! आहा..हा...! यह चश्मा नाक के आधार से नहीं रहा, डंडी के आधार से नहीं रहा। बात बहुत सूक्ष्म... बापू, हाँ!

आहा..हा...! भगवान के घर की बातें, प्रभु तेरे घर की बात है, हाँ... परंतु उसने (कभी भी) सुनी नहीं है। आहा..हा...! आत्मा जो है वह कर्म के आधार से नहीं रहा। अपने - शरीर के आधार से रहा ही नहीं है। आकाश में रहा नहीं है। आकाश में अवगाहन उसका व्यवहार है। अपने में (ही) अवगाहन करके रहा है। वह निश्चय है। आहा..हा...! बापू ... प्रभु यह द्रव्य भी कोई चमत्कारिक (चीज) है। ये गुण भी चमत्कारिक हैं। और पर्याय भी कोई चमत्कारिक है। आहा..हा...! अज्ञानी के दिल टूट जाय ऐसी बातें हैं। आहा..हा...! और दूसरी तरह से कहें तो यह सुनते (ही) मिथ्यात्व के टुकडे हो जाय ऐसा है।

यहाँ कह रहे हैं, अनंत नयों में व्याप्त... बापू... सूक्ष्म बात है। परंतु ध्यान रखना हाँ...! समझ में नहीं आयेगी ऐसा मत ले लेना। प्रभु ! (जो) केवलज्ञान ले सकता है, वह समझ न सके ऐसा कैसे कह सकते हैं ? उसे कलंक लगता है। आहा..हा...! एक समय में केवलज्ञान की पर्याय प्रगट करे। आहा..हा...! और एक समय की पर्याय केवलज्ञान लेती है। एक गुण को एक समय में कहो तो तीनकाल के समय में भी उसके गुण नहीं कहे जा सकते। आहा..हा...! क्या है यह! एक समय में एक गुण कहो, दूसरे समय में दूसरा, तीसरे समय में तीसरा, तीनकाल में अनंत

गुण की संख्या, एक समय में एक गुण कहो तो तीनकाल में उसके गुण की संख्या कही नहीं जा सकती। आहा..हा...! ऐसी अद्‌भुत वस्तु है ! प्रभु ! `**अद्‌भुतात् अद्‌भुतम्**' यह तत्त्व है।

अंत में आता है। `समयसार' में अंतिम श्लोक में, पीछे एक श्लोक में अद्‌भुत आता है न! एक श्लोक में `**अद्‌भुतात् अद्‌भुतम्**' (ऐसे) दो श्लोक आते हैं। आहा..हा...! कहते हैं कि अनंत नयों में व्याप्त एक श्रुतज्ञान स्वरूप प्रमाण। ये दो बातें सिद्ध की। अब यह प्रमाण द्वारा ज्ञात होता है यह सिद्ध करना है। पहले कैसा था ? कैसा है ? यह बात की। और वह किस प्रकार प्राप्त होता है ? आहा..हा...! वह प्रमाण, उस प्रमाणपूर्वक (प्राप्त होता है ऐसा)। यहाँ कहते हैं। किस प्रकार प्राप्त होता है भगवान आत्मा ? यहाँ तो भगवान ही कह रहे हैं। प्रभु ! भगवान जिनस्वरूपी है।

आहा..हा...! वह श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण है। (यह) सिद्ध किया। अब एक तरफ द्रव्य सिद्ध किया - अनंत धर्मों का अधिष्ठाता और दूसरी तरफ श्रुतप्रमाण का अनंत नयों का समूह (है ऐसा सिद्ध किया) अब वह क्या जाने प्रमाणपूर्वक - वह प्रमाण से जानता है ऐसा सीधा न लेकर `**प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से (वह आत्मद्रव्य) प्रमेय होता है, (ज्ञात होता है)।**' आहा..हा...! है तो श्रुतप्रमाण - पर्याय, परंतु वह (प्रमाण)पूर्वक स्वानुभव से (प्रमेय होता है)। आत्मा के अनुभव से पर्याय में जानने में आता है, कुछ समझ में आया ? श्रुतज्ञान प्रमाण है। उसमें राग को जाना। वह नय भी आ गया। राग है परिणमन में... (यह) साधक की बात है। यहाँ तो राग को जाननेवाला तो नय है। नय का समूह श्रुतप्रमाण भी आ गया। परंतु राग का ज्ञान करनेवाला (नय) है। परंतु राग से ज्ञान होता है या राग से स्वभाव का निश्चय होता है। ऐसा नहीं है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? ऐसी बातें अब।

व्यवहार रत्नत्रय का राग है, वह भी एक धर्म है। धर्म अर्थात् पर्याय ने धारण करके रखी हुई वस्तु धर्म, मोक्ष का मार्ग ऐसे (अर्थ) नहीं (लेना)। उसे (राग को) ज्ञान एक नय से जानता है। और उस अनंत नयों के समूह(रूप) श्रुतप्रमाण में उसका ज्ञान भी आ गया। उसका ज्ञान आ गया, ऐसे कहना भी व्यवहार है। आहा..हा...! राग संबंधित अपना ज्ञान अपने से हुआ (है)। उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। कुछ समझ

में आया...!

वह प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से अंतर में वेदन द्वारा (प्रमेय होता है)। आहा..हा...! स्व-अनुभव से - राग के अनुभव से नहीं, पर के अनुभव से (नहीं)। (परंतु) श्रुतज्ञानपूर्वक (प्रमेय होता है)। बात तो बापू, आत्मा की बात है। आहा..हा...! `प्रमाणपूर्वक अनुभव से', सिर्फ प्रमाण से जानता है - ऐसा नहीं कहा। उसी प्रकार सिर्फ स्वानुभव द्वारा ज्ञात होता है, ऐसा नहीं कहा। परंतु वह श्रुतप्रमाणपूर्वक ज्ञान लेना है न ! स्वानुभव से उत्तर दिया - किस प्रकार प्रमेय होता है ? किस प्रकार ज्ञात होता है - प्रश्न का उत्तर तो सब उसमें समाविष्ट हो गया। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

श्रोता :- आनंद के स्वादपूर्वक ज्ञात होता है ?

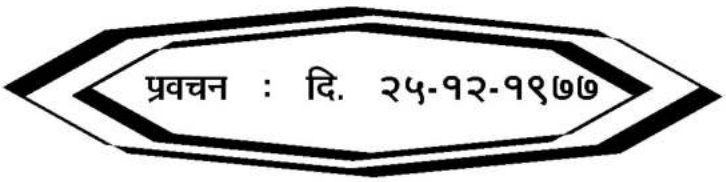
पूज्य गुरूदेवश्री :- आहा..हा...! भावश्रुतज्ञान में साथ में आनंद है। द्रव्यश्रुत में पर के लक्ष में तो विकल्प है। विकल्प है वह तो दुःख है। और इसमें सुख है। थोड़ा हाँ ! समय पूरा हो रहा है। आहा..हा...! प्रमेय होता है। स्वानुभव से श्रुतज्ञानपूर्वक प्रमेय अर्थात् ज्ञात होता है। यह विधि और यह पद्धति है। दोनों के उत्तर दिये। अब नय की व्याख्या... विशेष कहेंगे...



वह आत्मद्रव्य द्रव्यनय से, पटमात्र की भाँति, चिन्मात्र है (अर्थात् आत्मा द्रव्यनय से चैतन्यमात्र है, जैसे वस्त्र वस्त्रमात्र है तदनुसार)। १।

आत्मद्रव्य पर्यायनय से, तंतुमात्र की भाँति, दर्शनज्ञानादिमात्र है (अर्थात् आत्मा पर्यायनय से दर्शनज्ञानचारित्रादिमात्र है, जैसे वस्त्र तंतुमात्र है)। २।

आत्मद्रव्य अस्तित्वनय से स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला है; - लोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित, संधानदशा में रहे हुए और लक्ष्योन्मुख बाण की भाँति। (जैसे कोई बाण स्वद्रव्य से लोहमय है, स्वक्षेत्र से डोरी और धनुष के मध्य में स्थित है, स्वकाल से संधान-दशा में है, अर्थात् धनुष पर चढ़ाकर खेंची हुई दशा में है, और स्वभाव से लक्ष्योन्मुख है अर्थात् निशान की ओर है, उसी प्रकार आत्मा अस्तित्वनय से स्वचतुष्टय से अस्तित्ववाला है।) ३।



प्रवचनसार। नय का अधिकार है न ? यहाँ तक आया है। 'प्रमेय होता है...' आया है न! क्या कहा ? कि जो यह आत्मा है उसमें अनंत धर्म है। धर्म माने शक्ति और पर्याय सभी को धर्म कहते हैं। क्योंकि आत्मा उसे धारण करके रखता है। और उस अपेक्षा से धर्म कहते हैं। विकारी पर्याय को भी यहाँ तो धर्म कहते हैं। धर्म का अर्थ आत्मा धारण करके रखता है, इस अपेक्षा से धर्म कहा। तो अनंत धर्म में व्यापक एक धर्मी आत्मद्रव्य (है)। ऐसा आत्मा कैसा है ? ऐसा कहा। फिर किस प्रकार से प्राप्त हो ? कि अनंत नयों में व्याप्त जो श्रुतज्ञान प्रमाण (उसमें ज्ञात होता है)। जो श्रुतज्ञान है, (है) तो वह पर्याय परंतु प्रमाण है। प्रमाण का अर्थ द्रव्य

व पर्याय सभी को जाने। उसका नाम प्रमाण है। है तो पर्याय परंतु जाने द्रव्य - पर्याय - अनंत धर्म आदि (सभी को जाने)। एक-एक पर्याय का धर्म भी जाने।

इस प्रकार अनंत नयों से व्याप्त श्रुतज्ञानप्रमाण - भावश्रुतज्ञान प्रमाण उसमें वह आत्मद्रव्य प्रमेय होता है। आहा..हा...! ऐसी बात है। उससे (प्रमाण से) ज्ञात होता है। यहाँ केवल दृष्टि का विषय नहीं लेना है। दृष्टि के विषय के अलावा गुण का विषय, पर्याय का विषय, प्रमाण यह सब लेना। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! अब हम नय शुरू करते हैं। आज नया (नवीन बात) लेते हैं, वह आत्मद्रव्य - जो अनंत धर्म व्यापक - उसका अधिष्ठाता आत्मद्रव्य स्वभाव (उसका) वह स्वामी (है)। (वह) द्रव्यार्थिक नय से - द्रव्यनय से। है न ? द्रव्यनय से कहो या द्रव्यार्थिक नय से कहो, इस द्रव्यार्थिकनय से (अर्थात्) जिसे नय का प्रयोजन द्रव्य है, `**वह द्रव्यार्थिकनय से...**' समकित का विषय भी वह है। परंतु यहाँ तो प्रमाणज्ञान का विषय बताना है।

क्या कहा यह ? भगवान आत्मद्रव्य द्रव्यनय से, द्रव्यार्थिक नय से तो... द्रव्यार्थिक नय (का) विषय जो है, यह सम्यग्दर्शन का विषय है। कुछ समझ में आया ? जिसका (जिस नय का) प्रयोजन द्रव्य है। ऐसा द्रव्य... अर्थात्... द्रव्य जिसका प्रयोजन है ऐसा जो ज्ञान - द्रव्यार्थिकनय - द्रव्य जिसका अर्थ माने प्रयोजन (है) ऐसा नय शब्द बना है। द्रव्यनय भी द्रव्यार्थिकनय है। कुछ समझ में आया ?

आहा..हा...! भगवान आत्मा `वह आत्मद्रव्य द्रव्यनय से, पटमात्र की भाँति, चिन्मात्र है...' जिस प्रकार वस्त्र, वस्त्ररूप से पूरा है। उसी प्रकार भगवान आत्मा द्रव्यार्थिकनय से चिन्मात्र है, ज्ञायकभावमात्र है। जो ज्ञायकभाव कहा, वह चिन्मात्र कहा है। आहा..हा...! वस्त्र जिस प्रकार वस्त्ररूप है। उसमें भेद नहीं, तानेबाने का भेद नहीं। तानेबाने समझते हो ? तंतु... तंतु। वह वस्त्रमात्र जैसा है। उस प्रकार द्रव्यनय से - द्रव्यार्थिकनय से आत्मा चिन्मात्र ज्ञायकमात्र है। परंतु यह तो एक नय का विषय हुआ। कुछ समझ में आया ? पूरे श्रुतप्रमाण का विषय केवल (यह) नय नहीं है। क्या कह रहे हैं? कि भूतार्थ ११ वीं गाथा में आया है न ! (`समयसार' में)

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो।।

व्यवहार-पर्यायमात्र असत्य है। वहाँ ११ वीं गाथा में `**ववहारोऽभूदत्थो**' कहा। व्यवहार

पर्यायमात्र अभूतार्थ नाम असत्य है ऐसा कहा। और '**भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ**' भूतार्थ जो ज्ञायक शुद्ध, ध्रुव स्वभाव उसे शुद्धनय कहा। पहले तो ऐसा लिया, '**ववराहो अभूदत्थो**' पर्यायमात्र झूठी है। ऐसा कहा, क्यों ? कि गौण करके कहा है, अभाव करके नहीं कहा। और '**भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ**'... सत्यार्थ वस्तु जो है, वह शुद्धनय के विषय को यहाँ शुद्धनय कह दिया है। कुछ समझ में आया...!

मार्ग बहुत सूक्ष्म भाई...! वह भूतार्थ उसको यहाँ शुद्धनय कहा (है) तीसरे पद में फिर से लिया... '**भूदत्थमस्सिदो खलु...**' भूतार्थ त्रिकाली का आश्रय करने से सम्यक्दर्शन होता है। उस भूतार्थ की यहाँ बात नहीं है। यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है। अतः एक नय का विषय जो कि दृष्टि का है, उसे न लेकर, अनंतनय का समुदाय ऐसा। श्रुतप्रमाण (है)। (कि जिस) श्रुतप्रमाण के विषय में द्रव्यनय (भी) एक नय है। कुछ समझ में आया ? गंभीर बात, भगवान, आहा..हा...!

यहाँ द्रव्यनय तो एक नय लिया। एक ही नय का विषय ऐसा नहीं। यहाँ तो अनंत नय का समुदाय श्रुतप्रमाण, उसका विषय पूरा द्रव्य और पूरी पर्याय, यह यहाँ प्रमाण का विषय लेना है। तो प्रमाण के द्रव्य का विषय - द्रव्यार्थिकनय का विषय चिन्मात्र कहा। चिन्मात्र कहने से एक नय आया। कुछ समझ में आया...!

श्रुतप्रमाण के विषय में द्रव्यार्थिकनय से - द्रव्यनय से चिन्मात्र ऐसा एक नय आया। द्रव्यार्थिकनय का विषय सम्यक्दर्शन में एक अभेद विषय द्रव्य है। यह विषय यहाँ बताना है। परंतु वह द्रव्यार्थिक जो सम्यक्दर्शन का विषय है, वह तो एक ही सामान्य ध्रुव, एक चिन्मात्र ही है। परंतु यहाँ श्रुतज्ञान प्रमाण में उस द्रव्यनय से चिन्मात्र भी है। और पर्यायनय से पर्यायमात्र भी है। इस प्रकार सभी नयों का विषय बताना है। गहन विषय है... भाई ! कुछ समझ में आया...

द्रव्यनय से - द्रव्यार्थिकनय से, पटमात्र की भाँति - वस्त्र की भाँति। वस्त्र भी जिस प्रकार वस्त्ररूप है, उसी प्रकार भगवान ज्ञायकरूप है। ज्ञायकरूप, यह एक नय का विषय है। वह श्रुतप्रमाण का विषय नहीं आया। वह श्रुतप्रमाण का विषय तो - सभी नयों के समुदाय(रूप) श्रुतप्रमाण (का विषय तोः पूरा द्रव्य और पर्याय है। आहा..हा...! और सम्यक्दर्शन का विषय तो एक ही चिन्मात्र - ज्ञायकभाव आया। क्योंकि सम्यक्दर्शन है वह निर्विकल्प प्रतीति है, निर्विकल्प है, उसमें स्व और पर

और इस प्रकार के भेद नहीं रहते और निर्विकल्प सम्यक्दर्शन है, उसका विषय भी निर्विकल्प है। कुछ समझ में आया...! वह यहाँ ज्ञानप्रधान से श्रुतप्रमाण नय के विषय में उसका जो विषय लिया चिन्मात्र ज्ञायकभाव, उसे एक नय गिना है। आहा..हा...! यहाँ तो अभी आयेगा, सामान्य आयेगा, अभी बहुत सारे प्रकार आयेंगे। सभी नय इस पर्यायनय में नहीं है, अभी सामान्य आयेगा, यह तो, गहन विषय है, प्रभु ! दिगंबर संतों की गज़ब की शैली है।

इस वस्तु को समझाने के लिए बात तो (करी है)। यह विषय (गाथा) २७५ में कहा। परंतु जिसे ऐसा नया प्रश्न उठे कि, आत्मा क्या है ? और किस विधि से प्राप्त होता है ? (यह समझना है)। यहाँ ज्ञानप्रधान कथन लेना है। तो कहते हैं कि - जो द्रव्य है, वह अनंतगुण और अनंती पर्यायरूपी धर्म को धारण करनेवाला एक द्रव्य है। उस द्रव्य की व्याख्या (करी कि) वह कैसा है ? उसकी व्याख्या करी। अब किस प्रकार प्राप्त हो ? तो कह रहे (हैं) एक-एक धर्म को और एक-एक गुण को, और एक-एक पर्याय को जाननेवाला एक-एक नय है, अंश है। उस अनंत नय के अंश(रूप) प्रमाण जो अंशी है, उसमें (वह जानने में) आ जाता है।

आहा..हा...! एक तरफ पर्याय को अंश कहते हैं `प्रवचनसार' में। द्रव्य को अंशी कहते हैं। तो अंशी तो एक नय का विषय है। वह अंशी प्रमाण का विषय नहीं। क्या कहा ? `प्रवचनसार' में पर्याय को अंश कहा। अब जो यह अंश कहा वह पर्याय जो एक अंश है ऐसे अनंत अंश (हैं)। उस अपेक्षा से द्रव्य तो अंशी है। पूरी चीज ऐसी है। पर्याय एक समय की दशा है। और वह (द्रव्य) चीज पूरी है। पूरी होने के बावजूद भी वह द्रव्यार्थिकनय का विषय है। एक नय का विषय है। वह पूरी चीज प्रमाण का विषय नहीं है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

तो वहाँ पहले भूतार्थ वस्तु, सत्यार्थ वस्तु ज्ञायक जो ('समयसार' की) छट्ठी गाथा में कहा। `**ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो...**' वहाँ पर्याय का निषेध कर दिया। प्रमत्त-अप्रमत्त पर्याय जिसमें नहीं है - ऐसा ज्ञायकभाव - एकरूप वह सम्यक्दर्शन का विषय है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? परंतु वह तो दर्शन निर्विकल्प और (उसका) विषय निर्विकल्प यह बात करी।

अब ज्ञान सविकल्प है। सविकल्प अर्थात् रागवाला ऐसा नहीं। सविकल्प का

अर्थ रागवाला ज्ञान ऐसा नहीं; ज्ञान स्व-पर को जाने उस ज्ञान को सविकल्प कहते हैं। केवलज्ञान को भी सविकल्प कहते हैं। आहा..हा...! स्वपदार्थ को (और) पर को सभी को जाने उस अपेक्षा से उसे सविकल्प कहा जाता है। परंतु यहाँ सविकल्प ज्ञान का - प्रमाण का विषय क्या ? श्रुतज्ञान प्रमाण सविकल्प है। सविकल्प का अर्थ स्व और पर को जाने। राग की बात यहाँ नहीं है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! इतना सब कुछ उसे सोचना चाहिए, भाई !

मार्ग ऐसा सूक्ष्म है न ! आहा..हा...! दर्शनप्रधान कथन है, तब तो ४७ शक्तियों का वर्णन लिया... वहाँ पर उस शक्ति की पर्याय निर्मल, गुण निर्मल और द्रव्य (निर्मल) तीन लिया है। ४७ शक्तियों में विकार लिया ही नहीं है। `समयसार' में ४७ शक्ति का वर्णन लिया है। वहाँपर विकार की बात ली ही नहीं है, क्योंकि वहाँ तो द्रव्य की शक्ति पवित्र है, और उस पवित्रता का धारक द्रव्य पवित्र है, और उसकी परिणति भी पवित्र ही है। राग, व्यवहार और विकल्प उनको वहाँ शक्ति के (वर्णन में), द्रव्य-गुण-पर्याय में लिये ही नहीं हैं। क्रमपूर्वक और अक्रमपूर्वक प्रवर्तमान ऐसा जो आत्मा, क्रमपूर्वक प्रवर्तमान, किन्तु निर्मल पर्याय की बात ली है। अक्रम में भी गुण (त्रिकाली) निर्मल तो है ही; वह तो अक्रम गुण और क्रमपूर्वक की निर्मल परिणति उसका समुदाय आत्मा (है)। आहा..हा...! तो वहाँ विकार की बात ली ही नहीं है।

शक्ति का जहाँ `समयसार' में वर्णन (है) वह द्रव्यप्रधान कथन है। तो वहाँ द्रव्य की शक्ति है न ! उस शक्ति के वर्णन में उसकी परिणति शुद्ध है। यह लिया है, परंतु विकारी (पर्याय) ली ही नहीं है। यहाँ तो ज्ञानप्रधान कथन है। अब इतना अधिक फर्क। वहाँ तो, अंशतः जितना, ज्ञान में विकार रहता है, तीर्थंकर को भी जब छद्मस्थ हो तो उन्हें जितना विकार उत्पन्न होता है उसे भी नय का विषय गिनकर श्रुतज्ञान का विषय है। पूरा द्रव्य-गुण व पर्याय श्रुतज्ञान का विषय है। कुछ समझ में आया ...!

सूक्ष्म है... बापू... भाई ! मार्ग ऐसा है, भाई...! आहा..हा...! द्रव्यनय से आत्मद्रव्य जो अनंत धर्म का अधिष्ठाता, ऐसा जो आत्मद्रव्य, वह द्रव्य - द्रव्यार्थिकनय से पटमात्र की भाँति-वस्त्रमात्र की भाँति... वस्त्र की तरह एकरूप है। वहाँ द्रव्यार्थिक नय के विषय में गुण-गुणी का भेद भी नहीं है। फिर भी द्रव्यार्थिक नय का विषय एक

नय गिना गया है। पूरा द्रव्य जो प्रमाण का विषय है ऐसा नहीं लिया। पूरा द्रव्य माने उसके गुण व पर्याय - यह द्रव्य। त्रिकाली द्रव्य है, वह दूसरी चीज है। और पूरा द्रव्य माने पर्याय-गुण और द्रव्य, ऐसा पूरा द्रव्य यहाँ लेना है। प्रमाण का विषय (लेना है)। उसमें एक बोल है। यह तो, एक बोल हुआ। कुछ समझ में आया...! बापू... ध्यान रखे तो समझ में आ सके ऐसा है। धीरे धीरे कहा जा रहा है न ! अंदर विचार चलना चाहिए कि जो वस्तु है, वह द्रव्यार्थिक नय से तो द्रव्यस्वरूप ज्ञायकस्वरूप चिन्मात्र ज्ञायकभाव (है) बस। परंतु जहाँ ज्ञानप्रधान कथन है वहाँ वह कौनसा द्रव्य लिया कि वह द्रव्य-गुण और विकार सहित (जो है) उसे द्रव्य लिया है। सब (ऐसा है)... कुछ समझ में आ रहा है...!

कितना धैर्य चाहिए ! अंदर शांति, शांतिपूर्वक समझने की यह चीज है। तो कह रहे हैं, आत्मा द्रव्यनय से चैतन्यमात्र है। देखा...! चैतन्यमात्र है, ज्ञायकमात्र है... आहा..हा...! फिर भी श्रुतज्ञान के प्रमाण में यह एक नय गिना गया है, भाई ! उसमें ('समयसार' गाथा-११) जो भूतार्थ के आश्रय से समकित (कहा) वहाँ तो पूरा एक विषय त्रिकाली लिया है। पर्याय नहीं ली। और यहाँ द्रव्य यह लिया है कि भाई ! वह विकारी-अविकारी (पर्याय) सहित यह द्रव्य में लिया है। ज्ञान का कथन है न ! ज्ञान तो स्व-पर प्रकाशक है न ! ज्ञेयशक्ति ! 'स्वपर प्रकाशक शक्ति हमारी तातै बचन भेद भ्रम भारी' अब ' ज्ञेयशक्ति दुविधा परकाशी निजरूपा-पररूपा भाषी' यह ज्ञानप्रधान कथन है। कुछ समझ में आया...!

एक तो स्वद्रव्य-गुण-पर्याय वह निश्चय से ले तो निश्चय है और परद्रव्य है वह व्यवहार हुआ। किन्तु यहाँ तो परद्रव्य की अपेक्षा नहीं है। अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में अभी है, हाँ ! बाद में लेंगे, अब परमाणु का दृष्टांत देकर व्यवहारनय भी है, ऐसा बतायेंगे।

निश्चय से परमाणु अपनी चिकनाई-रुखापन से एकत्व(रूप) परिणमन करता है, वह निश्चय। व्यवहार से दूसरा परमाणु, दो परमाणु चार परमाणु साथ में परिणमन करते हैं और छूटते हैं वह व्यवहार (है)। यह आगे चलकर लेंगे, तो वह भी नय है; यह भी उसके (एक) हिस्से का एक नय है। कुछ समझ में आया...! पूरा द्रव्य जो गुण-पर्याय को धारण करनेवाला द्रव्य कहा वह पूरा द्रव्य उस एक नय में नहीं

समाविष्ट होता। क्या कहा ! यह समझ में आया ? यहाँ द्रव्य तो अनंत गुण व अनंत पर्याय को धारण करनेवाला द्रव्य (है)। तो यह द्रव्य तो द्रव्यार्थिक नय के विषय में यह पूरा द्रव्य नहीं आया। पूरा द्रव्य माने द्रव्य-गुण-पर्याय में (सब); कुछ समझ में आया...! श्रुतज्ञान प्रमाण बताना है।

आहा..हा...! ऐसी बातें बहुत। वे कहते हैं न कि ज्ञानी के राग होता ही नहीं है, ज्ञानी के दुःख होता ही नहीं है। वह प्रश्न उठा था न भारी... ऐसा नहीं है, भाई ! ज्ञानी के भी द्रव्य में विकारी पर्याय है। वह दुःख है। दुःख है (वह) एक नय का विषय है। उसे एकांत कहते हैं कि दुःख नहीं है - राग नहीं है तो एकांत हो जाता है। कुछ समझ में आया ! आहा..हा...! ऐसी बातें अब... यहाँ तो वेदन करे, कर्ता बने, ऐसा नय आयेगा। राग (है), रंगरेज की माफिक। रंगरेज जिस प्रकार रंग करता है। उस प्रकार ज्ञानी को पर्याय में राग का परिणमन है। इस अपेक्षा से कर्तानय है, भोक्तानय भी है।

आहा..हा...! धर्मी के भी जितना राग आया इतना वेदन भी है। नहीं तो अनंत नयों का अधिष्ठाता नहीं रहता... आहा..हा...! अनंत धर्मों का अधिष्ठाता। आहा..हा...! यह... भाई ऐसी बात है। हल्दी की गाँठ लेकर किरानेदार (व्यापारी) बन जाय... ऐसा नहीं है यह... बापू !

यह तो प्रभु का विशाल मार्ग-, अनेकांत मार्ग। वे अनेकांत तक (तो) समझते नहीं हैं। अनेकांत (माने) निश्चय से भी होता है और व्यवहार से भी होता है, उसका नाम अनेकांत। परंतु ऐसा नहीं (है)। व्यवहार है उसका ज्ञान करानेवाला एक नय है। तो राग को जाननेवाला एक नय है, और (वह) श्रुतप्रमाण का एक अंश है, अंदर। आहा..हा...! परंतु राग से यह ज्ञात होती है, ऐसी चीज नहीं है।

इन सभी नय का समुदाय - श्रुतप्रमाण (है)। वह (आत्मा) श्रुतप्रमाण से प्रमेय हो सकता है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया...! अब ऐसी बातें सब, लोगों को यह एकांत लगता है। सोनगढ का (है) ऐसा कहते हैं। उन्हें जचता नहीं है न, यह शैली क्या है, यह उसे समझ में न आया हो, इसलिए (मन में असमाधान) रहता है। परंतु बाकी है कि नहीं ? (कि) क्षय हो गये एक समय में सभी (विभाव) ? चौथे (गुणस्थान में) तीनों कषायों का छेदन हो जाता है ? तीनों कषायों का अभाव

हो गया ? पाँचवें (गुणस्थान में) दो कषायों का अभाव हो गया। दो कषाय बाकी हैं, इतना वेदन है। अरे ! वेदन तो दसवें गुणस्थान तक राग का जितना अंश है, उतना वेदन है। बुद्धिपूर्वक नहीं। आहा..हा...! सूक्ष्म बात, भाई ! इस प्रकार एकांत ले ले ऐसा नहीं चलेगा। ऐसा यहाँ कहते हैं।

चिन्मात्र अर्थात् आत्मा द्रव्यार्थिकनय से चेतनमात्र है। जिस प्रकार वस्त्र-वस्त्रमात्र है उस प्रकार यह एक नय हुआ। अब दूसरा नय... अभी द्रव्य जो अनंत नयों का अधिष्ठाता है। उसमें (से) एक नय की बात करी। पूरा द्रव्य जो गुण-पर्याय का पिंड है। ऐसा नहीं, वह बात यहाँ करी नहीं है। कुछ समझ में आया ? वह द्रव्य मात्र-सामान्य, नय का एक भाग है। दूसरा भाग पर्याय (का) होता है।

प्रश्न :- यह नय का विषय द्रव्य कूटस्थ है ?

पूज्य गुरूदेवश्री :- द्रव्य तो कूटस्थ ही है। त्रिकाल द्रव्य-द्रव्यार्थिकनय का विषय कहा न ? परंतु... वह एक नय है। वह सम्यक्दर्शन का विषय तो ध्रुव, ऐसा यहाँ नहीं है। कुछ समझ में आया ? यहाँ तो एक नय का - द्रव्यार्थिकनय का - विषय ध्रुव है। और दूसरे नय का विषय पर्यायार्थिक (नय का विषय भेद) है। यह सब मिलकर द्रव्य कहा जाता है।

यह तो भाई ! ऐसा विषय है। अतः यहाँ लिया है। यह तो अलिंगग्रहण का (प्रवचन) पूरा हो गया। पंडितजी की याद आती थी उस समय कि पंडितजी यहाँ होते तो... अलिंगग्रहण का विषय जरा सूक्ष्म था। बहुत (सूक्ष्म था) एक-एक बात (सूक्ष्म थी)। (अब) तो पूरा हो गया। अब नय का विषय आया; विशेषरूप से नय का विषय लिया है।

सब इकट्ठा करके (छपेगा)... ३२० गाथा; ४७ शक्ति, अलिंगग्रहण, ४७ नय और अव्यक्त के छह बोल आयेंगे। ४९ गाथा के अव्यक्त है न ! थोड़ा वह लेना है। अभी तो दो महीने हैं। यहाँ कहते हैं कि, द्रव्यार्थिकनय का - एक नय का विषय हुआ। उस नय का विषय एक द्रव्य लिया, उसमें पर्याय नहीं, और यहाँ तो पर्यायसहित का द्रव्य - वह श्रुतप्रमाण का विषय है... भाई! आहा..हा...! क्या कहा ? यहाँ तो श्रुतप्रमाण का विषय है, वह तो विकारी पर्याय - अविकारी पर्यायसहित का द्रव्य - वह उसका विषय है। उसमें से एक नय लिया। आहा..हा...! अब दूसरा

नय।

समझ में आये उतना समझना बापू... यह... तो अंदर का मार्ग ऐसा है। आहा..हा...! किस अपेक्षा से सम्यक्दर्शन के विषय में पूर्ण द्रव्य लिया ? वह पूर्ण द्रव्य पर्यायरहित (लिया)। और यहाँ जो द्रव्यनय लिया, वह भी पर्याय बिना का (द्रव्य लिया)। परंतु यह एक नय-भाग है - पर्याय को जाननेवाला भी एक दूसरा नय है। वहाँ (`समयसार' में) तो पर्याय को असत्यार्थ कहा है। असत्यार्थ अर्थात् गौण करके - पर्याय को गौण करके - व्यवहार कहकर - नहीं है ऐसा कहा गया। और निश्चय को मुख्य करके - निश्चय को मुख्य करकर निश्चय ऐसे नहीं - निश्चय को मुख्य करके - भूतार्थ कहकर - सत्यार्थ कहा गया है। आहा..हा...! आजकल तो गड़बड़ सब बहुत हो गई, इसलिए सत्य को जाने बिना यह गड़बड़ निकलेगी नहीं। आहा..हा...!

तालाब में पानी हो तो इन्सान पीने जाता है न ! अब बाहर में कहीं भी शरीर काम नहीं करता, फिर भी इतना चला, यही सही, ६० साल से व्याख्यान चल रहे हैं। ७४ की साल से, धारावाही (चलते हैं)। गाँवों में और शहरों में हजारों लोग (सुनने के लिए आते हैं)। ६० साल हुए। इससे पहले भी ७३ में पढ़ते थे। ७२ में पढ़ा था। आषाढ़ शुक्ला पूनम से (लेकर) भादो शुक्ला पंचमी (तक) राणपुर में ५० दिन वाचन किया था। ७१में भी वाचन किया था। अष्टमी और पूनम का उपवास रहता था न, तो दोपहर में एक घंटा पढ़ते थे। गुरूजी सुबह वाचन करते थे, हम दोपहर में (वाचन करते थे)। ७२ में तो एक महीने में चार बार (पढ़ा था) ७० में कहीं भी नहीं वाचन किया होगा। ७० में दीक्षा (ली)। ७१ में वाचन किया था। चार बार। अष्टमी से पूनम और ७२ में आषाढ़ शुक्ला पूनम से भादों शुक्ला पंचमी और ७३ में तो कभी कभी व्याख्यान चलते थे।

प्रथम पर्युषण में मेरा (व्याख्यान) ऊपर चलता था। और नीचे गुरूजी का चलता था। फिर ७४ से मेरा (व्याख्यान) हमेशा चलता था। गुरु की मृत्यु हो गई (फिर) लोग इकट्ठे होकर कहते थे कि अब आपको `समयसार' का प्रवचन करने पड़ेगा। हमारे दो गुरुभाई मौजूद थे। परंतु बहुत जल्दबाजीवाले प्रकृति के थे। पढ़ते-पढ़ते (वांचन करते समय) गुस्सा हो जाते थे। इस तरह ७४ से चल रहा है। ६० वर्ष हुए आहा..हा... बात सच्ची।

आहा..हा...! पर्यायमात्र से... आतमद्रव्य... वह द्रव्य कौनसा लेना ? कि सभी गुण व पर्याय का अधिष्ठाता वह द्रव्य... भाई ! आतमद्रव्य है न ! उसमें भी आतमद्रव्य लिया। आतमद्रव्य... द्रव्यनय से वह आतमद्रव्य कौन ? कि अनंत गुण और अनंती पर्याय का अधिष्ठाता वह आत्मद्रव्य। कुछ समझ में आया ! अब यहाँ भी आतमद्रव्य यह लेना परंतु उसमें अब एक नय लेना है।

'**आत्मद्रव्य पर्यायनय से, (अर्थात् पर्यायार्थिकनय से) तंतुमात्र की भाँति, दर्शनज्ञानादिमात्र है...**' वस्त्र में जिस प्रकार तंतु होता है उस प्रकार आत्मा में गुणभेद व पर्यायभेद है। पर्यायभेद है ऐसे जानना। पर्यायनय से पर्याय है ऐसे जानना; जिस प्रकार वस्त्र में तंतु है, उस प्रकार आत्मा में पर्याय है। समुच्चय बात, अभी विकारी-अविकारी सभी (पर्याय), उस पर्यायमात्र को एक नय जानता है। आहा..हा...! परंतु उस एक नय में पूरा द्रव्य नहीं आया... पूरा द्रव्य अर्थात् अनंतगुण एवं अनंत पर्याय का अधिष्ठाता आत्मा; वह पर्यायनय में नहीं आया। उसका एक अंश आया... आहा..हा...!

भाई ! ये सब समझना पड़ेगा, हाँ ! इन बाहर के थोथे (निःसत्व चीजों) में कुछ नहीं मिलेगा। पैसा खर्च करे तो उसमें राग मंद हो तो पुण्य होगा, कुछ समझ में आया ! (पैसा) खर्च कर सकता है कब ! भाव कर सकता है। उन पैसों में (दान में) राग की मंदता हो तो पुण्य है, आत्मा की विकृत अवस्था है... भाई... यहाँ तो ऐसी बात है। परंतु वह विकृत अवस्था (और) अविकृत गुण... सभी को धारण करनेवाला द्रव्य, उसका विषय - श्रुतप्रमाण का विषय है। वह तो उसमें से एक नय - पर्यायनय से जानता है।

यहाँ तो पर्यायनय में सारी ही (पर्याय) लेनी हैं। जितनी पर्यायें द्रव्य में हैं। अनंती-विकारी या अविकारी (सभी) कुछ समझ में आया ! आहा..हा...! भगवान के समवसरण की बात है। प्रभु... यह तो... कुछ समझ में आया ? पर्यायमात्र... तंतुमात्र की भाँति। वस्त्र में वे तानेबाने (होते हैं न), ऐसा नहीं कहते हैं कि तानाबाना - यह ताना पतला है, यह ताना मोटा है। इस प्रकार वस्त्र ऐसा है ऐसे नहीं कहते हैं - तानाबाना, समझे ? धागा-सूत का यह पतला है... यह मोटा है। तो वे तानेबाने मात्र पर्यायनय का विषय हैं। एक नय अंदर आया... कुछ समझ में आया ! पर्यायनय में भी बहुत भेद पड़ेंगे। कर्तानय, भोक्तानय, अकर्तानय, अभोक्तानय... आहा..हा...! परंतु

यहाँ तो ये पर्यायें सब सामान्य हैं। उन्हें पर्यायनय जानता है। वस्त्र को जिस प्रकार तंतुमात्र से जाने उस प्रकार पर्याय मात्र से जानता है। इस नय को पर्यायनय कहते हैं। आहा..हा...!

यह तो तीनलोक के नाथ सर्वज्ञ परमात्मा की यह दिव्यध्वनि है। है... न ! `प्रवचनसार`... प्रवचन... दिव्य वचनों का सार... आहा..हा...! उसमें भी संत `अमृतचंद्र आचार्य`... एक तरफ ४७ शक्तियों में विकृत अवस्था नहीं लेते... और एक तरफ यहाँ विकृत अवस्था भी उसका (द्रव्यार्थिक) - नय का विषय है ऐसा लेते हैं। आहा..हा...! आत्मा कर्तानय से कर्ता है। वह करने लायक है, ऐसी बुद्धि से कर्ता नहीं। परंतु परिणमन करता है वह कर्ता। ऐसा नय लिया है। आहा..हा...! राग करने लायक है, इस प्रकार कर्तृत्वनय नहीं है... परंतु राग का परिणमन है - वह परिणमन है, उसका कर्ता... इस अपेक्षा से कर्तानय उसकी पर्याय में है... आहा..हा...! कुछ समझ में आया!

वह करने लायक नहीं है। उस अपेक्षा से कर्ता नहीं है। परंतु परिणमन (है) इस अपेक्षा से कर्ता है। अरेरे...! वह तो कर्ता-कर्म में ले लिया न ! (`समयसार`) ७३ गाथा में ऐसा लिया है कि विकार का स्वामी तो कर्म है। ऐसा लिया है... देखो, ७३ गाथा में है न ! यहाँ कहा कि विकारी पर्याय - अविकारी पर्याय - और अनंतगुण... उसका अधिष्ठाता - स्वामी आत्मा है। आहा..हा...! वह वहाँ पर दर्शनप्रधान कथन है। परंतु साथ में ज्ञान हुआ... वह ज्ञान सब को यथार्थ जानता है। कुछ समझ में आया ? ज्ञान तो अंश अंश को जानता है। जितना अंश विकृत है - जितना अंश अविकृत है, उसे भी नय अपने में है ऐसा जानता है। आहा..हा...! पर के कारण नहीं।

आहा..हा...! सुबह आया था न ! `परसंग एव`, `पर एव` नहीं। अपनी पर्याय पर का संग करती है तो विकृत होती है। पर से विकृत होती है ऐसा नहीं। और पर के संग में अविकृत दशा होती है, ऐसा नहीं। आहा..हा...! भाई ! ऐसा स्वरूप है। बापू ! समुद्र है ! भगवान तो अनंत शक्ति का समुद्र ! अनंती पर्याय का सागर ! क्योंकि पर्याय भी एक समय में अनंती, वे कितनी पर्याय ? पर्यायनय कितने ? पर्याय कितनी ? कि तीनलोक और तीनकाल के समय से अनंतगुनी पर्याय है... कुछ समझ

में आया...! आहा..हा... तो उन सभी पर्याय को अभी (इस नय के विषय में) लेनी है। फिर भेद करके लेंगे।

भाई...! आहा..हा...! पर्यायनय से... आहा..हा...! वह मेट्रीक के प्रोफेसर घंटाभर बोल जाय... फिर वह (विद्यार्थी) समझे या न समझे... ऐसी यहाँ बात नहीं है... यहाँ तो अंदर एक-एक नय समझने लायक है। आहा..हा...! `**दर्शन-ज्ञानादि मात्र है...**' देखो... दर्शन-ज्ञान और चारित्र पर्याय है। वह पर्याय का विषय है। आहा..हा...! १६वीं गाथा में कहा न ! `दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।' साधु को दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करना, यह पर्यायनय का विषय है। उसमें नीचे लिखा है... जयचंद पंडित ने... कि भाई यह ऐसा कैसे कहा ? कि लोग पर्यायनय से समझे इस अपेक्षा से (बात) ली है... (`समयसार' गाथा-१६)।

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुण णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।।

परंतु तीन से आत्मा अभेद वस्तु है। आहा..हा...! आत्मा का सेवन करना। पर्याय का सेवन करना कहा है, वह पर्यायनय से समझे इसलिये कथन किया है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ! यहाँ तो १६वीं गाथा में तो वहाँ तक कलश में आया है कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय जो भेद है, वह मैल है। ऐसा लिया है। क्या कहा ? मेचक... कहा। दर्शन-ज्ञान-चारित्र की निर्मल पर्याय को मेचक कहा। क्योंकि भेद है। और भेद के लक्ष से तो राग उत्पन्न होता है। आहा..हा...! इस अपेक्षा से वहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय का सेवन करना... यह पर्यायनय से कहा है। द्रव्यनय से तो आत्मा भगवान एकरूप है... उसकी सेवना करना।

आहा..हा...! द्रव्यार्थिकनय का विषय वहाँ (`समयसार' में) है न ! वहाँ (श्रद्धा)प्रधान (शैली है)। यहाँ तो पर्याय में जितनी पर्याय निर्मल या विकृत है। सम्यक्दर्शन की - उसकी बात यहाँ है न... ! भावश्रुतज्ञान का... प्रमाण का विषय... लेना है न ! यहाँ अज्ञानी के विषय की बात नहीं है। और अज्ञानी के नय नहीं है और प्रमाण भी नहीं है। कुछ समझ में आया ! उसकी बात यहाँ है ही नहीं। यहाँ तो श्रुतज्ञानप्रमाण

से पूरा द्रव्य और पर्याय... दोनों ज्ञात होते हैं। ऐसा सम्यक्ज्ञान का विषय लिया है। आहा..हा...! यहाँ तो समय निकालना चाहिए। भाई ! थोड़ी निवृत्ति लेनी चाहिए। यह समय निकला जा रहा है... वहाँ तो स्थिति पूरी होगी उस समय होगी (ही)। उसमें तीनकाल - तीनलोक में (कोई) फेरफार नहीं हो सकता। आहा..हा...!

(कोई माने) कि ध्यान रखें तो इसमें आयुष्य विशेष रहेगा। खान-पान का ध्यान रखे तो अपनी अवस्था निरोग रहेगी। यह सारी भ्रमणा है...हाँ ! आहा..हा...! जिस समय देह छूटने का काल है (वह निश्चित है)। वास्तव में तो आयुष्य को लेकर रहे ऐसा कहना... यह भी व्यवहार है। किन्तु आत्मा अपनी योग्यता से (रहा)। उतने काल (तक) उसमें रहने की योग्यता थी। आयुष्य के कारण कहना यह तो निमित्त का कथन है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? आयु का क्षय हुआ इसलिए देह छूट गया। दूसरे जनम में गया। आहा..हा...!

यहाँ कहते हैं कि पर्यायमात्र से देखो तो तंतुमात्र की भाँति... दर्शन-ज्ञानादि मात्र है। दर्शन-ज्ञान आदि अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि पर्याय... यहाँ पर्याय लेनी है, हाँ ! दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुण (जो) त्रिकाल (हैं) उन्हें मत लेना। वहाँ तो सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, जो मोक्ष का मार्ग है, उस पर्याय को लेना है। यहाँ मोक्ष का मार्ग पर्याय है। सिद्ध भी पर्याय है। केवलज्ञान भी पर्याय है। गुण नहीं। आहा..हा...! फिर भी शास्त्र में ऐसी भाषा आती है कि गुण सम्यक्दर्शनगुण ऐसा कहते हैं, परंतु गुण नहीं है। वह तो अवगुण की पर्याय का नाश हुआ तो गुण कहा गया। है तो पर्याय... क्षायिक समकित (भी), हाँ !

केवलज्ञान भी एक समय की पर्याय और एक समय की पर्याय को नाशवान कहा है। केवलज्ञान की समय मर्यादा (मुद्दत) एक समय की है... नाशवान है। भगवान आत्मा त्रिकाल... परंतु वह नाशवान-पर्याय का विषय है। कुछ समझ में आया ? केवलज्ञान भी पर्यायनय का विषय है। किसको ? उनको (केवली को) नहीं... उनको तो हो गया। श्रुतज्ञानी साधक के लिए बात है। केवलज्ञानी के एक व्यवहार नय है, ऐसा नहीं। जो श्रुतज्ञानी साधक है, उसके लिए यह केवलज्ञान की पर्याय व्यवहारनय का विषय है। प्रमाणज्ञान का (कार्य) पूरा हो गया। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

वैसे तो चौदहवें गुणस्थान तक अभी असिद्धभाव है। सिद्धपर्याय भी नहीं है। उतना

असिद्धभाव है। चौदहवें गुणस्थान तक... वह भी अपनी पर्याय की योग्यता से है। चार अनुजीवी या प्रतिजीवी गुण की घातक अपनी पर्याय है। उस समय - चार प्रतिजीवी गुण हैं उनका घात किया है, ऐसा नहीं। अघाती कर्म द्वारा प्रतिजीवी गुण का घात हुआ, ऐसा नहीं। अपनी पर्याय की परिणति ऐसी है सो घात हुआ है। आहा..हा...! निमित्त क्या करे ? (वह) कोई परचीज को छूता नहीं है। वहाँ तो चौदहवें गुणस्थान तक असिद्ध कहा। और यहाँ चौथे-पाँचवें में ऐसा कहना कि राग और दुःख है ही नहीं, कुछ समझ में आया ?

चौदहवें गुणस्थान तक अभी सिद्धपर्याय नहीं है। तो असिद्धभाव उदयभाव में लिया... उदयभाव के बोल आते हैं न ! इक्कीस... कितने ? ... अठारह किसके ? अठारह क्षयोपशम के। उदय के कितने ? इक्कीस... है... इक्कीस और क्षयोपशम के अठारह। उदयभाव के इक्कीस में - असिद्धभाव लिया है। वह उदयभाव है। वह तो चौदहवें तक अभी उदयभाव है। अपने कारण से है। वह पर्यायनय का विषय है। आहा..हा...! दर्शन-ज्ञान-चारित्र... अमृत की... आनंद की पर्याय इत्यादि पर्याय है। इस पर्याय के जाननेवाले नय को पर्यायनय कहा जाता है।

आत्मा पर्यायनय से दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि मात्र है। जिस प्रकार वस्त्र तंतुमात्र है, उस प्रकार दो नय हुए - दो। अब ७ नय लेते हैं। जरा सूक्ष्म, अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति, अवक्तव्य, अस्ति अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य, अस्ति-नास्ति अवक्तव्य, पर वह भी एक नय है... कुछ समझ में आया ? आत्मद्रव्य अस्तित्व-अस्तित्वनय से है। (इस) नय से स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला है। एक सिद्धांत पहले लिया कि आत्मद्रव्य (है) तो आत्मद्रव्य कौन ? कि अनंत गुण और अनंती विकृत और अविकृत पर्याय का समुदाय वह आत्मा, उसका अधिष्ठाता-स्वामी वह आत्मद्रव्य... वह आत्मद्रव्य... स्वद्रव्य अपने द्रव्य से है-अपने क्षेत्र से है-अपने काल से है-अपने भाव से है... वह अस्तित्ववाला है। दृष्टांत दे रहे हैं... लोहमय बाण-तीर है न ! लोहमय यह बाण... लोहा और क्षेत्र (दोनों) कारण देखो... लोहमयी, प्रत्यंचा-दोरी और धनुष्य के मध्य में, यह दोरी और धनुष्य और मध्य इतना क्षेत्र। उसका यह इतना क्षेत्र, दो संधान दशा में रहा हुआ वह काल, उस समय ऐसा रहा। और वह उसका स्वसमय है। ऐसे रहा वह स्व-समय उसका काल है। उस काल में ऐसे रहा, रहा इतना, हाँ !

बस पूरा बाण लोहमय, क्षेत्र इतना चौड़ा, यह दोरी की बीच में पूरा क्षेत्र। और फिर काल, समय और भाव निकल गया। वह सन्मुख हुआ वह भाव। कुछ समझ में आया ?

इस प्रकार आत्मा अस्तित्वनय से स्वचतुष्टय से अपने पूरे द्रव्य से है। वह द्रव्य में गुण और पर्याय सहित का द्रव्य - यहाँ मत लेना। द्रव्य लेना, स्वद्रव्य से है। क्या कहा वह... जो यहाँ आत्मद्रव्य लिया है। वह अनंत गुण का समुदाय का, नय का विषय, श्रुतज्ञान प्रमाण का विषय लिया। और जो सम्यक्दर्शन में द्रव्य लिया है वह एक अंश ही त्रिकाली है। भले है वह अंशी... परंतु नय है न ! तो नय का विषय अंश होता है। भले निश्चयनय हो ! प्रमाण का विषय दो है। परंतु नय का विषय... द्रव्यार्थिकनय का विषय त्रिकाली एक है। परंतु वह एक अंश है। कुछ समझ में आया ! अंशी, परंतु नय का विषय अंश ही होता है। प्रमाण का विषय अंशी होता है। ऐसा यहाँ कहते हैं कि अपने द्रव्य से अर्थात् वस्तु है। ऐसा अपना क्षेत्र जो असंख्य प्रदेशी है, वह अपने क्षेत्र में है। अपनी एक समय की पर्याय है। वह स्वकाल में है। और त्रिकाली गुण स्वभाव में है... कुछ समझ में आया...!

`कलशटीका' में तो २५२ कलश में तो ऐसा लिया है कि जो अपनी पर्याय है न वह परकाल है। और त्रिकाली है वह स्वकाल है। यहाँ तो सिर्फ परद्रव्य से भिन्न बताने के लिए एक समय की पर्याय है, उसे स्वभाव कहा, और त्रिकाली गुण को स्वभाव कहा, और वस्तु को द्रव्य कहा। चौड़ाई को क्षेत्र कहा। और वहाँ तो परद्रव्य की बात छोड़कर अपना आत्मा जो त्रिकाली है (उसकी अपेक्षा है)। २५२ कलश, `कलशटीका' में है। कुछ समझ में आया...!

`कलशटीका' में है... द्रव्य उसे कहें कि... पूर्ण वस्तु और द्रव्य में भेद करना वह परद्रव्य... क्षेत्र असंख्य प्रदेशी एकरूप वह स्वक्षेत्र... क्षेत्र में भेद करना कि... यह प्रदेश... और यह प्रदेश... वह परक्षेत्र... काल में त्रिकाली वस्तु स्वकाल और एक समय की पर्याय उस अपेक्षा से परकाल। और भाव की अपेक्षा से एकरूप भाव-त्रिकालीभाव और उसमें एक भाव को लक्ष में भिन्न करना... वह परभाव... आहा..हा...! यहाँ पर वह (बात) नहीं लेनी है... वहाँ लिया है। वह तो अभेद का कथन करने के लिए लिया है। यहाँ तो पर्याय में जो स्वकाल है, एक समय का वह स्वकाल

लेना है। त्रिकाल को यहाँ स्वकाल नहीं लेना है... आहा..हा...! ऐसा सूक्ष्म है।

भाई ! भाव-गुण यहाँ लेना है। त्रिकाली गुण भी लेना है, एक गुण अलग... ऐसे नहीं... सभी गुण... वे स्वचतुष्टय से है। अस्तिपना एक नय है... यह भी अस्तिपना। स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है। वह भी एक नय है... वह प्रमाण नहीं... आहा..हा...! प्रमाण में तो सब कुछ द्रव्य-गुण-पर्याय आदि सब आ जाता है। उसे प्रमाण कहते हैं और श्रुतप्रमाण से ज्ञात होता है। (जो) प्रमेय उसे द्रव्य कहते हैं... विशेष कहेंगे...



लोकमें कुछ भी खरीदने जाए तो उसकी भी पुरी परीक्षा करते हैं; तो धर्म जो अपूर्व-तत्त्व है उसकी परीक्षा न करनेसे नही चलता। परीक्षा किए बिना, ऐसे-ऐसे ही धर्म हो जाए - ऐसा नहीं है। अतः जिसे कल्याण करना है उसे प्रथम (धर्म व धर्म बतलाने वाले) पुरुषको निश्चत करना पड़ेगा ।

(परमागमसार - ८१५)

आत्मद्रव्य अस्तित्वनय से स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला है; - लोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित, संधानदशा में रहे हुए और लक्ष्योन्मुख बाण की भाँति। (जैसे कोई बाण स्वद्रव्य से लोहमय है, स्वक्षेत्र से डोरी और धनुष के मध्य में स्थित है, स्वकाल से संधान-दशा में है, अर्थात् धनुष पर चढ़ाकर खेंची हुई दशा में है, और स्वभाव से लक्ष्योन्मुख है अर्थात् निशान की ओर है, उसीप्रकार आत्मा अस्तित्वनय से स्वचतुष्टय से अस्तित्ववाला है।) ३।

आत्मद्रव्य नास्तित्वनय से परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्ववाला है; अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधानदशा में न रहे हुए और अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले के बाण की भाँति। (जैसे पहले का बाण अन्य बाण के द्रव्य की अपेक्षा से अलोहमय है, अन्य बाण के क्षेत्र की अपेक्षा से डोरी और धनुष के मध्य में स्थित नहीं है, अन्य बाण के काल की अपेक्षा से संधानदशा में नहीं रहा हुआ और अन्य बाण के भाव की अपेक्षा से अलक्ष्योन्मुख है, उसीप्रकार आत्मा नास्तित्वनय से परचतुष्टय से नास्तित्ववाला है।) ४।

आत्मद्रव्य अस्तित्वनास्तित्वनय से क्रमशः स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्वनास्तित्ववाला है; लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधान अवस्था में रहे हुए तथा संधान अवस्था में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले के बाण की भाँति। (जैसे पहले का बाण क्रमशः स्वचतुष्टय की तथा परचतुष्टय की अपेक्षा से लोहमयादि और अलोहमयादि है, उसीप्रकार आत्मा अस्तित्व-नास्तित्वनय से क्रमशः स्वचतुष्टय और परचतुष्टय की अपेक्षा से अस्तित्ववाला और नास्तित्ववाला है)। ५।

आत्मद्रव्य अवक्तव्यनय से युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अवक्तव्य है; - लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधान अवस्था में रहे हुए तथा संधान अवस्था में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले के बाण की भाँति।

(जैसे पहले का बाण युगपत् स्वचतुष्टय की और परचतुष्टय की अपेक्षा से युगपत् लोहमयादि तथा अलोहमयादि होने से अवक्त्व्य है, उसीप्रकार आत्मा अवक्तव्यनय से युगपत् स्वचतुष्टय और परचतुष्टय की अपेक्षा से अवक्तव्य है।)६।

आत्मद्रव्य अस्तित्व-अवक्तव्यनय से स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला-अवक्तव्य है; - (स्वचतुष्टय से) लोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित, संधान अवस्था में रहे हुए और लक्ष्योन्मुख ऐसे तथा (युगपत् स्व-परचतुष्टय से) लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधान अवस्था में रहे हुए तथा संधान अवस्था में रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले के बाण की भाँति। (जैसे पहले का बाण (१) स्वचतुष्टय से तथा (२) एक ही साथ स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से (१) लोहमयादि तथा (२) अवक्तव्य है, उसीप्रकार आत्मा अस्तित्व-अवक्तव्यनय से (१) स्वचतुष्टय की तथा (२) युगपत् स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से (१) अस्तित्ववाला तथा (२) अवक्तव्य है।) ७।

आत्मद्रव्य नास्तित्व-अवक्तव्यनय से परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपत् स्वपरद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्ववाला-अवक्तव्य है; - (परचतुष्टय से) अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधान अवस्था में रहे हुए और अलक्ष्योन्मुख ऐसे तथा (युगपत् स्वपरचतुष्टय से) लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधान अवस्था में रहे हुए तथा संधान अवस्था में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्षयोन्मुख ऐसे पहले के बाण की भाँति। (जैसे पहले का बाण (१) परचतुष्टय की तथा (२) एक ही साथ स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से (१) अलोहमयादि तथा (२) अवक्तव्य है, उसीप्रकार आत्मा नास्तित्व-अवक्तव्यनय से (१) परचतुष्टय की तथा (२) युगपत् स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से (१)

नास्तित्ववाला तथा (२) अवक्तव्य है।) ८।

आत्मद्रव्य अस्तित्व - नास्तित्व-अवक्तव्यनय से स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से, परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपत् स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला - नास्तित्ववाला अवक्तव्य है; - (स्वचतुष्टय से) लोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित, संधान अवस्था में रहे हुए और लक्ष्योन्मुख ऐसे, - (परचतुष्टय से) अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधान अवस्था में न रहे हुए और अलक्ष्योन्मुख ऐसे तथा (युगपत् स्वपरचतुष्टय से) लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा प्रत्यच्चा और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधान अवस्था में रहे हुए तथा संधान अवस्था में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले के बाण की भाँति। (जैसे पहले का बाण (१) स्वचतुष्टय की, (२) परचतुष्टय की तथा (३) युगपत् स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से (१) लोहमय, (२) अलोहमय तथा (३) अवक्तव्य है, उसीप्रकार आत्मा अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्य से (१) स्वचतुष्टय की, (२) परचतुष्टय की तथा (३) युगपत् स्व-परचतुष्टय की अपेक्षा से (१) अस्तित्ववाला, (२) नास्तित्ववाला तथा (३) अवक्तव्य है)। ९।

आत्मद्रव्य विकल्पनय से, बालक, कुमार और वृद्ध ऐसे एक पुरुष की भाँति, सविकल्प है (अर्थात् आत्मा भेदनय से, भेदसहित है, जैसे कि एक पुरुष बालक, कुमार और वृद्ध ऐसे भेदवाला है)। १०।

आत्मद्रव्य अविकल्प से, एक पुरुषमात्र की भाँति, अविकल्प है (अर्थात् अभेदनय से आत्मा अभेद है, जैसे कि एक पुरुष बालक, कुमार और वृद्ध ऐसे भेदरहित एक पुरुषमात्र है)। ११।

आत्मद्रव्य नामनय से, नामवाले की भाँति, शब्दब्रह्म को स्पर्श करनेवाला है (अर्थात् आत्मा नामनय से शब्दब्रह्म से कहा जाता है, जैसे कि नामवाला पदार्थ उसके नामरूप शब्द से कहा जाता है)। १२।

प्रवचन : दि. २६-१२-१९७७

`प्रवचनसार' नय अधिकार। तीन नय चल चुके हैं। तीसरे नय में क्या कहा? प्रत्येक आत्मा जो है वह अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है। उसे लोह(बाण) का दृष्टांत दिया। यहाँ संक्षिप्त किया। यह आत्मा जो है वह द्रव्य से अपने से है... क्षेत्र से असंख्य प्रदेशी अपने से है... काल से एक समय की अवस्था से है... भाव से स्वभाव के गुणरूपी भाव से एक है... वह परद्रव्य के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नहीं है। वह दूसरा बोल है। अपने से है यह एक नय है। और पर से नहीं है, यह भी एक नय है...

नय अर्थात् ज्ञान का एक अंश... इन सभी नयों का समूह वह श्रुतज्ञान प्रमाण... और श्रुतज्ञान प्रमाण से आत्मद्रव्य अनंत धर्मों का अधिष्ठाता जो आत्मा... वह श्रुतज्ञान प्रमाण द्वारा प्रमेय अर्थात् ज्ञात हो सकता है... दूसरा बोल संक्षिप्त कर दिया... परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से आत्मा नहीं है... तीसरा बोल अपने से है और पर से नहीं है... ऐसा भी एक नय साथ में लेना... अपने से है और पर से नहीं है। है न...! क्रमशः क्रमपूर्वक अपने से है और पर से नहीं है। ऐसा तीसरा बोल है। चौथा, आत्मा अवक्तव्यनय है। क्योंकि स्वयं द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है। और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नहीं है। ऐसा एक साथ कहा नहीं जा सकता अतः उसे अवक्तव्य (कहते हैं)। कथन में आ नहीं सकता ऐसा एक अवक्तव्यनय है। चौथा आत्मद्रव्य... अवक्तव्यनय... वह आ गया न...!

अस्तित्व-अवक्तव्यनय से भगवान आत्मा... उपने स्वरूप... द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है। और पर से नहीं है। ऐसा एक साथ कहा नहीं जा सकता। अतः अस्तित्व है और अवक्तव्य है। अपने से है। और दो रूप से एक साथ कहा नहीं जा सकता... अतः अवक्तव्य है।

अस्तित्व-अवक्तव्य के बाद का बोल नास्तित्व-अवक्तव्य... पर से नहीं है ऐसा नास्तित्व है। और दोनों को एक साथ कहा नहीं जा सकता, अतः अवक्तव्य है। नास्तित्व-अवक्तव्य... सातवाँ बोल। अस्ति-नास्ति अवक्तव्य अपने से है और पर से नहीं है। और दोनों को एकसाथ कहा नहीं जा सकता अतः अवक्तव्य। यह सातवाँ बोल... लम्बा है। अतः संक्षिप्त कर लिया फिर... जल्दी से समझ में नहीं आ सकता। कुछ समझ में आया ! ये सात बोल हुए. अतः नौ नय हुए।

कोई ऐसा कहे कि यह आत्मा जो वस्तु है वह अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है। तो वह पूरा उसमें समाविष्ट हो गया ऐसा नहीं है... एक नय है। सूक्ष्म बात है, भाई ! आत्मा अंदर कौन है ! उसे जानना... अनंतकाल हुआ उसे कभी जाना नहीं... बाकी सारे जानपने... डोक्टर का और वैद्य का और क्या कहते हैं तुम्हारे... वकालत की सब होशियारी करी। परंतु यह आत्मा अंदर भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर, किसे अंदर आत्मा कहते हैं और इस आत्मा को जाने बिना जन्म-मरण मिट सके ऐसा है नहीं... ऐसा यह आत्मा कह रहे हैं कि भाई ! स्व से है। स्वद्रव्य माने वस्तु - स्वक्षेत्र (माने) चौड़ाई - स्वकाल (माने) वर्तमान दशा - स्वभाव-गुण... तो इसमें चारों ही आ गये... पूरा तत्त्व आ गया, ऐसा नहीं है - वह भी एक नय का अंश है। वह स्व से है। ऐसा कहा। और पर से नहीं है ऐसा भी एक नय का अंश है। - ऐसी बातें हैं। बापू !

अंतर धर्म बहुत मँहगा... लोगों को जरूरत कहाँ है ? ये दुनिया के कामकाजों के मारे फुरसत कहाँ है... इसमें... अनंतकाल में चौरासी के अवतार कर करके मर गया है। यह मनुष्यत्व तो अभी अनंतकाल में मिला... वे कीड़े-कौए-कुत्ते कचुआ ऐसे भव तो अनंत - अनंत करे हैं... भाई ! अनादि का आत्मा है... वह कहाँ रहा ? परंतु अंदर वस्तु तो शाश्वत (स्वभाव) अनादि का... शाश्वत आत्मा है। वह कहाँ रहा ? तो वह चारगति में भटकने में रहा। आहा..हा...!

जिसे इस भव में (चौरासी का) भ्रमण मिटाना हो तो उसे आत्मा कैसी चीज है... उसका अनुभव करना पड़ेगा... आहा..हा...! दूसरा अनुभव छोड़कर के वह भगवान अतीन्द्रियज्ञान और आनंद के भाववाला यह द्रव्य है। द्रव्य कहा न ! भाववाला द्रव्य है... असंख्य प्रदेशी क्षेत्र है। अनंत गुण का भाव है। और एक गुण की वर्तमान

पर्याय है वह स्वकाल है। उस पर्याय में विकारी और अविकारी सभी लेना। कुछ समझ में आया...!

इस द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में पर्याय जो स्वकाल है, उसमें विकारी और अविकारी दोनों पर्याय लेना। वह पर्याय स्वकाल अपने से है। पर से नहीं है। इसमें वह अर्थ निहित है कि कर्म के कारण विकार नहीं है। परपदार्थ के कारण उसमें विकार नहीं है। विकार अपनी पर्याय के स्वकाल के कारण अपने में है। आहा..हा...! यहाँ इन सातों को पूरा करके अब, दसवाँ बोल...

पहले दो नय कहे थे न ! द्रव्य और पर्याय। तो... द्रव्य और पर्याय में पूरा द्रव्य नहीं समा जाता... ऐसा कह रहे हैं... वरना तो इस प्रकार द्रव्य-वस्तु और पर्याय अर्थात् एक समय की अवस्था... बाकी क्या रहा ? परंतु वह तो एक नय है... अंश है। कुछ समझ में आया ?

जितने नय के भेद हैं। वह समूह शक्ति का श्रुतज्ञान, उस श्रुतज्ञान द्वारा भगवान अंदर आनंद का नाथ प्रभु... उसका ज्ञान हो सकता है। आहा..हा...! ऐसी बातें... अब लोग बेचारे भगवान की भक्ति करो... और नाम स्मरण करो, - ये सारी राग की क्रिया (हैं)... बापू ! वह आत्मा नहीं। आहा..हा...! उसकी पर्याय में है परंतु कब ? उसका ज्ञान हो तब। मेरी पर्याय में राग है - ऐसा उसे ज्ञान हो (तब)। कुछ समझ में आया ? यह... यहाँ अब दसवाँ बोल है न !

दसवाँ बोल... आत्मद्रव्य... यह कौनसा लेना द्रव्य ? आत्मा वस्तु है न ! पदार्थ है न ! तत्त्व है न ! जिस प्रकार यह (शरीर) मिट्टी है। वह जड़ है न ! तो है... उसका ज्ञान करनेवाला तो चेतन्य तत्त्व है। इस शरीर को कुछ खबर नहीं है कि मैं मिट्टी हूँ... या जड़ हूँ... उसे जाननेवाला जो अंदर तत्त्व है। जिसकी भूमिका में... जिसकी सत्ता में पर्याय - शरीर यह - ऐसा ज्ञात होता है... ऐसी चैतन्यसत्ता... उसे यहाँ कहते हैं कि... सविकल्पनय से यदि देखें... आहा..हा...! उस आत्मद्रव्य में, अनंत गुण और अनंती पर्याय का अधिष्ठाता वह आत्मद्रव्य। पहले में ऐसे लेना, कुछ समझ में आया ? भाई, यह तो अनंतकाल का अनजाना मार्ग (है)। इस मार्ग से (कभी) गुजरा नहीं है... आहा..हा...! दुनियाभर की चतुराई (करी)।

यह आत्मा अंदर... चीज की कीमत न करे तब तक परचीज की महिमा जायेगी

नहीं और पर की कीमत की महिमा न जाय तो आत्मा की महिमा होगी नहीं... आहा..हा...! ऐसी बातें अंदर की हैं... प्रभु ! आत्मा ! आत्मद्रव्य की यह व्याख्या करी... कि उसमें जो अनंत ज्ञान-दर्शन वस्तु है न ! उसमें बसे हुए - स्थित गुण हैं... उन गुण का... एक-एक गुण का रूप है... ज्ञान तो बेहद अनंत स्वभाव - अनंतज्ञान है। आनंद तो अनंत है... श्रद्धा का स्वभाव भी अनंत है। शांति अर्थात् अकषाय चारित्रदशा - शक्ति है। चारित्र अर्थात् अकषाय शक्ति भी अनंत है। आहा..हा...! ऐसे... ऐसे... अनंत गुण... उसका एक-एक गुण का अनंत रूप और स्वरूप है। ऐसे अनंत गुण और अनंत पर्यायों को धारण करनेवाला एक आत्मद्रव्य है। पर के साथ यहाँ कोई संबंध नहीं है। इसमें तो ऐसा आया कि कर्म की वजह से विकार नहीं होता। पर की पर्याय से (पर के कारण) अपनी पर्याय होती नहीं है। यह ऐसा आया कि नहीं ? आहा..हा...!

इस प्रकार परद्रव्य के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में ये शरीर के रजकण हैं। यह देखो ! यह तो एक चीज नहीं है। उसके टुकड़े होते - आखरी Point... जिसके कि दो भाग न हो पाये उसे परमाणु कहते हैं। परमाणु... अंतिम में भी अंतिम (सब से) छोटा भाग... ऐसे अनंते (परमाणु) सम्मिलित होकर यह उँगली बनी है। उसमें जो एक-एक रजकण है... वह अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है। परंतु आत्मा के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नहीं है। क्या कहा... वह आत्मा की पर्याय में स्वसमय में राग आया। ज्ञाता की बात है, हाँ...!

राग के कारण उँगली इस प्रकार चलती है ऐसा नहीं है। उस उँगली के चलने की पर्याय परमाणु की अपनी अपने स्वकाल में होती है। आत्मा के राग के स्वकाल में... और इसकी अपेक्षा... परकाल में वह... यह उँगली चलती नहीं है। यह ऐसी बातें बापू...! वह चमत्कारिक वस्तु है। अंदर - प्रत्येक पदार्थ चमत्कारिक वस्तु है। आहा..हा...! वह यहाँ स्वयं के (स्वचतुष्टय) अपने कहे। उसी प्रकार - पर के समझ लेना। परपदार्थ के भी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव उसकी अस्ति से है। और दूसरे के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से यह पदार्थ नहीं है... ऐसा उसे ज्ञान में बराबर बैठे तब उसकी दृष्टि द्रव्य के ऊपर जाती है। वह द्रव्य अभी कौनसा ? अभी कौनसा ऐसा ? समकित के विषय का द्रव्य है। वह एकरूप द्रव्य... ये तो अनंतगुण - शक्तियाँ

आयी और उसकी एक समय की अनंती पर्यायें... विकारी या अविकारी सभी के समुदाय का स्वामी आत्मा... उसे यहाँ द्रव्य कहा जाता है... आहा..हा...! ऐसी व्याख्या...!

यह धर्म तो कैसा होगा ? वह (लौकिक धर्म) तो कहता है... दूसरों के प्रति दया का करना और भूखे को आहार देना, प्यासे को पानी देना। समझ में आता है सही है... क्या खाक समझा है इसमें... ऐसा तो अनंतबार माना है। और किया है। परंतु उसमें आत्मा का कल्याण हुआ नहीं। उससे लेशमात्र कार्यसिद्धि नहीं हुई।

शकरकंद वह शक्कर की मिठास का पिंड है। अंदर छिलके... जो लाल छिलका है - उसे भिन्न देखने पर केवल शक्कर की मिठास का दल है। उस प्रकार भगवान आत्मा... उसके साथ इस शरीर को मत देखो, कर्म को मत देखो, पुण्य-पाप - विकार का छिलका मत देखो... आहा..हा...! तो इस छिलके के पीछे अतीन्द्रिय आनंद का कंद (है)। जिस प्रकार शकरकंद है (उसी प्रकार)। इसी प्रकार यह अतीन्द्रिय आनंद का कंद है। किस दिन... यह... सुना हो ! समझा हो ! वह अतीन्द्रिय आनंद का दल है। वह... अंदर ! दल माने आत्मा, यहाँ एक ही गुण न लेकर - अनंतगुण - आनंद है एक उसका गुण - और अनंती उसकी पर्यायें, अवस्थाएँ, हालत, उन सबके समुदायरूप द्रव्य कहा गया है। वह आत्मद्रव्य (है)। पहले दसवाँ बोल... सविकल्पनय से क्या कहते हैं ?

भगवान आत्मा उसे भेदनय से देखो तो (भेदरूप है)। (जिस प्रकार) बालक, कुमार और वृद्ध उसकी अवस्था बालक, युवान और वृद्ध तीन अवस्थाएँ होती हैं। शरीर की नहीं, उसकी अपनी अवस्था में बालक, कुमार और वृद्ध, तीन होते हैं। कुछ समझ में आया ? भेदनय से - जैसे मनुष्य एक है परंतु उसकी अवस्थानुसार तीन प्रकार कहे जाते हैं, कि यह बालक, युवान और वृद्ध इस मनुष्यरूप से तीनों में एक है। वह मनुष्य बालक है, वह मनुष्य युवान है और वही मनुष्य वृद्ध है। उसी प्रकार आत्मा है।

विकल्पनय से बालक, युवान और वृद्ध की भाँति सविकल्प है। आत्मा भेदनय से भेदसहित है। जिस प्रकार एक पुरूष बालक, युवान और वृद्ध (इस तरह) भेदवाला है। आहा..हा...! दूसरी तरह से लें तो यह आत्मा अपना ज्ञान नहीं है और अज्ञान है। राग का विकल्प जो उठता है, राग और शरीर को अपना मानता है। तब तक

बालक है, आहा..हा...! और जब मेरा अंतरस्वरूप शुद्ध चैतन्यघन है, राग से - शरीर के भाग से मेरी चीज भिन्न है, उस प्रकार अंतर में आत्मा का ज्ञान करे तब युवान कहा जाता है, आहा..हा...! और उस आत्मा में जब पूर्ण आनंद की दशा - केवलज्ञानदशा परमात्मदशा हो उसे आत्मा की वृद्ध-पक्की (परिपक्व) दशा कही जाती है। ऐसी बातें ! कैसी गजब है यह...? इसकी (शरीर की) अवस्था तो ठीक, यह जड़ की (है) वह बालक है, वह वृद्ध है, वह युवान है, वह माँस की और हड्डियों की चीज की दशाएँ हैं। परंतु अंदर आत्मा का जहाँ तीन प्रकार से विचार करें (तो) अज्ञानरूप से बालक है, ज्ञानरूप से युवान है और परिपूर्णदशा प्राप्त होने पर वह वृद्ध है... यह भेदनय से तीन प्रकार हैं। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

यहाँ दुनिया क्या करती है, यह तो बापू जानते हैं कि नहीं ? जिस प्रकार पुरुष बालक-युवान-वृद्ध ऐसे भेदवाले हैं उसी प्रकार यहाँ तो अध्यात्म में घटाया है, भाई...! अंदर भगवान सच्चिदानंद प्रभु स्वयं अपने भान बिना का, राग व पुण्य व शरीर मेरे (हैं) और मेरी चीज है (परंतु) वह मैं नहीं... और ये मेरे में नहीं हैं। उन्हें मेरा (माने) ऐसी दशा को बाल्य अवस्था-अज्ञान अवस्था (कहते हैं), आहा..हा...! और वह अवस्था रागादि (मेरी) नहीं, मैं तो चैतन्य आनंदस्वरूप हूँ। ऐसा अंतर में आत्मा का ज्ञान होने पर उसे युवान कहा जाता है, वह उसकी स्थायी युवानी (है)। इस शरीर में युवानी फूटती है न ! पच्चीस साल का युवान और ऐसी सभी इन्द्रियाँ पुष्ट और हृष्ट-पुष्ट ! और जड़, जड़ वह सब खाक ! वैसे... आत्मा की युवानी तो उसे कहे... भाई ! दूसरी जाति है, इस दुनिया से सब। दुनिया जो कहती है वह जाना न सब...! आहा..हा...!

सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव, जिन्हें एक सेकंड के असंख्यवें भाग में तीनकाल, तीनलोक का ज्ञान था, उन सर्वज्ञ भगवान की वाणी में आयी - वह बात है। आहा..हा...! परमेश्वर वीतराग परमात्मा ऐसा कहते हैं, (वह) संत आढ़तिया होकर भगवान का माल दे रहे हैं... कि... प्रभु ! तुझे एकबार यदि भेद से देखे तो तेरे में बाल, युवान और वृद्ध ऐसे तीन प्रकार दिखते हैं। समझ में आ रहा है ! पर्याय से, भेद से देखे तो केवल पर्याय आयी थी। उसमें पर्याय साथ में थी यों, और यह भेद है, वह एक के बाद एक (होती है), क्या कहा ? वह द्रव्यनय

और पर्यायनय तो साथसाथ थे। पर्याय - और द्रव्य साथ में - ऐसा यह है, वह (तीनों अवस्थाएँ साथ में नहीं। बाल (अवस्था के) समय युवान नहीं... और युवान (अवस्था के) समय वृद्ध नहीं... और वृद्ध (अवस्था के) समय युवान नहीं... और बालक नहीं। वह अपेक्षा का नय लिया है।

आहा..हा...! गजब बात है। वह विकल्पनय से अर्थात् भेदनय से भेदरूप है, वह भी एक नय है... जानने लायक एक नय का अंश है। भेदरूप से भी जाने ऐसा एक नय है। एक नय से पूरा तत्त्व जानने में नहीं आयेगा... क्योंकि पूरे तत्त्व में तो अनंतगुण व अनंती पर्याय हैं। अतः उन सभी नयों का समुदाय भावश्रुतज्ञान, जिसमें आनंद की दशा आये, जिस श्रुतज्ञान से आत्मा को जानने पर, जिसे अंतर में अतीन्द्रिय आनंद आये, अतीन्द्रिय आनंद जो कहा न - शकरकंद - वैसे (आत्मा) अतीन्द्रिय आनंद का पिंड है। उसका श्रुतज्ञान में आनंद व शांति का स्वाद आता है। शांति का अर्थात् चारित्र का, आनंद का अर्थात् सुख का, आहा..हा...! इसमें समझना कठिन पड़े बापू! मार्ग ऐसा है, भाई !

अनंतकाल भटक भटककर मर गया है। 'अनंतकाल से भटका, बिना भान भगवान, सेवन किया न गुरुसंत को, छोड़ा नहीं अभिमान।' आहा..हा...! ... क्या चीज है ? और उसकी दशा क्या है ? और उसमें विकार किस प्रकार होता है ? फिर भी वह विकाररहित स्वरूप है। उसे जानने का इसने प्रयत्न किया नहीं है। और इस संसार की सारी चतुराई, होशियारी बताता रहा। पच्चीस-पच्चीस साल तक पढ़ाई करे और M.A. तक की पूछ चिपका ले, और डोक्टर और यह वकील है, वह LLB (की) पूँछ चिपका लेवे, परंतु आत्मज्ञान उसने कभी किया नहीं है, आहा..हा...!

यह आत्मा अंदर भगवानस्वरूप प्रभु ! उसे देखो। भेदनय से - तीन प्रकार की अवस्थावाला यह अवस्था क्रमशः लेनी है। वह जो पर्याय थी... वह एकसाथ थी... और इस भेद में क्रम लेना है। ऐसे भेद को देखे तो वह तीन अवस्थारूप है। यह नौवाँ, दसवाँ दस (नय) हुए। आत्मद्रव्य मतलब यह लेना - अनंतगुण और अनंत शक्तियाँ, अनंती पर्यायों के समुदाय का अधिष्ठाता और स्वामी वह द्रव्य आहा..हा...! आत्मद्रव्य अविकल्पनय से - अभेददृष्टि से - भेद नहीं करके। एक पुरुष की भाँति (अभेद है)। बाल्यावस्था में भी पुरुष, युवानावस्था में भी पुरुष और वृद्धावस्था में भी

पुरुष। बस पुरुष... पुरुष और पुरुष। उसमें भेद नहीं आया... बालक, युवान और वृद्ध उसमें भेद आया। परंतु पुरुषरूप से उसमें भेद नहीं आया। पुरुष - वह बालपुरुष, वह युवानपुरुष, वह वृद्ध सभी जगह पुरुष, पुरुष, पुरुष देखो, उसी प्रकार आत्मा में। यह तो दृष्टांत (हुआ)। पुरुष के लिए अविकल्प है। अभेदनय से आत्मा अभेद है। आहा..हा...! इस प्रकार तीन क्रम से अवस्था बिना का अभेदस्वरूप है। आहा..हा...! ऐसी बातें, अब कुछ समझ में आया...!

भाई ! आत्मज्ञान की सूक्ष्म बातें हैं। उसने अनंतकाल में यह किया नहीं है... आत्मद्रव्य अभेदनय से, इस पर्याय के क्रम से, भेद से न देखो, तो बाल, युवान और वृद्ध पुरुष के तीन प्रकार से न देखो, तो पुरुष, पुरुष, पुरुष, पुरुष अभेद एक पुरुष है। उस प्रकार आत्मा में अज्ञान-समकित और पूर्ण(दशा), ऐसे तीन भेद न देखो तो अभेद है। वह एकरूप वस्तु है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? ग्यारह(वे नय में) आया न कि आत्मद्रव्य अविकल्पनय से एक पुरुषमात्र की भाँति अविकल्प, अभेद है।

आत्मा - आत्मा - आत्मा ऐसे बाल, युवान और वृद्ध वे तो तीन भेद थे। परंतु आत्मा अज्ञानी, आत्मा ज्ञानी, आत्मा सर्वज्ञ, ये तो (भेद हुए, फिर भी) आत्मा एक अभेदरूप रहा... कुछ समझ में आया...! यह अभेदनय है, वह भी ज्ञान का एक अंश है। अर्थात् बालपना जानने में आये, परंतु बालपना उसे होता नहीं है। इस नय से देखनेवाले को अविकल्पनय से देखनेवाले को बालपना पर्याय में नहीं होता। बालपना बीत गया, ऐसा ज्ञान करे... अज्ञानपना व्यतीत हुआ ऐसा ज्ञान करे, किन्तु अज्ञानपना है ऐसा ज्ञान फिर इस में नहीं आता। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? आहा..हा...!

ऐसी दुनिया में (लोगों में) कहते हैं कि - `परख की माणिक मोती की परखे हेम - कपूर, पर ना परखा आत्मा - जब लग (तक) रहा दिङ्मूढ।' हीरे माणिक की परीक्षा करी - परखे माणिक मोती - परखे सोना - कपूर - पर ना परखा आतमा... कौन है यह ? क्या है यह ! वहाँ दिङ्मूढ - दिङ्मूढ अर्थात् दिशामूढ़, किस दिशा में जाना है ? कुछ पता नहीं रहता...! आहा..हा...! कोई उसे शरण नहीं है। शरण उसे आत्मा (है)। अंदर आनंद का नाथ है - उसके सामने देखता नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि उसकी ओर देखने पर एक नय से तो प्रभु अभेद है। उसमें समकित-मिथ्यात्व और केवलज्ञान ऐसे भेद वस्तु में नहीं है। मिथ्यात्व गया - समकित हुआ। केवलज्ञान होगा। ऐसे भेद वस्तु में नहीं है। आहा..हा...! कैसी बात है ! ऐसी बात आज तक कभी सुनी नहीं है।

आहा..हा...! चैतन्यप्रकाश की बाढ़ ! आत्मा चैतन्य का प्रकाश। जिस प्रकार इस सूरज का प्रकाश है, यह प्रकाश तो जड़ है। जड़ के प्रकाश को जाननेवाला चैतन्य प्रकाश है कि, यह जड़ है ! और मैं ज्ञान हूँ - ऐसे चैतन्य प्रकाश के नूर का पूर (नूर की बाढ़) अंदर भरा है। आहा..हा...! अरेरे...! यहाँ कहते हैं कि ऐसा जो आत्मा (है) (उसे) अभेदनय से देखें तो तीन भेद उसमें नहीं दिखते। एक नय के अनुसार तीन भेद हैं। और एक नय से तीन भेद से अभेद है - इन सभी नयों का समुदाय करके श्रुतज्ञान होता है, जो आनंद की दशावाली श्रुतज्ञान दशा, उसके द्वारा आत्मा प्रमेय हो सकता है। उसके द्वारा आत्मा ज्ञात हो सकता है। आहा..हा...! गजब ! कुछ समझ में आया ?

अभेदनय से आत्मा अभेद (है)। जिस प्रकार एक नय से पुरुष, बालक, युवान, वृद्ध ऐसे भेद बिना का, एक पुरुषमात्र है। उसी प्रकार... लो ! ग्यारह (नय) हुए। इन नयों में (बात) लम्बी नहीं चलती। ४७ शक्ति में ३३ व्याख्यान हुए। ४७ शक्ति तो वस्तु है न ! और इन २० अलिंगग्रहण में १४ व्याख्यान हुए। अब कह रहे हैं कि आत्मा जो द्रव्य-वस्तु है, भगवान आत्मा तो वस्तु है। उसमें बसी हुई - (स्थित) शक्तियाँ भी है। वस्तु उसे कहते हैं कि (जिसमें अनंतगुण बसें) - वास्तु उसे कहते हैं कि - कोई मकान हो उसमें निवास करना उसे वास्तु कहते हैं न ? किसी पेड़ पर रहना उसे वास्तु कहा जाता है क्या ? वास्तु या वस्तु उसमें रहना, उसमें निवास करना। उसमें अनंतगुण बसे हैं। 'गोम्मटसार' में है। सभी शास्त्रों में शब्द हैं, हाँ ! वस्तु किसे कहना कि जिसमें अनंत शक्तियाँ और गुण बसे हुए और स्थित हैं। उसे वस्तु कहते हैं। ऐसा जो आत्मद्रव्य अनंतगुण - अनंत शक्तियाँ और अनंत पर्यायों का अधिष्ठाता वह।

नामनय से आत्मद्रव्य (शब्दब्रह्म को स्पर्श करनेवाला है) नामनय से... भाषा देखो... आहा..हा...! कोई ऐसा कहे कि आत्मा सर्वथा कहा न जा सके, ऐसा नहीं है। इस

में कुछ समझ में आया ? नामनय से माने ? नामवालों की भाँति नामवाला - यह जिस प्रकार लक्ष्मीचंद है, राचंद है। जैसे वह नाम है न ! वह नामनय से शब्दब्रह्म को स्पर्श करनेवाला है। भाषा देखो !

शब्द जो यह वाणी है न वाणी ! ये शब्द उठते (निकलते) हैं उसके द्वारा कहा जा सके ऐसा है। स्पर्शनेवाला मतलब उसके द्वारा कहा जा सके ऐसा है। शब्द का स्पर्श कर सकता है, ऐसा सवाल यहाँ मत उठाना... कुछ समझ में आ रहा है ? है... ? नामनय से - नामवाले की भाँति, कहते हैं न हीराचंद ? कि हाँ... नाम रखा है न ऐसा ! वस्तु तो कहाँ है ? किन्तु रखा है हीराचंद। सपने में बोले तो, वह हीराचंद तो मैं। हीराचंद तो नाम रखा है न ! वह किस दिन हीराचंद था। वह तो शरीर का नाम रखा है। फिर भी उसे जिस प्रकार हीराचंद नाम से कहा (बुलाया) जा सकता है। दूसरों से भिन्न करने के लिए (इस प्रकार) पहचान बनाई जा सकती है। उस प्रकार आत्मा को नामनय से - नामवाले की भाँति शब्दब्रह्म (द्वारा कहा जा सके ऐसा है)। बहुत सारे प्रचलित शब्द (हैं) अर्थात् आत्मा नामनय से, आत्मा (स्वयं) शब्दब्रह्म नहीं है, कहा जाता है। स्पर्शनेवाला है न ! उसका अर्थ कहा जाता है ऐसे लेना।

क्या कहा यह ? यह शब्द है... जो वाणी (है) उसे आत्मा कोई स्पर्श नहीं करता। उसे छूता नहीं है। एक द्रव्य - दूसरे को छूता नहीं है। यह पहले बात करी। तीसरी गाथा ('समयसार') प्रत्येक वस्तु अपने गुण व पर्याय के धर्म को चूमती है। परंतु अन्य द्रव्य के धर्म को और अन्य द्रव्य का चुंबन नहीं करती। यह तीसरी गाथा (है)। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

आत्मा गुड़ का स्वाद नहीं ले सकता। ऐसा कह रहे हैं। गुड़ तो जड़ है। आत्मा अरूपी है। उसमें वर्ण-रस-गंध-स्पर्श नहीं है। परंतु उसकी ओर लक्ष करके राग होता है - उसका (राग का) स्वाद लेता है, मानता ऐसा है कि, मुझे गुड़ का स्वाद आ रहा है। उस प्रकार यहाँ आत्मा शब्द का स्पर्श नहीं करता। जिस प्रकार गुड़ को आत्मा छूता नहीं है परंतु उसके लक्ष से अंदर राग होता है, उसका स्वाद लेता है। उस प्रकार नामनय से शब्दब्रह्म का स्पर्श करनेवाला नहीं है; स्पर्श करनेवाला है (ऐसा) उसमें कहा किन्तु उसका स्पर्श करनेवाला नहीं है, परंतु शब्द

द्वारा कहा जा सकता है कि 'यह आत्मा'। शक्कर है न शक्कर - वह तीन अक्षर है, (हिन्दी में) साढ़े तीन अक्षर) वह दर्शित किसको करती है ? कि... उस शक्कर (नामक) वस्तु को, कि यह शक्कर है। उसे बताती है। जैसे शब्द में शक्कर नहीं है... वैसे शक्कर में शब्द नहीं है। शक्कर में शब्द है ? शक्कर क्या है ? वह तो ड़ली है। अन्य है - उसी प्रकार शब्द में आत्मा नहीं है न ! आत्मा में शब्द नहीं है। अतः शब्द का स्पर्श करता नहीं है ऐसा कहा परंतु शब्द द्वारा कहा जाता है। ऐसा उसका अर्थ है।

आत्मा शब्द... आत्मा का वाचक है, आत्मा वाच्य है। शक्कर शब्द है, इस तरह शक्कर वाचक है। और (जो) शक्कर है (वह) उसका वाच्य है। उस वाच्य में शक्कर शब्द नहीं है। शक्कर शब्द में वाच्य नहीं है, परंतु शक्कर शब्द द्वारा शक्कर जानने में आती है। उसी प्रकार यहाँ शब्द द्वारा आत्मा कहा जा सकता है। ऐसी बातें हैं। यह किस प्रकार का धर्म है य तो ! धर्म का ऐसा तो कैसा रूप होगा ? बापू... तुझे खबर नहीं है। भगवान ! क्या कहें ? धर्म का स्वरूप... ऐसा है... कभी सुना न हो ! संप्रदाय में तो सब बातें (ऐसी कि) दया पालन करो, व्रत करो और उपवास करो और यात्रा करो और भक्ति करो और क्या कहते हैं ? कर्मदहन (हेतु) अंतरायकर्म की भक्ति-पूजा करो और ये तो सब क्रिया जड़ की है और अंदर कदाचित राग मंद हो तो पुण्य है। वह कोई धर्म नहीं है। आहा..हा...!

यहाँ कह रहे हैं प्रभु ! आत्मा नाम का स्पर्श करनेवाला - (है) भाषा - देखो, हे इसमें ! कौनसा... बारहवाँ (नय है)।

'नामनयेन तदात्मवत् शब्दब्रह्मामर्शि' है। संस्कृत में है। नामनय से 'तदात्मवत् शब्दब्रह्मामर्शि' 'आमर्शि' अर्थात् स्पर्श करता है। अब उसमें झगड़ा करने जाते हैं कि देखो शब्द का स्पर्श करता है। यहाँ शब्द तो ऐसे पड़े हैं। एक तरफ ऐसा कह रहे हैं कि आत्मा परद्रव्य का स्पर्श नहीं कर सकता। शब्द जड़ हैं। मेरी यह जो टेप उतरती है न इसमें, (तो) आत्मा उतरता है उसमें ?! आत्मा तो अरूपी है। वर्ण, गंध, स्पर्श बिना की अरूपी चीज है। इस में (टेप में) उतर सकती है...! ध्वनि उठती है वह जड़ की है उस जड़ का आत्मा स्पर्श नहीं करता। परंतु जड़ द्वारा आत्मा कहा जाता है। ऐसा नामनिक्षेप है, आहा..हा...! आत्मा कहने से... ख्याल में

आता है न ! आत्मा (`समयसार') आठवीं गाथा में कहा न... `स्वस्ति' तब `स्वस्ति' (शब्द) से नहीं समझा, तब कहा कि.. स्वस्ति अर्थात् `तेरा अविनाशी कल्याण हो।'

स्व - अस्ति... स्व तेरा स्वरूप है। उसका अस्तिपना (कहा) उसे माननेवाला। ब्राह्मण स्वस्ति नहीं कहते ? ... ये आटा मागने आते हैं न ! स्वस्ति - उसका मूल अर्थ तो ऐसा है। स्व अस्ति, स्व अर्थात् तेरा जो स्वरूप है, उसकी जो मौजूदगी है, वह तुझे प्रगट हो। और तेरा अविनाशी कल्याण हो, ऐसा उसका अर्थ है... आहा..हा...! उस प्रकार यहाँ स्वस्ति कहने से वह समझा नहीं, तब उसका अर्थ किया कि... देख भाई ! तेरा अविनाशी कल्याण हो - ऐसा वे कह रहे हैं... उस प्रकार उसे कहा कि आत्मा... वह समझा नहीं। - आत्मा कह रहे हैं परंतु आत्मा क्या? यह आत्मा हम जिसे कहे कि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त करे वह आत्मा (ऐसा) शब्द द्वारा कहा न ! क्या कहा ? आत्मा वह अपना विश्वास - दर्शन, अपना ज्ञान व अपनी रमणता, इस दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हो वह आत्मा। आहा..हा...! तब उसे भेदपूर्वक समझाया। भेद द्वारा समझाया तब भेद का अनुसरण नहीं करना। उसे क्या कहा यह ? भेद से गुरु ने समझाया, - गुरु को भी भेद का अनुसरण नहीं करना है। और समझनेवाले को भी भेद का अनुसरण करना नहीं है। (`समयसार') आठवीं गाथा में ऐसा है।

आखरी सवाल यह है कि उसे हम जो कहते हैं कि आत्मा वस्तु दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त करे सो आत्मा। यह हमने तुम से व्यवहार से कहा परंतु वह व्यवहार आदरणीय नहीं है, आहा..हा...! तुम और हम दोनों को (आदरणीय नहीं है) ऐसा आचार्य कह रहे हैं। ऐसा पाठ है। वहाँ सिर्फ व्यवहार के भेद से समझाये बिना कोई उपाय नहीं है। उस प्रकार नामनिक्षेप से समझाये बिना कोई उपाय नहीं है। ऐसा यहाँ लेना। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...!

इसका विश्वास करते हैं सो आत्मा। विश्वास है वह तो पर्याय है परंतु विश्वास करनेवाला आत्मा, यहाँ ज्ञान-जाननेवाला आत्मा, और अंदर में स्थिर होता है (जमता है)। सो आत्मा ऐसे भेदपूर्वक उसे समझाया। वह तो पर्यायनय से समझाया है। क्योंकि पर्यायनय से भेद के बिना वह समझ (नहीं) सकता। अतः ऐसा समझाया है परंतु यहाँ भेद अनुसरण करने लायक नहीं है। उसी प्रकार नाम से कहा जा सकता

है। परंतु नाम अनुसरण करने योग्य नहीं है। कुछ समझ में आया ? ऐसा है, भाई ! वीतराग मार्ग (ऐसा है)।

नामनिक्षेप की भाँति शब्दब्रह्म का स्पर्श करनेवाला अर्थात् नामनय एक नय है, हाँ ! ऐसा नय का एक अंश है। शब्दब्रह्म द्वारा कहा जाता है। शब्दब्रह्म अर्थात् जो शब्दब्रह्म संपूर्ण को दर्शित करता है उस शब्द को शब्दब्रह्म कहते हैं। यह ('समयसार' की) आखरी ४१५ गाथा में आ चुका। कि इस समयसार शब्द को शब्दब्रह्म क्यों कहा ! शब्दब्रह्म, जिस प्रकार सर्वव्यापक सर्व को जाननेवाला भगवान है, उसको बतानेवाले शब्द है अतः उसे शब्दब्रह्म (कहते हैं)। बारह अंग उसका यह अंग है, अंश है, इसलिए शब्दब्रह्म कहते हैं, कुछ समझ में आया ? यहाँ तो नाम एक है इसलिए उसे शब्दब्रह्म कहा, क्योंकि शब्दब्रह्म सर्वव्यापक है। सभी पदार्थों को किसी भी नाम से बताये, उसमें यहाँ तो आत्मा (की) बात है। यह आत्मा ऐसा शब्द है। इसलिए वह जानने योग्य है। अतः वह नामनिक्षेप से ज्ञात हो सकता है। ऐसा एक नय है। आहा..हा...!

बिलकुल कहा न जा सके तो फिर वक्तव्य जो है... वह तो रहता नहीं है। कुछ समझ में आया ! नामवाले की भाँति कहा जा सकता है। ऐसा कह रहे हैं। आहा..हा...! कथंचित वक्तव्य और कथंचित अवक्तव्य है। सर्वथा अवक्तव्य कहो तो वाणी निमित्तरूप से (भी) कुछ कही नहीं जा सकती, और उसे समझने में वह निमित्त हो ही नहीं। आहा..हा...! निमित्त की सिद्धि कर रहे हैं। निमित्त है जरूर, परंतु वह अनुसरण करने योग्य नहीं है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया? ऐसा सूक्ष्म है। लो... कई लोगों ने कभी भी ऐसा सुना (भी) नहीं होगा ! आहा..हा...!

एक तरफ ऐसा कहे कि आत्मा शब्द से ज्ञात नहीं होता। विकल्प से ज्ञात नहीं होता। आता है ? उसके निर्मल ज्ञान की पर्याय है... उसके द्वारा वह ज्ञात होता है। आहा..हा...! यहाँ नामनिक्षेप की स्थापना करके नाम शब्द से भी उसे ज्ञात होता है, इतना स्थापन करने योग्य है। वैसे कहते हैं कि विकल्प के द्वारा भी ज्ञात नहीं होता। क्योंकि विकल्प है वह राग है। उस राग से आत्मा ज्ञात नहीं होता। वह तो आनंदस्वरूप - भगवान ज्ञानमूर्ति प्रभु है, आहा..हा...! फिर भी यहाँ कह रहे हैं कि नामवाले की भाँति नाम द्वारा आत्मा कहा जा सकता है। कुछ समझ में

आया? नहीं तो ऐसा कहते हैं। `वोच्छामि समयपाहुडं' मैं कह रहा हूँ समयपाहुड... इसका अर्थ हुआ कि तुम सुनो, पहली गाथा में आया न ! वंदितु सव्वसिद्धं... एक तरफ कहे कि आत्मा वाणी को कर नहीं सकता। वाणी बोल नहीं सकता। वहाँ कहते हैं कि `वोच्छामि' मैं कहूँगा। आहा..हा...! निमित्त (की बात है)। निमित्त आये तब ऐसा बोला जाय और वहाँ ऐसा भी कहा जाय कि सुनो ! ... `धवल' में एक पाठ है। `जयधवल' में - `सुनो !'...

एक शब्द की व्याख्या करते करते बड़ी व्याख्या कर ली है। सुनो, हम कह रहे हैं वह सुनो ! अरे, किन्तु उसे सुनने से तुझे ज्ञान होता नहीं। `समाधिशतक' में ऐसा आया कि मैं किस से कहूँ ? दिखता है वह जड़ है। और कहनेवाला (है) वह शब्द है। अंदर समझाने का विकल्प उठता है वह उन्मतत्ता है। `समाधिशतक' में ऐसा कहा है। किसके लिए मैं बोलूं ? वह आत्मा है वह भिन्न है। आत्मा को ज्ञात होता नहीं। इसके साथ क्या बात करूँ ? आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? और मैं समझाऊँ ऐसा जो विकल्प है... वह भी उन्मत्त-पागलपन है, ऐसा कह रहे हैं। आहा..हा...! गजब बातें हैं।

यहाँ कह रहे हैं (कि) नाम से समझाया जा सकता है - पहचान कराई जा सकती है। व्यवहार की बात करी है। इसे समझना चाहिए न ! कुछ समझ में आया ! आहा..हा...! `समाधिशतक' में वहाँ भी लिया है - `मोक्षपाहुड प्राभृत' में। आहा..हा...! वहाँ ऐसा भी लिया है, मेरा प्रभु - आत्मा (यदि) वह जानते नहीं हैं तो वे वैरी या सज्जन कैसे हो सकते हैं ? अरि-मित्र शब्द है - `समाधिशतक' में मेरे आत्मा को जानते नहीं , तो वे मेरे वैरी या सज्जन किस प्रकार हो सकते हैं ? आहा..हा...!

आचार्यों की शैली तो देखो ! गजब है...! मैं आत्मा... अंदर जो सच्चिदानंद प्रभु - शुद्ध आनंदघन। उसका भी विरोध अभी हुआ था। वे लोग कहते हैं कि शुद्ध है... शुद्ध है... पर वस्तु भी शुद्ध है। इसमें आया है। उस `करुणादीप' में अन्यत्र भी बात ली थी। `कर्म से विकार होता नहीं और कर्म से विकार होता नहीं' - इस प्रकार (बात) किया करते हैं... उसकी टीका की है। विकार होता है वह स्वकाल है... परकाल का उदय है, वह परकाल है, उससे विकार होता नहीं। उसे इस मूल बात का ख्याल नहीं, अतः दो टीकाएँ बड़ी भारी आई हैं, आज `करुणादीप'

में, सिद्धांत ऐसे कहता है... और... 'सोनगढ'वाले ऐसे कहते हैं। कोई बात नहीं। (जिसे) न बैठा हो (दिमाग में) वह ऐसा कहेगा... व्यक्ति के प्रति - बैर-विरोध करना योग्य नहीं है। वे तो उनको जो बैठा हो (दिमाग में) वह कहेंगे। और यों तो पूरे जैनदर्शन की शैली अभी (ऐसी) चलती है। वह तो कर्म से विकार होता है... कर्म से विकार होता है... क्या !

यहाँ तो (१९७१) ७१ की साल से मैंने तो कहा था, इकहत्तर (विक्रम संवत्) की साल... कितने वर्ष हुए ? ६३-६३ साल से... प्रश्न उठा... ७१ में लाठी में... कि भाई ! आत्मा को समझा सकते हैं... कर्म से आत्मा को विकार होता है या नहीं ? मिथ्यात्व संशय होता है वह... वहाँ संशय शब्द है। 'भगवतीसूत्र' में - श्वेतांबर का, कि संशय है वह आठ कर्म से नहीं होता। वह संशय स्वयं करे तो होता है, - और संशय को टाले तो स्वयं टाल सकता है। कर्म टले तो संशय टले - ऐसा नहीं। ऐसी चर्चा चली थी, ७१ में। गुरु थे बेचारे भद्रिक। वे सुनते थे। व्याख्यान चलता था वह सुनते थे। ये फिर क्या कह रहे हैं ? परंतु दूसरा सेठ था एक। उसने विरोध किया। यह ऐसी बात न जाने कहाँ से निकाली है ? हमें तो कोई गुरु (ऐसा) नहीं बता रहे हैं, यह तो धागे बिना की सूई (?) उड़ी ! वह कहाँ जाकर गिरेगी !

(उन्नीससो) इकहत्तर... ६३ साल पहले... तुम्हारी जिंदगी के पहले की बात... भाई ! कर्म से विकार तीनकाल में नहीं होता... विकार अपनी पर्याय में अपने कारण से होता है... यह तो आ चुका। सुबह (के प्रवचन) में आ चुका... उपादान... अपनी विकारी पर्याय में कारण स्वयं ही है। कर्म तो निमित्त है। निमित्त अर्थात्... है... किन्तु उससे होता है (ऐसा) बिलकुल नहीं। आहा..हा...!

यहाँ नाम से कहा जा सकता है। उसका अर्थ ऐसा मत लेना कि नाम जाना तो जानने में आ गया। आत्मा सिर्फ नाम द्वारा (कहा जाय)। शब्द बना है न ! यदि उसका लक्ष कर ले तो नाम द्वारा ज्ञात हुआ ऐसा कहा जाता है... है। (आत्मा) नामनय से शब्दब्रह्म का (स्पर्श करनेवाला है) जिस प्रकार नामवाला पदार्थ उसके नामरूप शब्द द्वारा कहा जाता है, उस प्रकार... लो... यह नामनिक्षेप हुआ... विशेष कहेंगे...

आत्मद्रव्य नामनय से, नामवाले की भाँति, शब्दब्रह्म को स्पर्श करनेवाला है (अर्थात् आत्मा नामनय से शब्दब्रह्म से कहा जाता है, जैसे कि नामवाला पदार्थ उसके नामरूप शब्द से कहा जाता है)। १२।

आत्मद्रव्य स्थापनानय से मूर्तिपने की भाँति, सर्व पुद्गलों का अवलम्बन करनेवाला है (अर्थात् स्थापनानय से आत्मद्रव्य की पौद्गलिक स्थापना की जा सकती है, मूर्ति की भाँति)। १३।

आत्मद्रव्य द्रव्यनय से बालक सेठ की भाँति और श्रवण राजा की भाँति, अनागत और अतीत पर्याय से प्रतिभासित होता है (अर्थात् आत्म द्रव्यनय से भावी और भूत पर्यायरूप से ख्याल में आता है, जैसे कि बालक सेठपने स्वरूप भावी पर्यायरूप से ख्याल में आता है और मुनि राजास्वरूप भूतपर्यायरूप से आता है)। १४।

आत्मद्रव्य भावनय से, पुरुष के समान प्रवर्तमान स्त्री की भाँति, तत्काल (वर्तमान) की पर्यायरूप से उल्लसित-प्रकाशित-प्रतिभासित होता है (अर्थात् आत्मा भावनय से वर्तमान पर्यायरूप से प्रकाशित होता है, जैसे कि पुरुष के समान प्रवर्तमान स्त्री पुरुषत्वरूपपर्यायरूप से प्रतिभासित होती है)। १५।

प्रवचन : दि. २७-१२-१९७७

'प्रवचनसार'... नय अधिकार (चल रहा है)। पहले ऐसा कहा कि यह आत्मा कैसा है और कैसे प्राप्त हो ? उसके उत्तरस्वरूप यह है। अर्थात् प्रश्नकर्ता के हृदय - अंतर में आत्मा की धगश (धून-लगनी) छलक रही है। दूसरी बातों को (प्रश्नकार ने) एक तरफ कर दी है। (यह) ज्ञायक आत्मा है कैसा ? और किस प्रकार प्राप्त

हो ? यह मुख्य मुद्दे की बात का प्रश्न है।

तब उत्तर में ऐसा कहा कि, आत्मा अनंतगुण व अनंती पर्यायरूप जो धर्म (है) उसका धारक है। ऐसा एक द्रव्य है। वह कैसा है ? उसका उत्तर दिया। - मात्र द्रव्य, सिर्फ ऐसा नहीं परंतु सभी गुण और अनंती विकारी और अविकारी पर्याय उसका धारक एक द्रव्य है। वह कैसा है? और कैसे प्राप्त हो ? उसका उत्तर दिया है कि, जो अनंत नय हैं, वे ज्ञान के अंश हैं। प्रमाणज्ञान है वह श्रुत(ज्ञान) (है)। प्रमाण है पर्याय, परंतु प्रमाण द्रव्य और गुण सभी को विषय करता है। ऐसा जो श्रुतज्ञानप्रमाण वह (नयों का) अवयवी है। है तो पर्याय, त्रिकाल गुण-द्रव्य की अपेक्षा, एक समय की पर्याय तो उसका अवयव है। परंतु ज्ञान के प्रमाण की अपेक्षा, वह अवयवी है। उस अवयवी के अनंत नय वे उसके अंश-अवयव हैं।

उन अनंत नयों में व्यापक श्रुतज्ञान-भावश्रुतज्ञान, उसके द्वारा आत्मा प्रमेय अर्थात् ज्ञात (होता है) - जानने में आता है। आहा..हा...दोनों में बहुत संक्षिप्त में कहा। कुछ समझ में आया? इस प्रकार व्यवहार करो तो ज्ञात होगा न निमित्त-कुछ सुनो तो जानने में आयेगा न ! ऐसी बात नहीं करी। और वह प्रमाण द्वारा ज्ञात होता है। उस प्रमाण के भंग अनंत नय हैं। उस प्रमाण के ये विशेष - नय, उसका यह अधिकार चल रहा है। यहाँ तक अपना चला है।

नाम(नय)। बारहवाँ बोल है न ! आत्मा द्रव्य - अर्थात् जो आत्मद्रव्य पहले कहा वह अनंतगुण व अनंतीपर्याय, विकृत या अविकृत, उसका धारक - जो आधार - उसका स्वामी - वह आत्मद्रव्य। वह `**आत्मद्रव्य नामनय से नामवाले की भाँति, शब्दब्रह्म को स्पर्श करनेवाला है...**' नामनय से टीका में ऐसा है `तदात्मवत्' `तदात्म' अर्थात् उस उस वस्तु का नाम होता है न ! वह `तदात्मवत्' कहा। उस उस वस्तु का नाम। उस उस मनुष्य का व जानवर का नाम (होता है उस प्रकार)। `तदात्मवत्' उस नाम की भाँति। उस प्रकार पाठ तो `तदात्मवत्' है। परंतु उस नामवाले की भाँति। कुछ समझ में आया ? `**आत्मद्रव्य नामनय से नामवाले की भाँति, शब्दब्रह्म को स्पर्श करनेवाला है।**' आहा..हा...! सभी शब्द जो भगवान की वाणी है वह शब्दब्रह्म है। उसके द्वारा कहा जा सकता है, ऐसा यह आत्मा है। स्पर्श करनेवाले का अर्थ ऐसा किया। शब्दब्रह्म को स्पर्श करता है। ऐसा एक नय (है)। स्पर्श करता है, तो भी

पर को तो छूता नहीं है। परंतु शब्दनय से अर्थात् शब्दब्रह्मरूपी भगवान की वाणी - और उसमें से जो `समयसार' आदि सब (शास्त्र) वह शब्दब्रह्म है। उस शब्दब्रह्म से ज्ञात हो सकता है, अर्थात् शब्दब्रह्म से कहा जा सकता है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! वहाँ उस शब्द का इस तरह प्रयोग किया, शब्दब्रह्म व स्पर्श करना, ऐसा प्रयोग किया।

यहाँ (अब) तेरहवाँ बोल - आत्मद्रव्य - वह वस्तु। द्रव्य अर्थात् (द्रव्य)सामान्य ऐसा नहीं, आत्मद्रव्य अर्थात् सामान्य व विशेष आदि गुण - पर्यायों का धारक वह आत्मद्रव्य। समझ में आ रहा है ! यहाँ समकित का विषय जो आत्मद्रव्य वह नहीं। यहाँ तो ज्ञान का विषय बताना है। अतः वे सब धर्म - गुण व पर्याय का धारक-स्वामी वह आत्मद्रव्य (गुण-पर्याय का) पिंड। कुछ समझ में आया ? वह `तत्त्वार्थसूत्र' में आता है न, `गुणपर्यायवत् द्रव्यम्'। गुण-पर्यायवत् द्रव्यम् - ऐसा द्रव्य यहाँ लिया।

`आत्मद्रव्य स्थापनानय से मूर्तिपने की भाँति, सर्व पुद्गलों का अवलम्बन करनेवाला है...' जिस प्रकार मूर्ति की स्थापना होती है कि यह भगवान की मूर्ति - यह बाहुबलीजी की मूर्ति, यह सरस्वती की मूर्ति, उस प्रकार मूर्तिपने की भाँति। उसमें नामवाले की भाँति लिया था। इसमें मूर्तिपने की भाँति सर्व पुद्गलों का (अवलम्बन करनेवाला है)। भाषा देखो ! उसमें शब्दब्रह्म (कहा)। जो वीतराग की वाणी आदि जो कहने योग्य है। उस प्रकार यहाँ सर्व पुद्गलों का अवलम्बन करनेवाला है। इसलिए सभी पुद्गलों से किसी भी द्रव्य की स्थापना की जा सकती है।

सभी पुद्गलों को लिया न...! सभी पुद्गल, कोई भी पुद्गलों से, वह जैसे मूर्ति की स्थापना करते हैं, उस प्रकार आत्मा की सभी पुद्गलों से स्थापना की जा सकती है कि... यह... आत्मा। आत्मा का आकार बनाकर यह सिद्ध का आकार, (ऐसे) होता है न ! सिद्ध का आकार है न ! यहाँ तो सभी पुद्गलों से मूर्तिमंत स्थापनानय से स्थापित किया जा सकता है, बस इतना। कुछ समझ में आया...! पहचानने के लिए कि यह बाहुबली की मूर्ति है। है तो पुद्गल द्वारा स्थापित। यह सीमंधर भगवान की है, यह अमृतचंद्राचार्य की है। यहाँ तो सब पुद्गल लिये। सभी पुद्गलों से मूर्तिवत् इस आत्मा को पहचाना जा सकता है। इस चित्र में आता है न ! वह क्या बोलते हैं ? वह पुस्तक, बालपोथी, बालपोथी में आता है न ! यों आकार आदि।

कि... यह आत्मा और यह शरीर, - ऐसे आता है न ! बालपोथी में आता है। इस प्रकार स्थापना करने से स्थापित किया जा सकता है, ऐसा कहना चाहते हैं। यह भी एक नय है। कुछ समझ में आया? और ये सभी नय मिलकर श्रुतज्ञान (बनता है)। (नयों का) समुदाय (सो) श्रुतज्ञान, उसके द्वारा यह आत्मा प्रमेय अर्थात् ज्ञेय अर्थात् ज्ञान में जानने लायक होता है। सभी नय का समूह ऐसा श्रुतप्रमाण। कुछ समझ में आया...!

देखो ! आहा..हा...! इसमें से तो ऐसा निकला है कि सम्यक्दृष्टि के प्रमाण(ज्ञान) होता है। और प्रमाण का विषय भेद (है)। निश्चय-व्यवहार, उसमें भेद होता है और उसे वह स्थापनानिक्षेप लागू होता है। कुछ समझ में आया ? कल कहा था। बहुत साल पहले यह प्रश्न हुआ था न! ऐसा कि मिथ्यादृष्टि के मूर्ति नहीं होती सम्यक्दृष्टि के होती है) (ऐसा) सम्यक्दृष्टि कहते हैं। मूर्ति (सम्यक्दृष्टि के) होती है। मूर्ति मिथ्यादृष्टि के होती है... सम्यक्दृष्टि के मूर्ति नहीं होती - ऐसा (किसीने) कहा... तब। चर्चा चली थी। यह तो बहुत वर्ष की बात है। ८३ साल की। कितने वर्ष हुए ? ५१ वर्ष। तो वहाँ ऐसे ही कहा था, कहा कि सम्यक्दृष्टि होने के बाद उसे अंदर से श्रुतज्ञान - भावश्रुतज्ञान होता है। अतः भावश्रुतज्ञान प्रमाण का नय वह निक्षेप का भेद है। वह निक्षेप ज्ञेय का भेद है। और नय प्रमाण का भेद है। अतः प्रमाण का भेद नय जिसे होता है उसे निक्षेप का भेद व्यवहार से होता है। मिथ्यादृष्टि के नय नहीं है - प्रमाण नहीं है। अतः उसे निक्षेप का भेद लागू नहीं होता। क्या कहा, कुछ समझ में आया ?

स्थानकवासी (संप्रदायवाले) मूर्ति को नहीं मानते न ! इसलिए वह प्रश्न ऐसा इस तरह से किया था, - सेठ थे। - दामोदर सेठ दामनगर (के)। (वे) ऐसा कहते थे 'मिथ्यादृष्टि हो तब तक मूर्ति की मान्यता का अवलम्बन रहता है।' (हमने कहा) सम्यग्दृष्टि होने के बाद ही श्रुतप्रमाण होता है और उसके भेद-नय उसे होते हैं। और नय का विषय निक्षेप (जो है) वह ज्ञेय का भेद है। इन ज्ञेय के भेदों का ज्ञान नय के भेदों (के ज्ञान)वाले को होता है। सम्यग्दृष्टि (होने के) बाद ही उसे स्थापना निक्षेप का व्यवहार लागू पडता है। कहो, कुछ समझ में आया ? ऐसा (सत्) तो उन दिनों ख्याल में नहीं था। (परंतु) न्याय के अनुसार अंदर से (निकला वह)

कहा था। यह पढ़ा था, किन्तु स्थापनानय का ख्याल नहीं था। उस दिन अंदर ज्ञानस्वरूपी (भगवान) श्रुतज्ञान द्वारा जब वह आत्मा ज्ञात हो... तो वह श्रुतज्ञान है। वह प्रमाण अर्थात् अंशी माने अखंड ज्ञान है। किसकी अपेक्षा ?! त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से पर्याय खंड है-भेद है। परंतु नय की अपेक्षा से वह प्रमाण है। वह अखंड एकरूप है। ऐसा कहा था न ? एक श्रुतज्ञान, ऐसा कहा था।

पहले उत्तर में जिस प्रकार एक द्रव्य कहा था। है... न ! एक द्रव्य कहा था न ? कि, `**आत्मा वास्तव में चैतन्यसामान्य से व्याप्त अनंत धर्मों का अधिष्ठाता (स्वामी) एक द्रव्य है, क्योंकि अनंत धर्मों में व्याप्त होनेवाले जो अनंत नय हैं उनमें व्याप्त होनेवाला जो एक श्रुतज्ञानस्वरूप...**' (उसके द्वारा ज्ञात होता है।) वहाँ एक श्रुतज्ञान लिया है - प्रमाणज्ञान `(**जो**)**...एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण है, उस प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से (वह आत्मद्रव्य) प्रमेय होता है (ज्ञात होता है)।**' आहा..हा...! संतो की वाणी ! ... दिगंबर मुनियों की तो वाणी (है कोई !) एक-एक अक्षर और एक-एक भाव में गहन भाव भरे हैं, कुछ समझ में आया ?

`श्रीमद्जी' कहते हैं न कि, ज्ञानी के एक वाक्य में अनंत आगम हैं। ऐसा कहा है। एक वाक्य में अनंत आगम (है)। (उसी के) बहुत प्रकार बन जाते हैं... अस्ति-नास्ति, भेद-अभेद आदि बहुत प्रकार बनते हैं।

यहाँ कहते हैं कि, विशेष क्या है ? कि यहाँ जगत के सर्व पुद्गल लिये हैं। शुभ पुद्गल किसी भी समय आये हो उसरूप से मूर्ति की स्थापना की जा सकती है अर्थात् स्थापना के द्वारा मूर्ति स्थापित की जा सकती है। आत्मा की भी (स्थापना की जा सकती है।) यह मूर्ति ऐसा नहीं, मूर्ति की भाँति शब्द है। है न ? `**मूर्तिपने की भाँति**' तो शब्द भी है। सभी पुद्गलों द्वारा इस आत्मा की स्थापना की जा सकती है कि, ऐसा आत्मा सिद्ध का होता है, अरिहंत का ऐसा होता है। कुछ समझ में आया... इस वजह से यह स्थापना है वह नय है और उन नयों का समुदाय (श्रुतप्रमाण है)। सिर्फ नय द्वारा आत्मा जाना जा सकता है ऐसा नहीं। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...!

ये सारे नय एक (ही) समय में होते हैं। किसी के स्थापनानय और किसी के नामनय ऐसा नहीं। ये तो नय (हैं)। एक समय में अनंत नय हैं। और अनंत नयों

का समुदाय श्रुतप्रमाण है। किसी को नामनय से जाना जा सके और किसी को पुद्गल की स्थापनानय से आत्मा ज्ञात हो। इस तरह से भेद नहीं है। एक ही आत्मा को अनंतनयों द्वारा श्रुतप्रमाण के भंग द्वारा जाना जा सकता है। आहा..हा...! इस प्रकार एक यह नय है। ऐसे अनंत नयों का समुदाय बनकर श्रुतप्रमाण होता है। तब उसके द्वारा प्रमेय अर्थात् आत्मा ज्ञात हो सकता (है)। आहा..हा...!

अनंत नयों का तो उसे पता तक नहीं है, साधारण प्राणी को सम्यग्दर्शन की ही (खबर नहीं है)। वस्तु के स्वरूप में अनंत नय गर्भित है। श्रुतप्रमाण द्वारा प्रमेय होने पर प्रमाण में अनंत नय आ जाते हैं। अनंत नय के भेद की उसे खबर नहीं होती। कुछ समझ मे आया ? वह स्थापना(नय), सर्व पुद्गलो का अवलम्बन लेनेवाला। भाषा कैसी करी है ! '**आत्मद्रव्य... सर्व पुद्गलों का अवलम्बन करनेवाला है...**' भाषा ऐसी है, ऐसा (ही) आया है न ? आहा..हा...!

जल्दी से शब्दार्थ करने जाये किन्तु उसका भाव (समझना चाहिए)। शब्द के अर्थ का भाव क्या है ? यह न समझे तो उसे (शब्द के अर्थ की) ही पकड़ रह जाती है। गलत समझ लेता है... आहा..हा...! '**आत्मद्रव्य स्थापनानय से मूर्तिपने की भाँति,...**' मूर्तिपने की भाँति कहा है। आत्मा की स्थापना करनी है तो जिस प्रकार मूर्ति स्थापित होती है उस प्रकार पुद्गल द्वारा (स्थापना की जा सकती है)। - सभी पुद्गलों का अवलम्बन करनेवाला आत्मद्रव्य है। '**सर्व पुद्गलों का अवलम्बन करनेवाला...**' आत्मद्रव्य है। अरे ! आत्मद्रव्य एक भी परमाणु का अवलम्बन करनेवाला नहीं है, परंतु उसका अर्थ फिर ऐसा किया कि सर्व पुद्गलों द्वारा इस आत्मा की स्थापना करके उसे जाना जा सकता है। स्थापनानय द्वारा वह जाना जा सकता है। आहा..हा...! यहाँ तो आत्मा की बात है, मूर्ति की स्थापना तो पुद्गल की चीज है। यह तो पुद्गल की स्थापना द्वारा आत्मा की स्थापना की जा सकती है। कुछ समझ में आया ? सर्व पुद्गलों द्वारा मूर्ति की भाँति ऐसा यहा कहा है। मूर्ति की जा सकती है ऐसा शब्द यहाँ नहीं है। यहाँ तो मूर्ति की भाँति सर्व पुद्गलों द्वारा आत्मा की स्थापना की जा सकती है, ऐसा आया न ! पंडितजी! आत्मा की स्थापना की जा सकती है। (जैसे) मूर्ति की स्थापना की जा सकती है (वैसे) मूर्ति की भाँति - यह तो दृष्टांत दिया, आहा..हा...! सूक्ष्म बात है, बापू ! यह तो वीतराग की वाणी का

तो पेट (रहस्य) मुनियों ने खोल दिया है !!

ओ...हो...हो...! आत्मा जो है, वह रजकण व पुद्गलों द्वारा स्थापित किया जा सकता है, ऐसी बात यहाँ नहीं है। मूर्ति की भाँति - वह तो दृष्टांत दिया कि मूर्ति की भाँति सर्व पुद्गलों द्वारा आत्मा स्थापित किया जा सकता है। मूर्ति द्वारा आत्मा जाना जा सकता है, ऐसा नहीं कहना है। सूक्ष्म बात यह तो ! जिस तरह की शैली है, उस तरह समझना चाहिए न ! मूर्ति द्वारा आत्मा ज्ञात हो सकता है, ऐसा यहाँ कहना नहीं है। यहाँ तो कह रहे हैं कि जिस प्रकार मूर्ति है उस प्रकार सर्व पुद्गलों द्वारा, इस आत्मा को स्थापित किया जा सकता है। सूक्ष्म बात ! बापू ! यह... तो सिद्धांत है, हाँ ! यह आत्मा पुद्गल द्वारा, यह आत्मा ऐसा होता है और, ऐसा होता है। (उसकी) पुद्गल द्वारा मूर्ति बनाई जा सकती है, ऐसी बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो सर्व पुद्गलों द्वारा आत्मा स्थापित किया जा सकता है। अर्थात् इस आत्मा को आकृत किया जा सकता है कि... `यह ऐसा है'। आत्मा ऐसा है, आत्मा ऐसा है। पाँचसौ धनुष का ऐसा है। गरदन तक गोल है। फिर ऐसा है, वैसा है। इस प्रकार (कहा जा सकता है)।

कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! ऐसी बातें हैं। यह ऐसा कहा न कि, मूर्तिपने की भाँति मूर्तिमंत किया जा सकता है। ऐसा यहाँ नहीं है कि पुद्गलों से मूर्ति की रचना कर सकते हैं। ऐसा नहीं है। मूर्ति जिस प्रकार पुद्गल से बनती है उसकी भाँति पुद्गल द्वारा आत्मा स्थापित करके (कहकर) स्थापना की जा सकती है। आहा..हा...! अब अपने आप पढ़े तो (यह) सब पकड़ में (समझ में) आ सके ऐसा नहीं है। सेठ ! (जिस प्रकार) पैसे के मामले में वहाँ ध्यान रखता (है) उस प्रकार इसका (पूरापूरा) ध्यान रखे तो पकड़ में आ सके ऐसा है। `बराबर उसे ज्ञान द्वारा पहचानो'... वह ज्ञान है। वह स्थापनानय से (अर्थात्) सिर्फ नय से पहचान में आ जाय ऐसा नहीं है, ऐसा कह रहे हैं। स्थापनानय से जाना जा सकता है परंतु वह तो एक नय है। ऐसे अनंत नयों का समुदाय, श्रुतज्ञान-उसके द्वारा जाना जा सकता है। ऐसा निर्णय करना। आहा..हा...! और वह जाना जा सकता है।

जो द्रव्य, वह द्रव्य कैसा ? सामान्य द्रव्य जो समकित का विषय (है) जो भूतार्थ (है) वह नहीं। यहाँ तो अपने अनंतगुण व अनंती पर्यायों में विकृत व अविकृत -

उसका धारण करनेवाला जो (आत्मा) वह द्रव्य। (वह आत्मा) पुद्गल की स्थापना द्वारा स्थापित किया जा सकता है। आहा..हा...! ऐसी बात है, बापू ! आकार दिया जा सकता है, (कि) ऐसा आत्मा है। स्थापना अर्थात् ऐसा आकार आत्मा का है, ऐसा आत्मा है, इस प्रकार आकार दिया जा सकता है।

समझने हेतु कहा तो ऐसे ही जा सकता है न ! इसके लिए देखो न, दृष्टांत नहीं दिया? बालपोथी में आया है न ? आकार बनाकर कि, यह आत्मा (ऐसा है)। अब यह तो पुद्गल की पर्याय है। बालपोथी में आता है न ! कुछ समझ में आया ? अर्थात् उस उस शब्दों (द्वारा) वहाँ, उस तरह आत्मा का ऐसा आकार बताया, परंतु यहाँ तो कह रहे हैं कि प्रत्येक शब्द से, सभी पुद्गलों से, भिन्न भिन्न समय में, भिन्न भिन्न पुद्गलों से, उस आत्मा की स्थापना की जा सकती है। आहा..हा...! ऐसी बात है।

स्थापना भी तो एक नय(पूर्वक) है। यह तो एक नय है। ऐसे अनंत नय द्वारा पूजनिक हो सकता है। वह प्रमाण द्वारा पूजनिक व प्रमेय हो सकता है, एक नय द्वारा (या) एक अंश द्वारा नहीं। - नय (तो) एक अंश है, उसके द्वारा ज्ञात हो सकता है ? नहीं। आत्मा श्रुतप्रमाण द्वारा ज्ञात हो सकता है। उस श्रुतप्रमाण के भेदों का वर्णन कर रहे हैं। परंतु उसमें एक-एक नय लेकर पूरा (द्रव्य) ज्ञात हो सकता है, ऐसा नहीं है। क्योंकि वह तो अनंतगुण व अनंतपर्याय का धारक एक द्रव्य है। आहा..हा...! एक-एक नय से किस प्रकार जान सकते हैं ? आहा..हा...!

पूरे द्रव्य के अंदर एक पहलू हुआ तो अन्य पहलू रह गये, पूरा द्रव्य नहीं (आया), ज्ञात हुआ। एक नय से ऐसा ज्ञात हुआ कि यह स्थापना के बराबर, परंतु उसमें पूरा आत्मा जो अनंत गुण व अनंत पर्यायवाला जो एक द्रव्य (है) वह उसमें नहीं आया। सूक्ष्म बहुत बापू !

आहा..हा...! दिगंबर संतों ने गजब काम किया है। ४७ शक्तियाँ; और ४७ नय; और आहा..हा...! यह बात कहीं भी नहीं है। श्वेतांबर संप्रदाय में उसकी गंध (भी) नहीं है। एक व्यक्ति, शक्तियों का वर्णन करने गया... परंतु ४७ की ८ करी। परंतु वह बिना मेल की, शरूआत ही अलग। यहाँ तो जीवत्वशक्ति से (बात) उठाई है। उसने तो कुछ दूसरी जगह से उठाया है। पढ़ी है, आया था पत्रिका में। यह

तो बापू ! सम्यक्दृष्टि-भावलिंगी (संत) स्वसंवेदन से प्रचुर वेदन की दशा में रहे हुए !! आहा..हा...! उनको विकल्प उठा। (और) वाणी वाणी से हुई। विकल्प से वाणी हुई नहीं है, तो विकल्पनय से कर्ता नहीं है। कर्तृत्वबुद्धि से भी (कर्ता नहीं है)। परिणमन की अपेक्षा से विकल्प का, नय की अपेक्षा से परिणमन का कर्ता उसमें है। आहा..हा...! कितने पहलू बन जाते हैं उसमें !

यहाँ तो एक-एक न्याय में भिन्न भिन्न वस्तु है। आहा..हा...! उसे यहाँ परमात्मा कह रहे हैं - वे संत कह रहे हैं, कि स्थापनानय से... आहा..हा...! अभी तो कौनसा (नय) है। १३वाँ (है)। मूर्तिपने की भाँति - वह तो दृष्टांत है। पुद्गल द्वारा मूर्ति स्थापित की जा सकती है, ऐसा यहाँ कहना नहीं है कि मूर्ति पुद्गल द्वारा स्थापित की जा सकती है। समझ में आया ? यहाँ तो जैसे मूर्ति पुद्गल द्वारा स्थापित की जा सकती है वैसे, उसकी भाँति आत्मा को पुद्गल द्वारा स्थापित किया जा सकता है। आत्मा को स्थापित किया जा सकता है, ऐसा कहना है। समझ में आया कुछ ! यह १३ (वाँ नय) हुआ।

`**(अर्थात् स्थापनानय से आत्मद्रव्य की पौद्गलिक स्थापना की जा सकती है, मूर्ति की भाँति)।**' यह १३(वाँ) हुआ।

(अब) १४(वाँ नय) प्रत्येक में बहुत गंभीर भाव है। अब चौदहवें में भी क्या है ? एक भव के आश्रय से (उस तरह) बात लेंगे। भाई ! क्या कहा वह ? दो भव के (बाद) तीर्थंकर होनेवाले हैं, और दो भव पहले हो गये। - यह बात यहाँ नहीं ले रहे। यह तो एक भव में... ध्यान रखो ! `**आत्मद्रव्य द्रव्यनय से...**' है ? आत्मद्रव्य द्रव्यनय से अर्थात् आत्मद्रव्य जो है, उसके नय से ऐसा नहीं। परंतु अब `**आत्मद्रव्य द्रव्यनय से...**' एक द्रव्यनय पहले भी आ चुका। दूसरा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में एक द्रव्यनय आ गया। अस्ति-नास्ति में। यह तीसरी बार द्रव्यनय आया। परंतु तीनों का अर्थ भिन्न है।

आहा..हा...! आत्मद्रव्य तो वह कि जो अनंतगुण और अनंतीपर्याय का यह स्वामी, वह आत्मद्रव्य। वह आत्मद्रव्य, अब उसे एक भाग से (एक अंश से) (ऐसा कह रहे हैं) `**आत्मद्रव्य द्रव्यनय से बालक सेठ की भाँति...**' देखो ! यह तो वही का वही भव लिया। यह बालक सेठ है, ऐसा कहना यह तो भविष्यकाल की अपेक्षा वर्तमानभाव

(कहा), परंतु इसी के इसी भव की बात ली है। भाई ! क्या कहा ? कुछ समझ में आया ? इतना लिया बस। (कि) यह बालक सेठ है, - ऐसा कहा। वह भविष्य में सेठ होनेवाला है, उसे वर्तमान बताना। परंतु यही के यही भव की बात है। दो-तीन भव में जो होनेवाली, - वह बात यहाँ नहीं ली। यहाँ तो बालक सेठ है। - ऐसा कहना है। वह सेठ होनेवाला है न ! अतः उसी भव आरोप करके, उसे सेठ कहा। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...!

'**और श्रमण राजा की भाँति,...**' है ? (यह) साधु है वह (पहले) यह राजा थे। यह साधु है... वे राजा थे। परंतु इसी के इसी भव की बात है। साधु होते हैं न ! कि भाई ! ये तो राजा थे - वे साधु हुए हैं। अब भूतकाल की बात को वर्तमान में कहना। सेठ (की) भविष्य के काल की बात वर्तमान बालक में कहना, और भूतकाल की राजा की बात वर्तमान श्रमण में कहना कि, यह साधु राजा थे। यह बालक सेठ बनेगा। बालक सेठ है। बनेगा ऐसा भी नहीं। यह बालक सेठ है। उसी प्रकार यह साधु राजा है।

ये तो वीतराग की बातें - कथा ! बापू ! सूक्ष्म बहुत ! सुनने के लिए मिलनी भी मुश्किल पड़े ऐसी ये बाते हैं। जिस अभिप्राय से व जिस अपेक्षा से कहा, उसी अपेक्षा से जानना चाहिए। आत्मवस्तु, वह कौनसी वस्तु ? द्रव्य माने पूरी चीज ऐसा नहीं। द्रव्य माने गुण-पर्याय का पिंड जो द्रव्य-गुण-पर्यायवत् द्रव्यम् (और) इस पर्याय में तो विकारी और अविकारी सभी पर्यायें आती हैं। ऐसी पर्यायें एवं गुण, उसका धारक एक द्रव्य - उसे यहाँ द्रव्य बताया है।

ऐसा जो आत्मद्रव्य द्रव्यनय से (अनागत और अतीत पर्याय से प्रतिभासित होता है)। अर्थात् वह जो आत्मद्रव्य है उसे द्रव्यनय से, उसके नय से ऐसा नहीं परंतु इस आत्मद्रव्य है, वह द्रव्यनय से ऐसा नहीं। परंतु इस आत्मद्रव्य को एक द्रव्यनय से अर्थात् दूसरा नय एक ऐसा है कि जो पूरे द्रव्य को पहचाने ऐसा नहीं। परंतु वह आत्मद्रव्य है, उसे बालक को वर्तमान (में) सेठ कहना और साधु को राजा कहना, वर्तमान तीर्थंकर भगवान होनेवाले हैं, उन्हें बालकरूप से यह तीर्थंकर का जन्म हुआ ऐसा कहना वह भविष्य का वर्तमान (ऊपर) आरोप है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! और बालक का जन्म हुआ और ऐसे कहना कि सेठ का जन्म हुआ। वह भविष्य

में सेठ होनेवाला है उसकी यहाँ पहचान कराई है। एक तरह से, यह तो सेठ का अवतार, राजा का अवतार, राजकुमार का अवतार हुआ। राजकुमार का नहीं राजा का हुआ ऐसा कहते हैं। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...!

द्रव्यनय से अर्थात् भविष्य व भूतकाल की पहचान करानेवाले नय से - ऐसा। द्रव्यनय माने यह। आत्मद्रव्य - द्रव्य के नय से ऐसा नहीं (लेना), परंतु आत्मद्रव्य भूत व भविष्यकाल की पहचान कराये ऐसे द्रव्यनय से, आहा..हा...! है ? बालक, सेठ की भाँति। बालक सेठ है। भाई! वह तो भाई सेठ है। उसी भव में वह भविष्य में सेठ होनेवाला है। अतः बालक को सेठ कहा। ऐसा एक द्रव्यनय है। बालक में सेठ होने की योग्यता है। वह भी एक नय है। कुछ समझ में आया ? इसी एक ही नय से आत्मद्रव्य पहचाना जाय, ऐसा नहीं है। ऐसे तो अनंत नयों का समुदाय (जो) श्रुतज्ञान प्रमाण (उसके) द्वारा प्रमेय हो सकता है।

यह तो श्रुतप्रमाण के भेदों का वर्णन कर रहे हैं। कुछ समझ में आया ! जाना तो जा सकता है श्रुतप्रमाण द्वारा। भावश्रुत, हाँ ! द्रव्यश्रुत नहीं । भावश्रुत द्वारा वह प्रमेय हो सकता है, परंतु भावश्रुत के भेद (अर्थात्) नय कितने हैं ? कि अनंत हैं। उसी प्रकार का यहाँ वर्णन कर रहे हैं। अतः इस द्रव्यनय से द्रव्य को पहिचाना जा सकता है। द्रव्यनय से - इस नय से बालक को सेठ कहना - ऐसा। आहा..हा...! समकित है और इसी भव में केवलज्ञान प्राप्त करनेवाले हैं, उन्हें 'ये केवलज्ञानी हैं' ऐसा कहना... (वह) (वर्तमान में) भविष्य का आरोप है। कुछ समझ में आया...!

शास्त्र में आता है। जो मनुष्य देव होनेवाला हो न उसे भविद्र देव कहा जाता है। क्या कहा यह ? वह मनुष्य द्रव्य से ऐसा (भविद्र) भी कहा जाता है। वह तो भविष्य के भव और इस भव की अपेक्षा से बात की, वह यह अपेक्षा नहीं है। यहाँ क्या कहा ? एक भव में दूसरे भव का आरोप करके यह भविद्र देव है। वर्तमान के बाद मनुष्य पशु होनेवाला है, तो भविद्र तिर्यंच ऐसा कहा जाता है। वर्तमान के बाद नरक में जानेवाला है तो उसे भविद्र नारकी कहा जाता है। यहाँ यह बात नहीं है। यहाँ तो एक ही भव की अपेक्षा से बात है। आहा..हा...! शास्त्र में बहुत सारे प्रकार आते हैं। बहुत आते हैं। आहा..हा...! 'जहाँ जहाँ जो जो योग्य है, वहाँ वहाँ वह समझना बापू !' यह तो वस्तु (है) वीतराग मार्ग की महा ! महा ! विशालता।

(यहाँ) एक ही भव में लागू होता है (उसकी बात है)। दृष्टांत तो बालक और उसका (मुनि का दिया)। बालक को सेठ कहा, मुनि को राजा कहा - वह तो दृष्टांत है। उस प्रकार आत्मा की भविष्य की दशा को वर्तमान कहना (है) और वर्तमान दशा को भविष्य की कहना (है)। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! ऐसी वस्तु है बापू यह तो ! है ? आत्मद्रव्य अर्थात् अनंतगुण व अनंती पर्यायों का अधिष्ठाता स्वामी, - ऐसा जो आत्मद्रव्य। उसे एक द्रव्यनय से, अर्थात् एक आत्मद्रव्य को पहचानना ऐसा नहीं। `**आत्मद्रव्य द्रव्यनय से बालक सेठ की भाँति और श्रमण राजा की भाँति अनागत और अतीत पर्याय से प्रतिभासित होता है।**' अनागत (माने) वह सेठ है, वह अनागत (अर्थात्) होनेवाला (है) और बालक में सेठ कहना है न ? और अतीत पर्याय में साधु है उन्हें राजा कहना, वह अतीत पर्याय से बात (की) है; और बालक को सेठ कहना वह भविष्य की पर्याय की बात है। आहा..हा...!

यहाँ तो एक भवपर्यंत की बात ली है। तीर्थंकर का जन्म हुआ, ऐसा कहा जाता है न ! वास्तव में तो तीर्थंकर की प्रकृति का उदय तो तेरहवें (गुणस्थान में) आयेगा। (इससे) पहले तीर्थंकर की प्रकृति का उदय है ही नहीं। परंतु तीर्थंकर का जन्म हुआ, जन्म होने पर लोगों में आश्चर्य हुआ। नारकी को भी क्षणभर के लिए शाता हुई। तीर्थंकर का जन्म हुआ। तीर्थंकर तो तेरहवें (गुणस्थान में) होंगे, परंतु इस बात को वर्तमान में कहना, यह भी एक नय (है) (वह) द्रव्य का विषय है। कुछ समझ में आया ?

`**आत्मद्रव्य द्रव्यनय से...**' देखो ! भावी है न ! भावी अर्थात् अनागत और भूत अर्थात् अतीत। अनागत व अतीत ऐसी `**भावी और भूत पर्यायरूप से ख्याल में आता है,...**' आहा..हा...! ... बालक सेठ की भाँति ख्याल में आये, और साधु राजा के रूप में ख्याल में आता है। ऐसा एक नय है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? बालक को सेठ कहा वह भावी और साधु को राजा कहा वह भूतकाल की अपेक्षा से `**आत्मा द्रव्यनय से भावी और भूत पर्यायरूप से ख्याल में आता है, जैसे कि बालक सेठपने स्वरूप भावी पर्यायरूप से ख्याल में आता है...**' देखा ! `**बालक सेठपने स्वरूप भावी पर्यायरूप से ख्याल में आता है।**' यह तो राजा है, बापू ! राजा तो अभी बाद में होगा। कुछ समझ में आया ? राजकुमार नहीं, राजा का जन्म हुआ,

ऐसा कहते हैं। यह भविष्य की पर्याय की अपेक्षा से नय का एक कथन है। नय ज्ञान का एक अंश है। आहा..हा...! भावी व भूत, भावी माने अनागत, और भूत माने अतीत - दो पर्यायोंरूप - अनागत व अतीत की पर्याय अपेक्षा ख्याल में आता है। '**जैसे कि बालक सेठपने स्वरूप भावी पर्यायरूप से ख्याल में आता है और मुनि राजा स्वरूप भूत पर्यायरूप से ख्याल आता है।**' वैसे, है ? लो ! यह चौदहवाँ नय हुआ, आहा..हा...!

अब भाव नय (वह) जरा सूक्ष्म आयेगा। भावनय माने ? त्रिकाली भाव है उसे पहचाननेवाला नय, ऐसा नहीं। भावनय से जो द्रव्य का भाव है, स्वभाव जो वर्तमान पर्याय में प्रगट हुआ उसे यहाँ भावनय कहा जाता है। जो द्रव्य है - वस्तु - अनंत शक्ति का पिंड प्रभु ! वह उल्लसित होकर निर्मल पर्याय में भाव में आया है। उसे भावनय कहा जाता है। त्रिकाली गुण को व द्रव्य को (भावनय कहते हैं), ऐसा नहीं। कुछ समझ में आया ? आत्मद्रव्य माने यहाँ (अनंत) गुण व अनंती पर्याय का अधिष्ठाता, ऐसा आत्मद्रव्य लेना। प्रथम शब्द में भावनय से - वर्तमान पर्याय की प्रगटता व्यक्तता के नय से (कहा)। आहा..हा...! ऐसा कहा (मिलेगा) ? लोगों को धंधों के मारे फुर्सत नहीं मिलती ! और पढ़ ले तो अंदर से आत्मा समझे नहीं, आहा..हा...!

'श्रीमद्जी' कहते हैं न ! जिनवाणी में नहीं कहते ? आहा..हा...! मोक्षमाला में अंतिम शब्द हैं। क्या यह वीतराग की वाणी ? वह क्या कहा ?! क्या उनकी शैली !! सफेद ऐसी भाषा है... सफेद झाग की माफिक ऐसी भगवान की वाणी है। मोक्षमाला में अंत में सोलहवें साल में कहा है। बहुत शक्ति थी न ! उनकी तो ! छोटी उम्र में बहुत क्षयोपशम लेकर आये थे। आहा..हा...!

'**आत्मद्रव्य भावनय से, पुरुष के समान प्रवर्तमान स्त्री की भाँति, तत्काल (वर्तमान) की पर्यायरूप से उल्लसित - प्रकाशित - प्रतिभासित होता है।**' संतों-मुनियों को कुछ (पड़ी नहीं है)। जिस प्रकार पुरुष है वह स्त्री का भोग करता है, तो वह पुरुष ऊपर व स्त्री नीचे (होती है)। यहाँ तो, पुरुष नीचे और स्त्री ऊपर। क्या कहते हैं ? देखो ! '**पुरुष के समान प्रवर्तमान स्त्री की भाँति...**' आहा..हा...! भाव लेना है न ! द्रव्य जो है वह पूरा उल्लसित होकर इस प्रकार पर्याय के साथ (परिणमन करता) है। इस प्रकार पुरुष की भाँति स्त्री जब विषय देखे तब पुरुष नीचे और स्त्री ऊपर ऐसी शैली

है। संतों को कहाँ राग है ? उन्हें तो वीतरागता पूर्वक बात करनी है न ! कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! उस प्रकार द्रव्य उल्लसित होकर पर्याय में आया है। द्रव्य माने भाव। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

वीतरागी संत हैं ! 'सम्यक्ज्ञान दीपिका' में वह बोल है न ! किसी ने उसकी आलोचना की है। पंडितजी ! वहाँ तो उसका दृष्टांत लिया है। और वह सोनगढवालों का है। उसने ऐसा कहा। अरे प्रभु ! भाई ! तू क्या कर रहा है ? यहाँ से भावनगर से छपा (है)। ये रहे छापनेवाले, सेठ हीरालाल... हीरालाल द्वारा छपवाया गया है। अब वे लोग कहते हैं कि यह सोनगढवालों का है, सोनगढ का है !

श्रोता :- हीरालाल माने सोनगढ।

पूज्य गुरूदेवश्री :- हीरालाल ने छपवाया वह सोनगढ ने छपवाया ऐसा भले कहे, उसमें कोई परेशानी नहीं है। परंतु ये सोनगढवालों ने छपवाया इसलिए यह सारा कथन उनका है। वहाँ तो इस प्रकार से बात ली है कि जैसे स्त्री के सिर पर पति होवे, और किसी (अन्य) पुरूष से गर्भवती हो जाय तो भी (बात समाज में) बाहर नहीं आती है, उसका दोष बाहर प्रगट नहीं होता है। क्योंकि सिरपर पति है। इसका आशय (यह है) कि जिसके सिर पर ज्ञायक स्वरूप है, भगवान बिराजमान हैं; उसकी पर्याय में कोई रागादि आये तो वह दोष उसका बाहर नहीं आता है। - इतना सिद्ध करना है। उसकी जगह वे लोग (ऐसा कहते हैं कि) ये (सोनगढवाले) व्यभिचार की स्थापना करते हैं ! अरे प्रभु ! क्या कर रहा है, तू भाई ? चलता है... क्या करें ?! उसे उस तरह समझ में आया इसलिए ऐसा करता है।

वह तो धर्मदास क्षुल्लक का कथन है। एक व्यक्ति ने कहा है कि (सिर्फ) विरोध करना है इसलिए विरोध करते हैं; समझ में नहीं आया है, इसलिए विरोध कर रहे हैं - ऐसा नहीं। विरोध (करना है) इसलिए विरोध कर रहे हैं। ऐसा लिखा है। अरे प्रभु ! क्यों ऐसा करना भाई ! बापू ! ऐसा समय मिला हो उसमें उलटी सीधी हरकतें करके सब विपरीतता करके (कुटिलता करके) (यह) करना। इन बातों का कहीं कोई मेल मिल सकता है ? आहा..हा...! वह तो धर्मदास ऐसा कहना चाहते हैं। वह 'सम्यक्ज्ञानदीपिका' में तो ७८ की साल में पढ़ा है। कितने साल हुए ? ५६ वर्ष पूर्वे बोटाद में प्रवचन बंद कर दिये थे, सुबह बाहर नदी में दिशा के लिए

(शौच के लिए) जाते थे, जल्दी सुबह तब वहीं पर ही पढ़ने के लिए बैठ जाते थे। दस बजे आहार लेने के समय गाँव में आते थे। ७८ की साल में 'सम्यक्ज्ञानदीपिका' (पुस्तक) नदी में पढ़ी है। नदी सूखी थी, - रेत (बिना पानी की थी)।

'सम्यक्ज्ञानदीपिका' ! भारी चीज ! कहा कि भाई ! अब तो सोनगढ के नाम से आरोप लगाकर (कहते हैं) कि, ये सोनगढवाले ऐसा कह रहे हैं कि, परस्त्री का भोग करे तो भी दोष नहीं है। भाई ! ऐसा नहीं है, बापू ! दोष तो दोष है। स्वस्त्री का विषय ले यह दोष है। तो परस्त्री के दोष की तो बात ही क्या कहनी ? यह तो वहाँ दूसरी अपेक्षा है। वह (गर्भ रहने की) बात बाहर नहीं आती, क्योंकि पति सर पर है। अतः उस पति का गर्भ है। ऐसी बात (समाज में) बाहर आती है। बदनाम नहीं होती, उतनी बात है वहाँ, इतना कहना है। बाकी दोष नहीं है, ऐसा है ? ऐसी बात है। अभी बाहर प्रकाशित की बात तो भी वे लिख रहे हैं। अभी वे लिखापढ़ी कर (ही) रहे हैं। उन्हें (दिमाग में जैसा) बैठा हो वैसा कहे न !

कुछ तो बेचारे विरोध (करने के लिए) विरोध करते हैं। अपनी अधिकता (श्रेष्ठता) बताने के लिए। प्रभु ! वह कोई अधिकता ऐसे नहीं बन जाती भाई !

श्रोता :- स्पष्टीकरण से सामान्य जनता ठीक हो जाती है।

पूज्य गुरूदेवश्री :- ठीक है।

यहाँ कहते हैं। आहा..हा...! '**आत्मद्रव्य भावनय से पुरूष के समान प्रवर्तमान स्त्री (की भाँति तत्काल प्रतिभासीत होता है।)**' यहाँ तो उसने दृष्टांत दिया है कि... ऐसी बातें संतों क्यों कहते हैं ? कि संसार में ऐसा ही होता है। '**पुरुष के समान प्रवर्तमान स्त्री की भाँति, तत्काल (वर्तमान) की पर्यायरूप से उल्लसित-प्रकाशित-प्रतिभासित होता है।**' यहाँ सिद्ध यह करना है कि, द्रव्य सिद्ध होकर तत्काल वर्तमान पर्याय में प्रगट-प्रकाशित होता है। आहा..हा...कुछ समझ में आया? भाषा चाहे जो हो, उसमें राग का क्या काम है ? विकथा (नहीं है) कोई, भाषा से विकथा नहीं है। उसमें राग की मिलावट करे तो विकथा कही जाती है। कुछ समझ में आया ? नहीं तो संत सारी बातें करते हैं। अनेक प्रकार की बात करे परंतु इसमें राग मिलाये तो उस कथा को विकथा कही जाती है। राग न मिलाये तो धर्मकथा कही जाती है। आहा..हा...! शब्द तो वही के वही है। कुछ समझ में आया ?

पुरुष के समान प्रवर्तमान स्त्री की भाँति (प्रतिभासित होता है)। संत वीतरागी मुनि है। वह तो एक भावनय सिद्ध करना है। वह भावनय माने द्रव्य में जो शक्ति है वह पर्याय में इस प्रकार आ जाती है। जिस प्रकार पुरुष में शक्ति नीचे रहने की है। और स्त्री के... उस प्रकार वह स्त्री ऊपर आती है। इतना भाव लेना है। यहाँ... कुछ समझ में आया ? संतों को पूरे जगत की, दुनिया की खबर है। पूरी दुनिया किस प्रकार है ? और कौनसी बात ? वह सब उनके ज्ञान में है। पडितजी ! आहा..हा...! बात यह है कि अंदर द्रव्य जो शक्तिवाला है... वह प्रगट होकर उल्लसित होकर पर्याय में आया। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! वह पर्याय में परमात्मा हुआ। वह भावनय (हुआ), शक्तिरूप से तो परमात्मा था। कुछ समझ में आया ?

वह शक्तिरूप से था - सामान्यरूप से था - वह विशेषरूप में आ गया। उस प्रकार पुरुष की भाँति स्त्री ऊपर करके जो विषय देती है। ऐसा दृष्टांत एक लिया है। कुछ समझ में आया! आहा..हा...! आनंद का नाथ परमात्मा, उसका सुख जिसने अंतर में जाना है। चाहे जो उदाहरण हो, उनके लिए तो, वहाँ पर में कुछ राग हो जाय, और सुखबुद्धि हो जाय, ऐसा कुछ है नहीं। हा, आहा..हा...! वाणी है - उसे जानने में राग कहाँ है ? वह तो वाणी की रचना है। जिस प्रकार निंदा-स्तुति पुद्गल है, वे आत्मा को कोई राग कराते नहीं है, वे तो पुद्गल की पर्याय है। ज्ञानी इस प्रकार जानता है। वे तो पुद्गल की पर्यायें हैं। निंदा-प्रशंसा मेरी नहीं है। वे तो पुद्गल की पर्यायें हैं। जानने लायक हैं। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ! उस प्रकार 'तत्काल की' वजन यहाँ है। भावनय में सिद्ध करना है न ! और पुरुष के समान प्रवर्तमान स्त्री की भाँति... यह तो दृष्टांत है।

जिस प्रकार उसमें (स्थापनानय में) दृष्टांत था न ! मूर्ति का दृष्टांत। कि मूर्ति की भाँति था न ? उस प्रकार यह एक दृष्टांत है... परंतु उसके अर्थ का भाव क्या है ? यह कहेंगे। '**तत्काल (वर्तमान) की पर्यायरूप से उल्लसित-प्रकाशित-प्रतिभासित होता है।**' आहा..हा...! पलटी मारकर अंदर जो द्रव्य में भाव पड़ा है वह पर्यायभाव में उल्लसित हो उठा है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और केवलज्ञान आदि भावपर्याय भावनय से तत्काल वर्तमान में उल्लसित वीर्य से प्रगट दशा हुई है। आहा..हा...! पर्याय ऊपर आयी है। ऐसा कह रहे हैं। जिस प्रकार

उस पुरुष के ऊपर स्त्री आयी है, उस प्रकार यहाँ भगवान आत्मा ! द्रव्यस्वरूप भगवान अनंत शक्ति का पिंड प्रभु ! उसकी पर्याय बाहर उल्लसित होकर - बाहर व्यवहार पर्याय में आया है। ऊपर पर्याय आयी है।

भाषा कैसी है ? देखा ! (आत्मद्रव्य) तत्काल-वर्तमान पर्याय की भाँति तत्काल वर्तमान पर्यायरूप भावनय से वर्तमान पर्यायरूप परिणमित हुआ है। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं। (पर्यायरूप) उल्लसित हुआ है, शक्तिरूप जो था (वह)। अनंतआनंद और अनंतज्ञान शक्तिरूप था। अब वह श्रद्धा-सम्यक्दर्शन की पर्याय हुई, श्रद्धा शक्तिरूप थी वह पर्याय में उल्लसित हुई - भाव में पर्याय आयी। आहा..हा...! अतः उसे ऊपर आयी, ऐसा कहा। अंदर थी वह ऊपर आयी। कुछ समझ में आया !

प्राप्त की प्राप्ति है। उसमें से उल्लसित होकर पर्याय आयी। `**तत्काल (वर्तमान) पर्यायरूप से उल्लसित-प्रकाशित-प्रतिभासित होता है।**' तीन शब्दों का प्रयोग किया। वर्तमान पर्यायरूप उल्लसित होता है, वर्तमान पर्यायरूप प्रकाशित होता है, वर्तमान पर्यायरूप प्रतिभासित होता है। यह ऊपर कहा। `(**अर्थात् आत्मा भावनय से वर्तमान पर्यायरूप से प्रकाशित होता है, जैसे कि पुरुष के समान प्रवर्तमान स्त्री पुरुषत्वरूपपर्यायरूप से प्रतिभासित होती है।**' उस प्रकार। स्त्री पुरुष का वेष पहनती है न ! सब पुरुष जैसा ही लगता है। करधोनी न रखे और फिर सब पुरुष जैसा (ही) लगे। और वह... यानी स्त्री की जगह पुरुष को दे। उस प्रकार भगवान आत्मा अनंत शक्ति से भरा भगवान ! शक्ति से वर्तमान पर्याय में तत्काल बाहर आकर प्रकाशित होता है - उल्लसित होता है। भावनय का कथन है। वह भी एक नय है। एक ही नय है। एक नय से भाव ज्ञात होता है, ऐसा नहीं। वह... यह तो भाव ज्ञात होता है, एक नय से वस्तु है - गुण व द्रव्य सभी का एक पिंड है। उसका भाव, वह एक नय से ज्ञात नहीं होता। यह तो वर्तमान पर्याय प्रगट है। वह एक नय से ज्ञात होती है। उसके लिए वह दृष्टांत दिया है। विशेष कहेंगे...



आत्मद्रव्य सामान्यनय से, हार-माला-कंठी के डोरे की भाँति, व्यापक है, (अर्थात् आत्मा सामान्यनय से सर्व पर्यायों में व्याप्त रहता है, जैसे मोती की माला का डोरा सारे मोतियों में व्याप्त होता है)। १६।

आत्मद्रव्य विशेषनय से, उसके एक मोती की भाँति, अव्यापक है (अर्थात् आत्मा विशेषनय से अव्यापक है, जैसे पूर्वोक्त माला का एक मोती सारी माला में अव्यापक है)। १७।



पन्द्रह (नय) चले हैं। (अब) सोलहवाँ नय है। जरा सूक्ष्म है। यह टीका क्या है ? शिष्य का ऐसा प्रश्न था कि, यह आत्मा है कौन ? और आत्मा कैसा है ? और किस प्रकार प्राप्त हो ? ऐसे दो प्रश्न थे। उनके ये उत्तर हैं। परंतु इनके उत्तर से पहले सामान्य उत्तर - मूलभूत उत्तर दे दिया, क्या ? कि यह... आत्मा है उसमें अनंतगुण हैं। ज्ञान-दर्शन-चारित्र-आनंद आदि। और उसकी पर्याय में अनंतगुण की अवस्था है। उनमें पर्यायें कुछेक विकृत हैं और कुछेक अविकृत - निर्मल हैं। परंतु उन पर्याय व गुण का अधिष्ठाता - आधार आत्मद्रव्य है।

यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है न...! सम्यग्दर्शनप्रधान कथन जहाँ होता है वहाँ तो आत्मा भूतार्थ त्रिकाली जो ध्रुववस्तु है, वह सम्यग्दर्शन का विषय है। सम्यग्दर्शन (है) वह पर्याय है। परंतु उसका विषय है, वह त्रिकाली ध्रुव है। समझ में आया ? और ध्रुव त्रिकाली-नित्य-ध्रुव आनंदकंद प्रभु - शुद्ध चैदन्यघन, उसका आश्रय लेने से सम्यग्दर्शन होता है, धर्म की प्रथम शुरूआत वहाँ होती है। ऐसी बात है। ऐसा दर्शनप्रधान कथन

में आता है।

यहाँ ज्ञानप्रधान कथन में ऐसा आया कि, दर्शन के साथ जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान श्रुतज्ञान - श्रुतज्ञान माने अंतर के अनंतगुण व धर्म, (सभी को जाननेवाला)। धर्म माने धारण की हुई चीज। वस्तु है उसमें ज्ञान-दर्शन और आनंद (आदि) धर्म (हैं)। धर्म माने धारण करके रखा हुआ, धर्मी ने धारण करके रखा हुआ भाव। आहा..हा...! सूक्ष्म बात है।

आत्मा वस्तु है - धर्मी (है), उसने ज्ञान-दर्शन आदि अनंत गुणों को धारण करके रखा है, अतः उसका नाम धर्मी कहा जाता है। यह मोक्ष(मार्गरूप) धर्म - सम्यग्दर्शन-ज्ञान उसका नाम धर्म (ऐसा) नहीं है। अंदर वस्तु का जो स्वभाव त्रिकाल है उसे धर्म कहते हैं। और उसकी पर्याय में सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि निर्मल पर्याय होती है और उसके साथ जरा रागद्वेष की विकृत पर्याय भी होती है उन सभी पर्यायों को, गुणों को धारण करनेवाला (उसे) धर्मी (कहते हैं), आहा..हा...! ऐसी बातें हैं।

वे सभी पर्यायें, अवस्थाएँ और गुण-शक्ति उसे यहाँ धर्म कहते हैं। धर्म माने आत्मा (अर्थात्) धर्मी ने धारण करके रखे हुए भाव को धर्म कहा जाता है। धर्म जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान व चारित्र (यहाँ) - ये धर्म नहीं हैं। ये तो एक समय की पर्याय हैं। आहा..हा...!

और उस समय पूर्ण वीतराग नहीं है इसलिए रागादि भाव धर्मी के भी आते हैं। पर्याय में तो उस राग को और धर्म की पर्याय को और त्रिकाली धर्म को - गुण को वह धारण करता है, वह धारक - धर्मी अर्थात् एक(रूप) द्रव्य उसे कहा जाता है। भाई ! वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। वह धर्मी कैसा ? उसका उत्तर यह दिया।

आत्मा कौन है ? और कैसा है ? कि अनंतगुण व अनंत पर्यायरूपी धर्म माने उसकी अवस्था (और) गुण, उनको धारण करनेवाला धर्मी - वह धर्मी ऐसा आत्मा है। अब प्राप्त कैसे हो ? वह प्राप्त कैसे हो ? उसके उत्तर में ऐसा कहा कि जो अनंत धर्म जो गुण हैं व अनंती पर्यायें हैं। नय माने ज्ञान का अंश; एक-एक अंश, एक-एक गुण और एक-एक पर्याय को जानता है। ऐसे अनंत नय हैं। क्योंकि अनंत नय हैं और अनंत पर्यायें हैं। अतः एक-एक गुण को व एक-एक पर्याय को जाननेवाला

नय है। ऐसे अनंत नय हैं। ऐसे अनंत नयों का समुदाय भावश्रुतज्ञान है। ऐसी बातें हैं।

अनंत नयों का समुदाय, भावश्रुतज्ञान, ये पृष्ठ नहीं। अंदर में ज्ञान की दशा द्वारा जो ज्ञान भावज्ञान - श्रुतज्ञान, उसके द्वारा यह आत्मा जो धर्मी (अर्थात्) धर्म-गुण व पर्याय का धारण करनेवाला (आत्मा) श्रुतज्ञान द्वारा प्रमेय होता है। वह श्रुतज्ञान द्वारा प्रमेय अर्थात् ज्ञात होता है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? वह श्रुतज्ञान जो है, भाव, भावश्रुतज्ञान, हाँ ! ये पृष्ठ नहीं। अंदर में उसका ज्ञान होता है; मतिज्ञान होता है अंदर, परंतु उसका भेद नय नहीं है। अवधिज्ञान होता है, परंतु उसका भेद नय नहीं है। मनःपर्यय का भेद भी नय नहीं है। और केवलज्ञान में तो नय है ही नहीं।

वह श्रुतज्ञान - भावश्रुतज्ञान जो अनंत नय का सामान्य एकरूप, ऐसा जो भावश्रुतज्ञान - निर्मल पर्याय उसके द्वारा आत्मा, - अंदर में प्रमेय माने प्रमाण से प्रमेय हो सकता है। श्रुतज्ञानरूपी प्रमाण द्वारा प्रमेय पूरा द्रव्य - उसके गुण और उसकी पर्यायें, ऐसा एक द्रव्य प्रमाणज्ञान द्वारा प्रमेय अर्थात् ज्ञात होता है। ऐसी बातें हैं। सूक्ष्म बातें हैं, बापू ! आहा..हा...!

लोगों में तो - बाहर से संप्रदाय में तो ये माथापच्ची, व्रत करो और उपवास करो और भक्ति करो और यात्रा करो। वे सब तो राग की क्रियाएँ हैं। वह राग की क्रिया भी जब सम्यक्ज्ञानी के होती है तब वह राग और राग का ज्ञान और राग के समय जो आत्मा की सम्यग्दर्शन-ज्ञान की पर्याय, सभी धर्मो को जाननेवाला श्रुतज्ञान, वह पूरे आत्मा को जान सकता है। आहा..हा...! अज्ञानी के यात्रा के भाव को जाननेवाला श्रुतज्ञान नहीं है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! वह राग आता है, धर्मी को (राग) आता है, दया-दान-भक्ति-पूजा परंतु उस विकारी अवस्था को, और अविकारी, उस समय, धर्म की अवस्था को धारण करनेवाला, उस वस्तु को जाननेवाला भावश्रुतज्ञान - सम्यक्ज्ञान जो स्वसन्मुख होकर ज्ञान हुआ, उसे भावश्रुतज्ञान कहा जाता है।

लोजिक (न्याय) सूक्ष्म बहुत, बापू ! न्याय बहुत सूक्ष्म, कुछ समझ में आया ! उस भावश्रुतज्ञान द्वारा आत्मा ज्ञात हो सकता है। उस भावश्रुतरूप प्रमाण के भेदों

को नय कहते हैं। भावश्रुत सामान्य अवयवी है। तव एक-एक धर्म को जाननेवाला नय उसका अवयव है। भाषा तो सादी है। परंतु भाव तो जो है सो है। आहा..हा...! इस प्रकार यहाँ पन्द्रह (नय) तक आया है।

आहा..हा...! सोलहवाँ, आत्मद्रव्य... यह नय की व्याख्या है। यह तो धैर्यपूर्वक समझने की बात है। सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ तीर्थंकर परमात्मा को सर्वज्ञपना हुआ, वह कैसे हुआ ? यहाँ तो ऐसा कहा कि, श्रुतज्ञान द्वारा जाना। परंतु इस प्रकार `समयसार' में दूसरी गाथा में कहा न भाई ! कि केवल सभी पदार्थ को जाननेवाला ऐसा जो केवलज्ञान, वह भेदज्ञान ज्योति से उत्पन्न होता है। भाई ! दूसरी गाथा में (कहा), फिर से, सभी पदार्थों को तीनकाल - तीनलोक के पदार्थ को जाननेवाला, ऐसा जो केवलज्ञान-सर्वज्ञज्ञान-सभी का सर्वज्ञ का ज्ञान, भेदज्ञान ज्योति से उत्पन्न होता है। अर्थात् इन दया-दान-रागादि पुण्यपाप के विकल्प उनसे भिन्न करने पर, उनसे अलग करने पर जो पूरा तत्त्व (बचा) रहता है, उसे भेदज्ञान का विषय कहकर, उस भेदज्ञान द्वारा केवलज्ञान हो सकता है। आहा..हा...! वह (केवलज्ञान को) बुलाता है उसका अर्थ यह। यहाँ तो सिर्फ ज्ञात हो सकता है। केवलज्ञान क्यों ? दूसरी गाथा में है न भाई ! `समयसार' (की) चौथी गाथा में यह है। भेदज्ञान शब्द है न ! निर्मल भेदज्ञानरूपी प्रकाश से (आत्मा) स्पष्ट भिन्न दिखाई देता है।

फिर से, निर्मल भेदज्ञानरूप (प्रकाश द्वारा) वह राग को और देह को उनसे भिन्न अंदर भगवान, ऐसे निर्मल, भेदज्ञानरूपी प्रकाश, राग से भिन्न करने का प्रकाश - उससे स्पष्ट भिन्न - प्रत्यक्ष भिन्न, ऐसा आत्मा दिखाई देता है, आहा..हा...! समझ में आया ! इस आत्मा का एकरूपपना सदा प्रगटरूप से अंतरंग में प्रकाशमान है। सुबह आया था। `स्फुरित' प्रगट आत्मा, प्रगट होता है। प्रगट है तो प्रगट त्रिकाल कहा न ! यहाँ सदा प्रगटरूप से अंतरंग में प्रकाशमान है। फिर भी विरुद्ध है यह बात बाद में। इस प्रकार प्रकाशमान है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...!

किसी क्रियाकांड द्वारा, दया-दान-व्रत द्वारा, प्रकाशमान नहीं है। उससे ज्ञात हो ऐसा आत्मा नहीं है, ऐसा कह रहे हैं। आहा..हा...! वे विकल्प हैं, वृत्तियाँ हैं, राग हैं, दया-दान-व्रत-पूजा-भक्ति आदि उनके द्वारा (ज्ञात हो सके ऐसा नहीं है)। निर्मल भेदज्ञानरूपी प्रकाश द्वारा स्पष्ट भिन्न दिखाई देता है, आहा..हा...! प्रत्यक्ष देखा जाता

है, ऐसा कह रहे हैं। आहा..हा...! जिसे मन की या राग की अपेक्षा नहीं है, - ऐसा जो अंदर भेदज्ञान, मन व राग से भिन्न पड़ा हुआ, ऐसा भेदज्ञान (उसके द्वारा), अंतर में सदा प्रगटरूप आत्मा है, प्रकाशमान है। आहा..हा...! उस भेदज्ञान द्वारा ज्ञात होता है। यह ऐसी बात है।

यही वस्तु है और यही कहा है न ! पाँचवीं (गाथा) में भी, ('समयसार' की) पाँचवीं, (गाथा) कि मैं कुछ कहूँगा। उन्हें अनुभव ऐसा है न ! अपने अनुभव प्रत्यक्ष से परीक्षाप्रमाण करना। मैं कुछ कहूँगा (ऐसा) 'कुंदकुंदाचार्य' कहते हैं। - आत्मा - आनंद का नाथ है ! सत् चिदानंद प्रभु है ! सर्वज्ञ ने देखा वह; दूसरों ने कहा ऐसा, उन्हें (तो) आत्मा की खबर नहीं है। वीतराग तीर्थंकरदेव त्रिलोकनाथ, इस सर्वज्ञ ने जो आत्मा देखा, उस आत्मा की बात हम अपने अनुभव द्वारा तुझे कहेंगे; परंतु तू स्वयं अपने अनुभव प्रत्यक्ष से परीक्षा करके प्रमाण करना। आहा..हा...! अनुभव है? यह क्या कह रहे हैं ? कि राग से भिन्न होकर चैतन्यस्वरूप जो अंदर है, उसे अनुभव प्रमाण से परीक्षा करके अंदर प्रमाण करना - ऐसा हम कह रहे हैं। इस प्रकार हा करना। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! ऐसी बातें हैं।

यह तो 'समयसार' में सब आ गया है। दो बोल उसमें से निकाले। अपने अनुभवप्रमाण से परीक्षा करके प्रमाण करना और यह बात शब्दों की शैली में कहीं भूल दिखे तो और कोई अंतर पड़े तो उस तरफ कुछ ध्यान मत देना। हम तो आत्मा - आनंद-ज्ञान स्वरूप है, उसे प्राप्त करने के अनुभव की बात करेंगे, क्योंकि स्वसंवेदनरूप अर्थ प्रधान है। इस में तो स्वसंवेदन - आत्मा जैसा आनंद व ज्ञानमूर्ति है, उसे स्व का वेदन करना अर्थात् जानना और अनुभव करना, यह अर्थ यहाँ मुख्य है। यहाँ भूतकाल का वचन है और फलाँ का और ढिकना का, उसकी विवक्षा यहाँ है नहीं। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

ऐसी बातें हैं। है ? अपने अनुभव प्रत्यक्ष से परीक्षा करना। यहाँ ऐसा कहा। चौथे में ऐसा कहा। निर्मल भेदज्ञान प्रकाश से स्पष्ट भिन्न दिखा जाता है। और जो सदा प्रगटरूप से अंतर में प्रकाशमान है - प्रगट है। ज्ञायक ज्योति चैतन्यमूर्ति भगवान जिसका ज्ञानस्वभाव त्रिकाल (है) वह वस्तु प्रगट अंदर पड़ी है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? उसपर नजर पड़ने पर राग से भेद करके, उसकी अनुभव

से परीक्षा करके प्रमाण करना, आहा..हा...! ऐसी बातें हैं। यह यहाँ पर कहा, अब,

एक-एक नय से बात उठायी है। है ? अनंत गुण धर्म, उसमें एक-एक नय से एक-एक धर्म यहाँ समझाते हैं। पन्द्रह तक आ चुका है। (अब) सोलह(वाँ नय) आत्मद्रव्य... है... न ! पहला शब्द। भाई ! आत्मद्रव्य माने क्या ? तो उसकी व्याख्या पहले हो गई। आत्मद्रव्य - इतने शब्द का अर्थ ऐसा है कि, उसमें जितनी शक्तियाँ अर्थात् गुण अनंत हैं। और उसकी जितनी अनंती पर्यायें हैं, सम्यक्ज्ञान के काल में, हाँ...! मिथ्यादृष्टि की यहाँ बात नहीं है। आहा..हा...! जो आत्मा वस्तु है, वह वस्तु है तो उसमें बसे हुए गुण हैं, तो उसे वस्तु कहें। वस्तु है प्रभु ! उसमें बसे हुए - स्थित - टिके हुए - कायमी भाव उनको गुण व धर्म कहते हैं। और उसकी वर्तमान दशा-हालत-अवस्था उसे पर्याय कहते हैं। वे अनंती पर्याय उसमें विकृत अवस्था भी साथ में आ जाती है, साधक है न ! अतः थोड़ी धर्म की - दया-दान के विकल्प की भी वृत्ति रहती है और निर्मल दशा भी होती है। ये दो और पूरे आत्मा के अनंतगुण हैं। वे बिलकुल निर्मल होते हैं, वे अनंत धर्म, गुण और अनंती पर्यायें उसका अधिष्ठाता-स्वामी उसे आत्मद्रव्य कहा जाता है। उस आत्मद्रव्य की व्याख्या। आत्मद्रव्य जो शब्द पड़े हैं, उसकी यह व्याख्या (हुई)। कुछ समझ में आया ?

भगवान का मार्ग लोजिक से है, न्याय से है। यों ही मान लेना, तो वह कुछ मान नहीं सकता। अंदर उसके भावों में भासित होना चाहिए कि, यह चीज इस प्रकार से है। भाई ! तो कहते हैं कि आत्मद्रव्य, अर्थात् यह अनंतगुण बेहद ! असंख्य अनंत, उसकी ज्ञान-दर्शन-आनंद आदि अनंत शक्तियाँ वे अनंतगुण हैं। उन अनंतगुणों को यहाँ धर्म कहा है। यह धर्म माने आत्मा ने धारण करके रखे हुए हैं इसलिए धर्म। धर्म माने मोक्ष का मार्ग, ऐसा अभी (यहाँ पर) नहीं है। अनंतगुणों को - धर्म को - स्वभाव को धारण करके रखा है ऐसा आत्मा वह धर्मी। उसके ये अनंतगुण वह धर्म, उसकी अनंत पर्याय में मोक्षमार्ग की पर्याय भी धर्म, अर्थात् आत्मा ने धारण करके रखी हुई है। और साथ में रागादि भी एक धर्म, धर्म अर्थात् आत्मा ने धारण करके रखा है। आहा..हा...! बड़ा कठिन काम ! वकालत के सब कानून निकाले ! ये कानून वीतराग के सूक्ष्म बहुत, बापू ! आहा..हा...!

'आत्मद्रव्य' यहाँ उसकी इतनी व्याख्या करी कि अनंत धर्म अर्थात् गुण अर्थात्

शक्ति अर्थात् सत् आत्मा, उसका जो सत्त्व, उसका सत् माने अनंतगुण और उसकी अनंतीपर्याय, उन सब का नाम धर्म है। उनको आत्मा ने धारण करके रखे हैं, इसलिए उन्हें धर्मी कहते हैं। आहा..हा...! परंतु उसकी व्याख्या तो साथ में होती चली आ रही है। उसके अंदर त्रिकाल शक्तियाँ वह गुण और वर्तमान परिणति की अवस्थाएँ वे पर्याय (हैं)।

भाषा तो साथ में आती है। यह तो अलौकिक मार्ग, वीतराग सर्वज्ञ जैसा कहीं भी है नहीं। अरिहंत - तीर्थंकर के अलावा यह मार्ग कहीं भी है नहीं। सबने कल्पित बातें की हैं। आहा..हा...! यह (बात) आ जाती है न ! उसमें (`समयसार' में) कल्पित आगम अन्यमती की तरह नहीं है। इस प्रकार है। आ जाता है न ! आहा..हा...! (भगवान की दिव्यध्वनि) साक्षात् सुननेवाले, उसी प्रकार स्वयं अनुभव करनेवाले ऐसे श्रुतकेवली - गणधरों द्वारा कहा गया होने के कारण (इस आगम को) प्रमाणता की प्राप्ति हुई है। अन्यवादियों के आगम की तरह छद्मस्थ - अल्पज्ञानी की कल्पनामात्र नहीं है। सर्वज्ञ भगवान द्वारा कहे गये आगम के अलावा (जो) आगम (हैं, वे) कल्पितरूप से कहे गये हैं, वे आगम नहीं हैं। आहा..हा...! गजब बातें हैं !!

बापू ! वे कल्पित आगमप्रमाण नहीं है। यहाँ तो गणधरों व तीर्थंकरों द्वारा कहा गया, साक्षात् गणधरों का सुना हुआ, सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ तीर्थंकर की उपस्थिति में, दिव्यध्वनि द्वारा भगवान ने कहा और संतों, गुणधरों, गण माने संतों की टोली, उनके धारक, गणधरों ने सुना! आहा..हा...! है ? और सुननेवाले एवं स्वयं अनुभव करनेवाले, मात्र सुना है, ऐसा नहीं। उस सुननेवाले ने अनुभव किया। आत्मा आनंदस्वरूप है। रागरहित है। ऐसा अनुभव किया। ऐसा अनुभव करनेवाले श्रुतकेवली - गणधरदेवों द्वारा कहा गया होने से प्रमाणता को प्राप्त हुआ है। यह शास्त्र इसी वजह से प्रमाणता को प्राप्त हुआ है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...!

इसकी तो एक-एक गाथा और एक-एक पंक्ति बहुत भावों से भरी हुई है। आहा..हा...! यह `समयसार' प्रमाणता को प्राप्त क्यों हुआ है ? कि साक्षात् सर्वज्ञ भगवान की दिव्यध्वनि में आया और उसे साक्षात् सुननेवाले थे। किसी ने कहा और दूसरे ने सुना ऐसा भी नहीं। वहाँ साक्षात् सुना, सुनकर साक्षात् अनुभव किया। राग से भिन्न आत्मा का अनुभव किया। ऐसे गणधरों द्वारा कहा हुआ होने के कारण यह

शास्त्र प्रमाणता को प्राप्त हुआ है। आहा..हा...! भाई ! ये तो ऐसी बातें हैं। बापू ! आहा..हा...! अन्यवादियों के आगम की तरह (कल्पित नहीं है)। यहाँ तो मुझे कुछ और कहना है। उनमें (श्वेतांबर में) आगम दूसरे हैं और वे सभी कल्पित आगम हैं, आहा..हा...! भाई! यह तो (ऐसी) बात है। तो शांति से (सुनना)। श्वेतांबरों के आगम हैं वे कल्पित हैं। वे सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए नहीं हैं। प्रभु ! सुनना कठिन पड़ जाय, दुःख लगे, तो क्या करें ? वस्तुस्थिति ऐसी है। ऐसा यहाँ कहना चाहते हैं।

यह तो तीनलोक के नाथ ! `सीमंधर भगवान' ! साक्षात् बिराजमान हैं, प्रभु ! वहाँ वाणी खिरती है। गणधर सुनते हैं और संतों ने व गणधरों ने अनुभव किया है - परमात्मा कहते हैं कि, आनंदमूर्ति और ज्ञानमूर्ति आत्मा है, प्रभु ! यह ज्ञान व आनंद का वेदन होकर, अनुभव करके जाना है। यह तो यहाँ से `कुंदकुंदाचार्य' (वहाँ) गये और सुना है न ! उनको अनुभव में आया। अनुभव तो चारित्र था, परंतु विशेष स्पष्टता आयी। यहाँ आकर उन्होंने शास्त्ररचना की। इसलिए ये शास्त्र प्रमाणित कहे गये हैं। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? अन्यवादियों की तरह कल्पनामात्र नहीं है जिससे कि अप्रमाणित होवे। आहा..हा...! पहली गाथा के अंत में है न...! `वंदित्तु सव्वसिद्धे', मैं समयसार को कहूँगा, क्योंकि वह समयसार प्रमाणता प्राप्त है क्योंकि साक्षात् भगवान ने कहा है और साक्षात् संतों ने वहाँ सुना - भगवान इस प्रकार कह रहे थे और हम इसी प्रकार तुझे सना रहे हैं।

भगवान को जिन्होंने समवसरण में साक्षात् देखा, आहा..हा...! क्या ! सच्ची बात तो ऐसी है, प्रभु ! क्या करें ? सारी बातें आजकल बदल गई है। उन कल्पित आगमों के झगड़े (उत्पन्न हुए), इसलिए ऐसी बातें हैं।

यहाँ तो कहते हैं कि बापू ! जिस प्रकार भगवान की प्रतिमा है उस प्रकार अपने यहाँ स्थापनानय आ गया है। आ गया है न स्थापनानय ? देखो १३वाँ। १६वें के ऊपर १३वाँ (है)। आत्मद्रव्य स्थापनानय से है ? मूर्तिपने की भाँति पुद्गलों द्वारा स्थापित किया जा सकता है, जिस प्रकार मूर्ति की स्थापना हो सकती है, - उस प्रकार आत्मद्रव्य को स्थापनानय द्वारा स्थापित किया जा सकता है। बताया जा सकता है कि, आत्मा ऐसा है और... अरूपी है... ऐसा कहा जाता है न ! अर्थात् **`आत्मद्रव्य स्थापनानय से, मूर्तिपने की भाँति, शब्दब्रह्म को स्पर्श करनेवाला है (अर्थात् स्थापनानय**

से आत्मद्रव्य की पौद्गलिक स्थापना की जा सकती है, मूर्ति की भाँति)'

आहा..हा...! अक्षरों में स्थापना की जा सकती है। कुछ समझ में आया ? और उसके द्वारा जाना जा सकता है कि, आत्मा ऐसा है। दूसरी बात कहें तो, पाँचवीं गाथा में बोल लिया न ! कि आगम की उपासना से जिसका जन्म है। आहा..हा...! (ऐसा) मेरा वैभव मैं कहूँगा। भगवान को सुना है इसलिए कहूँगा, ऐसा नहीं। परंतु मैं तो अपने वैभव द्वारा कहूँगा। भगवान ऐसा कह रहे थे, ऐसा नहीं। आहा..हा...! भगवान जो कह रहे थे वह मुझे अनुभव में आया है। आनंदस्वरूप भगवान (आत्मा) ज्ञानानंदस्वरूप है। ऐसा वेदन में आया है, उस अनुभवपूर्वक मैं कहूँगा। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

अभी क्या कहा बीच में ? परमागम की उपासना (में) कहना था वह (मेरे आत्म-वैभव को) ऐसे परमागम जो भगवान की वाणी गणधरों द्वारा रची गई। आहा..हा...! 'बनारसीदास' में एक श्लोक आता है। नमो केवल... नमो केवल... भगवान केवल... केवलज्ञान केवल... नमो केवल... नमो केवलरूप भगवान। 'मुख ओम ध्वनि सुनि अर्थ गणधर विचारे।' भगवान के श्रीमुख से निकली हुई वाणी... 'मुख ओम ध्वनि' छूटी। उनके (भगवान के) यह जो भाषा (है, ऐसी भाषा) नहीं होती है। ऐसी भाषा तो राग(पूर्वक) है। अतः भेदवाली भाषा (है)। भगवान तो वीतराग सर्वज्ञ हैं। 'मुख ओम ध्वनि सुनि, अर्थ गणधर विचारे।' संत मुनि जो भावलिंगी हैं। उसका (उस वाणी का) विचार करके... 'रचि आगम, उपदेश भविक जीव संशय निवारे।' उसकी रचना गणधर करें और भव्यजीव सुनकर संशय को - मिथ्यात्व को (निवारण करे) टाले। आहा..हा...! समझ में आया ? तो यह निमित्त से वहाँ कहा है। उस परमागम की उपासना से जिसका जन्म है। वीतराग की सर्वज्ञ की जो वाणी है, उस वाणी की मैंने सेवा की थी। अतः इस में कहा था, उस भाव को मैंने प्रगट किया - यह उसकी सेवा (हुई)। उसके कथन का जो भाव है, उस भाव को मैंने प्रगट किया, उस वाणी की उपासना से मुझे मेरे वैभव का - सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का - मेरे वैभव का जन्म हुआ है।

इस धूल का वैभव नहीं। वह वैभव नहीं है, धूल है (मिट्टी है) - स्मशान की राख है। क्या कहते हो आपलोग - घरगृहस्थी - फर्निचर - धूल के पाँच लाख के फर्निचर हैं। मुझे तो ऐसा विचार आये कि अरे ! इसमें से निकलना (मृत्यु के

समय) कठिन पड़ेगा। ये कोठी-बंगले... और नीचे यह... और ऊपर यह। चारों ओर यहाँ तो धूल और जड़ है। वह कोई जीव - आत्मा का वैभव नहीं है। निजवैभव तो अंतर आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र और आनंद का अनुभव, यह आत्मा का निजवैभव है। यह अपने निजवैभव से मैं कहूँगा, परंतु वह कहूँगा उसमें इस परमागम की उपासना से मेरे (वैभव का) जन्म (हुआ है), ऐसा भी वहाँ कहा। कुछ समझ में आया? वह निमित्तपना बताया, इस वैभव में - अनुभव में परमागम का निमित्तपना है। पहले ऐसा सिद्ध किया। मेरे द्वारा (मुझे) अनुभव हुआ है, परंतु वह निमित्त की सेवा अर्थात् निमित्त सर्वज्ञ की वाणी होती है। आत्मा के अनुभव हेतु सर्वज्ञ वीतरागी वाणी (निमित्त होती है)। आहा..हा...! `कुन्दकुन्दाचार्य' कह रहे हैं, उससे मेरा, ज्ञान व आनंद का अनुभव, प्रगट अनुभव - प्रचुर अनुभव, यह सारा उपासना का फल है।

ऐसा कहकर, इसके बाद युक्तिपूर्वक अन्यमती के मार्ग को मैंने सयुक्ति से टालकर (तब) मुझे यह प्रगट हुआ है - यह न्याय और युक्ति से प्रगट करके मेरा यह वैभव प्रगट हुआ है - ऐसा कहकर बहुत बोल लिये हैं। हमें गुरुगम से परंपरा से मिला हुआ है और चौथा, अनुभव से हुआ है। चार बोल हैं। कुछ समझ में आया ? एक-एक बोल में बहुत बहुत गंभीरता है। भगवान के परमागम - उसकी मुझे उपासना है। उससे मेरे वैभव का जन्म हुआ, उसमें (परमागम उपासना) निमित्त है। अज्ञानियों की वाणी आत्मा के अनुभव में निमित्त नहीं हो सकती। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

अन्यमतियों की कुयुक्तियों का छेदन करके और सयुक्ति से करके मुझे यह अनुभव प्रगट हुआ है। और गुरुओं की परंपरा... जो अरिहंत भगवान ने कहा (वह) हमारे गुरुपर्यंत, - सब इस विज्ञानघन में निमग्न थे। निर्मल विज्ञानघन भगवान - उतने निमग्न थे। उन्होंने हमें शुद्धात्मा का उपदेश दिया, कृपा करके, अनुग्रह करके, इस प्रकार दो शब्द हैं न, आहा..हा...! हम पात्र (योग्य) थे, इसलिए (अनुभव हुआ) ऐसा नहीं लेकर, हमारे ऊपर कृपा करके - अनुग्रह करके हमें शुद्धात्म का उपदेश दिया। छह द्रव्य की बात नहीं कही कि हमें छह द्रव्य समझाओ। हमें यह शुद्धात्मा पवित्र अनाकुल, आनंद का सागर उसका उपदेश हमें दिया। उसमें से हमारा यह

वैभव है, ऐसा कह रहे हैं। कुछ समझ में आया ?

भाई ! ये पैसे हुए, जौहरी का वैभव आया है। यह वैभव नहीं है। वह तो मिट्टी है। स्मशान की राख है। यह वैभव अंदर से (आया है)। यहाँ नय की व्याख्या करते हुए (कहते हैं) कि, वह आत्मा शब्दों से स्थापना करके भी कहा जा सकता है कि आत्मा ऐसा है न ! दल ऐसा है न! ऐसा कहकर, इशारा करके, स्थापना से बताया जा सकता है। कुछ समझ में आया ! यह भी एक नय है।

श्रुतज्ञान के भाव का एक अपेक्षित नय है। उस प्रकार एक नय यह। अब आज का सोलहवाँ '**आत्मद्रव्य सामान्यनय से, हार-माला-कंठी के डोरे की भाँति, व्यापक है,...**' देखो, हार है न ! हार कहो, माला कहो, कंठी कहो... उस हार-माला के डोरे की भाँति (व्यापक है)। डोरा अखंड है न ! (मोती) सब जगह एक-एक है - वह भिन्न भिन्न है, परंतु डोरा सब जगह - अखंड है। उस प्रकार हारमाला के कंठी के डोरे की भाँति (आत्मद्रव्य) व्यापक है।

आहा..हा...! क्या कह रहे हैं ! कि अनंतगुण व अनंतपर्याय में सामान्य एक व्यापक आत्मा सब जगह व्यापक है। सभी अनंत पर्यायें जो निर्मल या विकृत अवस्था, उसमें आत्मा व्यापक है। सामान्यनय से ऐसा कहा जाता है। वह भी एक नय है। और वह भी श्रुतज्ञान का एक भाग है। और ऐसे अनंत नय का समुदाय वह भावश्रुतज्ञान (उसके) द्वारा अंदर अरूपी आत्मा प्रमेय हो सकता है। प्रमेय अर्थात् प्र = विशेष करके, मेय = नाप (होने योग्य), इस भावश्रुतज्ञान द्वारा उसका नाप निकल आता है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? कठिन बहुत ! सूक्ष्म बहुत ! बापू ! बहुत अंतर यह तो... (आजकल हो गया है)।

आहा..हा...! त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव की वाणी रह गई है। आहा..हा...! उसमें एक नय है। कह रहे हैं (कि) सामान्यनय से, हार, माला या कंठी, उसके डोरे की भाँति व्यापक (है)। अर्थात् आत्मा सामान्यनय से सर्व पर्याय में व्याप्त है। प्रत्येक पर्याय में आत्मा है। आत्मा कोई अलग नहीं रहता। प्रत्येक पर्याय में आत्मा व्यापक है। वह एक-एक पर्याय है न ! जिस प्रकार यह (माला) उसमें एक-एक मोती में भी डोरा व्यापक है। उस प्रकार आत्मा की जितनी पर्यायें नयी नयी हो उसमें आत्मा सब जगह व्यापक है। आत्मा उससे कोई अलग नहीं है, आहा..हा...! अब ऐसा है,

`अर्थात् आत्मा सामान्यनय से सर्व पर्यायों में व्याप्त रहता है, जैसे मोती की माला का डोरा सारे मोतीयों में व्याप्त रहता है।` उस प्रकार।

एक नय हुआ। ऐसे तो अनंत नय, अनंत धर्मों को बतानेवाला (है)। उन अनंत नयों (का समुदाय) श्रुतज्ञान भावश्रुतज्ञान उस ज्ञान द्वारा आत्मा प्रमेय अर्थात् जाना जा सकता है, निमित्त से जानने में नहीं आता, राग से जानने में नहीं आता। आहा..हा...! राग को जाननेवाला ज्ञान, उस ज्ञान में अनंत नय एक प्रमाण में आते हैं, इन अनंत नयों का समुह भावश्रुतज्ञान, उसके द्वारा आत्मा जाना जा सकता है। उसको - एक-एक गुण व एक-एक पर्याय को विषय करनेवाला नय है। अतः उसे अनंत नयों से एकरूप श्रुतज्ञान - उसके द्वारा ज्ञान होता है। एक नय से तो एक धर्म ज्ञात होता है। एक अंश ज्ञात होता है। उस में अंशी - धर्मीद्रव्य, अनंतगुण व अनंतपर्याय का - धर्म का धारक धर्मी, वह एक नय से ज्ञात नहीं होता। अब ऐसी बातें !

यह तो क्या होगा ? वीतराग का मार्ग ऐसा होगा ? वे (श्वेतांबर) मूर्तिपूजक कहते हैं, - दया करो, पूजा करो, भक्ति करो... इन स्थानकवासी में सामायिक करो, पौषधव्रत करो, प्रतिक्रमण करो। अरे ! बापू ! सामायिक किसे कहे ? भाई ! अभी सम्यग्दर्शन क्या है ! और कैसे हो, उसका अतापता नहीं ! सामायिक (तो) नववाँ व्रत है। सामायिकव्रत तो (जिसे) सम्यग्दर्शन होता है उसे होता है। कुछ समझ में आया...?

सम्मेदशिखर की यात्रा करो, गिरनार की यात्रा करो, ९९ पूरी निन्यान्वे... (यात्रा) भगवान (मोक्ष में) गये थे, इसलिए करो। तुम्हारा कल्याण होगा। यहाँ कहते हैं कि नहीं। यात्रा का वह भाव धर्मी को आता है परंतु वह शुभभाव है। उस शुभभाव को जाननेवाला ज्ञान - वह भावश्रुत, उस ज्ञान के द्वारा आत्मा ज्ञात होता है, राग द्वारा ज्ञात हो ऐसा नहीं है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

इसमें तो पौद्गलिक स्थापना की जा सकती है, भाई ! ऐसा है। आत्मा की स्थापना तो यह वाणी कर सकती है न ! यह वाणी सरस्वती है। वे अन्यमतवाले जो सरस्वती कहते हैं, वह नहीं, हाँ ! सिंह के ऊपर बैठी है न ! यह तो भगवान की वाणी है, वह सरस्वती है। उस में कहा हुआ भाव - भगवान का कहा हुआ भाव उसमें है। वाणी में कहने की - स्व परप्रकाशक कहने की शक्ति है। स्व-

पर को कहने की शक्ति है। उसमें (ज्ञान में) स्व-पर जानने की शक्ति है। आत्मा में स्व-पर जानने की शक्ति है। वाणी में स्व-पर कहने की शक्ति है, आहा..हा...! वह वाणी तो सरस्वती है। उसे स्थापनानय से स्थापित करके आत्मा की पहचान करवाई। इस सरस्वती द्वारा आत्मा की स्थापना हो सकती है।

आहा..हा...! क्या करें भाई ! इतनी हेराफेरी (तत्त्व में) हो चुकी है न ! अब इसे मूलमें से परिवर्तन लाना, पलटी खाना कठिन लगे। संप्रदाय में सिमित हो गया हो इसमें से निकलना (मुश्किल पड़ता है)। यह सोलहवाँ नय हुआ।

सत्तरहवाँ (नय)। `**आत्मद्रव्य विशेषनय से, अव्यापक है...**' वह आत्मद्रव्य अर्थात् ये अनंतगुण व शक्तियाँ ज्ञान-दर्शन-आनंद आदि अनंत संख्या हैं। वे और उसकी एक-एक गुण की एक-एक पर्याय ऐसी अनंत पर्यायें हैं। एक-एक पर्याय को धर्म कहा जाता है। यहाँ धर्म माने आत्मा ने धारण करके रखा हुआ (भाव)। अतः धर्म कहा जाता है। धर्म अर्थात् मोक्ष का मार्ग, यह बात अभी नहीं है। मोक्ष का मार्ग वह भी एक धर्म, राग भी एक धर्म, अनंतगुण भी एक धर्म। इन सभी गुणों का धारक धर्मी - जो आत्मा, वह आत्मद्रव्य।

`**आत्मद्रव्य विशेषनय से, उसके एक मोती के भाँति अव्यापक है...**' वह सामान्यनय था। सामान्य में प्रत्येक पर्याय में आत्मा व्यापक है, ऐसा था। अब विशेषनय से एक मोती की भाँति, एक मोती में पूरा धागा व्यापक नहीं है। एक मोती (जहाँ) है वहीं पर (धागा) उतने में ही है। उस प्रकार आत्मा की पर्याय एक समय की है। वह समय में ही है। उस प्रकार आत्मा सर्व व्यापक नहीं है। एक-एक पर्याय में पर्याय व्यापक है। उस प्रकार विशेषनय से पूरा आत्मा उसमें व्यापक नहीं है। सामान्यनय से धागा पूरे में व्यापक है। उस प्रकार आत्मा सामान्यनय से अनंती पर्यायों में व्यापक है। परंतु एक-एक मोती में सामान्य(नय से) पूरा धागा व्यापक नहीं है, आहा..हा...!

अनजान (अपरिचित आदमी) को ऐसा लगे कि यह जैनधर्म कोई ऐसा होगा? हम तो जैनधर्म माने ऐसा सुनते हैं कि दया का पालन करना, व्रत करना, तप करना, कर्मदहन की पूजाएँ करना, सिद्धचक्र की (पूजा करना)। भगवान ! जैनधर्म बापू ! यह तो वीतराग मार्ग कोई अलौकिक है ! बापू ! आहा..हा...!

यहाँ कहते हैं कि आत्मद्रव्य विशेषनय से (अव्यापक है)। सामान्यनय से तो प्रत्येक

पर्याय में द्रव्य व्यापक है परंतु विशेषनय से एक पर्याय में पूरा द्रव्य व्यापक नहीं है। एक मोती में तो धागे का एक अंश ही है। और अनंती पर्याय में एक-एक अंश है। उस अनंती पर्यायों में पूरा द्रव्य व्यापक नहीं है, पर्याय में पर्याय व्यापक है... ऐसी (बात)। बनियों को समय मिलता नहीं है, फुरसत मिलती नहीं है, व्यापर धंधों के मारे... और सुनने को ऐसा मिले तो, निर्णय किस प्रकार करे ? ऐसा मार्ग है, हाँ !

अब तो, प्रचार भी लाखों लोगों के बीच काफी हो गया है। भले विरोध करे, करनेवाले (करे)। यह तो सत्य वस्तु है, बापू ! विशेष भी एक नय है। उसके द्वारा एक मोती की भाँति अव्यापक है। मोती एक जगह, व्यापक है। सभी जगह व्यापक है क्या ? धागा सभी जगह व्यापक है। मोती तो एक जगह ही व्यापक है। उस प्रकार आत्मा है। `(**अर्थात् आत्मा विशेषनय से अव्यापक है, जैसे पूर्वोक्त माला का एक मोती पूरी माला में अव्यापक है।**)' वैसे। देखा ? माला का एक मोती पूरी माला में अव्यापक है। वैसे आत्मा की एक समय की पर्याय पूरे द्रव्य में अव्यापक है।

अब द्रव्य का और पर्याय क्या ? द्रव्य माने त्रिकाली गुण व पर्याय का पिंड - उसे यहाँ पर द्रव्य कहा गया है। और पर्याय उसकी वर्तमान हालत - दशा- परिणति, उसे यहाँ पर्याय कहा गया है।

आहा..हा...! अवस्था को पर्याय कहा जाता है। द्रव्य जो त्रिकाल आत्मा, उसकी वर्तमान अवस्था उसे पर्याय कहा जाता है। पर्याय समस्त प्रकार से पूरेमें से भिन्न होकर अंश में है, अतः उसे पर्याय कहा जाता है। सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान ये पर्याय हैं, गुण नहीं। गुण तो त्रिकाल है। वीतराग दशा भी एक पर्याय है, आहा..हा...! एक दशा पूरे द्रव्य में व्यापक नहीं है। एक दशा एक ही दशा में व्यापक है, आहा..हा...!

इसमें तो दिमाग को अभ्यास करना पड़े ऐसा है। यहाँ यों ही ज्यों का त्यों (बिना सोचे-समजे) मान ले ऐसी कोई वस्तु नहीं है। किस प्रकार चीज है और कैसे है ? सामान्य कैसे ? और विशेष कैसे ? अपने ज्ञान में उस प्रकार से भासित होने पर, उसका वास्तविक ज्ञान होता है। यों ही मान ले कि द्रव्य इस प्रकार है और गुण इस प्रकार है, परंतु इस का अर्थ क्या ? आहा..हा...!

निवृत्ति ले ! बिमार पड़े तो कैसे फुरसत में आ जाता है न ? आठ-नौ-दस घंटे पड़ा रहता है। दिन में सोने में फिर पाँच-छह घंटे जाते हैं - खटियाँ में पड़ा रहे, पैर टूट जाय, कुचल जाय तो फिर पड़ा रहता है कि नहीं ? वैसे निवृत्ति ले तो सभी जगह से निवृत्ति ले सकता है। आहा..हा...! और आत्मा तो निवृत्त तत्त्व ही है। परद्रव्य से अभावस्वभावस्वरूप है। आत्मा के अलावा शरीर-वाणी-मन-पत्नी-कुटुंब-देश उससे भिन्न पड़े हैं। अतः उनकी तरफ से तो निवृत्त ही है। मान लिया है कि, मैं फुरसत में नहीं हूँ, आहा..हा...! वे सभी तो परद्रव्य हैं। परद्रव्य भी वस्तु है न ! तो उसकी हालत होती है, वर्तमान कार्य होता है। कार्य अर्थात् हालत-दशा वह द्रव्य का कार्य है। दूसरा उसका क्या कर सकता है ?

उँगली यह चलती है, देखो ! वह रजकण है। यह अस्ति, अस्तितत्त्व (है)। आखरी Point यह तो (ऐसे) बहुत Point मिलकर उँगली बनी है। टुकड़े करते-करते आखरी Point (कण) बचता है। उसे परमाणु कहते हैं। परम अणु यह एक वस्तु है न ! उसकी अवस्था होती है। अवस्था धूल की थी, फिर गेहूँ की (हुई)। फिर आटे की (हुई)। अभी खून की (है)। रजकण तो रजकण कायम है। परंतु अवस्था बदलती है। अभी खून की (है) फिर कभी स्मशान की राख होगी। (तब) राख की अवस्था होगी। ये सभी उसकी अवस्थाएँ-हालत कही जाती है। वह हालत एक समय की ही होती है। उसमें पूरा द्रव्य व्याप्त नहीं होता। तब ऐसी तो भाषा है परंतु और क्या कर सकते हैं ? १७(वाँ नय) हुआ।

अब १८(वाँ नय)। अब समय पूरा होने को है, हाँ ! '**आत्मद्रव्य नित्यनय से, नट की भाँति, अवस्थायी है...**' नित्य-कायम है।

नित्यनय से देखे तो वह कायम है। है... है... है। अनादि अनंत है। है... है... है... भूतकाल में नहीं था ऐसा है ? नित्य है। वह तो कायम टिकनेवाला तत्त्व (है)। नित्यनय से तत्त्व की दृष्टि से देखे तो, '**आत्मद्रव्य नित्यनय से, नट की भाँति, अवस्थायी है (अर्थात् आत्मा नित्यनय से नित्य-स्थायी है,...**' कायम रहनेवाला है। किसकी भाँति ! '**जैसे राम-रावणरूप अनेक अनित्य स्वांग धारण करता हुआ भी नट तो वह का वही नित्य है।**)' वैसे। नट है, नट राम-रावण का रूप धारण करे, तो भी नट के रूप में तो (वह) एक ही है, नित्य है। वह चाहे जितने स्वांग धारण करे परंतु

नट के रूप में तो नित्य ही है। वैसे आत्मा चाहे जितने स्वांग धारण करे, परंतु नित्य वस्तु के रूप में तो नित्य ही है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? `**आत्मद्रव्य नित्यनय से, नट की भाँति, अवस्थायी है...**'

अवस्थायी-अवस्था का धारण करनेवाला। देखो ! यहाँ शब्द आया (है) अवस्था। पर्याय माने अवस्था। उसको धारण करनेवाला त्रिकाली अवस्थायी नित्य है। आत्मा नित्यनयसे नित्य टिकनेवाला है। राम-रावणरूप अनेक अनित्य स्वांग नट धारण करता है। फिर भी नट वही का वही नित्य है। नट बदलकर कोई ढोर (पशु) हो गया है ? ऐसा नहीं है।

इस प्रकार आत्मा चाहे जो पर्याय धारण करे, परंतु वस्तु तो नित्य है। वह भी एक नय से देखने पर वस्तु नित्य टिकनेवाली है। यह एक नय है, हाँ !... यह ध्रुव को देखने से जो सम्यग्दर्शन होता है ऐसा (ऐसे ध्रुव की बात) यहाँ नहीं है। यहाँ तो नित्य को देखनेवाला एक नय है। उस अनंत नय का समुदाय श्रुतज्ञान (है)। श्रुतज्ञान द्वारा आत्मा ज्ञात होता है, - उसे प्रमेय कहा जाता है।

विशेष कहेंगे...



अहो ! दिगम्बर संतोका कोई भी ग्रंथ लो, वह आत्माको चैतन्य-स्वभावमें स्तंभित कर देता है । (परमागमसार - ७९०)

आत्मद्रव्य नित्यनय से, नट की भाँति, अवस्थायी है (अर्थात् आत्मा नित्यनय से नित्य-स्थायी है, जैसे राम-रावणरूप अनेक अनित्य स्वांग धारण करता हुआ भी नट तो वह का वही नित्य है)। १८।

आत्मद्रव्य अनित्यनय से, राम-रावण की भाँति, अनवस्थायी है (अर्थात् आत्मा अनित्यनय से अनित्य है, जैसे नट के द्वारा धारण किये गये राम-रावणरूप स्वांग अनित्य हैं)। १९।

आत्मद्रव्य सर्वगतनय से, खुली हुई आँख की भाँति, सर्ववर्ती (सब में व्याप्त होनेवाला है)। २०।

प्रवचन : दि. २९-१२-१९७७

'प्रवचनसार', नय अधिकार, १८ नय हुए हैं। पहली बात तो यह है कि ये जो नय हैं, वे एक-एक धर्म का अथवा योग्यता का ज्ञान कराते हैं। आगे तो आयेगा (कि) क्रियानय से भी आत्मा ज्ञात होता है और ज्ञाननय से भी आत्मा ज्ञात होता है - इस प्रकार आयेगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि क्रियानय से (अर्थात्) दया-दान-व्रत-भक्ति करते-करते ज्ञात होता है और किसी को ज्ञान से ज्ञात होता है, ऐसा नहीं है।

यह तो एक समय में ऐसे योग्यतारूपी धर्म को गिनाया है। राग के भाव से - क्रियानय से ग्रहण किया और ज्ञान हुआ, ऐसी एक योग्यता उस समय पर उसमें मानी गई (है)। और उसी समय पर फिर ज्ञाननय से आत्मा ज्ञात होता है ऐसा एक धर्म (भी) माना (है)। दोनों ही एक ही समय में है। किसी को क्रियानय से

होता है और किसी को ज्ञाननय से होता है, ऐसा नहीं है।

ये तो नय हैं। भिन्न भिन्न धर्म की योग्यता को जाननेवाले नय (हैं)। सूक्ष्म बातें इतनी कि लोगों को एकान्त लगे... इसलिए व्यवहार से होगा... व्यवहार से बंध-मोक्ष है और निश्चय से बंध-मोक्ष है। एक व्यवहार से माने कर्म से संबंधवाला बंध है और संबंधरहित का मुक्त है। ऐसी निमित्त की अपेक्षा मानकर ऐसा एक योग्यता धर्म, अर्थात् उसने धारण करके रखी हुई योग्यता मानी (है), आहा..हा...! और निश्चयनय से अपना रागभाव बंध है। उसे जानना, यह एक नय है। और राग का अभाव स्वयं ही करता है। ऐसा भी एक नय - ज्ञान का अंश है। ये दोनों एक ही समय में हैं। किसी को राग के बंध से आत्मा ज्ञात होता है और किसी को राग के अबंध से आत्मा ज्ञात होता है, ऐसा नहीं है - आहा..हा...!

यह तो एक समय में ऐसे अनंत धर्म-योग्यताएँ मानी गईं और इन अनंत नय का रूप, श्रुतप्रमाण जिसमें राग नहीं है, ऐसा जो भावश्रुतज्ञान, उसके प्रभेदों में नयों का वर्णन करके, उसका समूह जो श्रुतज्ञान - उससे आत्मा ज्ञात हो सके ऐसा है। कुछ समझ में आया ? एक नय से तो एक धर्म ज्ञात होता है, परंतु अनंतनय के समुदाय से श्रुतज्ञानप्रमाण - भावश्रुत जो स्व की ओर झुका हुआ भावश्रुतज्ञान, (उससे पूरा आत्मा ज्ञात होता है)। शब्दज्ञान नहीं, शास्त्रज्ञान नहीं, आहा..हा...! (ये दोनों ज्ञान भावश्रुतज्ञान नहीं हैं)।

एक तरफ तो 'कुंदकुंदाचार्य' ने ऐसा कहा कि, परमागम की उपासना से मेरा धर्म है - मेरा निजवैभव (है)। मोक्षमार्ग की पर्याय आगम की उपासना से हुई है। ऐसा भी कहे (तो) वह निमित्त की (अपेक्षा से कहा) (कि) निमित्तत्त्व कैसा था ? कि वहाँ सर्वज्ञ की वाणी ही वहाँ पर होती है और वे कहते हैं - ऐसा भाव (है)। यह बताने के लिए वीतराग की वाणी ही होती है, अन्य अज्ञानी की वाणी नहीं होती ऐसा दर्शाने के लिए, उनकी उपासना से मुझे सम्यग्दर्शन-ज्ञान हुआ, ऐसा कहा है, कुछ समझ में आया ?

एक तरफ यों कहे कि जो आगमज्ञान भगवान की वाणी द्वारा सुनते हो वह कोई वास्तविक ज्ञान नहीं है... ऐसा कहे... वह तो परलक्षी ज्ञान है, परंतु जब आत्मा, परलक्षी ज्ञान को छोड़कर - और स्व चैतन्यमूर्ति, - पूर्णानंद प्रभु - उसके लक्ष से

जो ज्ञान होता है, उसे वास्तविक ज्ञान कहा जाता है। आहा..हा...!

ऐसी बहुत सारी नयी बातें हैं। नयों में कुछ समझ में न आये उसे एकान्त लगे और न समझे उसे एक नय से भी लाभ होता है - ऐसा समझ में आता है। ऐसी बातें (हैं)। बहुत सूक्ष्म बापू ! अब यहाँ अपने अठारह नय हुए हैं।

क्या कहा यह ? कि जैसे नट (है) (वह) राम-रावण का भेष धारण करे फिर भी नट तो नट है। १८वें (नय के) अनुसार आत्मा चाहे जितनी पर्यायें धारण करे - परंतु आत्मा तो एकरूप आत्मा ही है। आहा..हा...! यह भी एक नय है, इस नय से पूरा आत्मा ज्ञात हो जाय, ऐसा नहीं है।

आहा..हा...! ऐसी बातें (हैं)। उपदेश की शैली भिन्न (है)। वह नित्यनय से (अवस्थायी है)। एक धर्म नित्य है, ध्रुव है, उसे जानता (है), एक धर्म को जाने इतनी-सी बात (है)। पूरे आत्मा को जाने, वह नित्यनय नहीं - शब्द तो ऐसा पड़ा है। बहुत गूढ़ बात है, भाई !

'**आत्मद्रव्य नित्यनय से, नट की भाँति, अवस्थायी है (अर्थात् आत्मा नित्यनय से नित्य-स्थायी है, जैसे राम-रावणरूप अनेक अनित्य स्वांग धारण करता हुआ भी नट तो वह का वही नित्य है।**' इस प्रकार आत्मा अनेक प्रकार की पर्यायें धारण करने के बावजूद भी नित्य ध्रुव तो वह का वही है। आहा..हा...! परंतु **इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि नित्यनय से - इस एक नय से - पूरा ध्रुव जानने में आ जाय।**

पूरा तत्त्व कौन-सा ? ध्रुव उसके गुण और उसकी निर्मल-मलिन पर्यायें, ये (सब) एक नय से ज्ञात हो जाय, ऐसा नहीं है। कुछ समझ में आया ? बहुत सूक्ष्म, बापू ! आहा..हा...!

परंतु यह (धर्म) एक अंश है। एक धर्म ज्ञात होता है। अनंत नयों का समुदाय श्रुतज्ञान उसमें द्रव्य नित्य और अनित्य, दोनों ज्ञात होते हैं। ऐसा यहाँ कहना चाहते हैं। वह नित्य-अनित्य दो नय (हैं) वह यहाँ नहीं है। आहा..हा...! सदा आत्मा नित्य है। उसमें ऐसे अनंतगुण हैं और उसकी अनंती पर्यायें हैं। इन सभी गुणों को व पर्यायों को अनंत नय से देखने का कहा है।

अब यहाँ तो एक नित्य(नय) है। अतः उसे ध्रुव लक्ष में आया। और दूसरा (धर्म) पर्याय उसमें लक्ष में नहीं आयी। अतः पूरा द्रव्य उसको जानने में आया नहीं।

पूरा द्रव्य उसे कहते हैं कि वस्तु स्वयं नित्य है और उसके गुण नित्य हैं - और उसकी पर्यायें अनित्य (हैं), अनंत-अनंत पर्यायें अनित्य हैं। वे सभी पर्यायें और गुण का धारक द्रव्य (वह) पूरा द्रव्य, गुण और पर्याय (जिसमें) ज्ञात हो, उसे यहाँ श्रुतज्ञान प्रमाण कहा जाता है, कुछ समझ में आया ? सिर चकरा जाय ऐसी बातें हैं, ये तो भाई ! 'चकरा जाय' ऐसा कहा न ! चकरा जाय (माने) यह उल्टा है सो सुल्टा (हो जाय)... ऐसी बातें...! बहुत सूक्ष्म ! आहा..हा...! वीतराग के कानून बहुत सूक्ष्म हैं।

यहाँ नित्य(नय) कहा। उसमें नित्य द्रव्य ज्ञात हो जाता है यह। यहाँ नित्यवाला द्रव्य ज्ञात हो जाय - यह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो नित्य व अनित्य, दोनों का समुदाय जो द्रव्य उसका धारक, वह अनित्य (पर्याय) भी अनंत और नित्य में गुण भी अनंत; उन सभी को एक-एक गुण को जाने - एक-एक नय को जाने - एक-एक किन्तु अनंत - इन सभी नय के समुदायरूप श्रुतज्ञान द्वारा आत्मा ज्ञेय हो सकता है। एक नय द्वारा पूरा ही आत्मा - द्रव्य, गुण व पर्याय - तीनों को विषय नहीं कर सकते। ऐसा है, बापू ! और इसलिए लोग यहाँ वहाँ वह एकान्त है... एकान्त है (ऐसे चिल्लाते हैं)। प्रभु ! कहो, चाहे जो कहो, भाई ! मार्ग की सूक्ष्मता इतनी ही है।

यह नयों के लेख में (विस्तार में) एकान्त में खींच ले जाय ऐसा है। देखो ! नित्य कहा, तो एक नय से पूरा आत्मा नित्य ध्रुव है। वह ज्ञात हो जाता है। परंतु पूरा आत्मा कह ही नहीं रहे। नित्य में अनंतगुण, अनित्य में अनंती पर्यायें। इन सभी के समुदाय को यहाँ द्रव्य कहा गया है। कुछ समझ में आया ? ऐसी बातें हैं।

एक प्रकार नहीं है, उसमें अनंत प्रकार है। नित्य भी है - अनित्य भी है, ध्रुव भी है (और) परिणति भी है। वह अनंत प्रकार से है। अतः उसके नय अनंत हैं। एक ही नय (से) पूरा द्रव्य, पर्याय (तथा) गुणोंवाला अखंड द्रव्य एक ही नय से ज्ञात हो सके ऐसा नहीं है। पकड़ में आये इतना पकड़ना - बापू ! यह तो वीतराग का मार्ग है। क्या करें ? आजकल तो सब फेरबदल हो गया है। आहा..हा...! यह अठारह(वाँ) नय कहा।

अब दूसरा (१९वाँ) नय। पूरा आत्मा नित्यनय से व अनित्यनय से जानने में

आ जाय ऐसा नहीं। अन्य नय भी हैं। इन दोनों नय से भी पूरा आत्मा ज्ञात हो जाय, ऐसा भी नहीं है। नित्यनय व अनित्यनय - इन दोनों नय से पूरा आत्मा ज्ञात हो जाय ऐसा भी नहीं है। क्योंकि यहाँ पूरा आत्मा तो, - अनंत पर्यायों व गुणों का पिंड - उसे यहाँ आत्मा कहा गया है।

`गुणपर्यायवत् द्रव्यम्' जो तत्त्वार्थसूत्र का सूत्र है। आहा..हा...!

प्रश्न :- `समयसार' के हिसाब से तो दो नय से पूरा आत्मा जाना जा सकता है ?

पूज्य गुरूदेवश्री :- परंतु वह कौन से नय से ? निश्चयनय में - अनंतगुण का (समूह) एकरूप ज्ञात होता है। (व्यवहारनय में) फिर अंदर पर्याय आ गई। पर्याय है, इस व्यवहारनय से अनंती पर्यायें हैं। वे व्यवहारनय से ज्ञात होती है। और अनंत गुण का एकरूप वह निश्चयनय से ज्ञात होता है। यहाँ तो एक-एक गुण को और एक-एक पर्याय को (जाननेवाले) एक-एक नय को गिनकर, अनंत नय के अनंत धर्मों का धारक धर्मी आत्मा, श्रुतज्ञानप्रमाण से ज्ञात हो सके ऐसा है, इसमें तो एक अक्षर का फर्क हो जाय तो (सारा ही) बदल जाय ऐसा है - बापू ! आहा..हा...!

वीतराग त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव परमेश्वर परमात्मा ने अनंत नय कहे हैं। कुछ समझ में आया ? अब १९(वाँ)। जो `आत्मद्रव्य' शब्द पड़ा है, वह अनंतगुण व अनंती पर्यायों का धारक (है) वह आत्मद्रव्य, ऐसा कहा जाता है। आत्मद्रव्य माने नित्य को ही धारण करनेवाला - ऐसा नहीं है, आहा..हा...!

अरे ! सर्वज्ञ परमात्मा, उनके नय व ज्ञान कोई अलौकिक है - बापू ! ऐसी बात अन्यत्र कहीं नहीं है। परंतु इनमें (जैनों में) समझनेवालों को समझ में आया नहीं है। संप्रदाय में जन्म ले लिया इससे (क्या) ? जिंदगी पचास... साठ... सत्तर (वर्ष) गुजर जाय और हमने धर्म कर लिया है और (हम) समझते हैं (ऐसे भ्रम में) जिंदगी पूरी हो जाती है। आहा..हा...!

यहाँ परमात्मा ऐसा फरमान करते हैं - ये संत फरमान करते हैं। आहा..हा...! कि जो यह आत्मद्रव्य है अर्थात् अनंत... अनंत... अनंतगुण... और अनंत... अनंत... अनंत... उसकी इतनी पर्यायें (हैं), इन एक-एक गुण को व पर्याय को जाननेवाला एक नय (है)। उस में एक अनित्यनय गिना जाता है। अनित्यनय में अनंती पर्यायें

आती हैं। अनंत पर्यायें भी नय में एक-एक नय की मांग (जरूरत) रखती है, आहा..हा...!

ज्ञान का अंश है, उसे एक-एक नय से जानता है - दर्शन का अर्थ है, उसे एक नय जानता है, ऐसी अनंती पर्यायें हैं। उसके अनंते नय हैं, उसमें एक अनित्यनय है, आहा..हा...! समझ में आये इतना समझो, बापू ! यह तो तीनलोक के नाथ ! केवली परमात्मा (हुए) उनका मार्ग समझना - और कहना, यह अलौकिक बात है, भाई ! आहा..हा...!

`**आत्मद्रव्य अनित्यनय से, राम-रावण की भाँति, अनवस्थायी है...**' अर्थात् ध्रुव आत्मद्रव्य हे ऐसा नहीं (लेना) - यहाँ तो प्रमाण (का विषय) अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय तीन का पूरा समुदाय वह द्रव्य, वह `**आत्मद्रव्य अनित्यनय से, राम-रावण की भाँति अनस्थायी है...**' एकरूप नहीं है। (जो) नट राम बनता है (वह) कुछ समय में रावण बनता है (और) कुछ समय में हनुमान बन जाता है, ऐसे रूप धारण करता है। वह नट एकरूप नहीं रहा। भिन्न भिन्न अवस्था धारण करता है - इस प्रकार भगवान आत्मा अनेक भिन्न भिन्न अवस्थाएँ धारण करता है।

नित्य है, वह नय तो एक तरफ रह गया - अब अनित्य में एक आत्मा वही का वही आत्मा भिन्न भिन्न अवस्था धारण करता है। आहा..हा...!

मनुष्यपने की योग्यता की पर्याय, देवपने की योग्यता की पर्याय, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय - आहा..हा...! ऐसी जो अनंत पर्यायें इन पर्यायों में समुदायरूप से वहाँ अनित्य द्वारा एकरूप नहीं रहता है। भिन्न भिन्न पर्यायों में अवस्थायी नहीं है, अनवस्थायी है। अनवस्थायी माने एकरूप नहीं है, अनेकरूप है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया...

`(**अर्थात् आत्मा अनित्यनय से अनित्य है, जैसे नट के द्वारा धारण किये गये राम-रावणरूप स्वांग अनित्य है।**)' वैसे। राम-रावण का रूप धारण किया, वह तो अनित्य है। आहा..हा...! वह एक नय है। एक नय बस अनित्य को विषय करता है। सभी नयों का समुदाय मिलकर श्रुतप्रमाण होता है। - वह श्रुतप्रमाण सारे द्रव्य को, सभी गुणों को विकारी - अविकारी पर्यायों को - सभी को विषय करता है। उसे श्रुतप्रमाण कहते हैं - आहा..हा...! कुछ समझ में आया ! यह पढ़ाई अलग तरह की है। यह उन्नीस(वाँ नय) हुआ।

अब बीस(वाँ नय)। `**आत्मद्रव्य सर्वगतनय से, खुली हुई आँख की भाँति, सर्ववर्ती (सबमें व्याप्त होनेवाला है)।**' द्रव्य तो वह कि जो अनंत गुणरूपी धर्म (को) धारण करके रखनेवाला आत्मा और अनंत पर्यायरूपी धर्म, धर्म माने धारण करके रखी हुई अनंती पर्यायें - विकारी-अविकारी और अनंतगुण निर्विकारी, उनको धारण करनेवाला आत्मा उसे आत्मद्रव्य कहते हैं। वह आत्मद्रव्य (सर्वगतनय से सर्ववर्ती है)। इस में तो अभ्यास चाहिए, भाई ! एक साधारण अभ्यास करे, L. L. B. के लिए कितने वर्ष चाहिए ? M. A. (और) डोक्टर के अभ्यास के लिए कितने वर्ष चाहिए ? तो यह तो अनंतकाल से कभी भी अभ्यास किया नहीं है।

आहा..हा...! भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो आत्मा कहा, उसके अनंतगुण व अनंत पर्यायें समुदायरूप बताये (उस) एक-एक गुण को कहने जाय तो अनंतकाल में उन्हें कहा जा सके इतने तो उसमें गुण हैं !!

क्या कहा ? वह फिर से। यह जो आत्मवस्तु है, उस में उतने गुण हैं, ज्ञान-दर्शन-आनंद आदि अनंत... अनंत... एक समय में एक गुण कहे, दूसरे समय में दूसरा, तीसरे समय में तीसरा, तो अनंतकाल के तीनोंकाल के समय में अनंतगुण कहे नहीं जा सकते, संख्या में उतने अनंतगुण आत्मा में है, भाई ! यह न्याय से तो बात आ रही (है), ऐसी बात है। वकालत में तो मास्तर(शिक्षक)की अपेक्षा (थोड़ी) अधिक बुद्धि चाहिए।

यह तो नयी नयी बातें अंदर से आती हैं। ये तो अनंतकाल में जानी न हो ऐसी बातें हैं। यह तो इसमें तो पंतु का (किताबी किड़े का) काम नहीं है। इसमें तो पंडित का काम है। पंड्या (पंडित) उसे कहते हैं कि आत्मद्रव्य को जाने और माने, उसे पंडित कहते हैं। (ऐसा) `स्वामी कार्तिकेय' में आता है। कुछ समझ में आया ? लेकिन ऐसा जो आत्मा है, इसे अंदर जाने उसे पंडित कहते हैं - बाकी पंड्या-पंड्या-पंड्या छिलके कूटे (अर्थात्) छिलके कूटकर जैसे (अंदर से) अनाज निकलेगा (ऐसा अभ्यास किया) (परंतु) छिलकों में अनाज कहाँ था ? अनाज तो भिन्न चीज है, उसी प्रकार बहार की माथापच्ची करके जानपना कर लिया। अनेक प्रकार के सब छिलके (कूटे) (किन्तु) माल अंदर (अलग) पड़ा है। वस्तु भगवान आत्मा अंदर अतीन्द्रिय आनंद का सागर है, वह भी अतीन्द्रिय आनंद का एक गुण है। उसे भी

एक नय विषय करता (है)। आहा..हा...! अनंत ज्ञान अंदर बेहद गुण है, उसे भी एक नय विषय करता (है)। एक नय से पूरा आत्मा ज्ञात नहीं होता, आहा..हा...!

ऐसे अनंते गुण की जिसे (कहने में) एक समय लें। `क' (बोला जाता है उतने समय) का असंख्यवाँ भाग, उसमें एक गुण कहे, दूसरे समय में दूसरा, तीसरे समय में तीसरा तो तीनकाल के समय से भी वे अनंतगुने हैं। `क' बोले उतने में असंख्य समय चला जाता है। काल का छोटे से छोटा समय `क' बोलने में तो असंख्य समय चले जाते हैं। ऐसे तीनकाल के समय उनसे भी आत्मा के गुण की संख्या अनंतगुनी है। जितने गुण हैं उतनी पर्यायें हैं, अवस्थाएँ हैं।

आहा..हा...! इसमें जरा ज्यादा है। `**आत्मद्रव्य सर्वगतनय से (सर्ववर्ती है)।**' `पंचाध्यायी' में सर्वगत को नयाभास कहा है। भाई ! यह सर्वगत (माने) कोई सर्वव्यापक मान ले तो वह नयाभास है। यहाँपर सर्वगत का अर्थ स्वयं अपने में पूरा व्यापक है, - इस प्रकार सर्वगत लेना - `प्रवचनसार' में आता है न ! भाई ! तीनलोक के भाव उसमें ज्ञात हो जाते हैं। इस अपेक्षा से सर्वगत कहा जाता है।

प्रथम गाथा में (बात) आ चुकी है। २३, २४, २६, ३१, ३७ और ५० (गाथा) में लिखा है - २३ है, देखनी है ? लो न ! देखो न ! पुस्तक है कि नहीं ? ये वकील (भी) कानून निकालकर दिखाते तो होंगे न ! २३ गाथा... दो... और तीन... २३ गाथा। गाथा २३ निकालना नहीं आता! आ गई ! `**आदा णाणपमाणं**' मूलश्लोक - आत्मा ज्ञानप्रमाण है। है... पाठ ? मूलश्लोक में ऊपर। `**आदा**' माने आत्मा, `**णाणप्रमाणं**' माने ज्ञानप्रमाण (है)। णाण ज्ञेय प्रमाण (है)। जितने ज्ञेय हैं, उनके प्रमाण में ज्ञान है। क्या कहा ? यह भगवान आत्मा ज्ञानप्रमाण है। पूरा ज्ञानस्वरूप है। और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है। जितने ज्ञेय हैं न ! अनंत... द्रव्य-गुण-पर्याय, लोकालोक को जाननेवाला है। अतः ज्ञान - आत्मा ज्ञेयप्रमाण है। ज्ञान और ज्ञेय अनंत है। उस प्रकार ज्ञान अनंत ज्ञेयप्रमाण है।

अरे ! ऐसी बातें हैं, है ? दो बोल कहे। आत्मा ज्ञानस्वरूप से दर्पण समान (है)। (जैसे) गुड़ मिठास के स्वरूप से (है)। उस प्रकार आत्मा ज्ञानप्रमाण - जितना है उतना ज्ञानप्रमाण पूरा है। यह आत्मा ज्ञानप्रमाण और (ज्ञान) ज्ञेयप्रमाण (है)। ज्ञान का विषय अनंत द्रव्य-गुण-पर्याय, स्वयं वह ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है, उतने प्रमाण में ज्ञान

है।

ज्ञेय कितने हैं ? यह तीसरा बोल (है) ज्ञेय लोकालोक ज्ञान में जानने लायक ज्ञेय - लोकालोक चौदह ब्रह्मांड और अलोक खाली भाग (है)। (आकाश में) यूँ ही चारों दिशा में चलते चले जाओ तो कहीं भी अंत (नहीं है)। अंत है कहीं भी ? आकाश-आकाश-आकाश-आकाश अब (आगे) नहीं है, नहीं है (आगे) ऐसा है कहीं भी ? क्या कह रहे हैं यह ? आहा..हा...! इस तरह चौदह ब्रह्मांड, असंख्य योजन में इस लोक में है। फिर इस तरह खाली भग-आकाश है। उस आकाश का अंत कहीं भी है ? अंत होवे तो उसके बाद क्या ? आहा..हा...! वे सभी ज्ञेय है। आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है। और ज्ञेय अर्थात् लोकालोक - लोक चौदह ब्रह्मांड और अलोक सिर्फ खाली (वह) सब ज्ञेय (है)।

आत्मा ज्ञानप्रमाण और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण और ज्ञेय लोकालोकप्रमाण (है)। ये सारी बातें (कभी) सुनी न हो ऐसी बातें हैं। आहा..हा...! तीनलोक के नाथ तीर्थंकरदेव की शैली भिन्न - पूरी दुनिया से निराली - आहा..हा...! यहाँ तो मुझे अब कुछ और कहना था। चौथा बोल अब लेना (है)।

`णाणं तु सव्वगयं' है ? यह चौथा बोल (है)। चार बोल का विस्तार तो लम्बा है। यह तो संक्षिप्त (अर्थ हुआ)। भगवान आत्मा शरीरप्रमाण नहीं है और ज्ञानप्रमाण है। जितने में आत्मा उतने में ज्ञान और जितने में ज्ञान उतने में आत्मा (है)। आत्मा (ज्ञान) - का जानने का स्वभाव और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है। जितने ज्ञेय ज्ञान में ज्ञात हो उतने प्रमाण वह ज्ञान है। और ज्ञेय लोकालोकप्रमाण है। और इसलिए णाणं तु सव्वगयं... इस ज्ञान को सर्वगत कहा जाता है। एवं ज्ञान सर्व को जानता है। सर्व को (सभी को) जाने इसलिए सर्वगत कहा जाता है।

ज्ञान सभी में प्रवेश कर जाता है, व्याप्त (हो जाता है), ऐसा नहीं। किन्तु सभी को जाने इसलिए ज्ञान को सर्वगत कहा जाता है। सर्वगत का अर्थ ज्ञान सर्व में व्याप्त हो जाता है, - ऐसा नहीं। आहा..हा...! ऐसा है... है न ! तेईस (गाथा) तेईस और फिर पच्चीस (गाथा) है ? २६ (गाथा) लो, २६। देखो, `सव्वगदो' ! लो, २६ का प्रथम बोल।

सव्वदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा।

णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्त ते भणिया।।२६।।

आहा..हा...! ज्ञान में सभी पदार्थ समाविष्ट हो गये हैं। कह रहे हैं कि (ज्ञान में) आ गये हैं। अर्थात् उनका ज्ञान (हुआ कि) यह पुस्तक है। उसका ज्ञान यहाँ आया है। अर्थात् (द्रव्य) आ गया है। ऐसा कहा जाता है, वस्तु तो यहाँ पड़ी है। कुछ समझ में आया ? है ? सव्वगदो जिणवसहो, २६ है।

फिर (गाथा) ३१ है। देखो ! '**जदि ते ण संति अट्ठा णाणे**' भाषा देखो ! आहा..हा...! भगवान ज्ञानस्वभाव में लोकालोक पदार्थ यदि यहाँ न हो तो '**णाणं ण होदि सव्वगये।**' ज्ञान को सर्वगत नहीं कहा जायेगा। मूलश्लोक है। (इसको) मूलश्लोक सहित तो कई बार वच चुके हैं। आहा..हा...!

'**जदि ते ण संति अट्ठा णाणे णाणं ण होदि सव्वगयं।**' ज्ञान में उसका ज्ञान न हो तो वह सर्वगत कैसे कहा जा सकता है ? आहा..हा...! समस्त लोकालोक से संबंधित ज्ञान यहाँ आ जाता है। पदार्थ यहाँ नहीं आते।

रात्रि(चर्चा) में यह प्रश्न किया था न ! भाई ! पर्याय द्रव्य को जानती है, परंतु द्रव्य (में) पर्याय आती नहीं है। रात्रि में प्रश्न हुआ था, भाई ! ध्यान है न? क्या कहा ? कि जो यह ज्ञान की वर्तमान अवस्था है न ! अवस्था - वर्तमान प्रगट दशा, उसे पर्याय कहते हैं। वह पर्याय पूरे द्रव्य को जानती है, परंतु वह द्रव्य एक समय की पर्याय में आता नहीं है। जैसे सामने अग्नि है, उसे ज्ञान जानता है - परंतु अग्नि कोई उस ज्ञान में आ नहीं जाता। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...!

अतः '**णाणं ण होदि सव्वगयं। सव्वगयं वा णाणं कहं ण णाणठिया अट्ठा।।**' ज्ञान में सर्व पदार्थ क्यों नहीं है ? ऐसा कह रहे हैं - है इसलिए उनका ज्ञान है। ऐसा कहा जाता है। आहा..हा...! वीतराग के कानून बहुत सूक्ष्म, बापू ! ३६ (गाथा के) बाद - क्या कहा ! ३१ हुई न !

यह देखो (गाथा) ३५... '**जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा। णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे।।**' सभी पदार्थ ज्ञान में हैं। ऐसा यहाँ कहा जाता है। किस प्रकार से ? सभी पदार्थों का ज्ञान है इस अपेक्षा से... आहा..हा...!

यह ज्ञान की पर्याय है न ! प्रगट जानने में आती है न ! उसका यह ज्ञान वहाँ ज्ञात होता है। वह वस्तु यहाँ नहीं आती। वस्तु तो वस्तु में रहती है। परंतु

वस्तु संबंधित जो शक्ति है, उसका यहाँ ज्ञान होता है। इस अपेक्षा से ज्ञान में वह पदार्थ है ऐसा कहा जाता है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ! इत्यादि बहुत सारी व्याख्याएँ हैं। (गाथा) ५० कही न ! अंत में ! मैं तो उस 'अप्रदेश' का (अर्थ) देख रहा था... भाई ! सर्वगत के साथ 'अप्रदेश' को कहा था न ! यह 'अप्रदेश' तो शास्त्र में एक परमाणु को और कालाणु को अप्रदेश कहा है। समझ में आया !

आत्मा को असंख्यप्रदेशी के रूप में एक कहा है। 'अप्रदेश' नहीं कहा और उसका (अस्तित्व) गुण है, वह असंख्यप्रदेश है। वह असंख्य प्रदेश उसका गुण है। उसे अप्रदेश कहना, ऐसा नहीं हो सकता। यह तो 'विद्यानंदजी' ने लिखा है न अभी? वे जानते हैं कि नया अर्थ निकालकर बड़ाई-वाहवाही कमा लूँ, अरे प्रभु ! यह मार्ग कोई अनोखा है, बापू ! ये कोई विद्वत्ता की बातें नहीं हैं।

आहा..हा...! आहा..हा...! नियतप्रदेश आता है न भाई ! वह तो गुण है। असंख्य प्रदेश - सारे शरीरप्रमाण प्रदेश हैं। वे प्रदेश असंख्य हैं। यह निश्चय है। आहा..हा...! उसे समुच्चय करके एक प्रदेशी कह सकते हैं, परंतु उसे अप्रदेशी नहीं कह सकते। या एक(प्रदेशी) समुच्चय (भी) उसे कह सकते हैं - या असंख्य कह सकते हैं। असंख्य तो उसका गुण है।

आहा..हा...! ऐसा मार्ग है भाई ! अपना तर्क वहाँ काम नहीं आ सकता। परमात्मा को जो अभिप्राय कहना है वह अभिप्राय होना चाहिए इत्यादि बहुत बोल हैं।

यहाँ क्या कहा ? कि '**आत्मद्रव्य सर्वगतनय से, खुली हुई आँख की भाँति, सर्ववर्ती (सब में व्याप्त होनेवाला) है।** आँख यों खुली रखी है न ! देखो ! गिरनारजी के ऊपर जब चल रहे थे - जाते समय तो नजर यों (ऊपर) होती है, परंतु नीचे उतरते समय नजर यों होती है न ! ऊपर से दूर का इतना छोटा दिखता है कि पच्चीस-पच्चीस मील तक दिखता है। छोटे-छोटे गाँव और छोटे-छोटे घर दिखते हैं तो आँख तो जड़ इतने में है। वह तो जानती नहीं, परंतु वहाँ स्थित प्रदेश, ज्ञान की पर्याय इतना सारा जानते है। फिर भी वह चीज यहाँ नहीं आती। उसी प्रकार यह पर्याय वहाँ नहीं जाती। फिर भी उसका ज्ञान होता है।

(उन्नीसौ) चौरासी में एक प्रश्न हुआ था। (एक) वेदान्ती था। राणपुर में चातुर्मास था और '८४ की बात है। एक भावसार वेदान्ती था। व्याख्यान में आता था। व्याख्यान

में तो आते थे न! अन्यमती आते थे, वेदान्ती आते थे, श्वेतांबर के बहुत लोग आते थे। वहाँ उसने कहा - महाराज! आप सभी को जाननेवाला (आत्मा) बताते हो, तो यह परमाणु है उसे आत्मा किस प्रकार से जान सकता है ? क्योंकि अंदर प्रवेश करे तो जाने - बिना प्रवेश किये कैसे जाने ? ऐसा प्रश्न उसने किया - '८४ की बात है। कहा,बापू ! अग्नि को ज्ञान जानता है, तो अग्नि में ज्ञान प्रवेश करके जानता है ? अग्नि में प्रवेश करके जाने तो ज्ञान नष्ट हो जाय, फिर भी ज्ञान जानता है कि यह अग्नि है, यह जहर है, यह सर्प है, यह बिच्छू है। ज्ञान नहीं जानता ? परंतु ज्ञान साथ-साथ अंदर घूस गया है ? बिच्छू को छुए बिना बिच्छू को जानता है। भाई ! मार्ग बहुत सूक्ष्म है, बापू !

बात सच्ची (है)। भगवान आत्मा को सर्वगत क्यों कहा ? इस खुली आँख से जैसे सब कुछ ज्ञात होता (है)। वह चीज वास्तव में तो ज्ञात नहीं होती। वास्तव में तो उस चीज से संबंधित ज्ञान जानने में आता है। कुछ समझ में आया ? उस ज्ञान की पर्याय में जैसे खुली आँख से सब कुछ इस प्रकार ज्ञात होता है, इस प्रकार आत्मा की खुली ज्ञान की अवस्था से लोकालोक ज्ञात होते हैं। अतः उसे सर्वगत कहा जाता है। परंतु सर्वगत का अर्थ ऐसा नहीं है कि आत्मा वहाँ गया है। शब्द तो वहाँ ऐसा है। सर्वगत (अर्थात्) सभी पदार्थों में गया है। परंतु उसका अर्थ ऐसा नहीं है। सर्वगत का अर्थ सर्व का ज्ञान करना है, आहा..हा...! है न ! ज्ञान है। संस्कृत के प्रोफेसर हैं। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...!

जिसको 'पंचाध्यायीकार' ने नयाभास कहकर (एक तरफ) डाल दिया है - किसी एकान्त क्षण में (उसे) सभी में - सर्वगत इस अपेक्षा से; परंतु यहाँ तो सर्वगत अर्थात् जैसे आँख खुली (होवे) वह यों सब स्पष्ट जाने उस प्रकार ज्ञान की पर्याय इतनी विकसित हुई है कि वह लोकालोक को जाने फिर भी लोकालोक उसमें नहीं आते और ज्ञान की यह पर्याय लोकालोक में जाती नहीं। आहा..हा...! बड़ा कठिन मार्ग, बापू !

आत्मद्रव्य... यहाँ द्रव्य किसे कहा यह... गुणपर्याय का आधार पूरा द्रव्य, उसे यहाँ द्रव्य कहा - यहाँ द्रव्य माने सामान्य वस्तु अकेली बिना अंश के ऐसे द्रव्य की (बात) यहाँ नहीं है। कुछ समझ में आया ? वैसे तो सामान्य जो ध्रुव है उसे

द्रव्य कहते हैं और अवस्था को पर्याय कहते हैं। यह बात यहाँ नहीं है।

यहाँ पर तो सामान्य द्रव्य - उसके अनंत गुण, सामान्य - त्रिकाली और उसकी अनंती भेदरूप अवस्थाएँ, (इन) सभी का आधार, उसे आत्मद्रव्य कहा जाता है, आहा..हा...! अब ये क्रियाकांड के करनेवाले - व्रत-तप और भक्ति (करके) वहाँ (काय)क्लेश करके मर जाय बेचारे! (परंतु) यह वस्तु है, उसकी खबर नहीं है।

मैं कौन हूँ ! किस प्रकार से हूँ ! 'श्रीमद्जी' ने कहा नहीं है ! 'श्रीमद्जी' ने तो सोलह साल (की उम्र) में मोक्षमाला में कहा। 'मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया ? क्या स्वरूप है मेरा वास्तविक ? किसके संबंध से जंजाल (यह) है ? (उसे) रखूँ या परित्याग करूँ ! इसके विचार विवेकपूर्वक शांतभाव से यदि किये, तो सर्व आत्मिकज्ञान के सिद्धांत तत्त्वों का अनुभव करे।'

सोलह साल में (ऐसा) कहें कि संस्कार बहुत थे। क्षयोपशम अधिक था। उस समय में उनके बराबर क्षयोपशम किसी का नहीं था। धर्म में, हाँ ! अन्य (क्षेत्र में) भले होवे ! हाँ ! उन्हें तो छोटी उम्र में हुआ था। सोलह वर्ष की उम्र हो जाने के बाद बाहर के प्रशंसा के कार्य छोड़ दिये, शतावधान भी छोड़ दिये, वे तो आत्मा का कार्य करके चले गये। एक भव करके मोक्ष जायेंगे। ऐसी चीज है।

कौन क्रिया करे ? राग करने लायक है - यह मान्यता भी मिथ्यात्व है। यहाँ तो राग का परिणमन है। उसे एक नय जानता है। और ऐसे अनंत नयों का समुदाय ऐसा (जो) श्रुतज्ञान वह आत्मा को जानता है। वह द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों को जानता है। भान होने के बाद भी व्रत-तप-भक्ति का राग आता है, किन्तु वह जानने योग्य है। होता है, करना नहीं पड़ता, आ जाता है। सूक्ष्म बातें हैं, भाई ! बीच में कमजोरी के कारण - जब तक वीतराग नहीं होता है तब तक ऐसा शुभभाव आता है, परंतु वह हेयबुद्धिपूर्वक आता है, उपादेयबुद्धिपूर्वक नहीं आता।

आहा..हा...! इतने सारे पहलू, कहाँ तक जाने ? संसार के अभ्यास के मारे फुर्सत नहीं मिलती। आहा..हा...!

बीसवाँ (नय)। '**आत्मद्रव्य सर्गगतनय से, खुली हुई आँख की भाँति...**' भाषा देखो ! '**सर्ववर्ती (सबमें व्यापक होनेवाला) है।**' अर्थात् ज्ञान सबको जाननेवाला है, उसे सभी में व्याप्त होनेवाला है, ऐसा कहा जाता है। आहा..हा...! आँख यों जानती है वह

पर में यों व्याप्त हो जाती है ? गिरनार (पर्वत) ऊपर से देखा था, ऊपर से उतर रहे थे न ! यों दिखता है न ! कहा - यह कहाँ तक दिखता है ! आहा..हा...! वह इस आँख से दिखता है ? यह तो जड़ है, मिट्टी है, आँख तो यह जो है वह मिट्टी है, धूल है। अंदर में ज्ञान आत्मा की पर्याय है। वह उसको जानती है। यह तो जड़ है, उसे जाननेवाला ज्ञान है। और स्वयं भी है, और ये इन्द्रियाँ जड़ हैं, उसकी (उन्हें) भी खबर नहीं है, आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

खुली आँख से जैसे सब व्यापक दिखता है, वैसे भाषा देखो ! सर्ववर्ती सभी में व्याप्त होनेवाला है। वह स्वयं अपने गुण व पर्याय में व्याप्त होनेवाला है। उसे यहाँ (सभी में) व्याप्त होनेवाला कहा जाता है।

(आत्मा को) विभु कहा जाता है। आत्मा में विभु नाम का एक गुण है। ४७ नय में (शक्ति में) आ चुका है। विभु नाम का एक गुण है। वह विभु अर्थात् अपने अनंतगुण व अनंती पर्यायों में व्यापक है। परपदार्थ में व्यापक नहीं है।

आहा..हा...! वास्तव में तो भगवान आत्मा शरीर, कर्म और परपदार्थ को तो छूता भी नहीं है। कभी भी छूआ भी नहीं है। यह ऐसी (बात) (है)। क्योंकि वह प्रभु स्वयं तो वर्ण-गंध-रस-स्पर्श बिना की चीज है। ये सभी चीजें तो वर्ण-गंध-रस-स्पर्शवाली हैं - यह (अरूपी) आत्मा रूपी को छूए कैसे ? आहा..हा...! यदि छूए तो - वे दो भाव एक हो जाते हैं। अरूपी भाव हो जाता है। स्वयं को (पर) छूता नहीं है। आहा..हा...! बिना छूए भिन्न रहकर भिन्न का पूर्ण ज्ञान करे, इसलिए सर्ववर्ती कहा जाता है। परंतु सर्ववर्ती का अर्थ ऐसा नहीं है कि अपने ज्ञान की दशा छोड़कर परपदार्थ में घुस जाता है और (फिर) जानता है - ऐसा नहीं है। समझ में आया कुछ ? सभी नयी बातें लगेगी।

खुली रखी हुई आँख की भाँति 'सर्ववर्ती' पाठ कैसा है ? देखा ? सर्ववर्ती। आहा..हा...! '**सर्वगतनयेन विस्फारिताक्ष**' है न ? सर्ववर्ती पाठ है। देखो ! संस्कृत... संस्कृत में ! 'सर्ववर्ती' (पाठ है)। जैसे कि खुली आँख सभी में व्याप्त हो जाती है। अर्थात् खुली आँख सभी में विद्यमान है। ऐसा कहा जाता है। परंतु वास्तव में तो विद्यमान है अपने में - परंतु सभी को जानती है इसलिये सर्ववर्ती कही जाती है। इस प्रकार ज्ञान की पर्याय पर को जानती है। अतः पर में प्रवर्तमान है, ऐसा कहने

में आता है, परंतु पर में व्याप्त है इसलिए पर को जाने ऐसा नहीं। अपने में रहकर वह पर को पूर्णतः जानती है। स्वभाव ही पूर्ण जानने का है। आहा..हा...!

भगवान - ज्ञान की पर्याय में भले श्रुतज्ञान की पर्याय है, यहाँ साधक है न ! अभी तो यहाँ उस श्रुतज्ञान की पर्याय भी सभी को जानती है। सर्वज्ञ का विषय लोकोलोक है। वह विषय इसका (श्रुतज्ञान का) है। सिर्फ परोक्ष और प्रत्यक्ष का भेद है। आहा..हा...! फिर परोक्ष... व प्रत्यक्ष!! ज्ञान की वह पर्याय सभी लोकालोक को जानती है। परंतु प्रत्यक्ष माने अंदर में यह उसका पूर्णरूप है वह ऐसे प्रत्यक्ष हुआ नहीं है। परंतु पूर्णरूप है - ऐसा उसे ज्ञान हुआ है। आहा..हा...! जैसे अंधा आदमी शक्कर खाय (तब) अंधे को उस शक्कर का स्वाद प्रत्यक्ष है। परंतु वह शक्कर प्रत्यक्ष नहीं है, शक्कर उसे दिखती नहीं है। कुछ समझ में आया ? फिर भी शक्कर का ज्ञान-स्वाद है वह प्रत्यक्ष है। उस प्रकार लोकालोक का ज्ञान होता है, वह बात यहाँ ठीक है। परंतु (ज्ञान) लोकालोक में प्रवेश नहीं कर जाता।

आहा..हा...! उस शक्कर का स्वाद उसे आया, वह स्वाद उस शक्कर का नहीं है। क्योंकि शक्कर है वह तो जड़ है, रूपी है, मूर्त है। उसका स्वाद यहाँ नहीं है। परंतु उस स्वाद के ऊपर लक्ष जाने से उसे ठीक है - ऐसा राग आता है। उस राग का स्वाद वह लेता है। वह शक्कर तो जड़ है। यह तो अरूपी भगवान भिन्न है। कुछ समझ में आया ?

उसी प्रकार स्त्री के शरीर का भोग लेने में (वास्तव में) स्त्री के शरीर का जीव भोग नहीं लेता। सिर्फ वहाँ लक्ष जाने पर, मुझे ठीक लगता है, ऐसा राग करता है और राग का अनुभव करता है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? ऐसी बातें हैं। एक-एक न्याय में सत्य होना चाहिए न ! किसी न्याय में एक असत्य भी आये तो वह सत्य न रहे।

आहा..हा...! प्रभु का मार्ग तो सत्य है - तो कहते हैं कि सर्वगतनय में सर्ववर्ती कहा। उसका अर्थ यह कि सभी को जानता है। किन्तु सभी में विद्यमान है ऐसा अर्थ उसका नहीं लेना। मैं ने आज शक्कर खाई और मीठी लगी ऐसा बोला जाता है, किन्तु वह बात उस प्रकार से नहीं है। मीठे का सिर्फ यहाँ ज्ञान किया है। इसलिए मुझे मीठा लगा - ऐसा उसने कहा। आहा..हा...! मीठी है, यह तो जड़

की दशा है - अजीव की दशा है। यह भगवान तो अरूपी जीव है। वह अरूपी (तत्त्व) जीभ - जड़ को तो छूती नहीं है। ऐसी सब बातें हैं। अभी, यह जीभ शक्कर को छूती नहीं है। क्यों ? कि ये जीभ के रजकण और शक्कर के रजकण भिन्न हैं। तो एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ का अभाव है। तो अभाव दूसरे पदार्थ को छू ले तो भाव हो जाता है। आहा..हा...! भगवान के कानून बड़े अनोखे, बापू !

आहा..हा...! उसे छूता भी नहीं है और ज्ञान होता है। यह तो कई बार कहा नहीं था ? सूक्ष्म तो बहुत है, बापू ! पैर से जो चलते हैं न, परंतु उस दीवाल को पैर छूता नहीं है। दीवाल माने ज़मीन, ज़मीन को पैर छूता नहीं है। बापू ! ये बातें जड़ की कोई चमत्कारिक हैं !! आहा..हा...! जड़ की पर्याय परद्रव्य को छूती नहीं है। और चलती है, वह गति अपनी पर्याय से वहाँ (अपने) आधार से चलती है। ज़मीन के आधार से पैर नहीं चलता। ऐसी बातें हैं अब। पागल तो, इसे पागल ही कहेंगे न ! उसे कभी पता ही कहाँ है (कि) यह क्या है !

क्योंकि इन पैरों के जो कोई रजकण, एक-एक Pont - अंतिम टुकड़ा, उसमें परमाणु में अधिकरण-आधार नाम का गुण है। परमाणु में आधार नाम का गुण वहाँ स्थित है। यहाँ ज़मीन के आधार से परमाणु रहा है ? कि इसके आधार से रहा है ? (तो) (कहते हैं) इसके आधार से यह स्थित है ऐसा नहीं है। पागल करार कर दे (कोई) ऐसी बातें हैं, हाँ ! भगवान का मार्ग ऐसा है, बापू ! आहा..हा...!

जब ऐसा कहना है कि अनंत द्रव्य हैं। भगवान ने तो अनंत द्रव्य देखे हैं। अनंत आत्मा और अनंत रजकण - तो वे अनंत द्रव्य हैं। वे दूसरे के आधार से रहे तब तो द्रव्य स्वतंत्र नहीं रहे। प्रत्येक द्रव्य अपने आधार से अपने कारण से वहाँ स्थित है। आहा..हा...! जिस प्रकार पर को जानने में सर्व में विद्यमान नहीं हो जाता (घुस नहीं जाता) उस प्रकार, यहाँ यों पास-पास रहा है, फिर भी इसे यों करके छूता नहीं है। ये ऐसी बातें हैं।

अनंत द्रव्यों को जब सिद्ध करना है, साबित करना है न ! है... तो है... वे किस प्रकार से होंगे ? पर के आधार से रहे तो अपना द्रव्य अपने आधार से है - यह बात रहती नहीं है। पर के आधार से रहा, तो पर को दो अंक हो गये। आहा..हा...!

यहाँ तो कहते हैं कि - वह राग किया - हुआ, तो उसे जाना किसने ? कि ज्ञानने। अब वह ज्ञान कौनसा ? कि सम्यक्ज्ञान हो तो वह ज्ञान राग को जाने और वह ज्ञान, ज्ञान को जाने। उस ज्ञान में साथ में अनंत नय (भी) आ गये। उस ज्ञान द्वारा आत्मा ज्ञात होता है, तब उसे आत्मज्ञान कहा जाता है। विशेष कहेंगे...



दिव्यध्वनिके समय सामने धर्म-समझनेवाले जीव होते ही हैं। भगवानकी दिव्यध्वनिमें ऐसे न्याय निकलते हैं कि समझनेवालेको अपनेमें धर्मवृद्धिका निमित्त होती है। धर्मवृद्धिके विकल्पसे वाणीके परमाणु-बंधते हैं, वह वाणी सामनेवाले जीवोंको भी धर्म-वृद्धिका ही निमित्त होती है। समयग्दर्शनसे च्यूत होकर गिरने पर भी अर्धपुद्गलपरावर्तनकाल पर्यन्त ही संसारमें रुलते हैं; जगतमें अभव्यजीव भी हैं - इत्यादि सभी बातें दिव्यध्वनिमें आती हैं। परन्तु सुननेवालोंको तो वह वाणी धर्म-वृद्धि व पुरुषार्थ होनेमें ही निमित्त है। वाणी तो धर्मकी उत्पत्ति व वृद्धिमें ही निमित्त है। भगवानकी वाणी सुनकर तो बारह सभाओंके पात्रजीव स्वभाव-सन्मुख झुकते हैं। उस वाणीमें कहीं भी पुरुषार्थ-हीनताका आशय नहीं निकलता, वह ऐसी निमित्तभूत नहीं होती ।

(परमागमसार - ७८८)

आत्मद्रव्य असर्वगतनय से, मींची हुई (बन्द) आँख की भाँति, आत्मवर्ती (अपने में रहनेवाला है)। २१।

आत्मद्रव्य शून्यनय से, शून्य (खाली) घर की भाँति, एकाकी (अमिलित) भासित होता है। २२।



'प्रवचनसार', नय अधिकार (है)। २१वाँ नय :- क्या कहना चाहते हैं ? कि यह आत्मद्रव्य जो वस्तु है, वह पर से भिन्न (है)। परंतु अपने गुण व पर्यायों से अभिन्न (है)। क्या कहा यह ? कि आत्मवस्तु जो पदार्थ है, वह पर - शरीर, वाणी, कर्म - आदि परचीज से भिन्न (है) परंतु अपने जो गुण हैं, जो शक्ति-स्वभाव है और उसमें जो अस्तिरूप निर्मल व विकारी पर्याय का अस्तित्व है, उन सभी धर्म के समुदाय को धारण करनेवाला वह आत्मद्रव्य (अभिन्न) है। पहला शब्द यह आत्मद्रव्य है न ! २१(वाँ नय)। '**आत्मद्रव्य असर्वगतनय से, आत्मवर्ती है।**' आत्मद्रव्य तो त्रिकाली वस्तु को भी कहा जाता है। परंतु अभी ज्ञानप्रधान कथन में आत्मद्रव्य अर्थात् अनंतगुण व अनंती पर्याय, वह धर्म है, उसे धारण करनेवाला द्रव्य वह प्रमाण का विषय है। उसे यहाँ आत्मद्रव्य कहते हैं।

प्रमाण का विषय और निश्चय का विषय... और... यह क्या ? निश्चयनय का, विषय सिर्फ निश्चय का विषय लो; दर्शन की अपेक्षा से, हाँ ! तो त्रिकाली ज्ञायकभाव (है) वह दर्शन का विषय है। परंतु यहाँ तो ज्ञान का विषय बताना है। उसमें निश्चयनय भी एक नय आयेगा। व्यवहारनय भी एक आयेगा, और निश्चय माने स्वयं अपने से -

राग से बंधता है और (स्वयं) राग से छूटता है। ऐसा निश्चय (है) यहाँ वह निश्चय(नय) आयेगा। कुछ समझ में आया ?

आत्मा ही स्वयं राग में बंधता है और राग से छूटता है। ऐसा स्वयं निश्चय - रागपर्याय से बंधना व राग से छूटना ऐसा निश्चय - यह स्व की पर्याय का निश्चय - उसे निश्चयनयरूप एक नय गिना गया है। क्या कहा यह... समझ में आया ? यहाँ निश्चयनय का विषय इतना (सा) लेना है, आगे आयेगा, देखो है न ! कौनसा आया ? ४५(वाँ नय)।

उस ४५ में नय में निश्चयनय यह वहाँ परंतु आत्मद्रव्य वस्तु वह आत्मद्रव्य लेना है कि, अनंतगुण व अनंत पर्याय का समुदाय वह द्रव्य (है)। वह उसमें लेना है। और निश्चय से एक विषय लेना है।

`आत्मद्रव्य निश्चयनय से बंध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है, अकेले बध्यमान और मुच्यमान ऐसे बंधमोक्षोचित स्निग्धत्वरूक्षत्वगुणरूप परिणत परमाणु की भाँति। (निश्चयनय से आत्मा अकेला ही बद्ध और मुक्त होता है, जैसे बंध और मोक्ष के योग्य स्निग्ध या रूक्षत्वगुणरूप परिणमित होता हुआ परमाणु अकेला ही बद्ध और मुक्त होता है, उस प्रकार।)' परमाणु का उदाहरण है। यहाँ निश्चय माने राग से बंधना और राग से छूटना, यहाँ यह निश्चय लेना है और जहाँ सम्यग्दर्शन का विषय (रूप) निश्चय (लेना है) वहाँ अकेला ज्ञायकभाव ध्रुव - अनंतगुण का पिंड एकरूप उसे दर्शन का विषय, और उसे द्रव्य कहते हैं। ऐसी अपेक्षाएँ हैं, भाई ! यहाँ २० नय तक आया (है)। अब २१ (वाँ नय)।

अब, `आत्मद्रव्य (असर्वगतनय से आत्मवर्ती है)।' ऊपर प्रश्न उठा कि यह द्रव्य कैसा (है)? और यहाँ सम्यग्दर्शन के विषय(रूप) द्रव्य कैसा ? और यहाँ निश्चयनय के विषय का (द्रव्य) कैसा? क्या ? यह तो धैर्य की बातें हैं, बापू ! जो `समयसार' की ग्यारहवीं गाथा (में) निश्चयनय (है) वह तो जितनी पर्यायें हैं, - उन्हें वहाँ पर झूठी कहकर, अर्थात् गौण करके, व्यवहार करके, `नहीं है' ऐसा कहा, और त्रिकाली वस्तु जो ज्ञायकभाव नित्य प्रभु ! उसे मुख्य करके, निश्चय करके, उसे सम्यग्दर्शन का विषय कहा।

कितने पहलू बनते हैं ! और यहाँ पर निश्चय माने आत्मा स्वयं जो द्रव्य है

अर्थात् अनंतगुण जो त्रिकाली स्वभाव के साथ व उसकी अनंती पर्यायें - ऐसे धर्म का धारक वह आत्मद्रव्य, उस में निश्चय से अर्थात् राग से स्वयं बंधता है। और राग से स्वयं छूटता है। यह निश्चय (है)। आहा..हा...!

यहाँ पर पर्याय का निश्चय-स्व... स्वआत्मा (वह) राग से स्वयं अपने से बंधता है। यहाँ सम्यक्ज्ञान की सम्यक्ज्ञानी की बात है, क्या ? उन्हें नय भी दो (व्यवहार और) निश्चय-बंध और मोक्ष(पने से) आये न...! आहा..हा...! निश्चय माने स्व आश्रित-इतनी बात। यहाँ पर स्व शब्द से अपनी पर्याय, वह पर्याय राग में रुकती है और राग से छूटती है। इन दोनों में स्व-स्वयं राग से बंधता है और राग से छूटता है ऐसा एक नय लेना है। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं।

सम्यक्दर्शन का विषय निश्चय-अकेला ध्रुव द्रव्य (है)। यहाँ निश्चय-वह उसकी पर्याय की स्वतंत्रता(रूप) पर्याय का एक धर्म, राग में अटकना और राग से छूटना - ऐसा यहाँ निश्चय का विषय, वह एक नय है। - यह तो, ऐसे अनंत नयों का समुदाय प्रमाणश्रुत-भावश्रुत (है)। इस भावश्रुत से वह वस्तु प्रमेय अर्थात ज्ञान में ज्ञात हो सकती है। - वह ज्ञान में जानी जा सकती है। यह माने क्या ? आत्मद्रव्य। आत्मद्रव्य माने क्या ? कि अनंतगुण और अनंत पर्याय का धारक ऐसा द्रव्य, आहा..हा...! श्रुतप्रमाण द्वारा प्रमेय हो सकता है। ऐसी बातें है, बापू !

वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? उसमें यहां ४७ नय कहेंगे। उस में निश्चयनय आयेगा परंतु उस निश्चयनय का विषय-सिर्फ वर्तमान पर्याय स्वयं राग में अटकता है, और स्वयं राग से छूटता है। यह ज्ञानी की बात है, हाँ ! धर्मी जीव के श्रुतज्ञानप्रमाण द्वारा आत्मद्रव्य ज्ञात हुआ है। वस्तु का द्रव्य-गुण-पर्याय का ज्ञान हुआ है। उसमें निश्चयनय का एक धर्म भी उसके ख्याल में आया है।

आहा..हा...! मैं स्वयं ही राग में अटका हूँ। यह मेरी स्वतंत्रता है। और राग से छूट रहा हूँ, यह भी मेरी स्वतंत्रता है। इस स्वतंत्रता के स्व अपेक्षा से उसे निश्चय कहा है। ऐसे सब भेद हैं। पर्याय का स्व है न स्व ! स्व माने निश्चय और पर वह व्यवहार, इतनी अपेक्षा लेकर ज्ञान का कथन यहाँ है न ! यह ज्ञान तो सभी को जाने - दर्शन है वह तो निर्विकल्प सम्यग्दर्शन है। तो उसका विषय भी निर्विकल्प

(है)। उसका विषय त्रिकाली है। परंतु दर्शन के साथ हुआ ज्ञान, उस ज्ञान का विषय - अनंत धर्म-गुण का धारक द्रव्य और अनंती पर्याय का धारक द्रव्य, वह यहाँ पर प्रमाण का, श्रुतप्रमाण ज्ञान का विषय है। (जब) यह विषय चल रहा हो तब उसका पृथक्करण होवे न ! (विषय चल) न रहा हो तब खींचकर लाना मुश्किल पड़े। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! अब २१वाँ नय।

नय ज्ञान का अंश है। और ऐसे अनंत नय का समुदाय (है)। वह भावश्रुत ज्ञान की निर्मल पर्याय (है)। वह भावश्रुत (ज्ञान) है, उस पर्याय मे अनंत नय का स्वरूप एक श्रुतप्रमाण में आ जाता है। और वह श्रुतप्रमाण है, वह पर्याय है। फिर भी उस पर्याय का विषय श्रुतज्ञान प्रमाण का विषय अनंतगुण व अनंत पर्यायों का धारक द्रव्य, वह श्रुतज्ञान पर्याय का विषय है। आहा..हा...! इस- में दिमाग बहुत खपाना पड़ता है, सेठ !

आहा..हा...! सर्वज्ञ वीतराग ऐसा आत्मा का स्वभाव। आहा..हा...! कहते हैं कि यहां पर के साथ का संबंध छूटे - वह तो व्यवहारनय है, ऐसा भी एक विषय लेंगे। कर्म से निमित्त के संबंध में आया और निमित्त का संबंध छूटता है उसे एक व्यवहारनय का विषय गिनेगे।

(जितना) पर का संबंध (है) उतना राग है। उस व्यवहार (में) कर्म के साथ निमित्तपना है। और नैमित्तिक विकार है। उन दोनों संबंध का नाम व्यवहार (है), और उस कर्म का छूटना और विकारी पर्याय का छूटना, इन दो के संबंध को व्यवहार कहा जाता है, और आत्मा अकेला राग के - बंधन में अटके और अकेला आत्मा राग से छूटे उसे पर्याय का निश्चय कहते हैं।

आहा..हा...! एक अपेक्षा से त्रिकाली द्रव्य को निश्चय कहे और जितनी पर्यायें हैं, उनका भेद है, उसे व्यवहार कहे। उस त्रिकाली द्रव्य की एकरूपता की अपेक्षा पर्याय के जितने भेद, उसे व्यवहार कहे। यहाँ ज्ञानप्रधान कथन में दूसरी बात है। आहा..हा...! अपनी रागपर्याय में धर्मी स्वयं बंधता है, हाँ !

समकिती सम्यक्दृष्टि भी, जिसे भावश्रुत से आत्मा प्रमेय हुआ है, ज्ञान हुआ है। उसे भी अभी राग का बंधन है... साधक है न ! यह राग का बंधन है। और राग से छूटना भी है। भावबंधन और भावमुक्ति... आहा..हा...! ऐसी पर्याय की अपेक्षा उसे

स्व में है, उसे निश्चय कहा जाता है। भाई ! यहाँ पर तो बहुत कुछ है। यह तो बापू ! इस में एक-दो में समझ में आ जाय ऐसा नहीं है। ऐसा मार्ग ! आहा..हा...!

यहाँ कहते हैं, २०वीं में ऐसा कहा कि यह ज्ञानस्वरूप भगवान है। वह सर्व गुण-पर्याय को जानता है। जानता है इसलिए सर्वगत-पर में व्याप्त हुआ ऐसा कहा जाता है। आहा..हा...! (विकल्प) करके... हो गई सामायिक, बापू ! मार्ग अनोखा भाई ! दर्शन की व्याख्या क्या ? ज्ञान की व्याख्या क्या ? दर्शन का विषय क्या ? ज्ञान का विषय क्या ? आहा..हा...! इन सभी पहलुओं को जानना चाहिए, नहीं तो यह वस्तु, भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो वस्तु कही, वह वस्तु ज्ञान में नहीं आयेगी। (यदि) ये पहलू जानेंगे नहीं तो... कुछ समझ में आया ? तो यहाँ २० में ऐसा कहा।

२१वाँ (नय)। आत्मद्रव्य अर्थात् अनंतगुण व अनंत पर्याय का धारक - ऐसा। '**आत्मद्रव्य असर्वगतनय से, मींची हुई (बन्द) आँख की भाँति, आत्मवर्ती (अपने में रहनेवाला) है।**' वह आँख मिची हुई है - वह अंदर में है। उस प्रकार आत्मा असर्वगत(नय से) पर में व्याप्त नहीं हुआ, परंतु अपने आत्मा में ही व्याप्त है। आत्मा में ही व्याप्त है। उसमें सर्ववर्ती था (२०वें नय में) इसमें - आत्मवर्ती (है)। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? उसे अभ्यास के लिए कुछ समय चाहिए। निवृत्ति चाहिए। तब यह समझ में आये ऐसा है। आहा..हा...! अभ्यास (चाहिए)।

आत्मद्रव्य - असर्वगतनय से मिची हुई आँख की भाँति - अंदर आत्मवर्ती है। आत्मा में ही है। वह - सर्व में व्यापक नहीं है। यह एक नय है। वह आत्मवर्ती है। आत्मा अंदर (व्यापक है) यह भी एक नय है। इस एक नय द्वारा पूरा आत्मा - अनंतगुण व अनंत पर्याय का द्रव्य, पूरा एक नय से (एक नय का) विषय नहीं हो सकेगा। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? आत्मवर्ती - अपने में रहनेवाला है। वह (द्रव्य) रहा तो है अपने में परंतु - यों सभी को जानता है न ! - इस अपेक्षा सर्ववर्ती कहा जाता है। मेरी आँख वहाँ गई थी - ऐसा कहते नहीं है ? मेरी आँख (नज़र) वहाँ गई थी, इसलिए मैंने जाना है। आँख वहाँ कहाँ जाती है ? ऐसा कहते हैं (कि) आँख मेरी सब जगह घूम चुकी है, सब जगह घूमी (इसमें) सब जगह कहाँ घूमे ? है तो यहाँ की यहाँ, परंतु पर को जाना इस अपेक्षा से घूमी - इस तरह - सर्वगत कहा जाता है।

दीपक अंदर हो तो इतने में (प्रकाश) जानो, और यों ढक्कन खुल जाय तो दीपक सभी को प्रकाशित करे। - लो, यह बात, सभी को दीपक प्रकाशित करता है। उसमें दीपक है न! ढक्कन ढके तो इतने को ही प्रकाशित करे। ढक्कन खुला छोड़ो तो सभी को प्रकाशित करे - परंतु सभी को प्रकाशित करता है - तो दीपक का प्रकाश वहाँ कही गया नहीं है। कुछ समझ में आया ? यह दृष्टांत दिया है। इसमें जैसे दीपक है, उसका ढक्कन ढका हो तो उतने को प्रकाशित करे। ढक्कन खुला करे तो सभी को प्रकाशित करे उस प्रकार आत्मा के राग का नाश हुआ, और केवलज्ञान हुआ तो (ज्ञान) सभी में जायेगा कि नहीं ?

आँख जैसे घूम जाय, वैसे ज्ञान सभी में जाय कि नहीं ? (तो) (कहे) ना... उसका स्वभाव तो वहीं रहने का है। जैसे आँख आँख में ही रही है। घूम गई, इसका मतलब कहीं गई है, ऐसा नहीं। वह 'द्रव्यसंग्रह'में आता है - वह याद आ गया, फिर - आहा..हा...! एक बोल लिया है, वहाँ 'द्रव्यसंग्रह' में... कि भाई, जब आत्मा के आवरण टल जाय तो फिर जैसे दीपक सभी को प्रकाशित करता है। उसी प्रकार व्यापक हो जाय तो आपत्ति क्या है ? इस प्रकार लोकालोक प्रमाण हो जाय तो आपत्ति क्या है ? वेदान्त कहता है कि, आत्मा सर्व व्यापक है। ऐसा हो जाय तो आपत्ति क्या है ? (तो) (कहते हैं) आपत्ति है, सुन... वहाँ सर्वज्ञ दशा हुई इसलिए सब ज्ञात हो गया परंतु वह ज्ञान पर में व्याप्त हो गया है, ऐसा नहीं है। पर को जानने की अपेक्षा से व्याप्त हुआ है। ऐसा कहने में आये परंतु पर में व्याप गया है, ऐसा नहीं है। आहा..हा...!

ऐसे कितने सारे पहलू... ! इसी प्रकार असर्वगतनय से मिची हुई आँख की भाँति आत्मवर्ती है। है तो वह आत्मवर्ती। उसमें भी एक नय से पर को जानता है, अतः वह (पर)पदार्थ में व्याप्त है, ऐसा एक नय से कहा जाता है। वह तो 'प्रवचनसार' में कहा है। वह कहा था न ? आत्मा ज्ञानप्रमाण... ज्ञान ज्ञेयप्रमाण... और ज्ञेय लोकालोकप्रमाण... इसलिए फिर ज्ञान में सारे अर्थ तो समाविष्ट है, ऐसा क्यों न कहे, यों कहते है।

क्या कह रहे हैं ? सुनो अब, यह तो अंदर से आता जाय, याद आता जाय... अंदर (पहले से) तैयार करके नहीं रखा है। समझ में आया ? आत्मा पर को जानता

है तब भी ज्ञान कोई पर में प्रवेश नहीं करता, वहाँ का वहाँ रहता है। क्या कहा प्रथम ? आत्मा ज्ञान स्वभावी है। बस... यह बात है। ज्ञान में सभी पदार्थ आ गये हैं। ऐसा कहा है। ऐसा मेरा कहना है। ऐसा पाठ है। यहाँ ज्ञान में जिस पदार्थ से संबंधित ज्ञान स्वयं के द्वारा हुआ है, वह पदार्थ कारण नहीं। वे अनंत पदार्थ हैं, उनका यहाँ ज्ञान हुआ है। उस पदार्थ का जैसा स्वरूप है, वैसा यहाँ ज्ञान हुआ, (तो) वह पदार्थ के कारण नहीं। वह अपने कारण हुआ। फिर भी ऐसा कहने में आये कि... उस ज्ञान में सर्व पदार्थ (आ गये ऐसा) क्यों न कहे ?

केवल पदार्थ का ज्ञान आया, तो पदार्थ-(अर्थ) ज्ञान में क्यों नहीं आ सकता ? (तो कहते हैं) आता है, आ सकता है। कुछ समझ में आया ? और जब आत्मा सभी को जानता है तो ज्ञान उसमें व्याप्त होता है, ऐसा क्यों न कहें ? पल्टी मारकर दोनों तरह से लिया है। आहा..हा...! इसमें आता है। पहले शुरू की गाथाओं में आता है। दिमाग में भाव रहता है, परंतु गाथा याद (नहीं रहती)। भाव तो सारे दिमाग में रहते हैं। कुछ समझ में आया ?

क्या कहा ? एक तरफ यों कहा, प्रभु ! तेरा ज्ञानस्वभाव ऐसा है। स्वपरप्रकाशक स्वतः स्वभाव है। अतः तू पर का प्रकाशक हुआ तो उस ज्ञान में अर्थ आये, ऐसा क्यों न कहें ? उस से संबंधित ज्ञान आया तो वह पदार्थ आया ऐसा क्यों (न कहें ?) व्यवहार से न कहें ? आहा..हा...! और ज्ञान जब पर को आत्म जानता है, तो ज्ञान पर में व्याप्त होता है। ऐसा क्यों न कहें ?

आहा..हा...! सूक्ष्म बात है। बापू ! यह अधिकार ही ऐसा है। आहा..हा...! यह तो, अंदर दिमाग में से आता जा रहा है। उस प्रकार यहाँ सर्वगत (तथा) असर्वगत की व्याख्या है। ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा अपने में रहकर सब कुछ जानता है। तो उसे सर्ववर्ती क्यों न कहें? और वह सब में जाता नहीं है और अपने में विद्यमान है, स्थित है। तो आत्मा आत्मवर्ती है, ऐसा भी क्यों न कहें ? दो नय हुए। पर में व्याप्त होता है वह (जानने की अपेक्षा) सर्वगत नय। वह सिर्फ अपने में ही व्याप्त होता है - वह असर्वगतनय हुआ। एक-एक नय का एक-एक विषय है। ऐसे अनंत नय का एक श्रुतप्रमाण है।

है तो श्रुतप्रमाण पर्याय। पर्याय है वह प्रमाण है। प्रमाण माने द्रव्य-गुण-पर्याय

सभी को जाने... उसे प्रमाण कहते हैं। और एक द्रव्य त्रिकाली को जाने उसे निश्चय कहते हैं। एक पर्याय को जाने उसे व्यवहार कहते हैं। दोनों को पूरा जाने उसे प्रमाण कहते हैं। अरे ! इतना सारा! आहा..हा...!

वीतरागमार्ग बहुत सूक्ष्म... बापू ! संप्रदायों में तो सब धुएँ में चलते हैं (उल्टी-सीधी बात चलाते हैं)। यह उपवास करो और तप करो और बस हो गया, जाओ। (धर्म हो गया)... अरे! प्रभु का मार्ग बापू (कुछ अलग ही है)। वह ज्ञानस्वरूपी भगवान... आहा..हा...! उसका कितना सामर्थ्य है ?! उसकी दो अपेक्षाएँ ली। पर को जानता है, इसलिए सर्ववर्ती कहा और अपने में ही स्थित है, इसलिए आत्मवर्ती कहा। आहा..हा...! समझ में आये उतना समझना। बापू ! यह तो वीतराग का मार्ग है। भाई ! आहा..हा...! २१वाँ नय हुआ।

अब... २२वाँ (नय)। आत्मद्रव्य... आत्मद्रव्य माने सब जगह यह समझना। यहाँ द्रव्य माने सामान्य ध्रुव ऐसा नहीं। (परंतु) ध्रुव उसके गुण व उसकी पर्यायें (सभी)। उसके अस्तित्व में जितना है, उन सबको आत्मद्रव्य कहते हैं। आहा..हा...! लोक में कहते हैं, हल्दी की गाँठ हो तो व्यापारी नहीं बन जाता ! व्यापारी के पास तो सैकडों हजारों चीजें होती हैं। उस प्रकार आत्मा का एक ही बोल पकड़ा... तो हो गये हम ज्ञानी, ऐसा नहीं है। भाई ! कुछ समझ में आया ?

यहाँ तो अनंत नयों का विषय अनंतधर्म। धर्म अर्थात् गुण व पर्याय। इन सभी विषय को श्रुतप्रमाण जान सकता है। प्रमेय कर सकता है, ऐसा उसका स्वभाव है। उन अनंत नयों के समुदाय(रूप) भावश्रुतज्ञान एक समय का प्रमाण है। फिर भी वह प्रमाण सभी प्रमेय को (अर्थात्) वह द्रव्य-गुण सभी को (जानता है)। पर्याय में स्थित ज्ञान उसकी सभी पर्याय को जानता है। पर पर्याय हुए बिना वह पर्याय द्रव्य-गुण व पर्याय को जानती है... द्रव्य में गये बिना... क्या कहा यह ? सूक्ष्म... सूक्ष्म... कातना है। यह तो १२० नंबर का धागा... काता जा रहा है। आहा..हा...! (ऐसी) आत्मवस्तु है।

यहाँ, आत्मद्रव्य माने उसकी अनंती शक्तियाँ, कायम रहनेवाली और अनंती पर्यायें, समय-समय पर होनेवाली, उन दोनों का समुदाय - उसे आत्मा कहा जाता है। इसलिए अनंतगुण व अनंत पर्याय (है) इसलिए एक-एक गुण व एक-एक पर्याय का विषय

करनेवाला ज्ञान का अंश उसे नय कहते हैं। और उस ज्ञान के अंश का पूरारूप उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। है श्रुतज्ञान पर्याय, आहा..हा...! फिर भी वह पर्याय त्रिकाली द्रव्य को भी जानती है, गुण को जानती है, खुद अपने को जानती है, पर्याय पर्याय को भी जानती है और वह पर्याय अनंती पर्यायों को भी प्रमेयरूप जानती है। आहा..हा...!

अरे ! तत्त्वज्ञान का सारा विषय ही पूरा बदल गया। आहा..हा...! भगवान त्रिलोकनाथ - तीर्थंकरदेव - उनका जो ज्ञान और उसका विषय क्या है ! (उस में) पूरी फेरबदल हो गई। जिस को जैसी समझ में आयी वैसी बातें आत्मा की करे। कल्पना से धर्म की बातें करी, बापू ! ऐसा मार्ग नहीं है, भाई ! आहा..हा...! आत्मा पर के संबंधवाला (है ऐसा) एक नय कहेगा, परंतु वह नय है, वह ज्ञान का अंश स्वयं में है। क्या कहा यह ?!

पुनश्च व्यवहारनय में, कर्म का संबंध व कर्म का असंबंध छूट जायेगा। उसे व्यवहार कहते हैं। परंतु वह व्यवहारनय है वह तो ज्ञान की पर्याय अपने में है। वह कोई कर्म में और कर्म का संबंध छूटे उसमें कोई नय नहीं है। कुछ समझ में आया ? वह नय है। वह नय है वह भले ही (कर्म के) संबंध व असंबंध का लक्ष करता है। इसलिए उसे व्यवहारनय कहते भी हैं, तो ज्ञान का अंश स्वयं का - और ऐसे अनंते नयों का समुदाय वह श्रुतप्रमाण है। है तो वह पर्याय, परंतु पर्याय है, वह द्रव्य को, गुण को, विकारी पर्याय को, अविकारी पर्याय को और स्वयं को - सभी को प्रमेय करके जानती है।

आहा..हा...! इसमें ऐसा सब भरा (है), बापू ! यह तो वीतरागी वाणी है। भाई ! आहा..हा...! गंभीर... गंभीर... गंभीर। ज्ञान की गंभीरता बहुत है। भाई ! थोड़ा-बहुत आ गया तो ऐसा समझे बस, अब हमने जान लिया है। परंतु बापू ! वह परलक्षी ज्ञान ! वह वस्तु अलग है। भाई ! आहा..हा...! यहाँ तो स्वलक्षी ज्ञान हो ऐसा जो श्रुतज्ञान, उस श्रुतज्ञान में भी अनंत धर्म को जाननेवाले अनंत नय शामिल हो जाते हैं। नय अंश (है) और (प्रमाण का) पर्याय है वह अंशी है। अंशी एक है (तथा) नय हैं वे अनंत हैं। और यह श्रुत(ज्ञान) है, वह प्रमाण है। अतः उसे अंशी कहा जाता है। परंतु दूसरी अपेक्षा से त्रिकाली द्रव्य है, उसका वह श्रुतप्रमाण पर्याय ह। अतः उसे अंशी भी कहा जाता है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ! उसे भगवान

(कहकर) पुकारते हैं। आहा..हा...! यह वस्तु प्रभु (है) ऐसा कहते हैं। आहा..हा...!

यह (आत्मद्रव्य असर्वगतनय से) आत्मवर्ती है। है न ? वह भी एक नय है। एक धर्म को विषय करता है। और यहाँ तो अनंता गुणों का धर्म और अनंती पर्यायों का धर्म (श्रुतज्ञान में ज्ञात होता है)। धर्म माने धारण करके रखे ऐसा जो आत्मा वह श्रुतज्ञान द्वारा प्रमेय हो सकता है। एक नय से प्रमेय (नहीं हो सकता)। एक नय से एक गुण व एक पर्याय को, जान सकते हैं। परंतु अनंता गुण व अनंती पर्याय को - धर्म को धारण करनेवाला आत्मद्रव्य (वह श्रुतज्ञान द्वारा प्रमेय हो सकता है)। पहले यह कहा। (और २२वें नय में ऐसा कहा) यह `**आत्मद्रव्य शून्यनय से, शून्य (खाली) घर की भाँति, एकाकी (अमिलित) भासित होता है।**' शून्यनय से (कहने में) यहाँ दूसरी अपेक्षा है।

एक शून्य-अशून्य `पंचास्तिकाय' में भी आता है। भाई ! आता है न ? सप्तभंगी (में) आता है। आहा..हा...! वहाँ स्वपने से अशून्य है। और पर से वह शून्य है। `पंचास्तिकाय' में आता है। १४वीं (गाथा) में आता है। भाव दिमाग में रहता है इसलिए सब गाथाएँ याद (रहे) ऐसा क्षयोपशम कहाँ है ? संतों का क्षयोपशम तो गज़ब का (होता है), बड़े समुद्र भरे रहते हैं।

आहा..हा...! उसमें (`पंचास्तिकायसंग्रह' गाथा-१४ में) ऐसा लिया कि, आत्मा स्वपने से अस्ति है इसलिए अशून्य है। अशून्य है माने `है'। और आत्मा पर से नहीं है। अतः पर की अपेक्षा से आत्मा शून्य है। कुछ समझ में आया ?

यह उँगली है, यह उँगली अशून्य है। अशून्य माने `है' - नहीं है ऐसा नहीं। अशून्य है। अतः इसकी (अन्य उँगलियों की) अपेक्षा शून्य है। क्योंकि यह इसमें नहीं है, नहीं है इसलिए इसकी अपेक्षा शून्य है। और अपनी अपेक्षा से अशून्य है। भाई ! ज्ञान में ऐसे ऐसे पहलू हैं, बापू! वीतरागमार्ग बहुत चौड़ा, बहुत गंभीर, उत्कृष्ट सत्य, परम पवित्र (है), प्रभु ! परंतु उसके पहलू समझे बिना तत्त्वज्ञान नहीं होता। आहा..हा...! वहाँ वह (`पंचास्तिकाय' में) लिया है। वह स्वपने से अशून्य है। (और) परपने से शून्य है। वह तो सिर्फ दो प्रकार लिये। यहाँ (नय में) शून्य व अशून्य एक-एक धर्म गिनना है। क्या कहा ? कि वहाँ (`पंचास्तिकाय' में) (शून्य-अशून्य) अस्तिकाय में लेते हैं। आत्मा पर से शून्य (है)। अपने सब द्रव्य-गुण-पर्यायें हैं, अतः उसे अशून्य कहा।

यहाँ, एक नय का विषय शून्य है।

वीतराग का मार्ग बापू (बहुत सूक्ष्म)। सुबह कहा था न ! दो और दो चार है। बात तो ऐसी है। यह तो उसको बराबर समझ में आये ऐसा है। ध्यान दे तो पकड़ में आ सके ऐसा है। भाषा सादी है। इसमें कोई ऐसी बड़ी संस्कृत और व्याकरण नहीं है। आहा..हा...! यहाँ कह रहे हैं कि, शून्य किसे कहना ? `**आत्मद्रव्य शून्यनय से, शून्य (खाली) घर की भाँति, एकाकी (अमिलित) भासित होता है।**' अकेला (खाली) घर होता है, वैसे (आत्मद्रव्य) पर से रहित अकेला शून्य - पर से रहित शून्य भासित होता है। पर उसमें नहीं है। आहा..हा...! शून्यनय से खाली घर की भाँति अकेला (है)। पर के अभावरूप शून्य भासित होता है। आहा..हा...! ऐसा भी एक नय है।

आत्मा के अलावा जितने सारे पदार्थ हैं - शरीर, मन, वाणी इत्यादि - इन सबका उसमें अभाव है। अपने भाव में उन सभी चीजों का अभाव है। तो इस अभाव की अपेक्षा से शून्य कहा जाता है। उसमें ये सब नहीं है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? अरे ! पर अंदर कहाँ से आये ? अभी वह (पर अंदर में) नहीं है। विकार तो अपना है। यहाँ तो, साधक जीव की श्रुतज्ञानप्रमाण की पर्याय, लेकर उसका विषय बताया है। श्रुतज्ञान का विषय बताया है न ? केवलज्ञान को साधक कैसे कहे ? यह श्रुतज्ञानप्रमाण का विषय बताया है। भाई !

एक प्रश्न किसी ने किया था। ऐसा कि, यह केवलज्ञान का विषय है या साधक का ? यहाँ तो श्रुतज्ञान का विषय (है) और साधक जीव की बात है। केवलज्ञानी को श्रुतज्ञान कहाँ है ? उन्हें नय भी कहाँ है ? और प्रमाण भी कहाँ है ? वह तो संपूर्ण वस्तु पूर्णानंद का नाथ, पूर्ण ज्ञानस्वरूप परिणमन कर रहा है। परंतु यहाँ तो श्रुतज्ञानप्रमाण का विषय (तथा) साधक जीव के लिए बात है। साधक किसे कहना ? कि यहाँ अनंत नय का समूह श्रुतप्रमाण का विषय (है) अतः यहाँ साधक की बात है। कुछ समझ में आया ?

यहाँ मिथ्यात्व की बात नहीं लेनी है। यहाँ तो पर से शून्य है। यहाँ तो समकित की बात है। सिर्फ समकिती को जो ज्ञान हुआ उस ज्ञान में परपदार्थ की शून्यता है। परपदार्थ से रहित है। खाली घर होता है उस भाँति। परपदार्थ (से) आत्मा खाली है। आहा..हा...! मार्ग बहुत सूक्ष्म बापू ! आहा..हा...! अलौकिक मार्ग है। और

उसके फल भी (कैसे) ? अनंतगुण व अनंती पर्यायों का (पिंड) एक-एक गुण और पर्याय को विषय करनेवाला नय, ऐसे अनंत नयों का समुदाय श्रुतप्रमाण, उस श्रुतप्रमाण का विषय (पूरा) द्रव्य-गुण-पर्याय (विकार) सहित... हाँ !

आहा..हा...! इस में आ गया। समकिती के भी राग है। कर्ता(नय) में आयेगा। वह बाद में रखना। कर्ता-भोक्ता(नय) में (आयेगा)। यहाँ पर यह भारी तकरार थी न ! ऐसे कि ज्ञानी के राग होता ही नहीं है, और (ज्ञानी के) दुःख होता ही नहीं है। तो यहाँ तो कहते हैं कि, ज्ञानी के भी राग है उतना दुःख है। और उसको जाननेवाला एक नय भी है। और उस नय का समुदाय श्रुतप्रमाण उस दुःख को जानता है। उस समय सुख की पर्याय (है) उसे भी जानता है। गुणों को जानता है और पूरे द्रव्य को श्रुतप्रमाण जानता है। श्रुतप्रमाण - उसमें दुःख नहीं है, ऐसा नहीं जानता। साधक है न ! आहा..हा...! गज़ब बात है। ओहो..हो...! (मिथ्यात्व को) मार डाला है। बहुत स्पष्ट हो जाय तब मिथ्यात्व चूरचूर हो जाता है। आहा..हा...!

चैतन्य दीपक जहाँ अंदर से जागा... आहा..हा...! उस जागने की अपेक्षा से यहाँ बात है। अज्ञानी की बात अभी यहाँ नहीं है। आहा..हा...! भगवान आत्मा... धीरे धीरे सुनना, भाई ! अंदर से निकलता जाता है वह आता रहता है, यह कोई पहले से तैयार करके नहीं रखा था। आहा..हा...! कहते हैं, प्रभु ! एकबार सुन तो सही। तेरी पर्याय में जो राग होता है (साधक-समकिती के) और राग का दुःख होता है उस दुःख को जाननेवाला भी एक नय है। और उस अनंत नय के समुदाय के रूप श्रुतज्ञान में भी वह द्रव्य-गुण और दुःख-सुख सब प्रमेय हो सकता है। उस श्रुतप्रमाण में उसका ज्ञान हो सकता है। भाई ! गज़ब बात है न ! ऐसा मार्ग है।

यह 'सोगानी' का पढ़ा ? 'द्रव्यदृष्टिप्रकाश'। 'द्रव्यदृष्टिप्रकाश' देखा भाई, तुमने ? वह नहीं देखा होगा। 'द्रव्यदृष्टिप्रकाश' गहन है। १-२ तीसरा (भाग) नहीं पढ़ा होगा। लेकर जाना, यहाँ से जाओगे तब लेकर जाना। तीनों ही भाग दे देना। पूरी पुस्तक देना।

अब, यहाँ आये हो कितने समय के बाद... कुछ ले तो जाओगे... यहाँ से... हाँ ! बहिन के वचनामृत एक दिया... फिर तुम्हारे यहाँ आत्मधर्म मंगवाते हैं। उसमें भेटरूप तो आयेगा... दूसरा... यह तो तुम अभी से ही शुरूआत करो। आये हो तो

अभ्यास करो, बापू ! मार्ग ऐसा है। प्रभु... दुनिया के साथ मेल नहीं मिलता। परंतु इसमें असत्य है ऐसा नहीं है।

आहा..हा...! (कोई) ऐसा मान रहा हो कि दृष्टि की अपेक्षा से ऐसा (अर्थात्) (धर्मी को राग) है ही नहीं। परंतु दृष्टि की अपेक्षा से (यहाँ) प्रश्न ही कहाँ है ? दृष्टि के साथ जो सारा ज्ञान है, उसे साथ में लेना चाहिए न ! और दृष्टि में ऐसा है, सुनो, चरणानुयोगसूचक चूलिका में 'प्रवचनसार' में पीछे आता है कि ज्ञेय और ज्ञायक दोनों की प्रतीति को समकित कहते हैं। आहा..हा...! भाई ! २४२ (गाथा) (४५० पृष्ठ) आहा..हा...! यह रहा। यह देखो। '**ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृतत्त्व तथाप्रकार (जैसी है वैसी, यथार्थ) प्रतीति जिसका लक्षण है वह सम्यग्दर्शनपर्याय है;...**' देखा ? सम्यक्दर्शन (किसे कहें) बापू ! मार्ग यह तो, (सूक्ष्म है) यह तो तीनलोक के नाथ की वाणी है। आहा..हा...! है ? पहली पंक्ति ? २४२ (गाथा में) यह ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृतत्त्व देखा? दोनों लिये, आहा..हा...! ज्ञानप्रधान कथन है न ?

'ज्ञेयतत्त्व और ज्ञानतत्त्व की जैसी है वैसी यथार्थ प्रकार से प्रतीति जिसका लक्षण है, वह सम्यग्दर्शन पर्याय है।' आहा..हा...! क्या !

प्रश्न :- ध्येय की अपेक्षा से बात है !

पूज्य गुरूदेवश्री :- वह ध्येय की बात नहीं है। ध्येय भी ज्ञेय और ज्ञान - पूरा सब मिलकर एक आत्मा है। ऐसे आत्मा की प्रतीति, ऐसा कहा। यहाँ तो, ज्ञानप्रधान (कथन) है न ? आहा..हा...! ओहो...! तीनलोक के नाथ की वाणी कैसी आती होगी ? केवलज्ञानी, जिनकी सभा में सिंह और बाघ और नाग-काले नाग, पच्चीस-पच्चीस हाथ के लम्बे काले... जंगल में से चले आते हैं (इस वाणी को) सुनने के लिए, आहा..हा...! और वहाँ साथ में चूहे होते हैं।

वर्तमान में, समोवसरण में त्रिलोकनाथ बिराजमान है। वहाँ (महाविदेह में)। सीमंधर भगवान बिराजमान हैं। पाँच सौ धनुष का देह है। कोटि पूर्व की आयु है। (भरतक्षेत्र के) बीसवें (तीर्थंकर) मुनिसुव्रत भगवान के काल में दीक्षा अंगीकार की है, तब केवलज्ञान हुआ है। और आनेवाली चौबीसी के १३वें तीर्थंकर के काल में मोक्ष सिधारेंगे। इस समय वे अरिहंतपद में हैं। आनेवाली चौबीसी में यहाँ (भरतक्षेत्र में) जब १३वें तीर्थंकर होंगे, तब वहाँ से प्रभु का देह छूटकर (वे) सिद्ध होंगे। ये बिराजमान हैं, अरबों

साल से बिराजमान हैं। भाई !

आहा..हा...! कहाँ चल रहा है अपना ? शून्यनय से... आहा..हा...! `**आत्मद्रव्य शून्यनय से, खाली घर की भाँति...**' आहा..हा...! पर से खाली (है)। इस अपेक्षा से, हाँ ! `**शून्य घर की भाँति, एकाकी (अमिलित) भासित होता है।**' अकेला आनंद और ज्ञानस्वभावी बस, आहा..हा...! वह भी एक नय है। यह... भी एक नय है और ऐसे अनंत नयों का समुदाय वह श्रुतज्ञानप्रमाण (और) वह (गुण-पर्याय का धारक) सब मिलकर पूरा दृश्य है।

आहा..हा...! यहाँ पूरा धर्मी - द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों मिलाकर पूरा धर्मी माना है। एक-एक धर्म का एक-एक (नय) परंतु ऐसे अनंत नयों का समुदाय वह श्रुत(प्रमाण) उस गुण-पर्याय को धारण करनेवाला पूरा द्रव्य - उसे यहाँ संपूर्ण द्रव्य कहा है।

प्रमाण का विषय पूरा द्रव्य लिया है। निश्चय का (दृष्टि का) विषय द्रव्य सामान्य पूरा अंश (पर्याय बिना का) वह अलग वस्तु। फिर भी ज्ञानप्रधान अधिकार में ऐसा आया। (२४२ गाथा में) ज्ञेयों की व ज्ञान की यथार्थ प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

दर्शन की अपेक्षा से (पर्याय) भले न हो, परंतु साथ में ज्ञान हुआ, वह ज्ञान अंदर राग है, अंदर दुःख है उसे ज्ञेयरूप जानता है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! अंश अंश को जानता है। जितने अंशों मे राग है, दुःख है, उतने अंश वह नय जानता है। और पूरे अंशी द्रव्य-गुण-पर्याय को श्रुतप्रमाण जानता है। तो वह श्रुतप्रमाण सच्चा है, ऐसा कहा जाता है। मेरी पर्याय में दुःख ही नहीं है, और राग ही नहीं है, तो वह श्रुतप्रमाण सच्चा नहीं है।

उस प्रकार आत्मा अन्य द्रव्य की अपेक्षा से तो शून्य है, प्रभु ! आहा..हा...! वे (परद्रव्य) आत्मा में नहीं हैं। भगवान त्रिलोकनाथ आत्मा में नहीं हैं। आत्मा में राग का विषय नहीं है। (परंतु) राग है, आहा..हा...! राग है, वह अशून्य में जाता है। दृष्टि की अपेक्षा से आत्मा राग से शून्य-खाली है। यह बात दूसरी है। परंतु उसके साथ हुआ श्रुतज्ञान (है) वह राग का शून्यपना मेरे में है, ऐसा जानता है, आहा..हा...!

ओहो..हो...! क्या प्रभु को कहना है ! गज़ब बात है ! ऐसा मार्ग। थोडा-बहुत

सुनकर, पढ़कर हो जाता है कि, बस, हम जानते हैं। ऐसा नहीं है, बापू...! यह तो गंभीर है, भाई ! 'सागर वर गंभीरा' लोगस्स के पाठ में नहीं आता है ? लोगस्स में आता है न भाई ! 'लोगस्स उज्जोअगरे' 'सागर वर गंभीरा' 'सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु' लोगस्स में आता है।

भगवान का मार्ग बहुत गंभीर है और गहरा है। गहरा, आहा..हा...! (चंपा)बहिन ने तो एक (जगह) ध्रुव को तल कहा है। उसमें आयेगा। (चंपा)बहिन के वचनामृत में। इस पर्याय को तल में ले जाना। तल माने ध्रुव। पर्याय वर्तमान है, वह क्षणिक दशा है। सूक्ष्म बात है। पूरा आत्मा है न ? यह आत्मा है न अंदर ? यह... यह... तो सभी जगह ऊपर... इसकी पर्याय है, हाँ ! आत्मा की पर्याय (है)।

यह पर्याय सभी जगह ऊपर है और सभी जगह भीतर (गहराई में) ध्रुव है, वहाँ (पर्याय को ले जाना)। आहा..हा...! इन सभी पर्यायों को अंदर तल में ले जाना, इसके - ध्रुव के स्वभाव के तल में उसे ले जाना। आहा..हा...! (आप) हो न ? इसमें पुस्तक में (बहिनश्री के वचनामृत में) आयेगा। '**आत्मद्रव्य शून्यनय से खाली घर की भाँति (एकाकी) (भासित होता है)।**' (ऐसा) एक नय है... लो... विशेष आयेगा।



ज्ञानको, स्वतंत्र मानने वाला ज्ञेयको भी स्वतंत्र मानता है।
ज्ञेयको स्वतंत्र मानने वाला ज्ञानको भी स्वतन्त्र मानता है । परन्तु
स्वयंको पराधीन माननेवाला सभीको पराधीन मानता है।
(परमागमसार - ७५५)

आत्मद्रव्य अशून्यनय से, लोगों से भरे हुए जहाज की भाँति, मिलित भासित होता है। २३।

आत्मद्रव्य ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय से (ज्ञान और ज्ञेय के अद्वैतरूप नय से), महान ईंधनसमूहरूप परिणत अग्नि की भाँति, एक है। २४।

प्रवचन : दि. ३१-१२-१९७७

'प्रवचनसार'। बाईस (वाँ नय) चल रहा था। शुरू से (लें)। क्या है ? कि शिष्य का यह प्रश्न है कि आत्मा कैसा है ? (ऐसा) एक प्रश्न (है)। और (दूसरा प्रश्न है) किस रीति से - किस विधि से प्राप्त हो सकता है ? कैसा है, (ऐसा) पूछने में मात्र आत्मा कैसा है ? ऐसा नहीं है। परंतु शिष्य का प्रश्न यह है कि, वह किस तरह प्राप्त होता है ? ऐसा प्रश्न है। कैसा है आत्मा ? (ऐसा) कहकर (पूछनेवाला) रुका नहीं है।

आत्मा कौन है ? कैसा है ? इतनी बात; परंतु उसकी प्राप्ति कैसे हो ? प्राप्ति की बात है उसकी (और) प्राप्ति का (ही) काम है। शिष्य के मुख से गुरु ने ऐसा प्रश्न रखा है। ऐसे शिष्य को और ऐसा प्रश्न करे उसको हम उत्तर दे रहे हैं। ऐसा पहले कह चुके हैं।

प्रारंभ में है - देखो । है ? यहाँ फिर से भी आया न ? ऐसा प्रश्न करे उसका उत्तर कहा जा चुका है। ऐसा प्रश्न किया जाय तो.. है ? देखो, आहा..हा...! शैली तो देखो ! छह द्रव्य कैसे हैं ? और आत्मा की पर्यायें कैसी हैं ? और गुण कैसे हैं ? ऐसे प्रश्न नहीं किये हैं। परंतु आत्मा कैसा है ? और वह किस तरह प्राप्त हो ? और हमें यह आत्मा कैसे मिले ? आहा..हा...! ऐसा प्रश्न यदि किया

जाय तो उसका उत्तर दिया जा रहा है। कि जिसके हृदय में ऐसी जिज्ञासा है, ऐसों को यह उत्तर दिया जा रहा है।

कुछ तो कहा जा चुका है। परंतु फिर से भी ऐसा (ही) प्रश्न उठे (जिसका) उत्तर को दिया जा रहा है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

आत्मद्रव्य। यह आत्मद्रव्य अर्थात्, अनंतगुणों व अनंती पर्यायों (का अधिष्ठाता है)। उसमें विकारी और अविकारी सहित (सभी पर्यायें आ गई)। यहाँ अज्ञानी की बात नहीं है; यहाँ ज्ञानी की व्याख्या है। इसलिए 'आत्मद्रव्य' यह शब्द आते ही, उसमें से ऐसा आया कि, आत्मद्रव्य उसमें अनंतगुण और उसकी अनंती पर्यायें (हैं)। उन पर्याय के भी दो भाग - कुछ विकृत हैं और कुछेक अविकृत हैं। ऐसी अनंत पर्याय और अनंतगुण का अधिष्ठाता - स्वामी आत्मद्रव्य कहा जाता है। इस आत्मद्रव्य की व्याख्या इतनी है। कुछ समझ में आया !

यह आत्मद्रव्य ऐसा है। बेहद अनंतगुण संख्या में अनंत और उसकी पर्यायें (भी) बेहद - संख्या में अनंत... उसमें कुछेक विकारी हैं और कुछेक अविकारी हैं। इन सभी पर्यायों और गुणों का धर्म। उस धर्म को धारण करके रखनेवाला (आत्मा) उसमें राग होता है, उसे भी यहाँ धर्म कहा है। धर्म अर्थात् राग को, निर्मल पर्याय को, गुण को धारण करके रखे, ऐसा जो आत्मद्रव्य। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? उसके लिए यहाँ 'आत्मद्रव्य' शब्द का प्रयोग किया है।

अब उसका (शिष्य का) दूसरा प्रश्न यह है कि, किस तरह प्राप्त होवे ? उसका उत्तर सामान्यरूप से तो दे चुके हैं कि, अनंतगुण व अनंत पर्यायें एक-एक नय से एक-एक ज्ञात होते हैं, ऐसे अनंत नय हैं। इन अनंत नयों का समुदाय श्रुतज्ञानप्रमाण है। श्रुतज्ञान एक समय की पर्याय है, परंतु वह प्रमाण है। इन अनंतनयों के समूहरूप श्रुतप्रमाण; इस श्रुतप्रमाण द्वारा, इन अनंतगुण व अनंतपर्याय का स्वामी ऐसा आत्मद्रव्य, प्रमेय होता है। कुछ समझ में आया ? ऐसा संक्षिप्त और एकदम मीठा है।

अर्थात् सम्यक्दृष्टि ज्ञानी के भी श्रुतप्रमाण द्वारा प्रमेय हो तो उसका अर्थ यह हुआ कि इसकी पर्याय में राग है, दुःख है। यह भी एक नय का विषय है। ऐसे अनंत नयों का समुदाय- यह श्रुतप्रमाण है। अर्थात् श्रुतज्ञानप्रमाण में अनंतगुण का धारक द्रव्य, वह भी पर्याय में प्रमेय हुआ वह निर्मल पर्याय में, वे भी श्रुतपर्याय में

प्रमेय हुई और उसमें विकारी अवस्था भी है। वे भी श्रुतज्ञानप्रमाण में (प्रमेय हुई)। नयों के समुदाय को ले तो विकार को भी जाने ऐसा एक नय है, आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

अर्थात् श्रुतज्ञानप्रमाण से आत्मा ज्ञात होता है। उसमें, पर्याय में विकार है, यह भी ज्ञात होता है। सम्यक्दर्शन के विषय में ले तो सिर्फ ज्ञायकभाव (आता है)। इस ज्ञायकभाव को वहाँ द्रव्य कहा जाता है और यहाँ श्रुतप्रमाण के विषय के अंतर्गत आत्मद्रव्य अर्थात् अनंतगुण व अनंत पर्यायें (विकृत और अविकृत) इन सभी का समुदाय इसे आत्मद्रव्य कहा जाता है, आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? सूक्ष्म बातें हैं। भाई ! आहा..हा...! अर्थात् श्रुतज्ञानप्रमाण (जो) पूर्ण हुआ है (वह) है तो एक समय की पर्याय। त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से पर्याय को व्यवहार कहा जाता है। इतना भेद है। परंतु यहाँ तो, जो व्यवहार-जो पर्याय है, वह अनंत नयों के समुदायरूप एक समय का प्रमाणज्ञान (है)। इस प्रमाण में समस्त गुण व अनंती पर्यायोंरूप धर्म (प्रमेय होता है)। उसको धारण करके रखनेवाला अधिष्ठाता-स्वामी आत्मा है।

आहा..हा...! एक तरफ ७३ गाथा में ऐसा कहते हैं कि, विकार का स्वामी कर्म है। और यहाँ कहते हैं कि विकार का स्वामी आत्मा है। किस अपेक्षा से है ? इस प्रकार है। दृष्टि की अपेक्षा से बात दूसरी है और ज्ञान की अपेक्षा से बात दूसरी है। वही के वही `अमृतचंद्राचार्य' ने ४७ शक्तियों का वर्णन किया, वहाँ पर विकृत अवस्था ली ही नहीं है। क्योंकि शक्ति का वर्णन है, शक्ति में द्रव्यदृष्टि का विषय है। इसलिए ४७ शक्ति कहकर अनंती शक्तियों का समुदाय द्रव्य, वह सम्यग्दर्शन का विषय है और इसलिए उसकी परिणति (भी शुद्ध है, ऐसा कहा)। शक्तियाँ शुद्ध व पवित्र हैं, अतः उसकी परिणति भी शुद्ध व पवित्र है। विकृत अवस्था तो कहीं पर ली ही नहीं है। विकृत अवस्था है उसका यहाँ ज्ञान है - यह ज्ञान इसमें लिया।

शक्ति के वर्णन में निर्मल परिणति क्रमपूर्वक वर्तती है वह तथा अक्रमपूर्वक रहनेवाले गुण-उनका समुदाय सो द्रव्य। वहाँ तो, वह निर्मल पर्याय व अनंतगुण - का धारक एक द्रव्य (है)। इस द्रव्य की दृष्टि करने पर उसकी दृष्टि में तो द्रव्य अभेद आता है। उसके विषय में पर्याय भी आती नहीं है। विकृत तो नहीं, किन्तु अविकृत पर्याय

भी उसके विषय में नहीं आती, आहा..हा...!

भाई ! सूक्ष्म बहुत लिया। आहा..हा...! यहाँ दृष्टि के साथ हुआ ज्ञान (वह) है तो प्रमाण (की) पर्याय; श्रुतप्रमाण कोई गुण नहीं है... परंतु उस श्रुतप्रमाण की इतनी ताकत है कि अनंत नयों का एकरूप ऐसा श्रुतप्रमाण, इस प्रमाण द्वारा, भगवान आत्मा के गुण और उसकी विकृत-अविकृत अवस्था उसके धर्म को धारण करनेवाला धर्मी (उन सबको जानता है)। इस श्रुतप्रमाण में द्रव्य भी आता है, गुण भी आते हैं, अविकृत अवस्था भी आती है और विकृत अवस्था भी आती है। ऐसी बात है, कुछ समझ में आया !

ऐसा सूक्ष्म आता है, बापू ! (आत्मा का) पर के (साथ) कोई संबंध नहीं है। इस जीव की पर्याय में विकृत अवस्था का अस्तित्व स्वयं के कारण (ही) है। ऐसा यहाँ सिद्ध किया है। कुछ समझ में आया ! और जहाँ ('समयसार' में) ७५, ७६, ७७, ७८ गाथा (में) कर्ता-कर्म (अधिकार) में - वहाँ तो ऐसा नियम लिया कि, आत्मद्रव्य जो शुद्ध है, उसका विषय करके जो सम्यग्दर्शन हुआ, उसमें जितना विकार बाकी रहा उस विकार का व्यापक कर्म है और विकार उसका व्याप्य है।

इसमें कितना कितना याद रखें ? मार्ग ऐसा गंभीर है। आहा..हा...! वहाँ पर तो व्यापक कर्म है और विकारी पर्याय उसका व्याप्य है। वहाँ स्वभाव में (विकार) नहीं है, (विकार) निकल जाता है, इसलिए कर्म को व्यापक कहकर विकार को व्याप्य कहा है। अरे ! वहाँ तो यहाँ तक लिया है। ('समयसार') १०९, ११०, १११, ११२ (गाथा में) कि जो आत्मा है, उसमें जो कर्म है वह भिन्न (है)। वह भिन्न कर्म व्यापक होकर, प्रसरकर (फैलकर) नये कर्मरूपी बंधन का व्याप्य(रूपी कार्य) उसे व्यापक कहते हैं। कुछ समझ में आया !

पुराने कर्मों के रजकणों का उदय - यह पर्याय है, आहा..हा...! वह नये कर्मों को बाँधते हैं। इसलिए पुराने कर्मों को व्यापक कहकर, नये कर्म को व्यापक कहकर, आत्मा में (कर्म का) व्याप्य-व्यापक(पना) नहीं आता। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? यहाँ तो ऐसी बात है... बापू! हल्दी की गाँठ लेकर किराने के बड़े व्यापारी बन जाय ऐसा नहीं है। **सारे पहलू जानने चाहिए, क्यों(कि) सभी ओर से भूला है, इसलिए बहुत पहलूओं से उसका ज्ञान करना चाहिए।** कुछ समझ में आया...!

यहाँ इस श्रुतप्रमाण का विषय ऐसा है। श्रुतप्रमाण में सिर्फ सामान्य द्रव्य नहीं आता। (परंतु) उसके गुण आते हैं, उसकी विकारी पर्यायें आती हैं। साधक सम्यग्दृष्टि जीव के श्रुतज्ञान होता है। कुछ समझ में आया ? प्रमाण में इस श्रुतज्ञान का प्रमेयरूप में ज्ञान होता है। विकार का ज्ञान होता है, अविकारी का ज्ञान होता है, गुण का (ज्ञान) होता है। द्रव्य, गुण व पर्याय रूपी सारे धर्म धारण करके रखे (हैं), ऐसा आत्मा प्रमेय होता है। कुछ समझ में आया ? यह तो बहुत बार कहा जा चुका है। याद न रहे उसके लिए यहाँ पहले आत्मद्रव्य कहा... यहाँ तो फिर सिद्ध क्या करना है ? ध्यान रखो...

अशून्यनय से इसमें (सब) है। शून्यनय से तो पर से रहित है, पर से खाली है। ऐसा कहा। अब अशून्यनय से तो अशून्यनय में विकृत (अवस्था) भी आ जाती है। अतः अशून्यनय से `है'। उस प्रकार, शून्यनय से - अर्थात् उसमें `नहीं है'। यह एक नय है। एक नय एक गुण को - एक भाग के विषय को कहता है।

अब, यह दूसरा अशून्यनय है। वह भी एक ही (अंश को) विषय करता है। फिर भी कल कहा था। `पंचास्तिकाय' में शून्य-अशून्य नय लिया है। सप्तभंगी ली है। उसमें स्व से अशून्य है। और पर से शून्य है। यह सप्तभंगी में शामिल एक नय है। और यह शून्य है। यह अनंत (नयों में) शामिल एक नय है। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं।

स्यात् अस्ति-स्यात् नास्ति। आता है न ? (`पंचास्तिकाय' में) वहाँ वह स्वपने से अशून्य है। और परपने से शून्य है। इस प्रकार पहले सप्तभंगी की अस्ति-नास्ति लेकर फिर शून्य-अशून्य पर लिया। परंतु वह शून्य है - यह सात नयों में से एक नय है। और यह शून्यनय है, यह अनंत नयों में से एक नय है। इसमें (`प्रवचनसार' में) एक ही आता है। इसमें सब गुण इत्यादि और पर्याय इत्यादि आता है। और पर्याय (जो) विकारी है, वह इसमें आती है। आहा..हा...! थोड़ी सूक्ष्म बात है।

क्या कहे ? शून्यनय से पर का अभाव है। शून्य-विकार का अभाव है, ऐसा नहीं। इसमें भी जो स्वपने से है, उतना अशून्य है। (और) परपने से शून्य है। यहाँ तो ऐसा लेना है। परंतु वहाँ सप्तभंगीवाला एक नय - पूरा अशून्यरूप में आता है। एक नय में शून्यपना और अशून्यपना, एक-एक नय का एक-एक धर्म... सूक्ष्म है...

भाई ! ऐसा विषय है...

बापू ! कहीं भी ऐसा नहीं मिलेगा... आहा..हा...! भाग्यशाली के कानों में (ही) पड़े ऐसा है। ऐसी सूक्ष्म वस्तु है। आत्मद्रव्य - उसकी व्याख्या करी। अब, अशून्यनय से अर्थात् उसमें 'है'। यह '**आत्मद्रव्य अशून्यनय से, लोगों से भरे हुए जहाज की भाँति, मिलित भासित होता है।**' अनंतगुण और अनंती पर्याय - विकृत या अविकृत (तथा) अनंतगुण, अशून्यनय से सब कुछ है, ऐसा भासित होता है। यह अनंत नय का समुदाय वह प्रमाण। कुछ समझ में आया ?

यह तो अभी एक नय है। अन्य बहुत सारे बाकी रह गये। अनंत नय (हैं), यह तो एक नय (हुआ)। ४७ (नय) कहकर बंद कर दिया। शक्तियों का वर्णन - ४७ कहकर बंद कर दिया। उपादान-निमित्त के ४७ दोहे कहकर बंद कर दिया। घातीकर्म की ४७ प्रकृति कहकर बंद कर दीया। यह तो जैनधर्म है, बापू ! और यह तो दिगंबर धर्म, वही जैनधर्म। आहा..हा...! परम सत्य, उसे श्रवण करने के लिए समय चाहिए। आहा..हा...!

भगवान आत्मा में एक नय ऐसा है। एक गुण को, अर्थात् एक धर्म (को) जाननेवाला, हाँ! अभी नय (चल रहे) हैं न ! इन अनंत नयों में से एक नय (ऐसा) आयेगा। और उसमें ('पंचास्तिकाय' में) जो शून्य-अशून्य नय हैं, वे सप्तभंगीवाले (नयों)में से एक नय है। और एक नय से वह अशून्य है और सप्तभंगीवाला एक नय शून्य है। यहाँ अनंत नयोंवाले (नय)में से एक शून्य-अशून्य है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

जिस प्रकार लोगों से भरा हुआ जहाज हो, उस प्रकार आत्म(द्रव्य) अनंतगुण और अनंती पर्यायों से भरा (है)। अशून्य माने 'है'। (अर्थात्) भरा हुआ है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया!

शून्य माने खाली। ऐसा शून्यनय में आया न ? '**खाली घर की भाँति...**' परंतु पर की अपेक्षा खाली गिनकर उसे खाली कहा। और यहाँ तो स्व की अपेक्षा से सब कुछ 'है'। शैली तो देखो! चारों ओर (अविरोध वाणी है)। यहाँ भी यही कहा, एक नय से - अशून्यनय से - विकार भी है, कुछ समझ में आया ? आहा..हा...!

(सम्यक्दृष्टि के) पूर्ण विकार नहीं है; पूर्ण विकार मिथ्यादृष्टि के है। और पूर्ण

अविकार केवलज्ञानी के है। एक अपेक्षा अभी १४वें की बाकी है; परंतु ज्ञान व सुख की अपेक्षा लेकर (केवली पूर्ण हैं)। १४वें (गुणस्थान) तक अभी असिद्धभाव है। एक अंश अभी (वहाँ) मलिन है - परंतु उन्हें नय नहीं है। केवली के नय नहीं है, नय तो श्रुतज्ञानी (के होता है)। अभी (वह) विकार करता है तो (श्रुतज्ञानी के नय होता है)। केवलज्ञान की पर्याय भी व्यवहारनय का विषय है। और यह चौदहवें गुणस्थान की पर्याय भी व्यवहारनय का विषय है। यह तो श्रुतप्रमाणवाले की बात है। उन्हें (केवली को) नय कहाँ है ? कुछ समझ में आया !

'**आत्मद्रव्य अशून्यनय से, लोगों से भरे हुए जहाज की भाँति, मिलित भासित होता है।**' आहा..हा...! (लोगों से) भरा हुआ जहाज पूरा पड़ा है। उस प्रकार आत्मा में अनंतगुण व निर्मलपर्याय, विकारी पर्याय, ये एक नय से मिलित भासित होते हैं, एक नय हाँ ! आहा..हा...! उतना एक नय, बस। इन सभी पर्याय-गुणों से एक धर्म का - एक अंश अशून्यरूप से - सहित भासित होता है। भगवान (आत्मा) गुण एवं विकारी-अविकारी पर्याय से सहित भासित होता है। अशून्य है। विकार भी अशून्य है; अर्थात् है। निर्मल पर्याय भी अशून्य है; अर्थात् है। गुण भी निर्मल अशून्य है; अर्थात् है। ऐसे अनंतगुण व अनंत पर्यायरूपी धर्म है। विकार को भी यहाँ धर्म कहा है।

धर्म का मतलब धारण करके रखी हुई पर्याय, उसे यहाँ धर्म कहते हैं। भगवान आत्मा ने विकार को भी धारण करके रखा (है)। अतः उसे धर्म कह रहे हैं। कुछ समझ में आया ! एक ओर कहते हैं कि राग अधर्म है। अरे ! किस अपेक्षा से ? वह राग विकृत है। और धर्म की वास्तविक पर्याय वह नहीं है इसलिए वह अधर्म है। यहाँ, तो सिर्फ आत्मा ने धारण करके रखा है, इसलिए उसे धर्म कहते हैं।

धर्म अर्थात् मोक्ष का मार्ग। और मोक्ष का मार्ग भी एक धर्म है। उसे धारण करके रखा है। राग भी एक धर्म है। और उसे धारण करके रखा है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ! सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, जो अविकारी मोक्ष का मार्ग, वह भी एक धर्म है। धर्म अर्थात् आत्माने धारण करके रखी हुई एक दशा है। वह अपूर्ण साधक है, अतः उसकी विकृत अवस्था (में) दया-दान-काम-क्रोधादि होते (हैं)। आहा..हा...! ज्ञानी के चौथे-पाँचवें (गुणस्थान में) रौद्रध्यान भी होता है।

आहा..हा...! वह रौद्रध्यान भी अशून्य है। अर्थात् 'है'। इसमें - आत्मा में रौद्रध्यान है। आहा..हा...! यहाँ तो आत्मा उसे कहा है और फिर तो आत्मद्रव्य की पहली व्याख्या कही। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ! ऐसा सब तो कहाँ सुना होवे? भाई ! क्या आपके वहाँ था? मार्ग बहुत कठिन प्रभु ! आहा..हा...!

दर्शन की अपेक्षा से तो दर्शन निर्विकल्प है। सम्यक्दर्शन निर्विकल्प है। अतः उसका विषय भी निर्विकल्प अभेद है। और ज्ञान सविकल्प है। सविकल्प अर्थात् रागसहित, ऐसा नहीं। ज्ञान सविकल्प अर्थात् स्व और पर को पृथक् पृथक् जानता है इसलिए उसे सविकल्प कहा जाता है।

केवलज्ञान भी सविकल्प है। स्व और पर अर्थ को जानना। उसका नाम सविकल्प है। विकल्प अर्थात् यहाँ राग नहीं है, वैसे ही श्रुतज्ञानप्रमाण भी सविकल्प है। सविकल्प अर्थात् अनेकपने को - स्व को, गुण को, राग को (जाने) परंतु उसमें पर का अभाव है। उसे जाने उतनी उसकी ताकत है। आहा..हा...!

दर्शन के विषय में सिर्फ अभेद (आत्मा आता है)। दूसरी तरह से दर्शनउपयोग में सिर्फ अभेद (आता है)। उसमें यह जीव है और यह अजीव है ऐसा भेद दर्शनउपयोग में (नहीं आता)। सम्यक्दर्शन और उसका विषय अभेद (है), यह दूसरी बात है। दर्शनउपयोग उस में सब सत्ता (अर्थात्) द्रव्य-गुण-पर्याय सब वहाँ दर्शनउपयोग में आ जाता है। कुछ समझ में आया !

आहा..हा...! श्रुतज्ञानप्रमाण के समय भी दर्शनउपयोग है। कुछ समझ में आया ! दर्शनपूर्वक ज्ञान है। ऐसा कहा न, भाई ! 'द्रव्यसंग्रह' में सब जगह कहा है। दर्शनपूर्वक (ज्ञान है)। छद्मस्थ के जो दर्शन है, उस दर्शनउपयोग में कुछ भेद ही नहीं है। यह द्रव्य है और वह गुण है और यह पर्याय है। वह तो सामान्य है। 'है' ऐसा भी भेद वहाँ नहीं है। समझाने में आता है कि 'है' ऐसा दर्शनउपयोग सत्ता में है, उसे जानता है। उसके साथ रहा हुआ ज्ञानोपयोग एक-एक द्रव्य को, उसके गुण को, उसकी पर्याय को, उसके अविभाग प्रतिच्छेद को - विकृत और अविकृत (सभी को जानता है)। आहा..हा...! उपयोग भले असंख्य समय में काम करे परंतु काम तो एक समय में - उपयोग का काम इतना है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ! '**लोगों से भरे हुए जहाज की भाँति मिलित भासित होता है।**' लो, यह २३वाँ (नय)

हुआ।

अब, २४(वाँ नय)। `आत्मद्रव्य' पहले कहा वह आत्मद्रव्य। अर्थात् सामान्य द्रव्य है, वह नहीं। आत्मद्रव्य (अर्थात्) विकारी-अविकारी पर्याय सहित है, वह आत्मद्रव्य, कुछ समझ में आया! पहले आया था न कि `आत्मद्रव्य द्रव्यनय से' शुरूआत वहाँ से हुई है। वह द्रव्यनय से एक नय है। और आत्मद्रव्य है वह अनंतगुणों का समुदाय सो आत्मद्रव्य है। उस आत्मद्रव्य में द्रव्यनय से सामान्यरूप से एक जाननेवाला वह भी नय है।

आहा..हा...! एक में द्रव्य आया और नामस्थापना द्रव्यभाव उस में एक द्रव्य आया। वह द्रव्य माने योग्यता। वह भी एक नय है। वह द्रव्य अलग। वर्तमाननय से बालक को सेठ कहना वह अनागत के नय का विषय है। और साधु (है) उसे राजा कहना। यह साधु राजा था। वह अतीत काल का विषय है। परंतु वह एक नय है। इस प्रकार द्रव्यनय कहा। तीसरा द्रव्य कहा, स्वपने से है और परपने से नहीं है। स्वपने से - द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप से है। (और) परपने से द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नहीं है। वहाँ भी `द्रव्य' आया। आहा..हा...! वहाँ द्रव्य माने पूरी चीज है। वह द्रव्य लेना और क्षेत्र माने उसकी चौड़ाई की बात करी और काल माने एक समय की अवस्था ली। भाव माने गुण लिया।

जो गुण एवं पर्यायों का पूरा समुदाय (वह) द्रव्य। ऐसा करके एक द्रव्य लिया। और वह है, क्षेत्र से, काल से, भाव से है। वहाँ भी द्रव्य आया, भाई ! ऐसे भेद ! भगवान !

निहालभाई ने तो ऐसा कहा कि, ज्ञानी के (तो) शुभभाव भट्ठी है। आहा..हा...! यह तो ज्ञानी की बात है न ? अज्ञानी को (तो) भट्ठी की खबर कहाँ है ? यह तो (जिसे) खबर है उसे भट्ठी है, ऐसा कह रहे हैं। आहा..हा...! उस... अज्ञानी के तो भट्ठी है, उसकी खबर नहीं है। भाई ! भट्ठी है। उसकी (आत्मा की) खबर है उसे (ज्ञानी के) भट्ठी है (और) शांति है, इसकी खबर है। और शुभभाव जितना उतनी भट्ठी है। उसकी खबर है। आहा..हा...! अज्ञानी के (जो) भट्ठी है, उस भट्ठी की बात यहाँ नहीं है। परंतु भट्ठी की उसे खबर भी नहीं है। अभी भट्ठी क्या ? और यह आत्मा क्या ? आहा..हा...! धर्मी को जितना शुभराग उत्पन्न होता है, वह भट्ठी है।

आहा..हा...! और बहिन के (बहिनश्री के) शब्दों में तो - वचनामृत में आया कि, ज्ञानी (जब) शुभराग में आये तब उन्हें परदेश में आ पड़े हैं, हमारा वतन अंदर कहाँ रह गया, (ऐसा लगता है)। शीशपेन (पेन्सिल) कहते हैं, क्या कहते हैं ? बोलपेन। बोलपेन में यह बोल आया है। पढ़ा है ? पंडितजी कहते थे, पढ़ो तो सही...!

बच्चें हैं न सब ! ये विद्यार्थी लोग... हर एक को - सभी को देनी है। उस में लिखा है। `**जागता हुआ जीव खड़ा हुआ है, वह कहाँ जाये ? जरूर प्राप्त होवे ही।**' देखो... उस में है। है ? छोटे अक्षर (हैं)। मैं पढ़ सकूँ ऐसा नहीं है। शीशपेन में भी बहिन का वचन आ गया। शीशपेन नहीं कहते... तो क्या कहते हैं ? बोलपेन...।

बोर्डिंग के इन सभी बच्चों को अभी व्याख्यान के बाद देना है। उसमें लिखा है कि, जागता हुआ जीव खड़ा है न ! जानने के स्वभाववाला जीव खड़ा है न ! खड़ा माने ध्रुव। जागता हुआ माने ज्ञायक - भाषा सादी गुजराती। जागता हुआ - ज्ञायक ध्रुव है न, कहाँ जायेगा ? वह पर्याय में न आये तो कहाँ जाय ! आहा..हा...! तू नज़र करता हुआ खड़ा है। ध्रुव है (न) खड़ा है। ध्रुव है...है...है... वह प्राप्त होता है। आहा..हा...! है भाई ?

अभी तो बहिन के (चंपाबहिन के) वचनामृत में से बहुत कुछ निकलेगा। इतना आया है। कल तो रात्रिचर्चा में किसी का एक प्रश्न आया था। पढ़कर इतना खुश हुआ... इतना खुश हुआ...! अरे क्या कहा यह ? मरे हुए को जिन्दा कर दे... इनको (वचनामृतों को) कैलेन्डर में छपवाना चाहिए। कैलेन्डर में लोक पूरे दिन देखे तो सही, ऐसा किसी ने कहा। और वह तो... वह है न... वह है न `कोटावाला', वह... तो पढ़कर... `आत्मधर्म' पढ़कर हाँ... आतमधर्म... पढ़कर ऐसा खुश हुआ, ऐसा खुश हुआ कि `ज्ञानानंद स्वरूप प्रभु...' आहा..हा...! वह बहुत खुश हुआ। बहुत कुछ लिखकर भेजा है। कल आया है पत्र... क्या लिखा है ?

हमलोग गजपंथ की यात्रा में गये थे न ? वहाँ श्वेतांबर साधु थे। फिर अपना यहाँ के पढ़कर बदल दिया कि, हम साधु नहीं हैं। फिर यहाँ की सब बातें करते रहते थे। आये... दर्शन करके गये। परंतु रात को दर्शन करके गये। रात को कुछ (बात) हो नहीं सकती और दोपहर को मुझे चल देना था।

दूसरे दिन जरा सोचा... इसका मन ले लूँ कि क्या है यह ? एक तरफ दरवाजे

बंद करके बैठे थे। मैं गया तो तुरंत दरवाजे खोल दिये, नीचे उतर पड़े... वंदन करे। मैं पाट (तख्त) के ऊपर बैठा और नीचे उन्होंने वंदन किया। कहा शास्त्र में कालनय और अकालनय चला है। काल में भी मोक्ष होता है और अकाल में भी मोक्ष होता है, ऐसा नहीं है। परंतु उसे ऐसा लगा कि मैं कुछ कहूँगा... तो इसमें (मेरी बात) चलेगी नहीं... इसलिए मैंने सोचा। जिस काल में, जिस समय में, जिस क्रमबद्धता में मोक्ष होनेवाला होता है उस समय में होता है। तो फिर अकालनय का शास्त्र में पाठ है उसका क्या करना ? मैंने भी सोचकर कहा, ठीक है। काल तो काल में ही होता है किन्तु अकाल का अर्थ ही (इतना) कि, इस स्वभाव-पुरुषार्थ को लेकर अकाल कहा गया है। (परंतु) समय नहीं पलटता। कुछ समझ में आया ! आहा..हा...! यह (बात) आयेगी... इनमें - नयों में... यहाँ कह रहे हैं कि... हो गया... २३वाँ हो गया।

अब २४(वाँ नय) `**आत्मद्रव्य ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय से (ज्ञान और ज्ञेय के अद्वैतरूप नय से), महान ईंधनसमूहरूप परिणत अग्नि की भाँति, एक है।**' देखो, फिर अद्वैत इसमें आया। अद्वैत माने सब कुछ मिलकर एक - ऐसा यहाँ नहीं है। यहाँ तो ज्ञान और ज्ञेय का एकपना अंदर हो गया। ज्ञेय को जाना है और ज्ञान को जाना है। सब कुछ एक ज्ञानरूप है। `**आत्मद्रव्य ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय से (ज्ञान और ज्ञेय के अद्वैतरूप नय से), महान ईंधनसमूहरूप परिणत अग्नि की भाँति, एक है।**' क्या कहा ?

लाखों लकड़ियाँ हो। परंतु अग्निरूप परिणत (है) तो वे (सब) अग्निरूप ही हैं। कंड़े-सूखा गोबर-लकड़ियाँ-पत्ते सब सुलग उठा, सब अग्निरूप है। उसमें कोई लकड़ी-कंड़े, ऐसा कुछ है नहीं। इस प्रकार ज्ञान ने अनंत ज्ञेयों को जाना। वह ज्ञान व ज्ञेय एकरूप ही वस्तु है। ज्ञेय को जाना और ज्ञान को जाना, वह अद्वैत है। शक्ति का अधिकार तो द्रव्यदृष्टि का था इसलिए जरा सरल लगेगा।

यहाँ तो बारबार आता है। यह अधिकार सूक्ष्म-गहन है। आत्मद्रव्य, यह द्रव्य अर्थात् इन अनंते गुण के व पर्याय के धर्म, (उन्हें) धारण करनेवाला वह द्रव्य; उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य भी पहले आ गया। परंतु वह द्रव्य एक नय का विषय है। पहले आया था। द्रव्यनय से कहो या द्रव्यार्थिकनय से कहो, वह पहला नय है। पर्यायनय कहो या पर्यायार्थिकनय कहो। वह पहले आ गया। पहला

और दूसरा बोल। कुछ समझ में आया ! बहुत लम्बा इसमें (तो)...! यह बापू मार्ग ऐसा सूक्ष्म है न ! आहा..हा...! सूक्ष्म उपयोग से पकड़ में आये ऐसा है। विकल्प से पकड़ में आये ऐसा नहीं परंतु शुभ विकल्प से भी पकड़ में न आये, ऐसा है। कुछ समझ में आया !

आत्मद्रव्य... ज्ञान-ज्ञेय अद्वैत, ज्ञान व ज्ञेय का अद्वैतरूप नय। वह ज्ञेय अलग व वह ज्ञान अलग, ऐसा नहीं... अंदर ज्ञेय व ज्ञान एकरूप हो जाता है, आहा..हा...! एक ही रूप है। दूसरी तरह कहे तो यह तो एक नय है। अर्थात् क्या ? कि एक ज्ञान की एक पर्याय द्रव्य-गुण को जाने और वह पर्याय सभी द्रव्यों को जाने तो वह पर्याय तो अद्वैत है। क्या कहा ? कि एक ज्ञान की एक पर्याय, हाँ !

एक पर्याय अन्य अनंती पर्याय को जाने। वह अपने द्रव्य-गुण को जाने और अनंत द्रव्य-गुण ज्ञेय हैं, उनको जाने, एक ही पर्याय अद्वैत है। वह स्वयं ही ज्ञानाकार और स्वयं ही ज्ञेय। ऐसा नहीं आया कि, स्वयं अपने ज्ञान को ही जानती है। पीछे कलश आया था न ? इस ज्ञेय को जाने ऐसा नहीं। ज्ञाता स्वयं, ज्ञान स्वयं व ज्ञेय भी स्वयं। आचार्यों ने तो गज़ब काम किये हैं। चारों ओर (सभी) तरफ से एक समान सत्य साबित हो (जाता) है।

यहाँ कहते हैं। अद्वैतनय से, ज्ञान का जो पर्याय है वह पर्याय अपने द्रव्य-गुण को जानता है। और अनंत को जानता है वह ज्ञान स्वयं ही ज्ञेय हुआ व स्वयं ही ज्ञान हुआ। ऐसा अद्वैतनय से बस, एक ही पर्याय है। आहा..हा...! एक नय है न ! यह अद्वैतनय एक नय है। एक पर्याय आया। परज्ञेय और अपने द्रव्य-गुण व पर्याय सब कुछ एक पर्याय में आ गया। अद्वैत है। (स्व और पर) 'स्वपर प्रकाशक शक्ति हमारी, तातें वचन भेद भ्रम भारी, ज्ञेयशक्ति दुविधा परकासी, स्वरूपा पररूपा भासी' यह उसका 'स्व' यह है।

आहा..हा...! स्वयं पर्याय, स्वयं ज्ञान व स्वयं ज्ञेय। यहाँ तो, एक नय लेना है न ? यह पर्याय स्वयं ही - समस्त ज्ञेय का ज्ञान और द्रव्य-गुण का ज्ञान और अपना ज्ञान यह पर्याय पूरी अद्वैतनय से हुई है। आहा..हा...! अनंत नयों में से एक अद्वैतनय है। और ऐसे अनंत नयों का समुदाय, वह श्रुतप्रमाण है। आहा..हा...! जितना समझ में आये उतना समझना बापू ! यह तो वीतराग तीनलोक के नाथ, जिनेन्द्रदेव

की अलौकिक बातें हैं।

आहा..हा...! 'आत्मद्रव्य ज्ञान-ज्ञेय-अद्वैतनय से...' परंतु वह आत्मद्रव्य, हाँ ! त्रिकाली... त्रिकाली अर्थात् गुण व पर्याय का धारक। वह द्रव्य ज्ञान-ज्ञेय-अद्वैतनय से... भले उस ज्ञान में ज्ञान की पर्याय द्रव्य व गुण को जाने। ऐसी अनंत पर्यायवाला, अनंत गुणवाला जो द्रव्य है, उस में यह एक धर्म है। यह एक नय है। यह और ऐसे तो अनंत नयों का समुदाय मिलकर श्रुतप्रमाण है। और इस श्रुतप्रमाण का विषय अनंतगुण और अनंती पर्याय प्रमेय होती है यह श्रुतज्ञानप्रमाण का विषय है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

यह तो एक नय है न ! इसलिए पर्याय की बात दिमाग में आयी। आते आते, अंदर से जो आये सो सही। एक पर्याय है और वह पर्याय अद्वैत है। एक ही है, बस। दूसरा है ही नहीं। स्व-पर का भेद (नहीं)। स्व और पर को जाननेवाली पर्याय स्व एक ही है। और वह भी पर्याय स्वयं-स्वयं ही ज्ञेय और स्वयं में ज्ञान। एक ही पर्याय में (दोनों हैं)। तीनलोक के अनंते गुण-पर्यायें (सब) उस ज्ञेयरूप होता है। और स्वयं भी उस ज्ञेयरूप होता है और स्वयं ज्ञान... आहा..हा...!

भले आत्मद्रव्य का ही यह एक विषय है। आत्मद्रव्य का एक विषय माने एक नय का-एक धर्म का यह विषय है। कुछ समझ में आया ! आहा..हा...! संतों ने गज़ब काम किये हैं न ! दिगंबर संतों ने जंगल में बसकर (गज़ब काम किये हैं)। आहा..हा...! अंदर क्षयोपशम के प्याले फाटफाट फूट गये हैं। आहा..हा...! और वह ज्ञान केवलज्ञान को बुला रहा है। यह (बात) आती है न ? 'धवल' में आती है।

मतिज्ञानपूर्वक श्रुत(ज्ञान) है न ? वह मतिज्ञान-श्रुत(ज्ञान) केवलज्ञान को बुलाता है। अर्थात् पास में आ जाओ। केवलज्ञान (के बिना) चले ही नहीं। दूज उगी है वह पूनम हुए बिना रहती ही नहीं। यहाँ तो इसके साथ श्रुतज्ञान छूट जायेगा, यह बात ही नहीं है। आहा..हा...!

जिस प्रकार सम्यग्दर्शन को अप्रतिहत कहा है। हमें सम्यक् हुआ है वह च्युत होगा नहीं। भले हम चारित्रवंत हैं और स्वर्ग में जाने पर चारित्र नहीं रहेगा, परंतु अब सम्यग्दर्शन की पर्याय जायेगी नहीं। आहा..हा...! उस प्रकार यह जो श्रुतज्ञान की पर्याय है वह वापिस चली जाय ऐसी नहीं है। यहाँ से केवलज्ञान लेकर ही

छुटकारा होगा।

आहा..हा...! वास्तव में तो उस पर्याय में केवलज्ञान भी ज्ञेयरूप ज्ञात हो गया है। आहा..हा...! तीनलोक व तीनकाल के ज्ञेय जिस ज्ञान में - ज्ञान की पर्याय में ज्ञात हुए - उतनी तो पर्याय की ताक़त है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ! और इसलिए तो उसमें लिया न? अलिंगग्रहण के २०वें बोल में कि, आत्मद्रव्य-सामान्य अपने को स्पर्श नहीं करता ऐसी शुद्धपर्याय है। हमें तो वेदन में आया वह आत्मा। आहा..हा...! ध्रुव तो वेदन में नहीं आता। क्या कहा ? समझ में आया ?

बीसवाँ बोल अपना चल गया। अलिंगग्रहण चल चुका है। ३२० गाथा, ४७ शक्ति, २० अलिंगग्रहण (के बोल), चल चुका है। यह (४७ नय) चल रहे हैं। `**ये सब मिलाकर पुस्तक बननेवाली है। एक पुस्तक। भले दो (पुस्तक) होंगी... ऐसा लग रहा है।**' क्योंकि शक्ति के ३३ व्याख्यान हुए हैं। ३२० गाथा के ८ हुए हैं। (कुल) ४१ (हुए) अलिंगग्रहण के १४ हुए हैं। (अर्थात्) पौने सौ (७५) से ज्यादा व्याख्यान होंगे। तो उस में एक पुस्तक में नहीं आयेंगे। भाई आये न अभी (कह रहे थे)। एक व्याख्यान में १५ पृष्ठ बनते हैं। आहा..हा...! शायद पुस्तक तो दो भी हो जाय। और एक-एक पुस्तक की २०-२० रूपये कीमत हो जाय। आहा..हा...! बहुत पैसे आये हैं। बहिन के नाम से - वचनामृत के नाम से बहुत पैसे आ रहे हैं। आहा..हा...! वह तो जो होनेवाला है, वह होगा। आहा..हा...!

यहाँ तो कह रहे हैं, (ज्ञान) अद्वैतरूप है। आहा..हा...! किस प्रकार अद्वैत है ? ज्ञेयों में ज्ञान व्याप्त हो गया है, इस अपेक्षा से अद्वैत नहीं। `प्रवचनसार' में पहले आ चुका है। आत्मा ज्ञानप्रमाण है। ज्ञेय लोकालोकप्रमाण है।

एक गाथा आ चुकी है। आहा..हा...! इसलिए सर्वगत है। यहाँ सर्वगत में नय लिया है। वहाँ भी सर्वगत नय लिया है। `पंचाध्यायी' में सर्वगत को नयाभास लिया है। एकान्त अपेक्षा मानकर यहाँ `पंचाध्यायी' में सर्वगत (को नयाभास लिया है।) आहा..हा...! यहाँ तो यथार्थपने की अपेक्षा से पर में व्याप्त होता है। एकान्तरूप से ऐसा सर्वगतनय मिथ्या है। परंतु सर्वगत अर्थात् ज्ञान में ज्ञेय-अर्थ समा जाते हैं। ऐसा पाठ में आया है। ज्ञान में, अर्थ माने ज्ञेय आ जाता है। आ जाता है (अर्थात्) उस संबंधित ज्ञान आ जाता है। फिर ज्ञान में ज्ञेय-पर नहीं है, ऐसा कैसे कहना ? उसमें ऐसा आता

है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

'**अद्वैतनय से (ज्ञान और ज्ञेय के अद्वैतरूप नय से), महान ईंधनसमूहरूप...**' लकड़ी के ढेर बड़े हो, फिर भी (अग्नि) अनेकरूप नहीं माना जायेगा। अग्निरूप में सब जल रहा है (इसलिए) एक अग्नि है। उस प्रकार अनंतगुणों को जाननेवाला ज्ञान एक है। कहो... कुछ समझ में आया ?

'**ईंधनसमूहरूप परिणत अग्नि की भाँति, एक है।**' पूरी करोड़ मन लकड़ी हो, परंतु अग्निरूप तो अग्नि एक ही है न ! उस प्रकार अनंत ज्ञेय हैं। परंतु ज्ञानपर्याय अनंत को एकपने से (एकरूप) जानती है इसलिए एकरूप है। यह उसकी अपेक्षा से अद्वैतनय कहा जाता है। यह एक नय है... हाँ !

एक धर्म को (जाननेवाला) एक नय है। ऐसे अनंत नयों का समूह (श्रुतप्रमाण में) द्रव्य-गुण-पर्याय का विषय होता है। इस प्रकार सत्य है। ऐसे विशेष कहेंगे...



णमो अरिहंताणं - इस प्रकार बोले, परन्तु अर्हंतका स्वरूप ही न जाने तो उससे कोई लाभ नहीं होता । रेकॉर्डके बोलने व उस जीवके समझे-बिना बोलनेमें कोई अंतर नहीं है । जब सर्वज्ञको पहचाने, तभी आत्माकी सर्वज्ञताकी प्रतीति होती है व पुण्य-पाप तथा अल्पज्ञताकी रुचि नहीं रहती ।

(परमागमसार - ७५३)

आत्मद्रव्य ज्ञानज्ञेयद्वैतनय से, पर के प्रतिबिंबों से संपृक्त दर्पण की भाँति, अनेक है (अर्थात् आत्मा ज्ञान और ज्ञेय के द्वैतरूपनय से अनेक है, जैसे पर-प्रतिबिम्बों के संगवाला दर्पण अनेकरूप है)। २५।

आत्मद्रव्य नियतिनय से नियतस्वभावरूप भासित होता है, जिसकी उष्णता नियमित (नियत) होती है ऐसी अग्नि की भाँति। (आत्मा नियतिनय से नियतस्वभाववाला भासित होता है, जैसे अग्नि के उष्णता का नियम होने से अग्नि नियतस्वभाववाली भासित होती है)। २६।

आत्मद्रव्य अनियतनय से अनियतस्वभावरूप भासित होता है, जिसके उष्णता नियति (नियत) से नियमित नहीं है ऐसे पानी की भाँति। (आत्मा अनियतिनय से अनियतस्वभाववाला भासित होता है, जैसे पानी के (अग्नि के निमित्त से होनेवाली) उष्णता अनियत-होने से पानी अनियतस्वभाववाला भासित होता है)। २७।

प्रवचन : दि. १-१-१९७८

'प्रवचनसार', नय अधिकार (चल रहा है)। क्या कह रहे हैं ? जो यह आत्मा है न ! (वह) देह से भिन्न है। यह देह तो जड़ है। जो चैतन्यद्रव्य-वस्तु अंदर जाननेवाला है; उस वस्तु में अनंत शक्तियाँ बसी हुई हैं। शक्ति माने गुण और वर्तमान में उसकी - गुण की अवस्थाएँ होती हैं। इसलिए (वस्तु, गुण, पर्याय) तीन हुए।

वस्तु त्रिकाली द्रव्य, उसमें अनंत गुण और उसकी अनंती पर्यायें उस धर्म को, गुण को, पर्याय के भाव को अर्थात् धर्म का धारण करनेवाला आत्मद्रव्य वस्तु है। आत्मा गुण को व पर्याय के भाव को अर्थात् धर्म को धारण करनेवाला आत्मद्रव्य।

वह वस्तु है। आत्मा गुण व पर्याय को धारण करनेवाला है। वह धर्म को धारण करनेवाला (है)। धर्म माने उसका स्वभाव और उसकी पर्याय फिर पर्याय में - अवस्था में विकार हो या अविकार हो। यहाँ सम्यक्ज्ञान की बात है। सम्यग्दृष्टि हुआ है, उसकी यहाँ बात है।

यह आत्मा पूर्णानंदस्वरूप, अपनी चीज का जिसने अनुभव किया है (वह सम्यग्दृष्टि है)। अनंतकाल से इसे (मिथ्यादृष्टिपूर्वक) राग और द्वेष, शुभ और अशुभभाव का अभ्यास करके उसकी आदत पड़ गई है। माने वही मैं और वही मेरा आचरण, इस प्रकार मिथ्यादृष्टि में उसे विकार का आचरण ही (अपनेरूप) भासित होता है। अनंतकाल तक जिसे भटकना है... और आ रहा है उसे (हुआ) यह विकार की दशा वही मैं... आहा..हा...! ऐसा उसे भासित हुआ है। अतः वह विकार में अपनापन मानकर विकार का अनुभव करता है। वह ज़हर का अनुभव करता है। यह संसार में भटकने के बीज हैं। आहा..हा...! ऐसा है।

यहाँ कहते हैं कि, ये अनंतगुण - जो शक्तिरूप से पवित्र (हैं), (वे) संख्या में अनंत (परंतु) वस्तुरूप से तो एक (है)। परंतु वे संख्यारूप से अनंतगुण और उस की अनंती पर्यायें - निर्मल व मलिन - इन सभी धर्मो को धारण करके रखनेवाला आत्मद्रव्य है। उसे अभी आत्मद्रव्य कहा जा रहा है। जो आत्मद्रव्य (२५वाँ बोल है न !) वह आत्मद्रव्य, यह... आत्मद्रव्य माने त्रिकाली ध्रुव ऐसा (यहाँ) नहीं (लेना है)।

यहाँ तो आत्मद्रव्य (अर्थात्) उसकी शक्ति - गुण व उस की पर्यायें - निर्मल और मलिन (उसका धारक है); केवल मलिन नहीं है। धर्म (अर्थात्) सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि स्वभाव की स्थिरता (हुई है), दृष्टि, ज्ञान निर्मल हुआ है और अभी कुछ मलिनता भी है। वह मलिनता और निर्मलदशा और अनंत गुण ऐसा जो यह धर्म, धर्म माने धारण करके रखे हुए भाव, उस का धारण करनेवाला आत्मद्रव्य है। ऐसा (व्यापार के) चोपडा (बहीखाते) में कहीं भी नहीं आता। सुनने में भी नहीं आता। ऐसी बात है।

इस आत्मद्रव्य (में ज्ञान) गुण है। वह एक-एक ज्ञान का भाग - ज्ञान का भाग माने नय। अंदर भावश्रुतज्ञान है। वह भावश्रुतज्ञान प्रमाणज्ञान है। प्रमाण अर्थात् जिस में द्रव्य-गुण और पर्याय प्रमेय - जानने में आते हैं। उसे यहाँ प्रमाण कहते हैं।

जो द्रव्य, गुण और पर्याय - निर्मल और विकृत ये जिस ज्ञान में जानने में आती है, उस ज्ञान को यहाँ प्रमाण कहते हैं। और प्रमाण का वह विषय - द्रव्य, गुण व पर्याय - विकारी अवस्था, यह श्रुतप्रमाण को प्रमेय है। श्रुतप्रमाण में उस का ज्ञान होता है। अरे... ऐसी बातें !

अब, उसमें एक-एक गुण को और एक-एक पर्याय को जाननेवाले ज्ञान का एक भाग, उसके एक भाग को नय कहते हैं। ऐसे अनंत नयों का समुदाय उसे भावश्रुत कहते हैं। और भावश्रुतप्रमाण उसका विषय द्रव्य-गुण व पर्याय, विकारी-अविकारी यह उस का विषय - प्रमेय (होता) है। ऐसा धर्म ! इसमें एक अद्वैतनय पहले आ चुका।

(अब २५वाँ नय) `**आत्मद्रव्य ज्ञानद्वैतनय से, पर के प्रतिबिंबों से संपृक्त दर्पण की भाँति, अनेक है...**' (अर्थात्) ज्ञान और ज्ञेय - जो जाननेलायक ज्ञेय स्वयं (स्व के) द्रव्य-गुण-पर्याय और पर के द्रव्य-गुण-पर्याय ये ज्ञेय और उसको जाननेवाला ज्ञान। यह ज्ञान व ज्ञेय, दो भेद हुए।

पहले इस अपेक्षा से अद्वैत था। अद्वैत माने ज्ञान की एक पर्याय में अनंतगुण, और द्रव्य (तथा) अनंती पर्यायें जिसका ज्ञेय थे। और ज्ञान की पर्याय उसका प्रमाण (अर्थात्) उस ज्ञेय का नाप करनेवाला प्रमाण था। उस प्रमाण में एक ज्ञानस्वरूप ही (है) उसमें ज्ञेय भी ज्ञान में आ गया। उसमें सिर्फ ज्ञान को मानकर अद्वैत कहा गया। ऐसी बातें।

`**आत्मद्रव्य ज्ञानद्वैतनय से, पर के प्रतिबिंबों से संपृक्त दर्पण की भाँति,...**' दर्पण है न ? उस में परवस्तु ज्ञात होती है, ऐसा कहा जाता है। है तो एक दर्पण की अवस्था। जिस प्रकार दर्पण में सामने चीज होती है वह ज्ञात होती है (परंतु) वह चीज वहाँ नहीं है। परंतु उस चीज से संबंधित ज्ञान दर्पण की स्वच्छता (के कारण होता है) उस प्रकार आत्मा के ज्ञान में जो अनंत ज्ञेय हैं, उन का प्रतिबिंब बनता है - वह ज्ञात होता है। ऐसी ज्ञान की पर्याय में अनंत ज्ञेय ज्ञात होते हैं; वे ज्ञेय और ज्ञान इस प्रकार दो (हुए) उसे द्वैत कहा है। तो द्वैतनय से (अनेक) वस्तु है। वह भी - द्वैतनय भी ज्ञान का एक भाग है।

आहा..हा...! प्रतिबिंबों से संपृक्त दर्पण की भाँति। दर्पण में जो चीज सामने है,

उसका दर्पण में प्रतिबिंब पड़ता है अर्थात् वह चीज (वहाँ) नहीं है परंतु उस चीज से संबंधित स्वच्छता (आकृति) शीशे में ज्ञात होती है। जैसे कि वह ज्ञात होनेवाली चीज उस दर्पण में आ गई हो, उस प्रकार द्वैत कहा जाता है। इस प्रकार अनेक है। दर्पण व प्रतिबिंब को मिलाकर अनेक कहा जाता है। उस प्रकार आत्मा - ज्ञान व ज्ञेय के द्वैतरूप नय से अनेक है। आहा..हा...! स्वयं एक है और स्वयं ही अनेक है।

४७ शक्तियों में जो एक-एनेक आया है, वह यह नहीं है। वहाँ तो एक भी गुण है और अनेक भी गुण है। उसकी पर्याय है वह दूसरी बात है। आत्मा में 'एक' (नाम का) एक ऐसा गुण है। एक गुण और अनेक गुण भी है। एक गुण की भी पर्याय होती है और अनेक गुण की भी पर्याय होती है। यह वह (बात) नहीं है।

यह तो एक, अनेक ऐसे अनंत गुण और उस की पर्याय-वर्तमान दशा, उन सबको धारण करनेवाला आत्मा, यह (आत्मा) श्रुतज्ञानप्रमाण द्वारा ज्ञात होता है (और श्रुतज्ञानप्रमाण में भेदरूपी नय (अर्थात्) एक-एक गुण और एक-एक पर्याय को जाने उसका नाम नय। ऐसा है।

भगवान आत्मा अनंत अनंत गुण का पुंज-ढेर (है)। और उसके जितने गुण हैं उतनी उनकी पर्यायें (हैं)। पर्याय माने हालत, हालत माने दशा, दशा माने अवस्था, उस अवस्था में कुछेक विकृत हैं, कुछेक अविकृत हैं। एक-एक गुण व एक-एक पर्याय को विषय करनेवाला नय (है, वह) ज्ञान का एक अंश है। और सभी अंशों का समुदाय होकर भावश्रुतज्ञान है। भावश्रुत है तो पर्याय, परंतु उसमें अनंत नय इकट्ठे हुए हैं। अतः उसे प्रमाण कहते हैं। और उस प्रमाण का विषय द्रव्य, गुण और विकारी-अविकारी पर्याय, वह प्रमाण का विषय है। ऐसा है। आहा..हा...!

यहाँ कहते हैं कि, प्रभु ! एकबार सुन भाई ! तेरा ज्ञानस्वरूप और उस में ज्ञात होने योग्य ज्ञेय। उन ज्ञेयों में तो द्रव्य, गुण और पर्याय सभी द्रव्य ज्ञेय में आये। परंतु ज्ञान व ज्ञेय इस प्रकार दो कहते हैं, तब अनेक है यह भी एक नय है। आहा..हा...! नय (का) अधिकार सूक्ष्म बहुत। क्या? कौन सा सच्चा ? दोनों सच्चे हैं। एक पहलू का भाग देखना वह नय है। और सभी - पूरे पहलूओं को देखना

उसका नाम प्रमाण है।

आहा..हा...! अभी इन सभी बात (में) फर्क (हो गया)। लोग इस में बाह्यरूप को धर्म मानकर बैठ गये। यात्रा करने गये और भक्ति करी और पूजा करी, हो गया धर्म। वहाँ धूल में भी धर्म नहीं है, धर्म वहाँ कहाँ है ? वह तो राग की क्रिया है। आहा..हा...! वह राग की क्रिया का ज्ञान भी यथार्थ किसे होगा ? जिसे द्रव्य, गुण और पर्याय श्रुतज्ञान में प्रमेय हुए हो उसे राग का यथार्थ ज्ञान होता है। कुछ समझ में आया ?

आहा..हा...! `**आत्मद्रव्य ज्ञानज्ञेयद्वैतनय से, पर के प्रतिबिंबों से संपृक्त दर्पण की भाँति, अनेक है (अर्थात् आत्मा ज्ञान और ज्ञेय के द्वैतरूपनय से अनेक है, जैसे पर-प्रतिबिम्बों के संगवाला दर्पण अनेकरूप है।)**' देखा ? उस दर्पण में जैसे सर्प हो, बिच्छू हो, कोयला हो, बर्फ हो, अग्नि हो, वे (दिखते हैं), परंतु है तो वह शीशे की अवस्था। परंतु उसे ज्ञेय व ज्ञान के द्वैतरूप से कहें तो अनेक है। यह २५ (वाँ नय) हुआ।

अब, यह २६वाँ (नय), चर्चा करने योग्य विषय है। `**आत्मद्रव्य नियतनय से नियतस्वभावरूप भासित होता है,...**' इसका अर्थ कुछ लोग ऐसा करते हैं। (नियति व अनियति का) कि नियति माने जैसा होनेवाला होता है वैसा होता है, इस का नाम (नियति) और अनियति माने फेरफार होवे वह, ऐसा नहीं है। ऐसा इसका अर्थ ही नहीं है। यहाँ तो नियतिनय से आत्मद्रव्य जो वस्तु अनंतगुण और अनंती पर्यायों का धारक ऐसा धर्मीद्रव्य। ऐसा `**आत्मद्रव्य नियतिनय से नियतस्वभावरूप भासित होता है,...**' अर्थात् उस का (जो) स्वभाव है उसरूप भासित होता है।

`**जिसकी उष्णता नियमित (नियत) होती है ऐसी अग्नि की भाँति।**' अग्नि का उष्ण स्वभाव निश्चय है। अग्नि का उष्ण स्वभाव नियत है - निश्चय है। यहाँ नियत माने जिस समय जो होनेवाला है (सो होगा) ऐसा यहाँ मतलब नहीं है। कुछ समझ में आया ! यह भी एक नियतिनय है।

नियति, स्वभाव, काल, पुरुषार्थ ऐसे पाँच बोल, वह यहाँ नहीं है। इस का (नियतिनय का) अर्थ ऐसा करते हैं। जब आप ऐसा कह रहे हो कि, नियत जैसा होनेवाला होगा सो होगा। तो इसमें नियत और अनियत दोनों (नय) हैं। और उस का आधार

'पंचास्तिकाय' ११५ गाथा का देते हैं। 'पंचास्तिकाय' में १५५वीं गाथा (है)। वहाँ नियत-अनियत ऐसे दो शब्द हैं। वहाँ नियत माने आत्मा, ज्ञान व आनंदस्वरूप है। उसमें निश्चय स्थिर हो, यह निश्चय माने यथार्थ चारित्र है। वहाँ वह अर्थ है।

वहाँ नियत माने होनेवाला हो सो हो, ऐसा अर्थ वहाँ है ही नहीं। आहा..हा...! भगवान आत्मा अपने ज्ञान व अतीन्द्रिय आनंद में - स्वसमय में स्थिर हो, उसे वहाँ नियत कहते हैं। उसका जो स्वभाव है उसमें जम जाय। उस का नाम नियत चारित्र कहते हैं। निश्चय चारित्र ('पंचास्तिकाय') १५५वीं (गाथा) में है। (वहाँ) मोक्षमार्ग, मोक्ष के मार्ग का वर्णन है, नियत मोक्षमार्ग। नियत माने आत्मा ज्ञायकस्वरूप अनंतगुण का पिंड है। उस की दृष्टि करके उस में जमना, ऐसा वीतरागी चारित्र होना, उसे यहाँ नियत चारित्र कहते हैं। और उसे रागद्वेष में जमना और उसे विभाव में जमना, उसे अनियत चारित्र (कहते हैं) अर्थात् (विभाव में जमना) उसका स्वभाव नहीं है। अनियत माने जिसका स्वभाव नहीं है उसमें स्थिर होना। उसे अनियत कहते हैं। अरे... इतने सारे पहलू !

पत्र में आया था। नियत और अनियत नय दो हैं। इसमें सोनगढवाले नियत को लेकर क्रमबद्ध होता है ऐसा मानते हैं। परंतु अनियतनय में उल्टा-सीधा होता है, ऐसा है... १५५वीं गाथा 'पंचास्तिकाय' ऐसे इस नय का अर्थ भी ऐसा करती है। (परंतु) ऐसा नहीं है। वहाँ भी ऐसा नहीं है। और यहाँ भी ऐसा नहीं है। वहाँ तो ('पंचास्तिकाय' में) भगवान आत्मा अंदर चिदानंद जिनस्वरूपी, वीतरागमूर्ति, अंदर द्रव्यस्वभाव, उस में नियत चारित्र माने स्वभाव में लीन होना। सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक स्वभाव में लीन होना, वह नियत चारित्र है। और वह मोक्ष का मार्ग है। और अनियत माने स्वभाव में नहीं जमकर विभाव में जमना इतना वह अनियत चारित्र माने परसमय विभाग है। कुछ समझ में आया !

ऐसा मार्ग ! इसलिए कई पंडित कुछ विरोध करते हैं, इसका विरोध करते हैं, हाँ ! वस्तु की स्थिति क्या है ? इसे (लक्ष में) नहीं लेकर (विरोध करते हैं)। देखो... यह नियत... अनियत कहा। यह नियत-अनियत 'पंचास्तिकाय' में कहा है। दूसरी जगह कहते हैं, 'घवल' में आता है। क्रम-अक्रम उसमें ऐसा कहा। परंतु यह क्रम-अक्रम क्या है ! यह तो... दूसरी बात है। क्रम गुण और अक्रम पर्याय ऐसा

(है)। पर्याय क्रम और अक्रम (हो) इस प्रकार दो नहीं है।

आहा..हा...! यह शरीर तो मिट्टी, जड़-धूल है। यह कोई आत्मा नहीं है। इस का हिलना-डोलना हो, ये सब क्रिया जड़ है। यह कोई आत्मा नहीं है। आहा..हा...! उसमें राग हो, ऐसा उसका त्रिकाली स्वभाव नहीं है, (परंतु) विभाव है। अब, जिसे त्रिकाली-शुद्ध ज्ञानानंद - शुद्ध चिदानंद, प्रभु ! ऐसे स्वभाव में नियत नाम स्वभाव में जमे, उसे यहाँ नियतनय कहते हैं। निश्चय स्वभाव में जमे उसे निश्चय कहते हैं। कुछ समझ में आया ?

'**आत्मद्रव्य नियतिनय से नियतस्वभावरूप भासित होता है, जिस की उष्णता नियमित (नियत) होती है ऐसी अग्नि की भाँति।**' अग्नि का उष्ण स्वभाव नियत है। अग्नि का उष्ण स्वभाव निश्चय है। एक तरफ विपरीत है और पर से हुआ है, ऐसा नहीं है। अग्नि का उष्ण स्वभाव नियत है, ऐसे भगवान आत्मा का स्वभाव, शुद्ध चैतन्य है। उसमें नियत नाम सिद्ध होता है। उसे यहाँ नियतिनय कहा जाता है। वह भी एक नय है।

यहाँ शास्त्र को... (उल्टा अर्थ करके) शस्त्र कर डालना है। बहुत मुश्किल है, बापू ! जो शास्त्र का अभिप्राय है, उस प्रकार से उसे समझना चाहिए। वहाँ ऐसा कहते हैं, न ? देखो ! नियतिनय है। परंतु उस का अर्थ क्या ? कि जिसका - अग्नि का स्वभाव उष्ण (है) वह नियत है। और पानी का गरम स्वभाव अनियत है।

कुछ समझ में आया ! उस प्रकार भगवान आत्मा का स्वभाव, शुद्ध चैतन्य में एकाग्रता - इस नियत स्वभाव में (एकाग्रता करना वह है)। स्वभाव नियत है। और जैसे पानी गरम है वह नियत नहीं, अग्नि गरम है वह नियत है। अग्नि का उष्ण स्वभाव वह नियत - निश्चय है। उस प्रकार पानी का गरम स्वभाव वह नियत - निश्चय नहीं है। पानी का गरम स्वभाव विभाव है। उस प्रकार भगवान आत्मा में... आहा..हा...! ज्ञानानंद प्रभु ! आत्मा में - स्वभाव में जमना, वह नियत है और विभाव में जमना, यह अनियत है। नियत माने क्रमबद्ध हो वह नियत और अनियत माने क्रमबद्ध न हो, अक्रम भी हो - ऐसा अर्थ यहाँ नहीं है।

आहा..हा...! बहुत बड़ी भारी गड़बड़ पैदा हुई है। वर्णीजी को क्रमबद्ध मान्य नहीं था। एक के बाद एक पर्याय हो ऐसा नहीं। जो होनेवाली हो सो हो। फिर

ऐसा नहीं कि एक के बाद एक हो। परंतु जिस समय होनेवाली हो वही हो ऐसा नहीं - ऐसा (वे) कहते थे।

कुछ समझ में आया ! ('पंचास्तिकाय संग्रह') १५३वीं गाथा में है। है न, यह रहा। '**मोक्षमार्ग के अवयवरूप सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्ज्ञान के विषयभूत नौ पदार्थ का व्याख्यान भी समाप्त हुआ।**' '**अब मोक्षमार्ग प्रपंचसूचक चूलिका है।**' मोक्षमार्ग के विस्तार का सत्वचन - यहाँ यह बात है। सूचन ('पंचास्तिकाय संग्रह') १५४वीं (गाथा) '**यह मोक्षमार्ग के स्वरूप का कथन है।**' उसमें है '**जीवस्वभाव में नियत चारित्र का नाम मोक्षमार्ग है।**' यह नियत माने बननेवाला हो सो सो उसकी पर्याय बने, यह बात यहाँ नहीं है।

नियत माने जीवस्वभाव में नियत चारित्र - जीव का दर्शन व ज्ञान स्वभाव (है) यह देखना और जानना, स्वभाव (है) उसमें स्थिर होना, उसका नाम चारित्र है। आहा..हा...! दया-दान-व्रत-भक्ति के परिणाम का नाम कोई चारित्र नहीं है। राग है, विकार है, वह अनियत चारित्र है। कुछ समझ में आया ! क्योंकि जीवस्वभाव वास्तव में ज्ञान-दर्शन है। जीव का स्वभाव तो जानना और ज्ञाता-दृष्टा है। जीव स्वभाव में स्थिर हो वह नियत चारित्र है। उसका नाम सच्चा चारित्र है। आहा..हा...! यहाँ तो, थोड़े व्रत का पालन करे और भक्ति-पूजा और व्रत किये... तो हो गया चारित्र। परसमय - अनियतभाव - विभावभाव को अज्ञानी चारित्र मानत है। कुछ समझ में आया! ये जीव से अनन्यमय हैं। कौन ? ज्ञान और दर्शन। भगवान आत्मा का जानना व देखना वह आत्मा से अनन्यमय है। एकमेक है। उस का स्वभाव एकमेक है। है न ?

'**ज्ञानदर्शन का (जीव से) अनन्यमयपना होने का कारण यह है कि विशेषचैतन्य और सामान्यचैतन्य...**' ज्ञान और दर्शन... विशेषचैतन्य माने ज्ञान और सामान्यचैतन्य वह दर्शन है। '**जिस का स्वभाव है ऐसे जीव से वे निष्पन्न हैं। (अर्थात् जीव से ज्ञान दर्शन निर्मित हैं),...**' भगवान से ज्ञानदर्शन स्थित हैं, निर्मित हैं। अर्थात् 'है'। '**अब, जीव के स्वरूपभूत ऐसे उस ज्ञानदर्शन में नियत अवस्थित...**' देखा ? नियत माने अवस्थित। नीचे (अर्थ) है। (अवस्थित, स्थित, स्थिर, दृढ़रूप से स्थित) '**ऐसा जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप वृत्तिमय अस्तित्व -**' निर्मल परिणति की उत्पत्ति, पूर्व की निर्मल

परिणति का व्यय और निर्मल गुण ध्रौव्य। ये तीनों होकर निर्मल चारित्र है। स्वभाव का नियत चारित्र उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य। नियत चारित्र है। आहा..हा...! है ! फिर ('पंचास्तिकाय संग्रह') १५५ (गाथा)। '**स्वसमय के ग्रहण और परसमय के त्यागपूर्वक कर्मक्षय होते हैं।**' वहाँ यह कहना है। वहाँ यह नियत अर्थात् जैसा होनेवाला हो सो हो। अनियत माने फेरफार किया जाय। अब, कहो, इसका क्या करें ? शास्त्र के पृष्ठ तो बोलते नहीं हैं। इसका अर्थ किस प्रकार करना यह पृष्ठ तो बोलते नहीं हैं। आहा..हा...!

स्वसमय का ग्रहण - शुद्ध चैतन्यस्वभाव का ग्रहण - परिणमित होना। और परसमय का त्याग - रागभाव के त्यागपूर्वक कर्मक्षय होता है। "**ऐसे प्रतिपादन द्वारा यहाँ 'जीवस्वभाव में नियत चारित्र - यह मोक्षमार्ग है।' ऐसा दर्शित किया है।**" १५५वें ('पंचास्तिकाय संग्रह' में) यहाँ जो यह ('प्रवचनसार' में) है वह वहाँ कहा है। यहाँ है वह एक नय का विषय बताया। नियत अर्थात् अग्नि का उष्ण स्वभाव - उस प्रकार भगवान आत्मा का ज्ञानदर्शन स्वभाव, इस प्रकार परिणमन करना यह नियत। कुछ समझ में आया ?

देखो, यहाँ '**संसारी जीव, (द्रव्य अपेक्षा से) ज्ञानदर्शन में अवस्थित होने के कारण स्वभाव में नियत (निश्चयरूप स्थित) होने के बावजूद, (जब) अनादि मोहनीय के उदय का अनुसरण करके...**' देखा ? मोहनीय कर्म से नहीं। मोहनीय कर्म के उदय का अनुसरण करके विभावरूप परिणमन करे वह अनियत चारित्र - विभाव है। वह सच्चा चारित्र नहीं। वे महाव्रत आदि के परिणाम वह अनियत चारित्र है। आहा..हा...! मोहकर्म के निमित्त से ऐसा नहीं कहा। है ? '**मोहनीय के उदय के अनुसार परिणति करने के कारण...**' देखा ? आहा..हा...!

मोहकर्म का उदय आये तब विकार करना ही पड़े, क्या ? अरे ! परंतु वह प्रश्न ही झूठा है। उसका परिणति का काल है। वह कर्म के निमित्त का अनुसरण करती है - अनुसरण करती है इसलिए विकार होता है। आहा..हा...! अरे, इसमें क्या ! जवाहरात के पहलू में परीक्षा करता है। भाई ! संसार के व्यापार में धंधे में बनिया तो एक पाई... पाई का हिसाब निकालता है। एक पाई भी क़म क्यों हुई ? कोई ले गया ? या कम पड़ गई ? लड़का ले गया ? मेल मिलाना चाहिए न ?

उस प्रकार इसमें कोई मेल मिलता है कि नहीं ?

यहाँ तो ऐसा कहते हैं, आहा..हा...! 'मोहनीय का अनुसरण करके' 'परिणति करने के कारण' ऐसा पाठ है। आहा..हा...! यह अनियत चारित्र है। क्या कहा ? मोहकर्म के उदय का अनुसरण करके विकाररूप होना, वह अनियत चारित्र है। वह स्वभाव नहीं है। अतः विभावरूप चारित्र, वह कोई सच्चा चारित्र नहीं है। आहा..हा...! है ? '**उसे अनियत गुण-पर्यायपना होता है। वह परसमय (अर्थात्) परचारित्र है।**' देखा ?

'**वह ही (जीव)...**' वह ही जीव... आहा..हा...! मोहकर्म के उदय का अनुसरण करके विकार कर रहा था। वह परसमय माने विकार-विभावभाव है, वह चारित्र नहीं। '**वह ही (जीव)...**' वही का वही जीव जब सुलटता है तब, आहा..हा...! '**(जब) अनादि मोहनीय के उदय का अनुसरण करनेवाली परिणति को करना छोड़कर अत्यंत शुद्ध उपयोगवाला होता है।**' उस कर्म का अनुसरण करके होता है, वह तो अशुद्ध उपयोग है। पुण्य व पाप का भाव, वह मैला उपयोग है। परंतु अपने स्वभाव का अनुसरण करके होता है, कर्म का अनुसरण छोड़कर वह शुद्ध उपयोगवाला बनता है। यह शुद्ध उपयोग (है) वह चारित्र है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया!

स्व का अनुसरण करके होना वह नियत चारित्र, पर का अनुसरण करके होना वह अनियतभाव। छोटी-सी बात है। सेठ ! अनियत है... आहा..हा...! पहले निर्णय तो करे। यहाँ तो पंच महाव्रत के परिणाम और व्रतादि के भाव - दया-दान-व्रत-भक्ति, ये सब कर्म का अनुसरण करके होनेवाले विभावभाव हैं। आहा..हा...!

और एक तरफ भगवान आत्मा ! ज्ञाता-दृष्टा - ज्ञान-दर्शन स्वभाववाला, उस का अनुसरण करके होनेवाला नियत चारित्र है, वह निश्चय चारित्र है। कहो... भाई ! ऐसा है। ऐसी स्पष्ट दो और चार जैसी बात है।

आहा..हा...! यहाँ परमात्मा त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव ऐसा फरमा रहे (हैं)। ये 'कुंदकुंदाचार्य' ऐसा कह रहे (हैं) और 'अमृतचंद्राचार्य' उस का स्पष्टीकरण - टीका कर रहे हैं। आहा..हा...! मोहनीय के उदय का अनुसरण करके होनेवाली परिणति छोड़कर शुद्ध उपयोगवाला होता है। '**तब (स्वयं ने) भाव का एकरूपपना ग्रहण किया हुआ होने के कारण...**' देखा ? कर्म के उदय का अनुसरण करे तो अनेक प्रकार से विभाव होता है। और स्वभाव का अनुसरण करे तो एक प्रकार का चारित्र -

स्थिर होता है। आहा..हा...! देखो ! यहाँ यह कहा है। एक-अनेक ४७ शक्तियों में कहा है। वह अलग, वह तो एक गुण है। त्रिकाली में अनेक गुण हैं।

यहाँ तो, पर्याय में स्वभाव का अनुसरण करके होना। वह एकपना है। और निमित्त का अनुसरण करके होना वह द्वैत हो गया। अतः वह अनेक है। पर्याय ही पर्याय में, आहा..हा...! कुछ समझ में आया ! भाषा तो सादी है। आहा..हा...! थोड़ा उसे विचार तो करना चाहिए न! आहा..हा...! सब्जी लेने जाता है तो कितनी जाँच-पड़ताल करता है ! लौकी का टुकड़ा कड़वा तो नहीं है न ! छेद तो नहीं है न ! कहीं सड़ान तो नहीं है न ! सब्जी में इतनी जाँच करता है। और यहाँ धर्म में कहीं भी जाँच-पड़ताल करने की जरूरत नहीं समझता। जय नारायण। उस में तो पैसे देने पड़ते हैं। इसमें व्यर्थ समय जाता है। उसे नहीं (गिनता)। आहा..हा...! क्या कहा?

आया न ? `**एकरूपपना ग्रहण किया होने के कारण...**' क्या कहते हैं ? आत्मा का ज्ञान-दर्शन स्वरूप त्रिकाल स्वभाव है। एक का अनुसरण करके किया हुआ होने के कारण उसे एकरूप चारित्र कहा जाता है। यहाँ तक आया न ? ('पंचास्तिकाय संग्रह') १५५ (टीका) एकपना ग्रहण किया हुआ होने के कारण... `**स्वयं ने भाव का एकरूपपना ग्रहण किया हुआ होने के कारण उसे जो नियत गुणपर्यायपना होता है...**' देखा !

`नियत गुणपर्याय'। स्वभाव और उसकी सब पर्याय नियत स्वभाव है। वह स्वसमय और स्वचारित्र है। आहा..हा...! फिर कहा ('पंचास्तिकाय संग्रह' गाथा-१५६ टीका) `**परचारित्र में प्रवर्तमान स्वरूप का कथन है।**' `**जो (जीव) वास्तव में मोहनीय के उदय का अनुसरण करनेवाली परिणतिवशात्...**' देखा ? वशात् (अर्थात्) मोहनीय के उदय का अनुसरण करके परिणमन करने के कारण रंजित उपयोगवाला ! मैला उपयोग - पुण्य-पाप मैल है। उस उपयोगवाला, वह चारित्र (है) सो अनियत चारित्र (है), स्वाभाविक चारित्र नहीं है।

आहा..हा...! यह पंचास्तिकाय, अस्ति सिद्ध करता है। उस में उसका हो, यह अस्ति पर से होती है। वह अस्ति भी विभाव की अस्ति है। वह अस्ति में (ही) समाविष्ट है, उसी में होता है (इसलिए), कुछ समझ में आया ! ये बहुत समय के बाद आये

न ! भाई... बहुत समय बाद आये। भटकते भटकते बाहर परदेश में भटक रहे हैं। होशियार अधिक हो वह बाहर ज्यादा घूमने जाते हैं। यहाँ कहते हैं कि विभाव में घूमने जाय वह अनियत चारित्र है। स्वभाव में घूमने जाय (वह नियत चारित्र है)।

अभी तो चारित्र का (भी) पता नहीं है। स्वभाव का अनुसरण करके जो चारित्र होता है वह नहीं। यह तो पंच महाव्रत का पालन करना और व्यवहार समिति-गुप्ति का पालन करना और ऐसे निर्दोष आहार लेना। (इसका नाम चारित्र - ऐसा लोग कहते हैं)। आजकल तो निर्दोष आहार भी कहाँ लेते हैं ? परंतु यह तो निर्दोष आहार ले, तो भी वह प्रवृत्ति विभाव की है। आहा..हा...! वह कोई चारित्र नहीं है। यह तो अनियत स्वभाव है। आहा..हा...! वह परसमय भाव है। ऐसी बातें स्पष्ट हैं, एकदम साफ बात है।

लोग अपनी दृष्टि रखकर शास्त्र का अभ्यास करते हैं। परंतु शास्त्र को सत्य क्या कहना है, इसकी दृष्टि करके अभ्यास करे तो उसे सत्य समझ में आ जाय इसीलिए कहा न ? उस की (जैसी) दृष्टि होती है उसके अनुसार आदमी अभ्यास करता है।

यह तो यहाँ साफ स्पष्ट बात करते हैं। आहा..हा...! कहते हैं। `**आत्मद्रव्य नियतिनय से नियत स्वभावरूप भासित होता है, जिसकी उष्णता नियमित (नियत) होती है, ऐसी अग्नि की भाँति।**' निश्चय से अग्नि का स्वभाव (उष्ण है) ऐसे नियत स्वभाववाला भासित होता है। कहो ! स्वरूप में एकाग्र होता है, शुद्धता होती है, उसे नियत स्वभाव कहा जाता है; नियति नहीं। यह जो नियति है, वह दूसरी वस्तु है। और नियत है, वह दूसरी वस्तु है।

एक लाइन में बहुत फर्क (पड़ जाता) है। क्या ? आहा..हा...! नियतिनय का अर्थ निश्चय है। नियति (का) अर्थ निश्चय है। और उस नियति का अर्थ जिस समय (जो) बननेवाला हो सो बने; उसका अर्थ वह है। इस का अर्थ कई लोग ऐसा करते हैं। `नियतिनय से नियत स्वभाववाला भासित होता है।' २६ (वाँ नय) हुआ।

अब २७ (वाँ नय) आत्मद्रव्य... अब आत्मद्रव्य माने अनंत गुण और अनंत पर्याय में, निर्मल एवं विकृत (पर्याय) सहित के आत्मद्रव्य की बात की है। सिर्फ विकारी पर्यायवाला और गुणवाला द्रव्य, ऐसा नहीं। क्या कहा ? अनादि से सिर्फ विकृत अवस्था

है। और गुण निर्मल है। और पर्याय में कोई सम्यक्दर्शन-ज्ञान की परिणति नहीं है। ऐसा यहाँ नहीं लेना है। यहाँ तो स्वभाव का अवलम्बन लेकर जिसकी ज्ञान की पर्याय में निर्मलता हुई है। और कुछेक अभी पर का अवलम्बन करके राग का अनुसरण करके होती है ऐसे ज्ञानी के नय की बातें हो रही है। उसे नय (लागू होता है)। दूसरों को क्या (होता है) ? नय किसे होता है ? आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

अब, अनियतिनय। अनियतिनय से माने उल्टी-सीधी पर्याय होती है, ऐसा नहीं। अनियत (अर्थात्) कोई निर्णय-निश्चय नहीं कि यह होगी कि यह होगी ? चाहे जो पर्याय हो जाय, उस का कोई निश्चय नहीं, ऐसा नहीं। तब आत्मद्रव्य यह कहा कि गुणपर्याय का धारक। `**आत्मद्रव्य अनियतिनय से अनियत स्वभाववाला भासित होता है।**' अनियत पर्याय से उल्टा-सीधा भासित होता है, ऐसा नहीं।

शशीभाई ! अनियतनय से उल्टी-सीधी चाहे जो पर्याय हो ऐसा नहीं; परंतु `अनियतनय से अनियत स्वभाववाला भासित होता है।' देखा ! जिसका स्वभाव नियत है, ऐसा नहीं भासित होकर अनियत स्वभाववाला (भासित होता है)। आत्मा में विकार हो और भासित हो, वह अनियत स्वभाव है। पानी में उष्णता भासित होती है (वह) अनियत स्वभाव है। अग्नि में उष्णता भासित होती है वह नियत स्वभाव है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...!

`**आत्मद्रव्य अनियतनय से अनियतस्वभावरूप भासित होता है,...**' देखा ! `**जिसके उष्णता नियति (नियम) से नियमित नहीं है,...**' पानी में उष्णता निश्चय से नहीं है। क्योंकि उसका स्वभाव नहीं है। पानी की उष्णता (यह) उसका निश्चय से स्वभाव नहीं है। अतः उसे अनियत कहा जाता है। पानी की उष्णता अनियत है; विभावरूप है इसलिए। अग्नि की उष्णता नियत है; स्वभाव है। अतः उस प्रकार आत्मा... आहा..हा...! उस का - प्रभु का आनंदगुण ! उस आनंदगुण में लीनता - यह नियत है। वह चारित्र सच्चा (चारित्र) है। उस आनंदगुण को छोड़कर कर्म के निमित्त का अनुसरण करके विभावरूप होना वह अनियत है। उस विभावरूप होना वही अनियत है। उल्टा-सीधा होना वह अनियत है, ऐसा नहीं। कुछ समझ में आया ! आहा..हा...! इसमें कितना याद रखना ? भाई ! ऐसा निर्णय करना पड़ेगा। बापू ! ऐसा अवसर आया

है।

आहा..हा...! ऐसा मनुष्य का देह, वीतराग के संप्रदाय में जन्म, उस में (ऐसी) वीतराग की वाणी आये। (इसे) उसका निर्णय करना पड़ेगा। आहा..हा...! अनियतनय से अनियत स्वभाववाला (भासित होता है)। भाषा यह है। देखा ? अनियत (माने) उल्टा-सीधा होता है (वह) अक्रम है। पर्याय का क्रम और अक्रम दोनों ही है। आहा..हा...! यह अपने यहाँ चल चुका है न ? क्रम और अक्रम, वह क्रम-अक्रम क्या ?

पहले आया है। नारकीगति है, फिर मनुष्य हो ऐसा कुछ नहीं है। उसका एक के बाद एक होना। और पर्याय में जो है, वह पर्याय दूसरी ऐसी ही हो वह क्रम है। विभाव की पर्याय ऐसी ही दूसरी हो, ऐसा कुछ नहीं है, इसलिए वह अक्रम है (उस) अक्रम का अर्थ पर्याय तो वही होनेवाली है। परंतु पर्याय में ऐसी ही होती रहे ऐसा नहीं है। अतः उसे अक्रम कहते हैं। पर्याय को अक्रम कहते हैं ! आहा..हा...!

कहा था न ! नारकी व मनुष्य(गति में) क्रम है। और ये जोग व लेश्या, कषाय ये एक साथ अक्रम हैं। कुछ समझ में आया ? एक साथ हैं। जोग (है), लेश्या है, कषाय है, ज्ञान है (सब कुछ) एकसाथ है। गति कभी भी दो एक साथ नहीं होती। एक गति के बाद दूसरी गति इस प्रकार क्रम होता है, क्रम में गति है, अक्रम में उस के गुण व पर्याय के एक साथ रहने से अक्रम है। क्या कहा वह ? समझ में आया ?

मार्गणा में गति, मति, लेश्या, कषाय एक ही समय में होते हैं। एक समय में होते हैं वह अक्रम है। और गति एक के बाद (एक) होती है वह क्रम है। परंतु वहाँ अक्रम है मतलब उल्टी-सीधी (कोई भी) पर्याय होगी ऐसा अक्रम का अर्थ वहाँ है भी नहीं। आहा..हा...! इसमें कितने शास्त्र देखने हैं ?

जैसे (पानी के) उष्णता नियति से, नियमपूर्वक नियमित नहीं है, ऐसे पानी की भाँति। पानी की उष्णता कोई नियति नहीं है। अग्नि की उष्णता के कारण होती है, परंतु वह विभाव है, ऐसा कहना है। अग्नि का तो निमित्त है। उष्णता विभावरूप है। और शीतलता स्वभावरूप है। इस प्रकार भगवान आत्मा में आनंद व ज्ञानरूप होना वह स्वभावरूप है और विकाररूप होना वह विभावरूप है। आनंद व ज्ञान की परिणतिरूप होना यह नियत है - नियतस्वभाव है। और राग तथा पुण्य-पाप-दया-

दान के परिणाम होना वह अनियत है। अनियत वह विभावभाव है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! एक घंटे में कितने बोल याद रखने हैं ? संसार में तो बहुत कुछ याद रख लेता है, क्यों ?

यह नय का अधिकार तो भाई, गज़ब है। एकान्तरूप से (तो) छोड़ नहीं सकते, अनेकान्तरूप से सिद्ध करते हैं। आहा..हा...! यहाँ तो ऐसा सिद्ध करना है कि, आत्मा अपने स्वभावभावरूप परिणमित नहीं हो और महाव्रत आदि के विकल्परूप परिणमित हो यह उस का अनियत स्वभाव कहा जाता है। क्योंकि वह हमेशा नहीं रहता। कुछ समझ में आया !

आत्मा में पुण्य व पापरूप होना वह अनियत स्वाभाव है। वह कायम रहनेवाला नहीं है। विभाव है। और ज्ञान-दर्शन व आनंतरूप होना वह नियत स्वभाव है। क्योंकि वह स्वभाव कायम रहेगा, कायम रहता है। और उसका अनुसरण करके होगा। (वह भाव) कायम रहेगा। और चीज के सामने - निमित्त - उसका अनुसरण करके होनेवाला विकार कायम नहीं रहता, वह अनियत है। अतः वह चारित्र नहीं है। ऐसा कहते हैं।

आजकल तो पंचमहाव्रत, समिति व गुप्ति उसे चारित्र मनवाना चाहते हैं। इस के कारण निश्चय चारित्र होगा, ऐसा मनवाना चाहते हैं। आहा..हा...! भगवान ! बापू ! ये तो, आत्मा के हित व अहित की बातें हैं। ये कोई पक्ष की बातें नहीं हैं कि जिससे किसी को दुःख लगे। यह तो वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। आहा..हा...! जिसे आत्मा - द्रव्य का अनुसरण करके सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं है और पर का अनुसरण करके पंचमहाव्रत आदि के परिणाम हैं व अचारित्र है। वह अनियत स्वभाव है। कायम रहना उसका स्वभाव नहीं है। अतः वह चारित्र है ही नहीं, ऐसा कहते हैं। आहा..हा...! बात बहुत सूक्ष्म की है।

कहो, ये पंचमहाव्रत का पालन करते हैं। स्त्री - परिवार छोड़े हैं। नग्नपना धारण किया है, वस्त्र छोड़े हैं इसलिए हमारे व्रत के परिणाम तो हैं न ? परंतु कहते हैं कि ये व्रत के परिणाम हैं वह चारित्र नहीं है। आहा..हा...! ऐसा कठिन पड़ता है। क्या करें ?

आत्मा अनियतिनय से अनियत स्वभाववाला भासित होता है। देखा ? अनियतनय

से विभाववाला भासित होता है। यहाँ तो ज्ञानी की अपेक्षा से बात है, हाँ ! ज्ञान(दशा) बिना का सिर्फ विभाव है, उसे ज्ञान भासित होता है ऐसा तो वहाँ है नहीं। आहा..हा...! आत्मा के स्वभाव का आश्रय लेकर सम्यक्दर्शन-ज्ञान होते हैं। वहाँ जितना विभावभाव है, वह अनियतभाव है, स्वभावभाव नहीं है।

अनियतनय से जानता है। एक नय है न ? और उस अनंत नयों का समुदाय भावश्रुत है। और वह भावश्रुत द्रव्य-गुण और मलिन पर्याय, निर्मल पर्याय, उसका विषय है - उन्हें जानता है। अज्ञानी के अनियतनय है ही नहीं। आहा..हा...!

`**उष्णता अनियत होने से...**' अग्नि के निमित्त से होनेवाली उष्णता अनियत होने के कारण `**पानी अनियतस्वभाववाला भासित होता है।**' उस प्रकार। पानी अनियतस्वभाव का (भासित होता है)। अग्नि के निमित्त से होनेवाली उष्णता भासित होती है, उस प्रकार आत्मा में निमित्त का अनुसरण करके होनेवाला विकार अनियत चारित्र है, विभाव है। वह वास्तविक चारित्र नहीं है। विशेष कहेंगे...



पूर्वमें आत्माको चाहे बिना केवल विषय-कषायमें ही जीवन
बिताया हो तो भी यदि वर्तमानमें रुचिको बदलकर, आत्माकी
रुचि करे तो अपूर्व आत्मभान हो सकता है ।

(परमागमसार - ७४२)

आत्मद्रव्य स्वभावनय से संस्कार को निरर्थक करनेवाला है (अर्थात् आत्मा को स्वभावनय से संस्कार निरुपयोगी है), जिसकी किसी से नोक नहीं निकाली जाती (किन्तु जो स्वभाव से ही नुकीला है) ऐसे पैने काँटे की भाँति। २८।

आत्मद्रव्य अस्वभावनय से संस्कार को सार्थक करनेवाला (अर्थात् आत्मा को अस्वभावनय से संस्कार उपयोगी है), जिसकी (स्वभाव से नोक नहीं होती, किन्तु संस्कार करके लुहार द्वारा नोक निकाली गई हो ऐसे पैने बाण की भाँति। २९।

आत्मद्रव्य कालनय से जिसकी सिद्धि समयपर आधार रखती है ऐसा है, गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले आम्रफल की भाँति। (कालनय से आत्मद्रव्य की सिद्धि समयपर आधार रखती है, गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले आम की भाँति।) ३०।

प्रवचन : दि. २-१-१९७८

(`कुन्दकुन्द') आचार्य की तिथि का आज दिन है। आचार्य पदवी आज मिली थी। उनका नाम भी इस में आया है न ! `मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमगणी। मंगलं कुदकुंदार्यो;' इस प्रकार (नाम) डाला है। तो उनको तीसरे नंबरपर रखा है। भगवान, गणधर और ये कुन्दकुन्दाचार्य। आज `कुन्दकुन्दाचार्य' की स्थिति का वर्णन बहुत स्पष्ट, साफ (था) और भगवान के पास गये थे। इसलिए बहुत स्पष्ट, संक्षिप्त शब्दों में किया है।

उनकी आचार्य की (पदवी का) आरोहण (दिन है)। आज के दिन वे आचार्य के लायक थे। लोगों ने आचार्यपद पर आरोहित किया था। उनका एक-एक शास्त्र

देखो तो (गज़ब काम किये हैं)। कोई ऐसा कहता है कि - `कुंदकुंदाचार्य' को आपने मान्य रखा और अन्य आचार्यों को (मान्य नहीं रखा)। तो उसमें (सब) आ गये। मुख्यरूप से `कुन्दकुन्दाचार्य' हैं। उसमें आया कि नहीं ? `मंगलं' में ? श्वेतांबर में तीसरे नंबर पर `स्थूलीभद्र' आते हैं।

यह तो `कुन्दकुन्दाचार्य', (जिन्होंने) सर्वज्ञ की परंपरा से जो धर्म था (उसका प्रवर्तन किया)। भगवान के पास गये थे, आठ दिन तक सुना और आकर (लौटकर) फिर इस शास्त्र (की रचना करी)। अनादि सनातन सत्य सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप जैसा था वैसा उन्होंने कहा। और उसमें (भी) उस समय आचार्यपद के (लायक) अग्रसर होनेवाले थे। कोई मुनिराज तो ऐसा भी कहते हैं कि, `न हुए... न होयेंगे...' `कुंदकुंदाचार्य' हुए ऐसे (कोई दूसरे) होंगे नहीं और है नहीं। अतः दूसरों का अनादर है, ऐसा नहीं है।

परंतु स्वयं `कुंदकुंदाचार्य' साक्षात् भगवान के पास गये थे। आठ दिन रहे थे। उन की विशेषता के कारण उनको तीसरा नाम दिया गया है। और उस में आता है न `कुन्दकुन्दाचार्यो...' अथवा कुन्दकुन्दादि उस में सब समाविष्ट हो जाते हैं। अन्य मुनिजन समाविष्ट हैं। है न ? उन्होंने स्वयं ने (`समयसार') पाँचवीं गाथा में कहा न कि, यह हमें शुद्धात्मा का उपदेश जो अरिहंत भगवान, वहाँ से लेकर हमारे गुरु पर्यंत (कि जो) विज्ञानघन में निमग्न थे, (उनके अनुग्रह से प्राप्त हुआ है)। आहा..हा...! परंपरा सीधी वहाँ से आयी, यह बात वहाँ करी है।

अरिहंत भगवान जिस प्रकार विज्ञानघन में निमग्न थे उस प्रकार गणधर भी विज्ञानघन में निमग्न थे। उनकी परंपरा में ये गुरु आये वे भी विज्ञानघन में निमग्न थे। इतने तो सबूत दिये हैं। यह परंपरा सीधी वीतराग से चली आ रही है। यह उपदेश हमें हमारे गुरु ने, अनुग्रह करके, कृपापूर्वक किया। और वह हमें बैठ गया, समझ में आया और अनुभव किया। ऐसे अपने निजवैभव से समयसार कहेंगे। ऐसा आया है न ?

आहा..हा...! `कुंदकुंदाचार्य' की पदवी, गौतम के बाद जो उनको ही मिली है। आचार्यपदपर बीच में तो बहुत हुए किन्तु इसमें नाम आया यह (`कुन्दकुन्दाचार्य' का)। उनकी खास विशेषता है। उनका, क्षयोपशम, उन की शैली की रचना, उनके कम

शब्दों में भारी गंभीरता, ऐसी है। प्रत्येक शब्द और प्रत्येक वाक्य में गंभीरता (है)। इस कारण ही गणधर के बाद यह 'कुन्दकुन्दाचार्य' का नाम कहा गया है। आहा..हा...! यह तिथि आज है। आचार्य की आज आरोहण तिथि है, मागशीर्ष वदी ८। पौष वदी ८, सिद्धांत की पौष वदी ८। उसमें यह नय का अधिकार चल रहा है। उनका कहा हुआ है। यह 'अमृतचंद्राचार्य' ने उसमें से खोला है।

आहा..हा...! प्रत्येक संत ! - दिगंबर मुनि ! अलौकिक (हैं)। लंडन से पत्र आया है। है कोई... बहुत खुशी बताई है। आहा..हा...! वहाँ सब बहिन-भाई लोग पढ़ते हैं। बहुत नाम लिखे हैं। वे सभी भाई-बहिनों की तरफ से तथा अपनी तरफ से नमस्कार कर रहे हैं। लंडन में - विलायत में लोग यहाँ का आत्मधर्म पढ़कर बहुत खुशी बता रहे हैं। जैनशासन को प्रसिद्ध किया हो तो ऐसा कि - यह 'श्रीमद्' का दे रहे हैं। 'श्रीमद्' का अधूरा था वह (अब आपने) पूरा किया। उनकी ('श्रीमद्' की) जिंदगी छोटी थी। ऐसा कहकर वहाँ लिखा है। यह तो भगवान का मार्ग है। आहा..हा...! अनंत तीर्थंकर, अनंत जिनेश्वर अर्थात् कवली, अनंत संतों ने जो जैनदर्शन कहा वह यह वस्तु है। आहा..हा...! ऐसी चीज अन्यत्र कहीं है नहीं।

अपने यहाँ नय अधिकार (चल रहा है)। २७ आया है न ? २७ नय चले हैं। थोड़ा सूक्ष्म अधिकार है। परंतु उसे समझना तो पड़ेगा न ! यहाँ 'आत्मद्रव्य' यह शब्द पहला आया न ? २८(वाँ नय), आत्मद्रव्य। यह वस्तु है। इसलिए उसमें शक्ति-स्वभावरूप अनंत गुण हैं। और अनंती पर्यायें हैं। उन सभी पर्यायें एवं गुणों के धर्मों के धारक को आत्मद्रव्य कहा जाता है। 'आत्मद्रव्य' जो यह पहला शब्द पड़ा है न, उस में इतना अर्थ समाया हुआ है। यह पहले कह चुके हैं। आहा..हा...!

भगवान - आत्मद्रव्य - वस्तु - उसमें दर्शन-ज्ञान-आनंद आदि अनंत गुण (है)। उसे यहाँ धर्म कहा है। गुणरूपी धर्म को धारण करके रखा हुआ है। और उसकी जो अनंती पर्यायें हैं, उनमें कुछेक विकारी भी हैं। यहाँ साधक है न ? श्रुतज्ञानप्रमाण से जाननेवाला यह द्रव्य है न? अतः उसे (साधक को) श्रुतज्ञान है, इसलिए उसे केवलज्ञान नहीं है। अतः कुछेक पर्यायों में विकृत अवस्था है। और कुछ अनंती पर्यायें निर्मल हैं। ये सभी पर्यायें विकृत एवं अविकृत तथा गुण इन सभी को धारण करके रखनेवाला आत्मद्रव्य है।

आहा..हा...! अतः एक-एक गुण को एवं एक-एक पर्याय को विषय करनेवाला नय है। (नय) ज्ञान का एक अंश है। अतः उस के अनंत नय बनते हैं। अनंत गुण एवं अनंत पर्यायें (हैं)। अतः उन एक-एक को जाननेवाले अनंत नय होते हैं। उन अनंत नय का एकरूप श्रुतप्रमाण है। आहा..हा...! भावश्रुत, हाँ ! अनंत नय का समुदाय भावश्रुतज्ञान (है)। आहा..हा...! उस भावश्रुतज्ञान द्वारा, अनंत गुण एवं अनंत पर्याय का धारक द्रव्य, वह इस में प्रमेय होता है। प्रमाण में प्रमेय होता है। उसके नाप में वे सभी चीजें आ जाती है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? ऐसी बातें हैं।

बाहर की प्रवृत्ति के मारे और क्रिया के मारे उसने आत्मा क्या चीज है ? यह देखने की दरकार भी नहीं की है। दया-दान-व्रत-भक्ति और पूजा करी, यह सब क्रियाकांड है। वह तो राग है। वह उसके स्वरूप में नहीं है। अतः उस का (मूल) स्वरूप जाने तब उस की पर्याय में विकृत और अविकृत है, उसका ज्ञान सच्चा होता है। कुछ समझ में आया ? इसलिए यहाँ अपने ४७ नय चले हैं।

'**आत्मद्रव्य स्वभावनय से संस्कार को निरर्थक करनेवाला है।**' इसमें एक भाव ऐसा है। एक नय का विषय - एक भाव ऐसा है कि, उसे स्वभावनय से देखें तो संस्कार को निरर्थक करनेवाला है। किसी में संस्कार पड़े हो और आत्मा में सुधार हो जाय, ऐसा इसमें है नहीं। (ऐसा) कहते हैं। वह पर के संस्कार निरर्थक करनेवाला ऐसा एक धर्म - एक नय का एक विषय है। एक नय का, हँ ! आहा..हा...! सूक्ष्म है। भाई ! संस्कार को निरर्थक करनेवाला है। है न? एक योग्यता। आत्मा में एक ऐसा धर्म माना है कि, पर के कारण अंदर संस्कार पड़े और उस से उसे लाभ हो, उसे निरर्थक करनेवाला है।

पर के संस्कार से उस में लाभ हो, इस बात को निरर्थक करनेवाला, ऐसा एक धर्म है। आहा..हा...! ऐसी एक पर्याय में योग्यता है। पर्याय की बात है न वह ? उसकी पर्याय अवस्था में एक योग्यता ऐसी है कि, पर के कारण संस्कार पड़े ऐसा नहीं है; संस्कार को निरर्थक करनेवाला है। आहा..हा...! वह संस्कार कौन से ? वह तो अपनी चीज है। यह तो पर के निमित्त से अंदर संस्कार पड़े, इस बात को निरर्थक करनेवाला है। यह तो अपने आत्मा के स्वभाव के आश्रय से उस की दशा प्रगट होती है। एक नय से उसे पर के संस्कार से दशा प्रगट होती

है, ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। दूसरी ओर दूसरा नय कहेंगे।

आहा..हा...! (पूर्व के) संस्कार निरर्थक (करे) ऐसी (बात) नहीं है। यह तो वर्तमान में विद्यमान बात है। पूर्व की यहाँ बात नहीं है। वर्तमान में उसकी ऐसी एक योग्यतारूपी धर्म माने लायकात कही गई है कि पर के कारण उसमें संस्कार पड़े, ऐसा उस में धर्म नहीं है। वर्तमान की बात है। आहा..हा...! क्योंकि अनंत नय में अनंत धर्म अर्थात् विषय (हैं)। उसका समुदाय श्रुतप्रमाण वर्तमान में विषय कर रहा है। वर्तमान द्रव्य और गुण को वर्तमान में विषय करता है। पूर्व के संस्कार की यहाँ बात ही नहीं है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ! यह भी एक नय है और वह नय एकपने के धर्म को विषय करता है। और ऐसे अनंत नयों का एकरूप भावश्रुतप्रमाण (है), जिस के द्वारा अंतर में आनंद आया हो और जहाँ अंतर में आत्मा के आश्रय से जो ज्ञान प्रगट हुआ हो ऐसा जो भावश्रुत, उस भावश्रुत द्वारा, यह आत्मा और उसके गुण और उसकी पर्यायों को विषय किया जा सकता है - प्रमेय हो सकते हैं। ऐसी बातें हैं। आहा..हा...! है !

`**अर्थात् आत्मा को स्वभावनय से संस्कार निरुपयोगी है,...**' पर के कारण - गुरु के कारण, देव के कारण, शास्त्र के कारण अंदर संस्कार पड़ना (उसे) निरर्थक करनेवाला है। (ऐसा) कहते हैं। सूक्ष्म बात है। उसकी पर्याय स्वतंत्र, उस काल में अपने आत्मा के अवलम्बन से, जो धर्मदशा सम्यक्दर्शन-ज्ञान हुआ, उसमें पर के किसी संस्कार की जरूरत नहीं है। ऐसा एक नय का धर्म है। आहा..हा...! क्या कहा ? जरूरत नहीं है अर्थात् है ही नहीं। आत्मा के स्वभाव की अपेक्षा से, पर के संस्कार की अंदर बिलकुल जरूरत नहीं है। ऐसा एक नय है। दूसरा नय संस्कार का आयेगा।

संस्कार का (नय) दूसरा। परंतु संस्कार नहीं है और संस्कार है। किसी जीव के संस्कार है, उसके नहीं। जीव के किसी समय संस्कार होते हैं और किसी समय असंस्कार दिये जाते हैं, ऐसा भी नहीं है। क्या कहा वह ? किसी को संस्कारनय से धर्म प्रगट हो और किसी को असंस्कार-निरर्थक करके प्रगट हो, ऐसा नहीं है। एक ही समय में संस्कारनय और असंस्कारनय ऐसे दोनों ही लागू होते हैं। ऐसी बात है। कुछ समझ में आया !

सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित आत्मा वह तो अनंत गुण व अनंती पर्याय का समुदाय, वह आत्मा है। यहाँ निश्चय सम्यक्दर्शन है। उसका विषय त्रिकाली द्रव्य है। वह बात तो अंदर होती है। ऐसे ज्ञानप्रधान साधन में उस त्रिकाली द्रव्य को भी नय विषय करता है। और अनंत गुण को भी विषय करता है। और एक नय पर्याय को भी विषय करता है। इन सभी नयों का समुदाय कहकर आत्मद्रव्य को सिद्ध करना है।

यह तो पहले द्रव्यनय आ चुका है। द्रव्यनय से, द्रव्यनिक्षेप से, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्ति (है)। आहा..हा...! नय का अधिकार सूक्ष्म बहुत... बापू ! वास्तविक ज्ञान समझने के लिए उसे बहुत पुरुषार्थ चाहिए। वह वस्तुस्थिति क्या है ? राग (भले) अंदर हो। परंतु राग को जानने के काल में उसे (साधक के) निर्मलदशा भी प्रगट हुई है। राग हो उसे जानने को नय कहा जाता है।

जिसे धर्म (अर्थात्) आत्मा के आनंद के स्वरूप का भान ही हुआ नहीं है। जिसे भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनंद है, उसकी पर्याय में अतीन्द्रिय आनंद का लाभ हुआ नहीं है, उसे राग को जाननेवाला ज्ञान ही हुआ नहीं है। समझ में आये उतना समझो, बापू ! यह तो सर्वज्ञ परमात्मा (का मार्ग है)। आहा..हा...! और वह भी जैनधर्म (है)। अर्थात् दिगंबर जैनधर्म, आहा..हा...! बापू! यह बहुत सूक्ष्म वस्तु है।

आहा..हा...! अनादि अनंत तीर्थंकर, अनंत केवली, अनंत संत जिस प्रकार कह गये हैं उस प्रकार कहा जा रहा है। आहा..हा...! क्या कहा वह ? यह आत्मद्रव्य वस्तु। जो अनंतगुण व अनंतपर्याय का धारक, उसके एक-एक गुण को व एक-एक पर्याय को विषय करनेवाला नय, ज्ञान का अंश, उन अनंत नयों का समुदाय, वह भावश्रुतज्ञान की जो भावश्रुतज्ञान द्रव्य का अवलम्बन लेकर हुआ है। त्रिकाली द्रव्य के अवलम्बन से हुआ है। सिर्फ गुण-भेद का अवलम्बन लेकर नहीं, पर्याय का अवलम्बन लेकर नहीं। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? सुबह एक सज्झाय में आया था। सप्रदेश आया था। जीव सप्रदेशी है। ऐसा (आया था)। इसमें आया था (`अष्टपाहुड' में या `नियमसार' में) अप्रदेश नहीं कहा। देखा ? सप्रदेश कहा है। (कोई) भले एक प्रदेशी कहे। `पंचास्तिकाय' में असंख्य प्रदेशी की अपेक्षा से, असंख्य प्रदेशी ही है। परंतु उसे अभेद मानकर असंख्य प्रदेशी कहे, परंतु एक प्रदेशी न कहे।

अप्रदेशी तो परमाणु को और कालाणु को कहा जाता है।

आहा..हा...! यहाँ पर आत्मा में असंख्य प्रदेश है। उसे भी एक ऐसा गुण है। नियतप्रदेशत्व नामका उसमें एक गुण है। नियतप्रदेशत्व - असंख्य प्रदेश, वह निश्चय से है। ऐसा उसका एक गुण है। एक प्रदेशी है, ऐसा उसका गुण नहीं है। वैसे ही अप्रदेशी है, ऐसा उसका गुण नहीं है। भाई ! सूक्ष्म बात है।

थोड़ा फर्क, - (किन्तु) बहुत फर्क पड़ जाय (ऐसा) है। वह असंख्य प्रदेश है, ऐसा (ही) एक नियत प्रदेशत्व गुण है। ऐसा एक गुण है, ऐसे गुण को भी विषय करनेवाला एक नय है। वह असंख्य प्रदेशी वस्तु है। ऐसा एक नियत प्रदेशी गुण है। ३६वाँ है न ? कुछ समझ में आया ! ४७ शक्ति हैं न ! (उसमें आता है)।

यहाँ ऐसा कहना है कि, एक गुण है और उसे विषय करनेवाला एक नय है। एक नय, वह असंख्य प्रदेशी (वस्तु) है (उसे विषय करता है)। ऐसा एक नय है। और सभी नयों का समुदाय (वह श्रुतज्ञानप्रमाण) ज्ञान है, दर्शन है, आनंद है, इस प्रत्येक गुण की पर्याय है। और पर्याय का विषय करनेवाला एक नय है, और इन अनंत नय का समुदाय, श्रुतप्रमाण वह पूरे द्रव्य का अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों का विषय करता है। तो श्रुतज्ञानप्रमाण में असंख्य प्रदेशी (है)। यह विषय भी आ गया। भाई ! कुछ समझ में आया ?

उसमें अप्रदेशी नहीं आया। प्रदेश की अपेक्षा से वहाँ अखंडपना नहीं आया। मेरा ऐसा कहना है। समझ में आया ? वह क्या कहा ? असंख्य प्रदेश है। उसमें अनंतगुण हैं। और असंख्य प्रदेश है ऐसा उस का एक गुण है। तो एक गुण असंख्य प्रदेशी है ऐसा आया। परंतु उसमें असंख्य प्रदेशी है ऐसा कोई गुण नहीं है। उस अपेक्षित एक प्रदेशी है, ऐसा कहा जाता है। पूरे को गिनकर एक प्रदेशी कहा जाता है, किन्तु है अप्रदेशी। ऐसा कोई गुण (भी) नहीं है और ऐसी कोई पर्याय (भी) नहीं है। कुछ समझ में आया ! परमाणु के, कालाणु के प्रदेश हैं। एक (है)। किन्तु प्रदेश (तो) है न ? उस प्रकार यहाँ असंख्य (प्रदेश) है। वहाँ एक (प्रदेश) है। प्रदेश ही नहीं है ऐसा कोई द्रव्य नहीं है परंतु असंख्यप्रदेशी है। अतः असंख्यप्रदेशी कोई गुण नहीं है ऐसा नहीं लेना है। यह तो न्याय का विषय है। भाई ! कुछ समझ में आया !

एक प्रदेशी कहे, असंख्य प्रदेशी कहे। प्रदेश बिना का कोई द्रव्य नहीं है, ऐसा कहे। क्योंकि बिना प्रदेश का कोई द्रव्य (ही) नहीं है। कालाणु भी एकप्रदेशी है। परमाणु भी एक प्रदेशी है। और यह तो असंख्य प्रदेशी है। असंख्य प्रदेशी यह तो उस का एक गुण है। गुण है उसे मुख्य करके वह असंख्य प्रदेशी ही है। बाद में फिर उसे एक अपेक्षा से मानकर सबकुछ एक करके गिना जाता है। तब उसे एक प्रदेशी (है, ऐसा) 'पंचास्तिकाय' में लिया है। है असंख्य प्रदेशी परंतु उसे एक प्रदेशी (अपेक्षा से कहा जाता है)। एक प्रदेशी परंतु अखंड प्रदेशी ऐसा नहीं लिया। बात में फर्क है। जरा बड़ा... नहीं कहा जा सकता। आहा..हा...! प्रदेश है। असंख्य प्रदेश है। वस्तु ऐसी है।

आहा..हा...! '७९ में एक भारी प्रश्न उठा था। '७९ में, ये प्रदेश असंख्य और अनंत कहे हैं न ? वह कल्पना है। वस्तु में वह बात है नहीं। '७९ के साल की बात है। कहा कि नहीं प्रदेश है, वह वस्तु है। आकाश के प्रदेश अनंत हैं। जीव के प्रदेश असंख्य हैं। असंख्य हैं वह कल्पना मात्र है, ऐसा नहीं।

इसलिए यहाँ ४७ शक्ति में तो ऐसा लिया कि, नियत प्रदेशत्व उस की शक्ति है। असंख्य प्रदेश है, ऐसा उस का एक गुण है। आहा..हा...! उस गुण को भी विषय करनेवाला एक नय है। और ऐसे अनंतगुण और अनंतपर्याय का धारक आत्मद्रव्य है। उस समूचे द्रव्य को श्रुतप्रमाण - अनंत नयों का समुदाय जो श्रुतप्रमाण - वह उसे प्रमेय करता है। आहा..हा...! ऐसा कठिन है। भाई... कभी बापदादाओं ने सुना भी न हो (ऐसा है) !

मार्ग ऐसा वीतराग का है। भाई ! तीनलोक के नाथ सर्वज्ञ, जिनेन्द्रदेव पूर्णानंद के नाथ, आहा..हा...! उनकी दिव्यध्वनि में आयी हुई चीज अलौकिक है। यहाँ ऐसा कहना है कि, दूसरे नय में संस्कार आयेगा न ? इसलिए दिमाग में ऐसा आ गया। असंख्य प्रदेशी है, तो उसे अप्रदेशी भी कहा जाय कि नहीं ? ऐसा नहीं। कुछ समझ में आया ! यहाँ संस्कार है, उस के सामने असंस्कार कहेंगे। परंतु असंख्य प्रदेशी है, उस के सामने अप्रदेशी नहीं कहा जायेगा। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ! भारी फर्क पड़ जाता है उस में ! लोकालोक असंख्य प्रदेशी है। धर्मास्तिकाय असंख्य प्रदेशी है और अधर्मास्तिकाय असंख्य प्रदेशी है। कालाणु असंख्य प्रदेशी -

किन्तु भिन्न-भिन्न है। और परमाणु एकप्रदेशी है। निश्चय परमाणु-पुद्गल, वह तो एक परमाणु है। ज्यादा प्रदेश के परमाणुओं को स्कंध कहा जाता है, वह व्यवहार है। आहा..हा...! निश्चय से एक परमाणु है, उसे पुद्गल कहते हैं।

पुद्गल परमाणु को निश्चय कहते हैं। आता है न भाई ! निश्चयपुद्गल परमाणु को कहते हैं। और दो से लेकर अनंत परमाणुओं के स्कंध को व्यवहारपुद्गल कहते हैं। यह तो वीतराग मार्ग, बहुत सूक्ष्म भाई ! उन्होंने (वीतराग ने) कहा हुआ आत्मा, ऐसा अन्यत्र कहीं है नहीं। और उसके कहे जानेवाले - जैन में जन्म लिया उन्हें (तो) पता तक नहीं है।

अतः यहाँ इसमें अनंत नय बनाये (हैं)। कि '**आत्मा को स्वभावनय से संस्कार निरूपयोगी है।**' है न ? आहा..हा...! वह तो अंदर से प्रगट होता है, उसे संस्कारनय से कह रहे हैं।

'**जिसकी किसी से नोक नहीं निकाली जाती...**' है न ! '**जिसकी किसी से नोक नहीं निकाली जाती (किन्तु जो स्वभाव से ही नुकीला है) ऐसे पैने काँटे की भाँति।**' तीक्ष्ण काँटा होता है न ! तीक्ष्ण काँटा, (काँटा) होता छोटा-सा है, परंतु बहुत कठोर होता है, सुई का काम करता है। ऐसे तीक्ष्ण काँटे की भाँति। आहा..हा...!

स्वभाव से ही तीक्ष्ण, सुई जैसे गुणवाला होता है, ऐसे भगवान आत्मा का स्वभाव, किसी (और) के संस्कार से निरुपयोगी है। अंदर स्वभाव अपना निर्मल प्रगट होता है। आत्मा के लक्ष से आत्मा में जो अनंत अनंत गुण व स्वभाव पड़ा है, वह स्वभाव पर्याय में सहजरूप परिणमित होकर आता है। किसी पर के संस्कार की उसमें जरूरत नहीं है। आहा..हा...! एक बोल हुआ... तीक्ष्ण काँटे की भाँति।

(अब) २९ (वाँ नय)। उससे विरूद्ध 'आत्मद्रव्य'। आत्मद्रव्य माने अनंत गुण व अनंत पर्याय का समुदाय वह आत्मा। अनंते गुण व अनंती पर्याय का आधार, अधिष्ठाता-स्वामी आत्मा।

वह '**आत्मद्रव्य अस्वभावनय से संस्कार को सार्थक करनेवाला है।**' परंतु वही के वही समयपर, हाँ ! किसी समय संस्कार को सार्थक करनेवाला है और किसी समय (नहीं), ऐसा यहाँ नहीं है।

वे अनंत नय श्रुतज्ञानप्रमाण समुदाय में आ गये। और श्रुतज्ञानप्रमाण में सभी

गुण व पर्यायों को एक साथ प्रमेय करता है। आहा..हा...! दिगंबर शास्त्र बहुत सूक्ष्म, ... है। भाई ! आहा..हा...! वह किसी साधारण मनुष्य का काम नहीं है। जिसको आत्मा की खोज करनेवाली दृष्टि होती है, उसे इस तरह बैठता है। खोजीदृष्टि। आहा..हा...!

(यहाँ) कहते हैं, `**आत्मद्रव्य अस्वभावनय से संस्कार को सार्थक करनेवाला है।**' पहले संस्कार को सार्थक करनेवाला नहीं है, ऐसा कहा था। यहाँ सार्थक करनेवाला है, ऐसी भी एक योग्यता गिनी गई है। पर्याय में ऐसा एक धर्म गिना गया है कि सामने जो देव-गुरु-शास्त्र कहे, उस के संस्कार पड़ते हैं, ऐसी एक योग्यता गिनी गई है। परंतु उस योग्यता को समयपर निरर्थक करे वह सापेक्षधर्म है। क्या कहा? समझ में आया ? संस्कार करनेवाला है, उसी समय असंस्कार करनेवाला धर्म भी है। ऐसा नहीं कि किसी समय संस्कार है और किसी समय असंस्कार है। अलग अलग नय लागू पड़े ऐसा नहीं है।

आहा..हा...! ऐसी बातें हैं। नय का अधिकार (सूक्ष्म बहुत) ! `अमृतचंद्राचार्य', `कुन्दकुन्दाचार्य' के हजार वर्ष बाद में हुए। गज़ब काम किया है। आहा..हा...! ऐसा अधिकार इस `प्रवचनसार' के सिवा अन्यत्र कहीं, किसी शास्त्र में नहीं है। आहा...हा...! परंतु वह तो शांति से, धैर्यपूर्वक सुनना पड़े, भाई !

`**अर्थात् आत्मा को अस्वभावनय से संस्कार उपयोगी है...**' देखा ? वह निरुपयोगी कहा था। और यह उपयोगी (कहा)। एक धर्म की योग्यता पर्याय में गिनने में आयी है। पर्याय में हाँ, यह कुछ समझ में आया ? वह संस्कारनय भी पर्याय में है। भाई ! संस्कार निरुपयोगी है, वह भी पर्याय में है। और संस्कार उपयोगी है, वह भी पर्याय में है, हाँ ! गुण तो त्रिकाल है। आहा..हा...! गंभीर बात है। प्रभु !

आत्मा अंदर गुण का समंदर (और) पर्याय का समंदर भरा है। आहा..हा...! अपार... अपार... शक्ति (भरी पड़ी है)। उस शक्ति का समुदाय, फिर उसकी जो अनंत पर्यायें... उसमें एक पर्याय ऐसी है कि, जो संस्कार को निरुपयोगी करती है। उसी समय एक पर्याय ऐसी है कि जो संस्कार को सार्थक करती है। ये दो नय एक समय में (ही) हैं। दो नय भिन्न भिन्न पुरुष के आश्रय से तो नहीं, परंतु एक पुरुष को भिन्न भिन्न काल में भी नहीं। कुछ समझ में आया ? अनंत धर्म एक पर्याय में हैं। उस में यह एक धर्म है, आहा..हा...! वही की वही पर्याय

को एक अपेक्षा से निरुपयोगी कहा। गज़ब बात है ! बापू ! जितना समझ में आया उतना समझना। यह तो नय का विषय लिया है न ! आज नय का तेरहवाँ दिन चल रहा है। ४७ नय हैं। आहा..हा...! है ?

`**आत्मा को अस्वभावनय से संस्कार उपयोगी है। जिसकी (स्वभाव से नोक नहीं होती, किन्तु संस्कार करके) लुहार के द्वारा नोक निकाली जाती है।**' उस प्रकार भी एक योग्यता पर्याय में उस धर्म की है। आहा..हा...! `**लुहार के द्वारा नोक निकाली गई है। ऐसे पैने बाण की भाँति।**' तीक्ष्ण बाण। बाण के महीन नोक निकालते हैं न ? उस प्रकार पर्याय में भी एक योग्यता का धर्म गिना गया है। धर्म माने वह पर्याय को धारण करके रखता है, उस अपेक्षा से धर्म। धर्म माने मोक्ष का मार्ग कहते हैं, वह नहीं। ऐसी एक पर्याय है कि, जिसे आत्मा ने धारण करके रखा है। आहा..हा...! एक पर्याय में भी सप्तभंगी उठती है, आहा..हा...!

एक पर्याय, पर्यायरूप है। (अन्य) दूसरी पर्यायरूप नहीं है। दूसरे की अनंत पर्यायरूप भी नहीं है। आहा..हा...! उस प्रकार एक ही पर्याय में संस्कार भी कहे जा सकते हैं। (और असंस्कार भी कहे जा सकते हैं)। असंस्कार भी हो, संस्कार भी हो, ऐसी एक योग्यता गिनी गयी है। आहा..हा...! क्या कहा यह ? ऐसा कि एक पर्याय है वह संस्कार निरर्थक करती है। और दूसरी एक पर्याय सार्थक करती है, ऐसा नहीं। क्या कहा ? यह तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म चला, भाई! संस्कार एवं असंस्कार। भिन्न पुरुष की अपेक्षा से नहीं, भिन्न काल की अपेक्षा से नहीं, एक ही समय दो (योग्यता) हैं। संस्कार व असंस्कार की दो योग्यता मानी गयी है। क्योंकि नयों का समुदाय श्रुतप्रमाण एक समय में है। और एक समय में श्रुतप्रमाण उन सबको विषय करता है।

ये दोनों ही योग्यता कही गयी हैं। वास्तव में संस्कार नहीं है। वह निश्चय में-यथार्थ में जाती है और संस्कार पड़ते हैं वे व्यवहार में जाते हैं। इतनी बात, आहा..हा...! परंतु एक ही पर्याय में है। सूक्षम बहुत बापू ! ऐसा मार्ग वीतराग का (है)। आहा..हा...!

देशनालब्धि है। योग्यता बनती है न अंदर ? लक्ष बनता है न ? `श्रीमद्' में आता है न... `लक्ष थवाने तेहनो कह्यां शास्त्र सुखदाय', `लक्ष थवाने' आता है न ?

उतना निमित्त है और वह भी लक्ष होने की योग्यता अपने में है। ऐसी योग्यता मानी गयी है। आज तो बहुत सूक्ष्म चला! ऐसा है! विशाल मार्ग है।

उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि व्यवहार से भी निश्चय होता है और निश्चय से भी निश्चय होता है। ऐसा यह धर्म नहीं है। यहाँ तो व्यवहार राग है, वह एक नय का विषय है। निश्चय है, वह एक नय का विषय है। सभी नय का समुदाय होकर श्रुतप्रमाण है। निश्चय और व्यवहार और गुणों को एक साथ प्रमेय कर सकता है। आहा..हा...! यह बात बड़े शहरों में चलती तक नहीं है, लो !

'समाधिशतक' में वहाँ आया था कि भाई ! समझा है, ज्ञान हुआ है। परंतु किसी पूर्व के संस्कारवश भ्रांति हो जाती है। भाई ! 'समाधिशतक' में आया था (कि) पूर्व के संस्कार उसके अपने... अर्थात् सम्यग्दर्शन हुआ, आत्मा के आनंद का भान हुआ परंतु उसे किसी पूर्व संस्कारवश भ्रांति भी हुई ऐसा आया था।

एक श्लोक उसमें आया था। वह तो पूर्व के स्वयं के संस्कार की बात है। वह भी अपेक्षित है। यह तो किसी के डाले हुए संस्कार की बात है। निमित्त से हुए (निमित्त के कारण डले हुए) संस्कार - उसकी बात है। कुछ समझ में आया ! आज तो बहुत ज्यादा सूक्ष्म आया। आहा..हा...! कहाँ का कहाँ जाता है। मार्ग वीतराग का बहुत (कठिन)।

अनेकान्त मार्ग है। वह अनंत धर्म को बताता है। अनेकान्त मार्ग ऐसा नहीं कहता कि स्व से भी है और पर से भी है तो वह अनेकान्त है, ऐसा नहीं। व्यवहार से भी धर्म होता और निश्चय से भी होता है, उसका नाम अनेकान्त, ऐसा नहीं। परंतु व्यवहार, व्यवहार के काल में है, निश्चयवाले को जैसे आत्मज्ञान हुआ है, आत्मदर्शन हुआ है, त्रिकाली द्रव्य के आश्रय से सम्यक्ज्ञान हुआ है। उसे व्यवहार भी होता है। वह व्यवहार को जानता है, निश्चय को जानता है। ऐसे अनंत - नय का समुदाय प्रमाण, वह सभी द्रव्य-गुण-पर्याय को विषय करता है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ! ऐसा है। २९ (नय) हुए न ?

अब, ३० (वाँ नय)। '**आत्मद्रव्य कालनय से जिसकी सिद्धि समयपर आधार रखती है ऐसा है,...**' क्या कह रहे हैं ? आत्मद्रव्य में ऐसे एक धर्म की योग्यता है, कि जो कालनय से जिस समय मुक्ति होनेवाली हो उस समय होती है। जिस समय

सम्यग्दर्शन होनेवाला हो उस समय होता है। (वह) उसका काल है। कुछ समझ में आया !

'**कालनय से जिस की सिद्धि**', देखा ? मुक्ति समयपर आधार रखती है, ऐसा है। उस में पुरूषार्थ उड गया है, ऐसा नहीं है। जिस समय उसकी मुक्ति या धर्म होनेवाला है, उस समय होता है। परंतु उसका पुरुषार्थ द्रव्य पर होता है। उसके पुरूषार्थ का रुझान द्रव्य के ऊपर होता है। उसमें इस काल में होगा ऐसा उसका ज्ञान कहता है। आहा..हा...!

यह भारी तकरार काल की चलती है। 'तत्त्वार्थ राजवार्तिक' में आता है, उसकी भारी तकरार करते हैं। कोई कहे काल में भी होता है और कोई कहे अकाल में आगे-पीछे भी होता है। ऐसा यहाँ नहीं है। किसी के अनंतकाल में मोक्ष होता हो तो हो और किसी के अनंतकाल से पहले, काल बदलकर मोक्ष हो जाता है, ऐसा नहीं है। है तो कालनय, उसको जाननेवाली दृष्टि भी द्रव्य के ऊपर है। और श्रुतप्रमाण द्वारा द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों और कालनय का अंश श्रुतप्रमाण में मिलता है। ऐसे अनंत नय का समुदाय वह श्रुतप्रमाण, वे कालनय को भी जानता है और गुण को भी जानता है और सभी को जानता है।

इन बनियों को समय मिलता है कम और उसमें ऐसी सूक्ष्म बातें, भाई ! बापू ! मार्ग ऐसा सूक्ष्म है। आहा..हा...! वीतराग, सर्वज्ञ जिनेन्द्र का ऐसा मार्ग अन्य किसी भी जगह नहीं है।

जिनेश्वर ! परमेश्वर की... (बात) क्या कहें ! अन्य लोगों को दुःख लगता है। बाकी तो यह बात श्वेतांबर में (भी) नहीं है। और स्थानकवासी किसी में यह बात नहीं है। यह स्वरूप की स्थिति का वर्णन किसी स्थान में है नहीं। वेदान्त-फेदान्त में तो नहीं है। (वैसे ही) गीता-फीता में (भी) नहीं है।

आहा..हा...! क्या करें ? परंतु अंदर में जिंदगी की किसे कदर है ? आहा..हा...! अभी वह सुना था। कोई कह रहा था (कि), २१३ आदमीवाला प्लेन गिर गया। (जरा) चला, इतने में तो गिर गया। सब कुछ साफ हो गया। आहा..हा...! परंतु (उस) समय पर होनेवाला था, उस समय पर वही (होनेवाला) है। उस समय तो अकस्मात हुआ है, ऐसा है ही नहीं। आहा..हा...!

यहाँ पर मुक्ति की बात है। वह तो उसी समय पर, ठीक उसी समयपर और उसी क्षेत्र से और उसी संयोग से देह छूटनेवाला था। उसमें तीनकाल में कहीं भी फेरफार होता नहीं है कि ध्यान रखते तो ऐसा होता। और फलाँ करते तो ऐसे होता। वे सब व्यवहार की बातें। अभूतार्थनय की। भूतार्थनय तो यह है।

अब, अपने को तो काल-अकाल में दोनों को ही मिलाना है। मुक्ति के लिए मिलाना है। वह तो देह छूटने में कालनय से, जिस की सिद्धि अर्थात् मुक्ति समयपर आधारित है। जिस समय मुक्ति होनेवाली है वह समय पर आधारित है। उसी समय पर मुक्ति होती है। आगे-पीछे, अन्य किसी समय पर मुक्ति होती ही नहीं है। आहा..हा...!

ऐसे तो सम्यग्दर्शन भी जिस समय होनेवाला है उसी काल में होता है। आगे-पीछे नहीं। चारित्र भी जिस समय होनेवाला है उसी समय होता है। आगे-पीछे नहीं। (प्रत्येक द्रव्य में ऐसा है)। फिर भी उस की दृष्टि में पुरुषार्थ है। स्वभाव की ओर दृष्टि है। और इस प्रकार उस काल में होनेवाला है, वह होता है। दृष्टि उसकी स्वभाव के ऊपर है, दृष्टि उसकी पर्याय के ऊपर नहीं है। आहा..हा...! ऐसी बात है।

दृष्टि में पुरुषार्थ चलता है। ध्येय (में) द्रव्य लिया है। कुछ समझ में आया ! और काल भी उस समय पर है। और भवितव्यता, वही भाव, उसी समयपर है। और कर्म का अभाव भी उस समय पर वही है। पाँचों समवाय एक(साथ) हैं। आहा..हा...!

हमारे यहाँ '७२ की साल में संप्रदाय में बड़ी आपत्ति उठाई गई थी न ? कि अपना पुरुषार्थ किस काम आता है ? केवलज्ञानी ने जैसा देखा होगा वैसा होगा। केवलज्ञानी ने देखा होगा उस समय पर होगा। हम क्या पुरूषार्थ करें ? ऐसा बोलते रहते थे। दो साल तो (यह) सुना। '७० में दीक्षा (ली) और '७२ (में आपत्ति उठाई गई)। ६२ वर्ष पहले। दो साल के बाद फिर से (वह बात) बाहर निकाली। अब कहा, अरे ! लोग यह क्या कह रहे हैं ?

संप्रदाय के गुरु हीराजी महाराज थे। नरम थे। कषाय मंद था। शांत-गंभीर बहुत (थे)। वस्तु तो वहाँ कहाँ थी ? दृष्टि तो विपरीत। उसमें यह बात कही, कि आप यह बारबार क्या कह रहे हो कि, जिस काल में जो होनेवाला होगा सो उस काल में होगा। और इसमें पुरुषार्थ क्या करें ? इसमें भगवान ने जैसा देखा होगा

वैसा होगा। तो भगवान है, ऐसा माना तुमने ? यह तो '७२ की फाल्गुन शुक्ला तेरस-चौदस की बात है।

सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ, एक समय में तीनकाल - तीनलोक जानते हैं। और वह भी उस का, पर्याय का स्वभाव ही तीनकाल - तीनलोक को जानने का (है)। ऐसी पर्याय की सत्ता का तुझे पहले स्वीकार है ? इसके बाद उन्होंने देखा होगा सो होगा, यह बात बाद में। ठीक है भाई ! ऐसा तो अंदर से आया था... उस दिन। वहाँ तो अभी (ये सब) पढ़ा भी नहीं था। उस दिन `समयसार' पढ़ा नहीं था। `प्रवचनसार' भी पढ़ा नहीं था। परंतु वह बात। `जो जाणदि अरहंत दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहि'। उसमें से यह आया। आहा..हा...!

त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमेश्वर जिनके एक गुण की एक पर्याय में, तीनकाल - तीनलोक को भगवान जानते हैं। ऐसी पर्याय की सत्ता के सामर्थ्य की प्रतीति है उसे ? इसके बाद जो देखा होगा सो होगा, यह बात तो बाद में करें। क्या ? आहा..हा...! इसलिए ऐसा आया न इसमें ! `जो जाणदि अरहंत दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहि' (जो द्रव्य-गुण)-पर्याय को जाने, वह आत्मा की ओर ढले (झुके) बिना रहेगा नहीं। और उसे मिथ्यात्व का नाश हुए बिना रहेगा नहीं। आहा..हा...!

फिर उस समय तो (बात) वैसी की वैसी रह गई। लेकिन (यह तो) '७२ की बात है। बासठ साल पहले की बात है। फिर दूसरे दिन संप्रदाय के हमारे जो गुरु थे, उनको ज़रा बात चोट कर गई। मेरी बात उन्हें सच्ची लगी। । लेकिन उसकी बात गलत लगी।

वे कहने लगे कि कानजी कह रहा है, वह ठीक कह रहा है। और क्या ! तू कह रहा है ऐसा हो तो पाँच समवाय सिद्ध हो जाय। उन्हें पाँच समवाय की श्रद्धा नहीं, उन लोगों में पाँच समवाय चलते नहीं थे। इससे वे फिर उलझ गये। ये सब उनके भक्त थे। (हमें) मालूम है न!

एक समय किसे कहे ? प्रभु ! क... बोलते हैं उतने में (तो) असंख्य समय निकल जाते हैं। उसमें एक समय में तीनकाल - तीनलोक जानते हैं। (एक) समय की पर्याय इतनी बड़ी होती है। वह जगत में है, ऐसा पहले माना है ?

जिसके एक समय में इतना (तीनकाल - तीनलोक को जाननेवाला ज्ञान) है,

ऐसा माना, उसकी दृष्टि द्रव्य के ऊपर जाती है। उस समय द्रव्य के ऊपर जाती है, ऐसे शब्द (मेरे) नहीं थे, परंतु ज्ञान में जाती है, ऐसा कहा था। उस समय द्रव्य (की) तो कहाँ (खबर थी) ? जिसे पर्याय की इतनी सत्ता (स्वीकार) हुई उसे ज्ञान पर दृष्टि जाती है। ज्ञान में घुस जाती है। उसके भव नहीं होते। भगवान ने उसके भव देखे ही नहीं होते हैं। भव हो नहीं सकते, जाओ !

(फिर) भारी तकरार हुई थी। छोड़ दिया। संप्रदाय ही छोड़ दिया। चौबीस घंटे में छोड दिया। बाहर चला गया। यह नहीं चाहिए मुझे, न्याय समझ में आये वह चाहिए। वह गुरु नहीं चाहिए, वह संप्रदाय नहीं चाहिए। निकल गया बाहर, दो-ढाई कोस दूर... फिर बड़े-बड़े सेठ लोग सब आये। कहने लगे... क्या हुआ ? भाई... दो वर्ष से सुन रहे थे और स्वीकार नहीं हो रहा था। फिर यह सब बात बताई।

सभी बड़े सेठलोग रात को आये, (कहने लगे) 'महाराज !' उस समय २५ वर्ष की उम्र थी। ६४ साल पहले (ऐसा) कहा (था)। हम तो सुबह गये। परंतु मेरे पास मार्ग तो यह है, भाई! यह फेर-बदल करने की बात नहीं है। दो वर्ष के बाद हीराजी महाराज चल बसे। आहा..हा...! जिसे केवलज्ञान की पर्याय (का स्वीकार हुआ)। आहा..हा...! उसी समय केवलज्ञान होगा। और उस केवलज्ञान की पर्याय का सामर्थ्य जिसने तीनकाल - तीनलोक जाने। परंतु उससे अनंतगुना काल व क्षेत्र होवे... (उसे भी जानने के सामर्थ्यवाला द्रव्य है)। ऐसा इतना तो नहीं था उस दिन, परंतु इतना तीनकाल व तीनलोक को एक समय में जान लिया, उस पर्याय का सामर्थ्य कितना प्रभु ?! यह सामर्थ्य जिसको बैठ जाय फिर उसे केवली ने जो देखा सो होगा (यह लागू हो)। 'इस सामर्थ्य का जिसे स्वीकार हो उसके भव होते ही नहीं।' कहा कि वह पर्याय ज्ञान में घुस जाती है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...!

उसमें कालनय से है। बात सही है। परंतु कालनय से उस काल में होता है। उस नय से भी पुरुषार्थ स्वभाव के ऊपर है। उस समय उसकी नज़र काल के ऊपर नहीं होती। पर्याय उसका काल आयेगा तब होगी। कुछ समझ में आया ?

'आत्मद्रव्य कालनय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार रखती है ऐसा है, गर्मी के दिनों के अनुसार, पकनेवाले आम्रफल की भाँति।' आम्रफल माने आम। आम्रफल

की भाँति। `**कालनय से आत्मद्रव्य की सिद्धि समय पर आधार रखती है, गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले आम्रफल की भाँति।**' आम्रवृक्ष पर ग्रीष्मकाल में आम तुरंत पक जाते हैं। (उस प्रकार) ऐसा भी एक धर्म अर्थात् योग्यता आत्मा में मानी गई है। इसलिए पुरुषार्थ की बात उड़ जाती है, ऐसा नहीं है। क्योंकि, यहाँ तो पुरुषार्थ द्वारा जिसे सम्यक्ज्ञान हुआ है उसी ज्ञान में ये सारे नय इकट्ठे होते हैं। इसलिए श्रुतज्ञान इन सभी को जानता है। विशेष कहेंगे...



जिसे स्वभावका भान व भावना हो वही जीव सुखी है। जिसे स्वभावका भान व भावना नहीं होती वह बाह्य-विषयोंकी भावना करता है; कहीं तो भावना करेगा ही। अज्ञानीजीव, `निज-स्वभाव' की भावना छोड़कर संयोगकी भावना करता है; वह विषयोंकी तृष्णामें दुःखी ही है । (परमागमसार - ७४९)

चैतन्यस्वभाव सुखसे लबालब है। उसका विश्वास कर ! उसकी जितनी भावना करे उतना सुख प्रकट हो । संयोगकी चाहे जितनी भावना करे उसमेंसे कभी भी सुख मिलने वाला नहीं है, उस तृष्णासे तो दुःख ही है । (परमागमसार - ७५०)

आत्मद्रव्य अकालनय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार नहीं रखती ऐसा है, कृत्रिम गर्मी से पकाये गये आम्रफल की भाँति। ३१।

आत्मद्रव्य पुरुषकारनय से जिसकी सिद्धि यत्नसाध्य है ऐसा है, जिसे पुरुषकार से [१]नीबू का वृक्ष प्राप्त होता है (-उगता है) ऐसे पुरुषकारवादी की भाँति। (पुरुषार्थनय से आत्मा की सिद्धि प्रयत्न से होती है, जैसे किसी पुरुषार्थवादी मनुष्य को पुरुषार्थ से नीबू का वृक्ष प्राप्त होता है) ३२।

आत्मद्रव्य दैवनय से जिसकी सिद्धि अयत्नसाध्य है (-यत्न बिना होता है) ऐसा है; पुरुषकारवादी द्वारा प्रदत्त नीबू के वृक्ष के भीतर से जिसे (बिना यत्न के, दैव से) माणिक प्राप्त हो जाता है वैसे दैववादी की भाँति)। ३३।

प्रवचन : दि. ३-१-१९७८

'प्रवचनसार', नय (का) अधिकार (चल रहा है)। शिष्य का यह प्रश्न है। उस का यह उत्तर है। उसका अर्थ यह है कि, जिसके हृदय में - अंतर में आत्मा कौन है ? और किस प्रकार प्राप्त होता है ? ऐसी जिसके अंतर में घगश व जिज्ञासा है, उसे यह उत्तर दिया गया है।

पहले सत्य को सुननेवाला श्रोता ऐसा होता है कि यह आत्मा कौन है ? यह (आत्मा) क्या है ? यह (आत्मा) कैसा है ? और किस प्रकार प्राप्त होता है ? ऐसा पूछा है। हमें कैसे स्वर्ग मिले और किस प्रकार हम तीर्थंकरगोत्र बाँध सकते हैं, ऐसा कुछ पूछा नहीं है। हमें तो आत्मा कौन है ? और किस प्रकार प्राप्त होता है ? ऐसा जिस ने पूछा हो, उसे यह उत्तर दिया जा रहा है।

उसमें ३० नय तो चले। पहले तो यह समुच्चय कहा कि आत्मा कौन है? कि यह आत्मा अनंत गुण व अनंती पर्याय का अधिष्ठाता-स्वामी है, अनंतगुण व अनंतीपर्याय, उसमें निर्मल एवं विकारी दोनों ही लेना। नय अधिकार है न ? अर्थात् जो अनंत नय हैं, उनमें अनंती पर्यायें हैं। कुछेक निर्मल एवं कुछेक मलिन और अनंत गुण निर्मल, उन गुणों का एवं पर्यायों का अधिष्ठाता-स्वामी (वह) आत्मद्रव्य।

आत्मा कैसा है ? यह इस में कहा। अब, कैसे प्राप्त हो ? कि आत्मा में अनंत नय हैं, अनंती पर्यायें हैं। उन एक-एक गुण व पर्याय को जाननेवाला एक नय-ज्ञान का एक अंश, ऐसे अनंत नयों का समुदाय भावश्रुतज्ञान (है)। स्व के आश्रय से जो सम्यक्ज्ञान प्रगट हुआ, जिस में आनंद का स्वाद साथ में है, ऐसा जो श्रुतज्ञान, (उसके द्वारा प्राप्त होता है)। इसका अर्थ यह है कि, द्रव्य-गुण व पर्याय प्रमेय माने ज्ञेयरूप में ज्ञात होते हैं। कहो, कुछ समझ में आया !

उसके बाद यह नय है। श्रुतप्रमाण में अनंत नय, इस नय की व्याख्या चल रही है। कालनय आया। कालनय से ऐसा कहा कि जिसकी सिद्धि जिस काल में होनेवाली है, उस काल में होगी। एक ऐसा नय है। आहा..हा...! है ! `**आत्मद्रव्य कालनय से जिसकी सिद्धि समयपर आधार रखती है, ऐसा है।**' जिस समय जिसे सिद्धपद होनेवाला है, उस समय पर होगा, ऐसा एक कालनय है। वहाँ तक तो आ चुका है।

अब, (३१वाँ नय)। `**आत्मद्रव्य अकालनय से जिस की सिद्धि समय पर आधार नहीं रखती ऐसा है, कृत्रिम गर्मी से पकाये गये आम्रफल की भाँति।**' अर्थात् समय तो वही है। मात्र काल के आधार से नहीं है। स्वभाव-पुरुषार्थ साथ में है। यह सूक्ष्म तत्त्व है। जिस समय मुक्ति होनेवाली है, उसी समय होगी। परंतु सिर्फ काल नहीं है। साथ में स्वभाव, पुरुषार्थ, निमित्त, कर्म के निमित्त का अभाव यह सब एक साथ होता है। अतः उसे अकाल सिद्धि होती है, ऐसा कहा जाता है।

`**अकालनय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार नहीं रखती...**' सिद्धि है वह सिर्फ काल पर आधार नहीं रखती, ऐसा कहा। समय है न ? अकालनय से जिसकी सिद्धि समय पर, कालपर आधार नहीं रखती। `प्रवचनसार' में - शास्त्र में नहीं आया ? जो कोई तत्त्व को समझे नहीं और उल्टी श्रद्धा आदि (है) वह अनंत संसारी होता

है। उसका अर्थ मिथ्यादृष्टि होता है। मिथ्यात्व में अनंत संसार करने की ताक़त है। इसलिए उसे अनंत संसार होता है। ऐसा कहा जाता है। उसके संसार अनंत भटकने का नहीं था और अनंत हुआ ऐसा नहीं है। आहा..हा...! है न इस में... २६६ गाथा।

गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छगो जो थि होमि समणो ति।

होज्जं गुणाधरो जदि सो होदि अणंतसंसारी।। २६६।।

स्वयं हीन गुणवाला होने के बावजूद, मैं भी श्रमण हूँ। इस प्रकार मद करे। 'अधिक गुणवालों से विनय की इच्छा करता है', (अर्थात्) अपने से विशेष गुणवाले के पास से विनय की इच्छा करे (वह) अनंत संसारी बने, तब उसे अनंत संसार नहीं था और हुआ ! २६६ (गाथा) कुछ समझ में आया ? उसका अर्थ कि, (वह) मिथ्यादृष्टि हुआ (उसके) मिथ्यात्व में अनंत संसार करने की ताक़त है। ऐसा उसका अर्थ है।

और 'परितसंसार' ऐसा आया है न ? 'अष्टपाहुड' में गृहस्थाश्रम में 'परितसंसार' - संसार काट डाला। इसका मतलब ऐसा नहीं है कि संसार बहुत था और कम किया। परंतु संसार का मूल कारण जो मिथ्यात्व, उसे टाला है। इसलिए समकित हुआ। इसलिए परितसंसार किया, ऐसा कहा गया। कठिन बात है। दूसरी तरह, आयुष्य का क्षय होता है, ऐसा 'अष्टपाहुड' में आया है न ? आयुष्य का क्षय होता है, श्वास रोकने से इत्यादि, इत्यादि। वह आयुष्य के क्षय होने के काल में होता है। परंतु उसके निमित्त कौन थे ? ऐसा बताकर आयुष्य का क्षय होता है, ऐसा बताया।

फिर अकालमृत्यु (आता है)। यहाँ तो आयुष्य का क्षय होता है। इतना वहाँ 'अष्टपाहुड' में और 'भगवती आराधना' में अकालमृत्यु कही गयी है। वहाँ उस अकालमृत्यु का अर्थ (ऐसा है कि) समय तो वही है। उसकी प्रकृति व स्थिति लम्बी थी, उस समय पर उसे तोडी, और टूटने लायक ही वह थी। अब बाँधते समय ही उसकी स्थिति ऐसी थी। बाकी समय आगेपीछे करे, अकाल(मृत्यु हो) ऐसा है ही नहीं।

'पद्मनंदि पंचविंशती' के अधिकार में तो ऐसा लिखा है, साफ (कि) जिस समय, जिस काल में, जिस क्षेत्र से, जिस संयोग से, जो देह छूटनेवाला है वह (उस प्रकार) छूटने पर ही छूट कर रहेगी। उस में लाख डॉक्टर आये (परंतु कुछ चलेगी नहीं)।

कहो, कुछ समझ में आया ? आयुष्य के लिए भी वैसा ही। आयुष्य तो जिस समय पूरा होनेवाला है उसी समय पूरा होगा। परंतु व्यवहार से उसे कहा जाता है कि इसने श्वास लिया, ऐसा किया, (श्वास रुक गया) इसलिए क्षय हुआ। ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। इस प्रकार अकालमृत्यु है, वह भी। 'भगवती आराधना' में कहा है। वह भी ऐसे लेना।

उस समय प्रकृति व स्थिति लम्बी थी। उसका घटने का काल ही था। उसे ऐसा कहा कि, उसकी अकालमृत्यु हुई। परंतु उस का समय तो वही था। इसमें यह बहुत झगड़ा है। 'भगवती आराधना' में, 'भगवतीसूत्र' का प्रश्न रखा। 'तत्त्वार्थ राजवार्तिक' का (कहना है कि) आत्मा को संसार बढ़ता है और काल कम कर दे। काल कम कर दे, ऐसा पाठ है। कठिन बात, भाई!

उस समय होनेवाला था। परंतु काल लम्बा। कर्म की स्थिति थी वह टूट गई इसलिए काल को छोड़कर हुआ, ऐसा कहा जाता है। बाकी जिस समय देह छूटनेवाला है उसी समय और उसी क्षेत्र में ही छूटेगा। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? अतः आयुष्य के लिए भी ऐसा (है)। जिस काल में देह छूटनेवाला है उसी काल में ही छूटेगा। भले उसे अकाल आदि बोला जाय। उस प्रकार व्यवहार से मोक्ष की सिद्धि भी जिस समय होनेवाली हो उस अनुसार होती है, फिर भी उसे अकाल हुई ऐसा भी कहा जाता है। कुछ समझ में आया ! सिर्फ काल ही है, ऐसा नहीं। स्वभाव, पुरुषार्थ, भवितव्यता और काललब्धि सब कुछ साथ में ही है। कुछ समझ में आया ?

आहा..हा...! ऐसा है। इतने ३५-४५ वर्ष हुए परंतु कोई पडिमाधारी हुआ ? क्या ! ऐसा कहते हैं। दिगंबर एवं श्वेतांबर का (अभिप्राय) तो अपने अनुसार व्रत-तप करना वह धर्म है।

व्रत एवं तप किसे होते हैं ? भाई ! तुझे ख़बर (है) ? जिसे प्रथम सम्यक्दर्शन (हो) आत्मा के अनंतगुण का स्वाद आये। उसे अनंत गुण-आनंद और पूर्ण गुण (शुद्ध)रूप है, ऐसे अनंत गुण का व्यक्त अंश से स्वाद आये, तब उस में प्रतीति आती है कि, यह तो जो अंश है, वह अनंतगुण का पिंड है। तब उसे तो सम्यक्दर्शन कहा जाता है। और फिर जब शांति में आगे बढ़े (तब पंचम गुणस्थान के योग्य पडिमा आती

है)। `समाधिशतक' में ऐसा कहा है। लो (कि) व्रती है वह स्वर्ग में जाता है और अव्रती नरक में जाता है। अतः अव्रत से तो व्रत ठीक है। ऐसा कहा है।

एक तो सम्यक्दर्शन जिसे हुआ हो और तदुपरांत जिसे शांति की वृद्धि हुई हो, उसे व्रत का विकल्प पाँचवेवाले को (आता है)। छट्ठे (गुणस्थान में) भले उसे महाव्रत का (विकल्प) (हो) (परंतु) अणुव्रत हो और गुणस्थान चौथा हो, ऐसा हो नहीं सकता। सूक्ष्म बातें बहुत, भाई ! मार्ग में इतना सारा फेरफार कर डाला।

अकाल में यह सब डाला है। परितसंसार कहा, अनंतसंसार कहा, अकाल में क्षय कहा और जिस समय पर जो छूटनेवाला है उस समय पर वह छूटे, ऐसा भी कहा। आहा..हा...! बँबई (में) ३०० आदमियोंवाला प्लेन (टूट पड़ा दरिया में)। जिस समय पर, जिस क्षेत्र में, जिस प्रकार से बननेवाला था भाई ! (वह वैसे ही होता है)। आहा..हा...! आयुष्य भी उतना ही था। और स्थिति, देह में रहने की योग्यता भी उतनी ही थी। आयुष्य भी उतना ही था। क्या ! देह में रहने की योग्यता भी उतनी ही थी। और भगवान के ज्ञान में भी उसी प्रकार (ही) था। उसी प्रकार होगा। कुछ समझ में आया ! ऐसी बात है।

यहाँ कहते हैं कि, अकालनय से जिसकी सिद्धि-मुक्ति समयपर आधार नहीं रखती है, कालपर आधार नहीं रखती है। स्वभाव, पुरुषार्थ, भवितव्यता और निमित्त इस प्रकार के कर्म का अभाव वह निमित्त और काललब्धि तो साथ में है। समझ में आ रहा है ! उसे अकाल कहा जाता है।

अब, बापू ! यह निर्णय तो कर। प्रभु ! आहा..हा...! जिस समय पर जो होनेवाला हो सो होता है। वह फिर उल्टा-सीधा हो जाय, दूसरे समय पर (हो जाय) इस बात का विरोध हो गया। वीतराग की वाणी पूर्वापर विरुद्ध होती है या अविरुद्धतावाली होती है ? आहा..हा...! परंतु (लोगों को) इसमें (ऐसी बात में) कोई दरकार नहीं रखनी है, आहा..हा...!

`**कृत्रिम गर्मी से पकाये गये आम्रफल की भाँति।**' आम्रवृक्ष के आम हो, फिर घास में रखकर पकाये तब पक जाती है, है न ! कृत्रिम गर्मी से आम पकता है, उस तरह पकाये जानेवाले आम्रफल की भाँति; यह व्यवहार से बात की। बाकी पकने का काल तो उस समय पर ही था। निमित्त की मुख्यता करके वह इस

से पकी ऐसा कहा गया। आहा..हा...! ऐसा कि, आम के पकने का पर्याय उसका निमित्तकाल है।

'प्रवचनसार', १०२ गाथा। जन्मक्षण है। उसी प्रकार उस के पकने की स्थिति का काल है, उसी प्रकार से पका है। वह गर्मी से, कृत्रिम गरमी से, घास में डालने से पका है, ऐसा है नहीं। कहो, इसमें (बात) समझ में आयी ? पहलू सारे (चारों ओर से) जानने चाहिए, भाई ! एकान्त का आग्रह हो जाय तो पूरी दृष्टि उसकी विपरीत हो जायेगी।

कहते हैं, यह एकान्त है। उसी समय होता है और अन्य (समयपर) नहीं। यह एकान्त है। यहाँ तो ऐसा है, भाई ! सर्वज्ञ भगवान त्रिलोकनाथ परमात्मा ने तो ऐसा कहा। उसमें आता नहीं है ? 'जो जो देखी वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे...' जो जो देखी वीतराग ने, उस उस समय पर वह वस्तु है। आहा..हा...! 'काहे होत अधीरा'। क्या ! काहे होत अधीरा ? जिस जिस समय जो बननेवाला है, वह बनेगा। यहाँ 'चिद्विलास' में यह लिया है।

निश्चय धर्म अधिकार लिया है (न कि) जिस समय पर जो पर्याय जब होनेवाली है वह निश्चय है। 'चिद्विसास' में दीपचंदजी ने लिया है। जितने पहलू हैं उतने हैं, उन्हें न जाने, उन्हें एक तरफ रख दे ऐसा नहीं चलेगा, भाई ! तब वे लोग फिर ऐसा कहते हैं, 'तत्वार्थ राजवार्तिक' में आया है, वैद्यों से या दवाओं से रोग मिटता है, ऐसा पाठ है। वे सब व्यवहार की बातें की हैं। कुछ समझ में आया ?

एक तरफ ऐसा कहा जाता है कि (आयुष्य की डोरी) टूटी उसकी बूटी नहीं है, कहते हैं न ! टूटी उसे (कोई दवाई) लागू नहीं होती। जड़ीबूटी ऊँची हो (मगर) टूटी उसकी बूटी नहीं। ऐसा है, हाँ ! ऐसी बात है। भाई ! यहाँ कहाँ ! 'कृत्रिम गर्मी से पकाये जाते आम्रफल की भाँति।' ये लोग इस प्रकार गजपंथा में (एक व्यक्ति ने) यह पूछा। अकाल में भी मोक्ष होता है न ! गजपंथा (गये हुए) कितने वर्ष हुए ? २१ वर्ष हुए। पहले यात्रा में गये थे तब। आहा..हा...! बापू! काल में कहो, अकाल में कहो, अपेक्षा से बात है। अकाल माने उस का काल फर्क हो जाय, आगे पीछे हो जाय - मुक्ति का या देह छूटने का - तीनकाल में ऐसा (संभव) नहीं है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? परंतु कहने में तो ऐसा ही आता है कि जिसे आत्मज्ञान

हुआ, उसने परितसंसार किया। जिसने मिथ्यात्व छोड़ा उस ने अनंत संसार छोड़ा। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? ये सभी पहलू हैं। एक तरफ से सुने और (सुनकर) एक तरफ रख दे तो ऐसा नहीं चलता, बापू ! आहा..हा...!

श्रोता :- कर्म की स्थिति बाहर में कम हो गई तो वह निमित्त का कथन है ?

पूज्य गुरूदेवश्री :- वह निमित्त से कथन है। उस कर्म की स्थिति उस समय कर्म में घटने की (कम होने की) थी ही। कर्म में भी क्रमबद्ध है। बंसीधरजी ने 'तत्त्वार्थसार' में डाला है। जिस समय होनेवाला हो वही होता है। उल्टा-सीधा हो जाय ऐसा है नहीं। इन्दोर में बंसीधरजी ने प्रणाम किये। मैं अभिनंदन देने के लिए आया हूँ। व्याख्यान सुनकर। बहुत लोग थे। उस दिन गये तब दस-पंद्रह हजार (लोग थे)। मैं अभिनंदन देने के लिए आया हूँ। यह अलौकिक बात। आहा..हा...! ऐसी बात तो सुनने को नहीं मिलती।

'तत्त्वार्थसार' का अर्थ किया है। जिस समय पर जो होनेवाला है वह होगा ही। उसमें अन्य कोई मंतव्य है नहीं। भगवान आत्मा स्वभाव सन्मुख हुआ और संसार का काल बाकी हो ऐसा नहीं होता। आहा..हा...! स्वभाव की प्राप्ति (हुई इसलिए) एक-दो भव में (मुक्ति) उसकी होगी ही। आहा..हा...! इस अकालनय का ज्यादा लम्बा अर्थ है।

कृत्रिम गर्मी से आम को पकाने से जल्दी पक जाते (हैं)। उस प्रकार आत्मा की मुक्ति अकाल में जल्दी हो जाती है। ऐसा अंदर है कि नहीं ? वह शैली यह है। व्यवहार एवं निश्चय दोनों की शैली का, इस प्रकार की एक योग्यता मानकर उसे धर्म माना। इस प्रकार की योग्यता मानकर ऐसा एक भाव है, ऐसा माना। ऐसी अनंत योग्यता एवं अनंत गुणों का आधार-स्वामी (जो है) वह द्रव्य है।

आहा..हा...! 'तत्त्वार्थवार्तिका' में भारी विवाद है। ऐसा कि सभी को एक समान निर्जरा नहीं होती। भारी विवाद (है)। बहुत खुलासा किया है। जिस समयपर जिस कर्म की निर्जरा, कर्म खिरनेवाला होगा वही खिरेगा। क्योंकि कर्म में (ऐसी ही योग्यता है)। 'तत्त्वार्थ राजवार्तिका' में भी ऐसा कहा है। कर्म भी क्रमबद्ध की ही पर्याय है। जिस समय उसका छूटने का काल (है) उसी समय छूटता है। और उसी समय परमाणु में जिस समय पर्याय होनेवाली होती है वही होती है। उस क्रमसर (क्रमानुसार)

परमाणु में भी पर्याय है। छहों द्रव्यों में क्रमबद्ध है।

अब इस के नाम से विवाद (चलता है)। क्रमबद्ध कहने पर उसमें पुरुषार्थ कुछ रहता नहीं है। अतः नियतिनय हो जाता है। यह नियति नहीं। वह (एकान्त) नियतिनय। क्या हो सकता है? भाई ! वह क्रमबद्ध कर्म में भी है। वस्तु का स्वभाव स्व के प्रति झुका इसलिए कर्म खिर गये, वह तो निमित्त का कथन है।

यह तो कर्म की उस काल में अकर्म होने की योग्यता थी उस काल में खिरे, इसलिए अकर्मरूप हुए। आहा..हा...! इसमें कितना याद रखें ? पूरे दिन यही का यही चलता है। ठीक कह रहे हैं। व्यापारी का यही का यही धंधा पूरे दिन चलता है। कुछ नया (रहता है) ? वकीलों को तो नये तर्क करने पड़ते हैं। आहा..हा...!

प्रभु का मार्ग शूरवीर का है। वहाँ कायर का कोई काम नहीं। पूर्वापर विरोधरहित यह वीतराग का मार्ग है। आहा..हा...! कहीं भी विरोध को स्थान नहीं है। यह तो काल एवं अकाल नय का विरोध हो गया। क्या ! आयुष्यकर्म टूट गया नहीं तो आयुष्य रहता, ऐसा नहीं है। आहा..हा...! ३१ नय हुए।

(अब) ३२ वाँ। `**आत्मद्रव्य पुरुषाकारनय से जिसकी सिद्धि यत्नसाध्य है ऐसा है,...**' कहा यह आत्मद्रव्य (माने) अनत धर्मों का धारक ऐसा आत्मद्रव्य। अनंत धर्म माने अनंत गुण व अनंती पर्याय। निर्मल एवं विकारी, इन सभी का धारक ऐसा जो आत्मद्रव्य, जो प्रमाण का विषय (है), वह आत्मद्रव्य जो है वह प्रमाण का विषय (है)। आत्मद्रव्य जो कहा वह नय का विषय नहीं है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...!

आत्मद्रव्य द्रव्यार्थिकनय से भूतार्थनय से जिसका आश्रय करने पर समकित होता है, वह प्रमाण का विषय नहीं है। वह द्रव्य माने ध्रुव - सामान्य - त्रिकाल (है) वह द्रव्य। और वह आत्मद्रव्य है वह प्रमाण का विषय है। द्रव्य एवं पर्याय दोनों को विषय करे, ऐसा यह द्रव्य है। कुछ समझ में आया ! आहा..हा...!

`**आत्मद्रव्य पुरुषकारनय से जिसकी सिद्धि यत्नसाध्य है ऐसा है,...**' आहा..हा...! जिसे पुरुषाकार से - पुरूषार्थनय से है न ! `**जिसे पुरुषकार से नीबू का वृक्ष प्राप्त होता है (-उगता है) ऐसे पुरुषाकारवादी की भाँति। (पुरुषार्थनय से आत्मा की सिद्धि प्रयत्न से होती है, जैसे किसी पुरुषार्थवादी मनुष्य को पुरुषार्थ से नीबू का वृक्ष प्राप्त होता है, उस भाँति।**' पुरुषार्थ से नीबू का वृक्ष प्राप्त होता है। नीबू की बात कह

रहे हैं। नीचे अर्थ किया है। 'मधुकुक्कुटी' का अर्थ नीबू का वृक्ष किया है। श्री पांडे हेमराजजी ने हिन्दी 'प्रवचसार' में उसका अर्थ 'मधुछता' किया है। पुरुषार्थ से, जैसे नीबू का वृक्ष प्राप्त होता है, वैसे आत्मा का मोक्ष पुरुषार्थ से होता है। आहा..हा...!

पुरुषार्थनय से आत्मा की सिद्धि पुरुषार्थ से-प्रयत्न से होती है। यत्नसाध्य है। लो, पहले कलशटीका में एक जगह कहा न ? यत्नसाध्य नहीं है। सहजसाध्य है। और वहाँ कालनय को विशेष सिद्ध करने को कहा है। कुछ समझ में आया ! बाकी कर्म के साथ स्वभाव पुरुषार्थ साथ ही है। यत्न से साध्य होता है। पुरुषार्थ स्वभाव की ओर झुकता है। वह पुरुषार्थ से होता है।

जो पुरुषार्थ राग की ओर था, उसे स्वरूप की ओर ढाल दिया, मोड़ दिया, उस पुरुषार्थ से उसे समकित दर्शन होता है। सम्यक्दर्शन भी पुरुषार्थ से होता है, सम्यक्चारित्र भी पुरुषार्थ से होता है, केवलज्ञान भी पुरुषार्थ से होता है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया !

पुरुषार्थ से माने कोई व्रत और तप इसमें पुरुषार्थ, यह (बात) नहीं है। स्वभाव सन्मुख का जो पुरुषार्थ उसे यहाँ पुरुषार्थ कहते हैं। आहा..हा...! पूर्ण ज्ञानानंद स्वभाव, चैतन्यमूर्ति प्रभु ! ध्रुव को ध्येय बनाये वह पुरुषार्थ, उस पुरुषार्थ से जिसकी मुक्ति है। अनंता जीव पुरुषार्थ से सिद्धि को प्राप्त हुए। ऐसा एक नय है। ऐसी एक उसकी योग्यता है।

आहा..हा...! है ? पुरुषकारवादी नय की भाँति। पुरुषार्थनय से आत्मा की सिद्धि प्रयत्नसाध्य है। बताया न ! उन दिनों '७२ (की साल) में यह प्रश्न चला था। केवलज्ञानी ने देखा होगा सो होगा, उसमें पुरुषार्थ क्या काम आये ? ऐसी बात चली थी। बैरिस्टर कहलानेवाले जैन मूलचंदजी थे, न्यायाधीश। उनसे (पूछा)। धर्मास्तिकाय को कितने गुण ? तो कहा दो। इस बैरिस्टर ने सवाल किया था। यह तो हमारे यहाँ बहुत चला था न ? अतः धर्मास्तिकाय द्रव्य है, तो उसके गुण कितने ?

यहाँ तो '७२ में पढ़ा था। देवचंदजी का आगमसार। श्वेतांबर है न ? वह पढ़ा था। उस प्रकार हमने वह पढ़ा था उन दिनों। पुरुषार्थ से बात उस प्रकार की है। तो उसने यह कहा कि, केवलज्ञानी ने देखा होगा (जिस समय का) उस समय परुषार्थ कर पायेंगे। उसके बिना अभी पुरुषार्थ नहीं होगा। मैं ने कहा कि केवलज्ञान

जगत में है ऐसी प्रतीतिवाले के लिए यह बात है। इसकी प्रतीति (जिसे) नहीं है उसके लिए बात (नहीं है)।

यह तो '७२ की बात है। '७२ का फाल्गुन महीना। यह तुम्हारी माँग है। सर्वज्ञ जगत में हैं। तीनकाल तीनलोक जाने ऐसी पर्याय जगत में है। जगत में वह पर्याय है। उस पर्याय की विद्यमानता जगत में है। ऐसा जिसे प्रतीति में आये, वह ऐसा कहे कि देखा होगा, वैसा होगा। वहाँ तो पुरुषार्थ तो स्वभाव पर आ गया।

'प्रवचनसार', ८० गाथा में तो कहा न 'जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्त - पज्जयत्ते-हिं।' उनके द्रव्य-गुण-पर्याय जाने और पुरुषार्थ से आत्मज्ञान करे, तो उसके मोह का नाश ही होता है। इसका अर्थ यह कि भगवान की केवलज्ञान की पर्याय है और मेरी पर्याय में अल्पज्ञता है। तो उनको भी वह पर्याय द्रव्यमें से आयी है। तो मेरा द्रव्य कितना बड़ा है, कितना महान है। उस द्रव्य पर दृष्टि जाती है। तब उसे पुरुषार्थ से ज्ञान होता है। उसे पुरुषार्थ से संसार घटता (कम होता) है। और पुरुषार्थ से उसे चारित्र का धर्म होता है। कुछ समझ में आया ?

तब एक ने तो फिर ऐसा कहा, 'शास्त्र में तो फिर ऐसा कहा है कि 'समयं गोयम मा पमायए' केवली पुरुषार्थ कर सकते हैं, ऐसा कहा। उन्होंने केवली भगवान ने तो देखा है कि इस समय पर सब कुछ होगा। पुरुषार्थ करने को कहेंगे।' मतलब ऐसा प्रश्न चला था। सर्वज्ञ भगवान ने तो सबकुछ देखा है। फिर पुरुषार्थ कर, उस के करने का काल होगा तो करेगा। परंतु 'कर' ऐसा कहा से आया ? तो यह प्रश्न चला तब मैंने कहा कि 'समयं गोयम मा पमायए' भगवान ने कहा न ! श्वेतांबर में भी आता है न ! उस समय तो ऐसा था न... 'समयं गोयम मा पमायए' कहा है यह भगवान ने कहा है।

उस समय तो ऐसा था न ? ये भगवान के शास्त्र हैं। एक समयमात्र का प्रमाद नहीं करना। यह क्या कहा ? एक बात दूसरी करी। 'आणाए गए सव्व ठाणा, आणाए गए निरो ठाणा ते तम्माहो'। मेरी आज्ञा से बाहर होकर पुरुषार्थ न हो। आचारांग में ऐसा कहा है। आचारांग में यह शब्द है। उन दिनों तो सब कुछ मुखपाठ था और कंठस्थ था। 'आणाए गए सव्व ठाणा, आणाए गए निरोठाणा' आज्ञा में पुरुषार्थ और आज्ञा से बाहर में पुरुषार्थ का अभाव, ऐसा किसी को न हो। आज्ञा बाहर

का पुरुषार्थ, आज्ञा में प्रमाद ऐसा किसी को न हो। `समयं गोयम मा पमायए' में ऐसा कहा है। वहाँ ऐसा कहा कि हे गौतम... भाषा, शैली यह श्वेतांबरलोगों की ऐसी है न ! ओमध्वनि की बात नहीं है। समयमात्र का प्रमाद मत करना। आहा..हा...! यह पुरुषार्थ करने का कहा या क्या कहा यह ? बोले नहीं और विरुद्ध विरुद्ध। भगवान केवली हुए, उन्होंने तो सबको जाना है कि इस समय पुरुषार्थ करेंगे। तो (जो) करेगा उस से पुरुषार्थ कर ऐसा क्यों कहे। ऐसे... बहुत प्रकार के प्रश्न उठे थे... बापू ! पुरुषार्थ अंदर वस्तु स्वभाव है। उसमें अनंत वीर्य है। भगवान आत्मा में अनंत वीर्य है। आहा..हा...!

और जिसे केवलज्ञान की पर्याय की प्रतीति हो, उसे द्रव्य की प्रतीति होती है। और द्रव्य की प्रतीति हो उसमें अनंत वीर्य है, उसकी प्रतीति होती है। उसकी प्रतीति होने से अनंत वीर्य, अनंत शुद्ध गुण की रचना का काम करता है। बीते हुए संप्रदाय में तो ऐसा दुर्लभ है। आहा..हा...! बहुत चर्चा चली थी। बापू ! ऐसा नहीं कहा है। यहाँ तो जिसे सर्वज्ञ पर्याय बैठी, उसे पूरा ज्ञान बैठ गया। त्रिकाली एवं त्रिकाली ज्ञान उसमें समा गया। वीर्य पुरुषार्थ का काम करता है।

अनंती निर्मल पर्याय की रचना करे, यहाँ तक की बात उस दिन भी नहीं थी। जिसे केवलज्ञान की पर्याय का निर्णय होता है, उसका पुरुषार्थ ज्ञान में जाता है। त्रिकालीज्ञान में जाता है। उस पुरुषार्थ से उसकी परिणति होती है। उसके भव भगवान ने देखे ही नहीं हैं। (ऐसा) कहा। उसे भव है नहीं ऐसा भगवान ने देखा है। ऐसा बहुत चला था।

यहाँ कहते हैं कि, पुरुषकारनय से... आहा...हा...! यत्नसाध्य है। उसमें `कलशटीका' में कहा कि यत्नसाध्य नहीं है। यह एक अपेक्षा से कहा है। काल को मुख्य रखकर, वहाँ बात की है। फिर भी पुरुषार्थ यत्नसाध्य ही है। कुछ समझ में आया ? ऐसी अब... सूक्ष्म बातें। बनियों को व्यापार के मारे फुरसत मिलती नहीं है। डॉक्टर को दवाखाने के मारे फुरसत नहीं मिलती। (ऐसे में) निर्णय (कब) करे कि सत्य क्या है ?

`सूत्रपाहुड' में आता है न कि, शास्त्रमें से खोजना भाई ! `अष्टपाहुड' में `सूत्रपाहुड' है न ? (उसमें) ऐसा आता है। सूत्र का शोधन (खोजकार्य) करना। सत्य क्या

है ! उसे खोजना। आहा..हा...! समझ में आया ! है उसमें ? ('सूत्रपाहुड' की पहली गाथा)।

अरहंभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं।

सुत्तत्थामागणत्थं सवणा साहंति परमत्थं।।१।।

है ? अर्थ। जो गणधरदेवों ने सम्यक्प्रकार से पूर्वापर विरोधरहित गूँथा (रचना की) वह सूत्र कैसा है ? वह सूत्र कैसा है ? सूत्र का जो कुछ अर्थ है उसको मार्गण अर्थात् ढूँढने जाने का जिसमें प्रयोजन है और ऐसे ही सूत्र के द्वारा श्रमण (मुनि) परमार्थ अर्थात् उत्कृष्ट अर्थ-प्रयोजन जो अविनाशी मोक्ष को साधते हैं। देखा ? सूत्र कैसे हैं ? कि जिसमें से मार्ग का शोधन करना है कि यह मार्ग क्या ? दर्शन क्या ? या ज्ञान क्या ? या चारित्र क्या ? आहा..हा...!

सूत्र के अर्थ को जानने का जिसमें प्रयोजन है। ऐसे सूत्र का (ग्रहण करके) आहा..हा...! मुनि परमार्थरूप मोक्ष की साधना करते हैं। वह फिर कल्पित है, ऐसा नहीं। कल्पित सूत्र है, उस का शोधन नहीं करना। भगवान द्वारा कहे गये, गणधरों द्वारा कहे गये इन सूत्रों का शोधन करके सत्य की खोज करना। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

'**पुरुषार्थनय से आत्मा की सिद्धि प्रयत्न से होती है, जिस प्रकार किसी पुरुषार्थवादी मनुष्य को पुरुषार्थ से नीबू का वृक्ष प्राप्त होता है, उस भाँति।**' आहा..हा...!

अब, ३३ (वाँ नय)। '**आत्मद्रव्य दैवनय से जिस की सिद्धि अयत्नसाध्य है (-यत्न बिना होता है) ऐसा है;...**' ठीक... एक योग्यता ऐसी गिनी। किसी जीव को पुरुषार्थ से मुक्ति होती है और किसी को अयत्नसाध्य से। दोनों से मुक्ति होती है, ऐसा नहीं।

उसी जीव को भी अयत्न से समकित होता है और अयत्न से समकित नहीं होता, ऐसा नहीं। कुछ समझ में आया ! यहाँ तो एक ही समय में ऐसी योग्यता का धर्म माना गया है। कुछ समझ में आता है ? आहा..हा...! किसी जीव को किसी नय से कालनय से मोक्ष होता है और किसी को अकालनय से, ऐसा नहीं। उसी जीव को स्वभाव एवं पुरुषार्थ की अपेक्षा से कालनय से मोक्ष होता है, ऐसा कहा जाता है। समय तो वह और वह आत्मा। आहा..हा...!

कुछ समझ में आया ? बहुत गंभीर है (परंतु) ऐसा है।

उस प्रकार उसी जीव को पुरुषार्थ से मुक्ति है और उसी जीव को दैवयोग से मुक्ति है। ऐसी एक समय में दो योग्यताएँ मानी गई हैं। भाई ने, पंडित ने प्रश्न किया था न कि इन दो में कैसे समझे ? स्वभाव के संस्कार में स्वभाव एवं अस्वभावनय यहाँ तो लिया है। धर्म एक समय में है। वह जानने लायक है। बस, (इतनी-सी बात है)। कुछ समझ में आया !

मुख्य तो पुरुषार्थ ही है। मुख्य तो स्वभाव के संस्कार ही है। कुछ समझ में आया ? मुख्य तो कालनय ही है। परंतु उसे मुख्य-गौण नहीं करके एक समय पर ऐसी योग्यता का धर्म अर्थात् धारण करके रखा हुआ भाव है। ऐसा उसे जानना। भारी फेरबदल ! साधारण बुद्धिवाले को इसमें क्या करना ? इसमें एक तो व्यापार-धंधे के मारे फुर्सत नहीं मिलती। क्या... आहा..हा...! इसके लिए भाई, निवृत्ति चाहिए। यह तो परम सत्य है। उसे प्राप्त करने के लिए निवृत्तिस्वरूप वस्तु है तो बाह्य से भी उसे निवृत्ति तो होनी चाहिए, यहाँ अंदर निवृत्तिस्वरूप है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया !

यहाँ तो कहते हैं, दैवनय से - दैव अर्थात् कर्म के योग से, कर्म का अभाव होने के नय से जिसकी सिद्धि अयत्नसाध्य है, ऐसा है। ऐसी एक योग्यता गिनी गई है, हाँ ! कर्म के अभाव की एक योग्यता गिनी गई है। कर्म का अभाव तो उसके (अपने) कारण से होता है। परंतु यहाँ कर्म के अभाव स्वभावरूप इसमें अभावगुण है।

आत्मा में शक्तिरूप से एक अभावरूप गुण है। उसे यहाँ नहीं लेकर, कर्म के अभाव की अपेक्षा लेकर अभावगुण माना, इस प्रकार। नहीं तो अभाव उसका गुण है। परंतु यहाँ पर्याय से बात ली। कर्म के अभावरूप पर्याय। आहा..हा...! ऐसी एक योग्यता गिनी गई है। अयत्नसाध्य है। वहाँ मात्र पुरुषार्थ काम नहीं करता है, ऐसा (है)। कुछ समझ में आया ?

सारे भाव एक साथ हैं। बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ है, परंतु अंदर से उसे अयत्न से नहीं, परंतु कर्म के अभाव से होता है ऐसी एक अपेक्षा, एक योग्यता का एक धर्म माना। कर्म का अभाव वह वहाँ कर सकता है ? वह तो कर्म का अभाव तो उसके

कारण से होता है। परंतु यहाँ उसे निमित्तरूप गिनकर कर्म का अभाव करना, यह (बात) यत्नसाध्य नहीं है। पुरुषार्थ से तो कर्म का अभाव होता नहीं है। पुरुषार्थ से तो अपने में अशुद्धता का नाश होता है। आहा..हा...! परंतु वहाँ कर्म के अभाव का काल गिनकर अयत्नसाध्य गिनकर अयत्नसाध्य मुक्ति है, ऐसा कहा गया है।

आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? खूबी तो यह है कि पुरुषकारवादी द्वारा किये गये नीबू के वृक्षमें से किसी ने पुरुषार्थपूर्वक नीबू का वृक्ष बोया, उगाया और एक व्यक्ति को नीबू का वृक्ष दिया। खूबी क्या है ? अब, अंदर से जिसे यत्न के बिना, दैव से माणिक प्राप्त होता है - उस नीबू में माणिक प्राप्त होता है। दूसरी जगह (नीबू में) माणिक (होता है)।

वीरजीभाई कहते थे कि एकबार मैं कलकत्ता गया था। नीबू में माणिक था। उसकी बात चल रही थी। वीरजीभाई कहते थे कि नीबू है न उस में बीज पकता है न उसकी जगह पर माणिक पकता है। आहा..हा...! माणिक पकता है तो उसने कहाँ पुरुषार्थ किया है ! उसमें नीबू की जगह वह पका। इस प्रकार धर्म के अभाव के निमित्त में आत्मा पक गया, मोक्ष हुआ। ऐसा निमित्त से कथन है। आहा..हा...! सच्ची बात है, हाँ ! यह नीबू के वृक्ष की, (बात) वीरजीभाई वकील थे ना वे कहते थे। कर्म के खपने के काल की स्थिति पूरी हुई और उससे उसकी मुक्ति हुई, उसे एक अपेक्षा से कहा जाय ऐसा योग्यता का धर्म गिना गया है।

धर्म अर्थात् भाव। ऐसा एक भाव गिना गया है। इसमें से कुछ उल्टा-सीधा हो जाय तो भारी फेरफार हो जाय ऐसा है। क्या ! आहा..हा...! पुरुषकारवादी द्वारा किये गये नीबू के वृक्ष के अंदर से, जिसे यत्न बिना दैव से माणिक प्राप्त होता है। आहा..हा...!

ऐसे जंगल में जाय और कहीं अनजाने में खेत में निकला हो और पेशाब करे उतने में (वहाँ) घड़ा दिखाई दे। ऐसे घड़ा की किनारी देखे उतने में हीरे निकले। दैवयोग से ऐसा हो जाता है। उस प्रकार यहाँ भी कर्म का खिरने का अपना योग्य काल है। वैसे ही इधर आत्मा प्राप्त होता है। ऐसा एक योग्यता का एक धर्म भाव गिना गया। उन सभी भाव के समुदाय का आधार तो फिर द्रव्य है। आहा..हा...!

क्या कहा यह ? दैवयोग से माने अयत्न। उन सभी भाव का स्वामी तो आत्मा

है। इसका आधार पर स्वामी कर्म आदि नहीं है। आहा..हा...! वहाँ फिर दैव लिया। आहा..हा...! भले दैव कहा, अयत्न कहा, अकाल कहा, संस्कार से कहा, असंस्कार से कहा, परंतु उन सभी पर्यायों का आधार व स्वामी तो आत्मा है। उसका स्वामी यह कोई परद्रव्य नहीं है। आहा..हा...! विशेष कहेंगे...



धर्मात्मा ! बालक हो, वृद्ध हो अथवा युवा हो पर "मैं ज्ञानानन्द हूँ, राग सो मैं नहीं" - ऐसा भान होनेसे जब अनुभव करता है, तब सिद्ध-समान ही आत्माका अनुभव करता है । सिद्ध जितना पूर्ण अनुभव तो नहीं किन्तु सिद्धकी जातिका ही अनुभव होता है । निज-स्वभावमें स्थिर होता है तभी आत्मतत्त्वकी अनुभूति होती है । एकदेश आनन्दकन्दका अनुभव हुआ अर्थात् स्वरूप-अनुभवकी सम्पूर्ण जाति पहचानी । सिद्धो-अहँतों आदिको जैसा अनुभव होता है वैसा धर्मी जान लेता है। `अनुभव पूज्य है'। स्वयं शुद्ध-आनन्दकन्द है - ऐसी श्रद्धा-सहित अनुभव पूज्य है; वही परम है, वही धर्म है, वही जगतका सार है । आत्मानुभव तो भवसे उद्धार करता है । अनुभव तो भवसे पार लगाता है, महिमा धारण करता है, दोषका नाश करता है । आत्मशक्तिमें ज्ञान व आनन्द भरे हुए हैं । शक्तिकी व्यक्तिरूपी अनुभवसे ही चिदानन्दमें निखार आता है - वही वास्तविक विकास है।

(परमागमसार - ७१२)

आत्मद्रव्य ईश्वरनय से परतंत्रता भोगनेवाला है, घाय की दुकान पर दूध पिलाये जानेवाले राहगीर के बालक की भाँति। ३४।

आत्मद्रव्य अनीश्वरनय से स्वतंत्रता भोगनेवाला है, हिरन को स्वच्छन्दता (स्वतन्त्रता,स्वेच्छा) पूर्वक फाड़कर खा जानेवाले सिंह की भाँति। ३५।

आत्मद्रव्य गुणीनय से गुणग्राही है, शिक्षक के द्वारा जिसे शिक्षा दी जाती है ऐसे कुमार की भाँति। ३६।



'प्रवचनसार', नय अधिकार चल रहा है। ३३ नय चले (हैं)। कौनसा अधिकार चल रहा है ? गुरु के प्रति शिष्य का प्रश्न है। संतमुनि - आत्मज्ञानी अनुभवी अंतर में आनंद का स्वसंवेदन, प्रचुर आनंद का वेदन करनेवाले मुनि, उनसे शिष्य प्रश्न करता है कि प्रभु ! यह आत्मा कैसा है ? बाकी सारे सवाल छोड़कर केवल आत्मा का प्रश्न किया।

यह आत्मा कैसा है ? कौन है ? और किस विधि से उसकी प्राप्ति होती है ? आत्मा के दर्शन, ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति किस प्रकार होती है ? ऐसा प्रश्न है। उसके उत्तर में तो ऐसा कहा कि, यह आत्मद्रव्य जो वस्तु है, वह (जो) शरीर है उससे तो भिन्न है। कर्म है (वह) जड़ है। उस से तो आत्मा अंदर भिन्न है। पुण्य-पाप के परिणाम उसकी पर्याय में होते हैं (उनसे भी भिन्न हैं)।

यहाँ साधक जीव लेना है न ? (पुण्य-पाप के भाव) ये भी एक विकार है। और वह अविकारी दशा और अविकारी गुण, उनको धरनेवाला आत्मद्रव्य धर्मी है। धर्म सूक्ष्म है। भाई ! धर्म ऐसी चीज नहीं है कि बाहर से मिल जाय। आहा..हा...!

आत्मद्रव्य ऐसी सूक्ष्म चीज है। वैसे तो अनंतकाल में किया नहीं है। 'मुनिव्रत धार अनंतबार ग्रैवेयक उपजाया, पै निज आत्मज्ञान बिन सुख लेश न पाया।' (छह ढाला)।

पाँच महाव्रत पालन किये, २८ मूलगुण पालन किये, स्त्री-कुटुम्ब छोड़ दिये, ऐसी शुभराग की क्रिया अनंतबार की, परंतु आत्मज्ञान बिना सुख प्राप्त नहीं हुआ। रागादि क्रिया है उस में सुख नहीं है। ऐसे धर्मी को भी आत्मा अनंत गुण सम्पन्न प्रभु और उस की अनंती पर्याय निर्मल व कुछेक मलिनपर्याय उन सभी को धरनेवाला आत्मा श्रुतज्ञान द्वारा प्रमेय होता है। सूक्ष्म बात है, भाई !

अनंतकाल में भावश्रुतज्ञान किया नहीं है, शास्त्र(ज्ञान की बात) नहीं है। और जो भावश्रुतज्ञान में आनंद की पर्याय का वेदन आता है ऐसे भावश्रुतज्ञान द्वारा आत्मा प्रमेय अर्थात् ज्ञान में ज्ञेय होता है। श्रुतज्ञान में वह ज्ञेय अर्थात् आत्मा जानने में आता है। वह श्रुतज्ञान कैसा है ? कि अनंतनयों का समुदाय वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान है वह प्रमाण है। पर्याय भी प्रमाण है। और उस में अनंतनय का समुदाय वह श्रुतप्रमाण है। उस श्रुतप्रमाण से आत्मा, द्रव्य, गुण व पर्याय से प्रमेय अर्थात् ज्ञान में ज्ञेयरूप में आता है। आहा..हा...! वस्तु तो ऐसी है। परंतु अनंतकाल में ख्याल किया नहीं है। आहा..हा...! तो उस प्रश्न के उत्तर में ४७ नयों का वर्णन किया है। उनमें ३३ नय तो चले।

(अब), ३४ वाँ चल रहा है। सूक्ष्म बात है। अपूर्व बात है। अनंतकाल में किया नहीं है। मनुष्य के अनंत भव किये, तिर्यंच के अनंत किये, नरक के अनंत किये और निगोद के अनंत किये। और स्वर्ग के अनंत अनंत भव किये। नरक से भी स्वर्ग की गति के भव असंख्यगुना अनंते किये हैं। और पुण्य की क्रिया की हो तो उससे स्वर्ग मिला। परंतु जन्म-मरण मिटा नहीं। जन्म-मरण मिटानेवाली चीज क्या है ? यह कह रहे हैं।

उसका उत्तर ३४ वें (नय में) दे रहे हैं। 'आत्मद्रव्य' आत्मद्रव्य जो कहा है वह जो अनंतगुण है जिसमें ज्ञान-दर्शन-आनंद आदि अनंत गुण हैं और उन गुणों की अनंती पर्याय, पर्याय में कुछेक विकृत है और कुछेक निर्मल है। उस की बात यहाँ है। वह आत्मद्रव्य अनंतगुण जो कायम रहनेवाले और पर्याय जो पलटने की अवस्थावाली वे पर्याय और गुण का धारक आत्मद्रव्य है। मार्ग बहुत सूक्ष्म है, भाई !

लोग बाहर से मानते हैं कि, ऐसे मिल जायेगा। ऐसा किसी काल में (कदापि) है नहीं है। सम्यक्दर्शन अनंतकाल में किया नहीं है। और उस के बिना व्रत-तप आदि अनंतबार किया। उस से स्वर्गादि मिलते हैं। परंतु फिर वहाँ से नरक-निगोद आदि में चला जायेगा। आहा..हा...!

यहाँ तो शिष्य का प्रश्न यह है कि प्रभु ! आत्मा किस प्रकार प्राप्त होता है ? आनंद का नाथ, सत्चिदानंद प्रभु हमें अपनी पर्याय में-अवस्था में उसका भान किस प्रकार हो सकता है ? उस के उत्तर में यह कहते हैं। ३३ (नय) तो चल चुके हैं।

३४ (वाँ नय)। `**आत्मद्रव्य ईश्वरनय से परतंत्रता भोगनेवाला है,...**' आत्मा में एक ऐसा ईश्वरनय (है)। इसलिए इस पर्याय में ऐसी एक योग्यता है। पर्याय में, द्रव्य में गुण तो त्रिकाली निर्मल ध्रुव है। परंतु उसकी पर्याय में ऐसी एक योग्यता है कि `**आत्मद्रव्य ईश्वरनय से परतंत्रता भोगनेवाला है,...**' आहा..हा...! जब तक वीतराग न हो जाय, परमात्मदशा प्राप्त न हो जाय, तब तक धर्मी के भी (राग होता है)। आत्मा का अनुभव है, आत्मा का आनंदस्वरूप, शुद्ध चैतन्य उस का आस्वाद है, उसे भी अपनी पर्याय में निमित्त के अधीन होने का (बनता है)। कर्म अधीन नहीं करते। कुछ समझ में आया !

कर्म अधीन नहीं करते। कर्म तो जड़ परद्रव्य है। परंतु अपनी पर्याय में कमजोरी से निमित्त के आधीन होकर पराधीनता उत्पन्न करते हैं। यहाँ धर्म की चीज चल रही है। जिसे धर्म, आत्मा का अनुभव हुआ, शुद्ध चैतन्य आनंदकंद प्रभु है, अतीन्द्रिय आनंद का पिंड़ आत्मा है उस का सम्यग्दर्शन में अनुभव हुआ और अतीन्द्रिय आनंद भरा है उसका स्वाद भी धर्मी के आया - तो उस धर्मी के भी एक पर्याय अभी ऐसी योग्यतावाली है कि, निमित्त के अधीन होकर पराधीन(रूप से) रागादि (होते) हैं। तो वह राग को बाँधनेवाला है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

मार्ग तो ऐसा है। मार्ग को सरल करो, सरल करो परंतु अंदर (जैसे) हो उस हिसाब से सरल किया जाय कि (जैसा) नहीं है वैसा सरल कर दे ? व्रत पालन करो, दया करो, भक्ति और पूजा करो, ये तो सब राग की क्रिया है। वह आती है, धर्मी के भी कर्म के वश होकर ऐसा राग आता है। परंतु उसके साथ अपना आनंदस्वरूप है ऐसा अनुभव भी साथ में है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

यहाँ यह कहते हैं। ईश्वरनय से अंतर में श्रुतज्ञान-भावश्रुतज्ञान-आनंद की अवस्था के साथ में भावश्रुतज्ञान होता है। उससे आत्मा प्रमेय (अर्थात्) ज्ञान में ज्ञात होता है। ऐसे धर्मी के एक नय ऐसा भी है कि निमित्त अधीन, पराधीन होकर (राग होता है)। क्या ! (वह) ईश्वरनय से परतंत्रता भोगनेवाला है।

आहा..हा...! उस पर्याय में अभी पूर्ण दशा हुई नहीं है। फिर भी धर्मी को, सम्यग्दृष्टि को आत्मा के आनंद का अनुभव है। सम्यग्दृष्टि को आनंद का वेदन होता है। उसके बिना सम्यग्दृष्टि होता (ही) नहीं है। कुछ समझ में आया ? तो सम्यग्दृष्टि को आनंद के वेदन में, पूर्ण आनंद का अभाव है। तो थोड़ी पर्याय में योग्यता भी ऐसी है कि निमित्ताधीन राग करता है, ऐसी एक योग्यता है। कर्म (राग) नहीं कराते।

आहा..हा...! `कर्म बिचारे कौन ? भूल मेरी अधिकाई' कर्म तो जड़ हैं। वे क्या करे ? अपने को छूते तक नहीं हैं। जड़कर्म अपने को छूते नहीं है और जड़ कर्म आत्मा को छूते नहीं हैं। परंतु धर्मी के भी अंतर आनंद के स्वरूप का अनुभव है। सम्यग्दृष्टि के अनंत अनंत गुण की शक्ति की व्यक्तता आंशिकरूप से प्रगट है। उसके साथ एक भाव यह भी है। निमित्त के आधीन होकर राग करते हैं। ऐसा एक ईश्वरनय है। ऐसी बात है। भाई ! और क्या करें ?

वस्तु का अतापता नहीं और धर्म हो जाय। अनंतबार ऐसी भक्ति-पूजा (करी)। भगवान साक्षात् त्रिलोकनाथ तीर्थंकर के समवसरण में अनंतबार गया। महाविदेह में भगवान हमेशा विराजमान रहते हैं। वहाँ अनंतबार पैदा हुआ और अनंतबार समवसरण में गया। परंतु सम्यग्दर्शन क्या चीज है उसे प्राप्त नहीं किया। आहा..हा...!

शुभराग हुआ - पुण्य (हुआ)। और उसे मान लिया कि यह धर्म कर रहे हैं। यहाँ कहते हैं कि, परमात्मा संत तो बीच में आढ़तिया होकर बात करते हैं। परंतु सर्वज्ञ परमात्मा दिव्यध्वनि के दातार, उन्होंने ऐसा कहा है। आहा..हा...! आत्मा में अनंतनय में एक नय ऐसा भी है कि श्रुत को जानता है। ज्ञान का एक अंश ऐसा है कि कर्ता अंदर शक्तिरूप से जानता है। एक नय ऐसा है कि पर्याय को जानता है। एक नय ऐसा है कि द्रव्य को जानता है। ऐसे अनंतनय के समुदाय(रूप) जो भावश्रुत, अंदर में अरूपीभावश्रुत (ज्ञान) विकृत अवस्थारहित उस आनंद की पर्याय के साथ जो भावश्रुतज्ञान है उस भावश्रुतज्ञान द्वारा, आत्मा जानने में आता है। ऐसे जीव

को एक नय ऐसा है। आहा..हा...! क्या करें ?

अनंत अनंतकाल हुआ। भटक-भटककर अनंतभव किये। कीड़े, कौए, कुत्ते, कंथवा, सूअर, हाथी (के) अनंत अनंत भव, अंत नहीं उतने, अनंत भव किये। परंतु सम्यक्दर्शन क्या चीज है ? और कैसे प्राप्त होता है ? उसकी दरकार की नहीं। आहा..हा...! उसे यहाँ उत्तर देते हैं। कि, जिसे आत्मा सम्यक्ज्ञान द्वारा अनुभव में आया है। उसे भी एक नय ऐसा है कि कर्म के अधीन-पराधीन होकर राग करता है। कुछ समझ में आया ! क्या... ईश्वरनय से कहा न... ईश्वरनय से। आहा..हा...!

'अमृतचंद्राचार्य', दिगंबर संत, हजार वर्ष पूर्व हो गये। उनका यह नय अधिकार है। 'कुन्दकुन्दाचार्य' दो हजार वर्ष पूर्व संवत ४९ में हुए। उनके मूल श्लोक हैं। और उसकी टीका 'अमृतचंद्राचार्य' ने की, और उसमें यह नय का अधिकार कहा है।

भगवान अमृतचंद्राचार्य संत मुनि हैं। दिगंबर मुनि हैं। अंदर अतीन्द्रिय आनंद का प्रचुर वेदन है। मुनि का अंदर का भावलिंग है। आहा..हा...! द्रव्यलिंग में पंच महाव्रतपना और नग्नपना - यह द्रव्यलिंग है। ऐसे भावलिंगी संत ऐसा कह रहे हैं। आहा..हा...!

तो एक नय-ज्ञान का अंश ऐसा है कि, (जीव) कर्म के निमित्त के अधीन होकर, पराधीन होकर राग करता है। आहा..हा...! क्या ! अभी यह सवाल नहीं (चल रहा) है।

यहाँ तो निमित्त के अधीन होकर स्वयं विकार करता है। बस, इतनी बात है। धर्मी जीव के भी आत्मज्ञान हुआ हो, उसे भी आत्मा के आनंद का अतीन्द्रिय अनुभव समकिती के होता है। मिथ्यादृष्टि के आत्मा के आनंद का अनुभव नहीं होता। आहा..हा...! क्योंकि उसकी राग और विकार और पर के ऊपर की दृष्टि है। आहा..हा...!

धर्मी सम्यक्दृष्टि की दृष्टि तो द्रव्य-ध्रुव के ऊपर है। परंतु उस के साथ जो ज्ञान होता है वह ज्ञान अनंत नय संपन्न है। और उस ज्ञान द्वारा पूरा द्रव्य-गुण-पर्याय (सहित) जानने में आता है (ज्ञात होता है)। उसमें एक नय ऐसा है कि पराधीन होकर भोगता है। पराधीन होता है। इतनी बात है।

देखो, '**आत्मद्रव्य ईश्वरनय से परतंत्रता भोगनेवाला है,...**' परतंत्रता भोगनेवाला (है)। किस की तरह ? '**धाय की दुकान पर दूध पिलाये जानेवाले राहगीर के बालक की भाँति।**' यह धायमाता होती है न ? राहगीर निकला हो और बालक को दूध

पिलाना हो तो जैसे धायमाता की दुकान पर (दूध) पिलाते हैं। उस पराधीन राहगीर (की भाँति) भगवान आत्मा, आहा..हा...! अपने आनंदादि गुण का भान होकर बाहर निकलता है। परंतु उसमें राग (होता है)। निमित्त के अधीन होकर, विकार पराधीन होता है। ऐसा भी एक नय है।

कुछ समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई !

अनंतकाल में समझा नहीं है। ऐसे तो पूरी जिंदगी धंधा-पानी और व्यापार, घर और धंधे के पाप के (मारे) पूरी जिंदगी (निकाल देवे)। २४ घंटोंमें से २०-२२ घंटे तो पाप में जाते हैं। व्यापार में चले जाते हैं और एक-दो घंटे सुनने के लिए जाय तो फिर ऐसी बात मिलती है उसे कि, तुम ऐसे उपवास करो और व्रत करो। वह करते-करते धर्म होगा। ऐसी बात मिले और जिंदगी निष्फल चली जाती है।

यहाँ परमात्मा दिव्यध्वनि (में) ऐसा कहते हैं, त्रिलोकनाथ जिनेन्द्रदेव, सीमंधर भगवान महाविदेह में बिराजमान हैं। वहाँ `कुन्दकुन्दाचार्य' गये थे। आठ दिन वहाँ रहे थे। आठ दिन (भगवान की वाण) सुनकर, आकर ये शास्त्र बनाये। भगवान का यह संदेश है। उसका विस्तार `अमृतचंद्राचार्य' करते हैं।

आत्मा में - पर्याय में एक योग्यता (एक) ऐसा नय का विषय है कि वह पराधीन होकर भोगता है। आहा..हा...! स्वाधीन होवे तो निर्मलदशा होती है। परंतु निमित्त के आधीन होता है, तो राग होता है। धर्मी के भी इतना राग निमित्ताधीन होता है। परंतु साथ में आनंद भी है, साथ में ज्ञान है और सम्यक्दर्शन भी है। चारित्र का भी अंश है। सम्यक्चारित्र का अंश भी उसमें है। एक नय से निमित्त के अधीन होता है तो राग होता है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया!

भाषा चाहे जितनी सरल करे परंतु भाव तो (जो) होता है वही होता है न ! उसमें कुछ गड़बड़ करे (तो) सारा ही) बदल जाय। `जाओ ! तुम दया का पालन करो, व्रत करो, यात्रा करो और धर्म हा जायेगा।' यह सुल्टी बात होगी ? वह तो उल्टा है। कुछ समझ में आया ? मार्ग सूक्ष्म है, भाई ! अनंतकाल में उसने सुना तक नहीं है। यथार्थरूप से चीज क्या है ? त्रिलोकनाथ की दिव्यध्वनि का यह सार है।

ईश्वरनय से... आया न ? परतंत्रता को भोगनेवाला है। आहा..हा...! धाय की

दुकान पर दूध पिलाये जानेवाले राहगीर के बालक की भाँति। राहगीर का जैसे बालक था उसकी स्त्री है परंतु उसे दूध नहीं आ रहा। तो धावमाता होती है, उसके पास बालक को दूध पिलाते हैं। इतना पराधीन है न ! ऐसे भगवान आत्मा ! आहा..हा...! अपनी पर्याय में पूर्ण निर्मलता हुई नहीं है, वीतराग-सर्वज्ञता पूर्ण हुई नहीं है, तब तक धर्मी जीव-साधक जीव को भी राग की परतंत्रता भोगनी होती है। आहा..हा...!

ये भक्ति के भाव, पूजा के भाव, व्रत के भाव ये सब तो राग हैं - आस्रव हैं, ये आस्रव भोगने में आते हैं। पूर्ण वीतराग न हो तब तक परतंत्रता भोगते हैं। आहा..हा...! कुछ समझ में आया? एक नय है। धाय की दुकान पर दूध पिलाये जानेवाले राहगीर के बालक की भाँति। आहा..हा...! यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि, धर्मी के (जिसे) आत्मा का अनुभव होता है वह सम्यक्दृष्टि है। उसे भी राग-द्वेष आदि भाव होते हैं। ये भाव पर के अधीन होकर आते हैं; पराधीन होकर आते हैं, इतनी बात है।

कुछ समझ में आया ? वह धर्म नहीं है। परंतु आते हैं। जब तक (पूर्ण) वीतरागता नहीं होती तब तक सम्यक्दृष्टि के भी आनंद, एवं वीतराग की पर्याय होने के बावजूद भी अपूर्ण वीतरागता है। वह राग-द्वेष के कारण निमित्त के अधीन-पराधीन होती है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? यह ३४ वाँ (नय) हुआ।

अब, ३५ (वाँ नय)। `**आत्मद्रव्य अनीश्वरनय से स्वतंत्रता भोगनेवाला है,...**' आहा..हा...! वह पराधीन है और परतंत्रता भोगनेवाला है। अपने आनंद व राग को भोगता है। परंतु स्वतंत्रता से भोगता है। वह पराधीनता की बात हुई और यह स्वतंत्रता की (बात) है। आहा..हा...! राग में भी यह लागू होती है।

भगवान आत्मा ! शुद्ध चैतन्य आनंद अनंत गुण का पिंड प्रभु ! उसका सम्यक्दर्शन में अनुभव हुआ। आनंद का स्वाद आया। फिर भी पराधीनरूप से भोगता है। और स्वतंत्ररूप से भी भोगता है, निमित्त के अधीन नहीं, परंतु निमित्ताधीन स्वतंत्रपने की निर्मल पर्याय को और राग को स्वतंत्ररूप से भोगता है। आहा..हा...! अब ऐसी बात !

दिगंबर संतों ने अंतर के माल को खोल दिया है। अंदर खजाना खोल दिया है। आहा..हा...! प्रभु ! पूर्ण अनंत आनंद है न नाथ तेरे में ! अतीन्द्रियज्ञान भरा है न ! और अतीन्द्रिय शांति भरी है न ! आहा..हा...! ऐसी शांति और आनंद का

अनुभव होने के बावजूद भी तेरी पर्याय में वह परतंत्रता भी है। और एक स्वतंत्रता भी है। आहा..हा...!

वही का वही राग के अधीन होकर कहना वह परतंत्रता है। और अपनी स्वतंत्रता से करता है उसका नाम स्वतंत्र है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? ! दो अपेक्षा से नय (हैं)। पर्याय में दो अपेक्षाएँ हैं। जितना राग है उतनी पराधीनता भी है। और जितना राग है, उतनी स्वतंत्रता भी है। और अंतर में आनंद का भोग करना यह भी स्वतंत्र है।

आहा..हा...! सम्यक्दृष्टि जीव - धर्म की पहली सीढ़ी, मोक्षमहल की पहली सीढ़ी- छह ढाला में आता है। मोक्षमहल की पहली सीढ़ी सम्यक्दर्शन (है)। उसमें अतीन्द्रिय आनंद को स्वतंत्ररूप से भोगनेवाला है। और राग को भी स्वतंत्ररूप से भोगनेवाला है। ऐसी बातें हैं। धर्मी जीव अपने ज्ञान-स्वरूप का वेदन (अर्थात्) स्वसंवेदन, अपने स्व के प्रति का आनंद आदि का वेदन स्वतंत्रता से करता है। पर की कोई अपेक्षा नहीं है। कुछ समझ में आया ?

राग को भी एक नय से परतंत्रतापूर्वक कहा, उस राग को स्वतंत्ररूप से भोगे ऐसा एक नय है। आहा..हा...! पूरा स्वरूप ही ऐसा है। शिष्य का प्रश्न है, उसका यह उत्तर है। कैसे आत्मा प्राप्त हो ? तो इस प्रकार प्राप्त होता है कि, जो अनंत नय, गुण व पर्याय को - एक-एक को जाने (वह) नय। ऐसे अनंतनय का समुदाय जो भावश्रुतज्ञान, निर्विकल्प-राग बिना का भावज्ञान, उस भावज्ञान द्वारा द्रव्य, गुण तथा विकारी, अविकारी पर्याय प्रमेय अर्थात् ज्ञात होता है। इस भावज्ञान में ज्ञेय का ज्ञान होता है। आहा..हा...!

बड़ा कठिन, क्या करें ? भाई ! परिभ्रमण करते करते अनंतकाल हुआ। अनंत पुद्गल परावर्तन (किये)। स्वर्ग के अनंत पुद्गल परावर्तन किये। (अधो)लोक में नारकी (हैं)। उसमें अनंते पुद्गल परावर्तन किये। उससे असंख्यगुने अनंत पुद्गल परावर्तन स्वर्ग के किये। तो पाप के मुकाबले पुण्य बहुत बार अनंतगुने किये। (ऐसा) कह रहे हैं। कुछ समझ में आया ! नरक में पहली नरक, सातवीं नरक, उसमें एक-एक नरक में अनंतबार पैदा हुआ। और असंख्याते पुद्गल परावर्तन हुए। एक-एक समय करके अनंत पुद्गल परावर्तन हुए। ये अनंते पुद्गल परावर्तन मात्र स्वर्ग में

नहीं, नरक में (भी)... असंख्याते अनंत पुद्गल परावर्तन स्वर्ग में हुए। भगवान कहते हैं कि, सबसे कम भव मनुष्य के हुए हैं।

मनुष्यभव हैं अनंत, परंतु सबसे कम (हैं) और उससे असंख्यगुना अनंते भव नारकी के किये। और उससे असंख्यगुना अनंते (भव) स्वर्ग के किये। और उससे असंख्यगुना अनंत निगोद के किये। आहा..हा...! अनंतकाल चला है,बापू ! उसे कुछ ख़बर नहीं है। अपनी दया की ख़बर नहीं है। अपनी दया क्या चीज है ? (स्वयं वस्तु) जैसी है वैसी प्रतीति करना, वह अपनी दया है। उससे विरुद्ध प्रतीति करना वह हिंसा है। कुछ समझ में आया ?

मार्ग तो यह है। विपरीत कहोगे तो यह मार्ग नहीं रहेगा। आहा..हा...! `**आत्मद्रव्य अनीश्वरनय से स्वतंत्रता भोगनेवाला है, हिरन को स्वच्छन्दता (स्वतन्त्रता, स्वच्छा)पूर्वक फाड़कर खा जानेवाले सिंह की भाँति।**' जिस प्रकार सिंह हिरन को स्वतंत्ररूप से फाड़कर खा जाता है, खानेवाला सिंह है न ? उस प्रकार भगवान आत्मा स्वतंत्ररूप से अपना आनंद व अनंत गुण एवं पर्याय को भोगनेवाला है। राग को भी स्वतंत्ररूप से भोगनेवाला है। आहा..हा...! धर्म की बात चल रही है, हाँ !

जिसे आत्मज्ञान नहीं है उसे धर्म की ख़बर नहीं है। सम्यक्दर्शन नहीं है। वह तो पुण्य में धर्म मानता है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। उसकी तो यहाँ बात है ही नहीं। नय एवं नय का विषय, प्रमाण एवं प्रमाण का विषय समूचा द्रव्य (अर्थात्) द्रव्य-गुण-पर्याय है। उसके विषय की बात है, हाँ ! यह तो `प्रवचनसार'। प्र = विशेष वचन - दिव्यध्वनि। भगवान जिनेन्द्रदेव की मुखध्वनि। `मुख ओमकार ध्वनि सुनि गुणधर अर्थ विचारे।' भगवान की मुखध्वनि ओम सुनि गणधर अर्थ विचारे, `रचि आगम उपदेश भविक जीव संशय निवारे।' भवीक जीव होते हैं वे संशय का निवारण करते हैं। आहा..हा...! (ऐसी) वह वाणी है। आहा..हा...!

अनीश्वरनय से स्वतंत्रता भोगनेवाला है। दोनों ही स्वतंत्र, हाँ ! निर्मलपर्याय को भी भोगनेवाला स्वतंत्र और मलिनता भी स्वतंत्र(रूप से) भोगनेवाला है। आहा..हा...! वह निमित्त के अधीन भोगते हैं। वह एक नय है। और एक स्वतंत्ररूप से भोगते हैं। वह एक नय है। नय माने ज्ञान का अंश। वह एक-एक (द्रव्य का) अंश, एक-एक नय का विषय ऐसे अनंत नय का समुदाय भावश्रुतज्ञान। भावश्रुत का विषय द्रव्य-

गुण-पर्याय, उसमें विकारी पर्याय भी भावश्रुतप्रमाण में आती है। अविकारी भी आती है। निर्विकारी गुण भी आते हैं और पूरा द्रव्य भी आता है। आहा..हा...!

ऐसा मार्ग है। सुनने तक नहीं मिलता। तो फिर कब करे और क्या करे ? जिंदगी ज्यों की त्यों... (चली जाती है)। दुनिया में कमाना, खाना, भोग करना, भोग एवं विषय, आबरू और कीर्ति, दुकान की गद्दी पर बैठकर, पाँच-पच्चीस लाख मिले... धूल (मिली)... बस, तन्मय हो गये उसमें। दो-पाँच करोड़ हुए इतने में तो माने कि हम सुखी हो गये। खाक भी (सुख) नहीं है। सुन तो सही। दुःख में दुःख के पहाड़ों से सिर फोड़ता है।

पैसेवाले सुखी हैं। खाक भी (सुखी) नहीं हैं। बताओ सेठ ! ये पैसेवाले हैं। लो, सेठ करोड़पति है। खाक में भी सुख नहीं है। वहाँ पैसोंमे सुख कहाँ था ! सुख तो आत्मा में (है)। अतीन्द्रिय आनंद आत्मा में है। सत्चिदानंद प्रभु ! आत्मा है। उसकी ख़बर कहाँ है ? आहा..हा...! उसकी महिमा और उसकी बड़प्पन की उन्हें ख़बर कहाँ है ? आत्मा अतीन्द्रिय आनंद से तो भरा पड़ा है। जिस प्रकार मृग की नाभि में कस्तूरी है (परंतु) मृग को कीमत नहीं है। मृग की नाभि में कस्तूरी की मृग को - हिरन को ख़बर नहीं है - कीमत नहीं है।

उस प्रकार भगवान आत्मा में अंदर अतीन्द्रिय आनंदरूपी कस्तूरी भरी है। आहा..हा...! परंतु मृग की भाँति (यह) आत्मा स्वयं में सुख है ऐसा छोड़कर, स्त्री में सुख है, पैसे में सुख है। आबरू में सुख है और धूल में सुख है। भारी आबरू हो गई हमारी। खाक भी कहीं पर सुख नहीं है। आहा..हा...! कहो भाई ! ऐसी (बात) सही होगी ? यह तुम पैसेवालों को सुखी कहते हैं न! खुद सेठ है। है कि नहीं ? पैसों से सुखी हो ? खाक भी नहीं है। सुन तो सही।

पैसों के ऊपर लक्ष जाना वह राग है और दुःख है। आहा..हा...! आत्मा के ऊपर लक्ष जाना वह आनंद है। अतीन्द्रिय आनंद का नाथ अंदर विराजमान है। उस जिन और जिनवर में अंदर कोई फर्क नहीं है। आहा...हा...! जिनस्वरूपी (है)। ऐसा तो बहुत बार कहा था न ! 'बनारसीदास' (में आता है)। 'घट घट अंतर जिन बसे, घट घट अंतर जैन, (परंतु) मतमदिरा के पानसों मतवाला समझे न।' मतवाले (मताग्रही) पागल हो गये हैं। घट घट अंतर जिन बसे। प्रत्येक देह में भगवान जिनस्वरूपी

बिराजमान है। आहा..हा...!

`घट घट अंतर जिन बसे, और घट घट अंतर जैन।' जैन कोई बाहर के क्रियाकांड से जैन नहीं है। जैन तो राग से भिन्न होकर अपने जिनस्वरूप की प्रतीति एवं अनुभव करे। उसे जैन कहते हैं। यह जैनपना अंदर में-घट में जैनपना है। कोई बाहर में नहीं है, कि ये क्रियाकांड किये इसलिए यह जैन है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! उस के साथ राग होता है। समकिती के भी राग होता है। परंतु (वह) दुःख है। पराधीन है। और स्वतंत्ररूप से करे वह राग है। और निमित्त के अधीन होकर करे वह परतंत्रता भी एक नय है। आहा..हा...! ऐसी बातें भाई! यह तो आचार्य महाराज, दिगंबर संत (इनके सिवा) ऐसी बात कहीं पर है नहीं, अन्यत्र कहीं भी नहीं है।

इसमें (दिगंबर में) पड़े हैं, (पैदा हुए हैं), उन्हें भी ख़बर नहीं है। आहा..हा...! ऐसी वाणी। (महाविदेह में) त्रिलोकनाथ परमात्मा बिराजमान हैं। महाविदेह से आया है, यह सब। आहा..हा...!

अनीश्वरनय से अपने द्रव्यस्वरूप में आश्रय लेकर अपनी निर्मल आनंद की दशा को स्वतंत्ररूप से भोगते हैं। भगवान आत्मा पदार्थ, वस्तु है। उसमें अनंत गुण हैं। उस में अनंत शक्ति का वास है, विद्यमानता है। `गोम्मटसार' में है। आत्मा वस्तु है, उसमें निवास करना। क्योंकि वहाँ अनंत शक्ति-गुण हैं। (उसमें) वास्तु करना। (बसना) आहा..हा...! वह राग और निमित्त में घर करके बैठा है। वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि दुःखी है। अपने घर में अनंत आनंद आदि शक्ति है। उसमें वास करना, यह आनंद है। आहा..हा...!

बहुत फर्क पड़ जाता है। यह तो मार्ग ऐसा है, बापू ! उसे दूसरी तरह उल्टा-सीधा करने जाय तो पूरा विपरीत हो जायेगा। बापू ! कल सुबह भी आया था। आत्मा के शुद्धस्वरूप का अनुभव, वह शुद्ध परिणति है, वह धर्म है। सुबह आया था न ? आत्मा चैतन्य वस्तु-परमात्मा स्वरूपी है। शक्ति से स्वभाव से परमात्मा है। जिनस्वरूपी कहो या परमात्मा कहो। आहा..हा...! परमात्मा पर्याय में प्रगट हुआ।

यहाँ आत्मा स्वभाव से शक्ति से परमात्मा है। आहा..हा...! उस परमात्मा की अंतरदृष्टि करने से अनंती निर्मलपर्याय उत्पन्न होती है, और साधक है उसकी पर्याय कुछ विकृत भी है, परंतु इन सभी पर्यायों को स्वतंत्ररूप से, पर की अपेक्षा रखे

बिना आनंद का भी भोग करता है। और राग का भी भोग करता है। आहा..हा...!

कुछ समझ में आया ? यह देह तो धूल-मिट्टी है। पैसे धूल है, मिट्टी है। जिस प्रकार मिट्टी-धूल-पुद्गल है। अंदर कर्म हैं। वे पुद्गल धूल हैं। धूल, धूल। आहा..हा...! अंदर पुण्य व पाप के भाव होते हैं, वे विकार हैं। विकार से रहित भगवान अंदर अनाकुल आनंद और पवित्र है। परंतु वहाँ कहते हैं कि, उस पवित्रता का भान होने के बावजूद भी पर्याय में आनंद आदि स्वतंत्ररूप से भोगता है। और थोड़ा राग है उसे भी स्वतंत्ररूप से भोगता है। आहा..हा...! भोगता है न... एक-एक समय में है, तब तक भूल तो कितनी करता है ! है तब तो भोगता है न ? यहाँ है उसकी बात है न ! कुछ समझ में आया ? अभी आगे आयेगा।

पर का भोक्ता... आगे आयेगा...। यह तो अभी ईश्वर-अनीश्वरनय चल रहा है। स्वतंत्र और परतंत्र (की बात) इसलिए चल रही है। बाद में आगे आयेगा। आत्मा का ज्ञान हुआ - सम्यक्दर्शन हुआ, आनंद का अनुभव हुआ, उसे अभी राग आता है। उस राग का कर्ता भी है। और राग का भोक्ता भी है। यहाँ तो अभी पराधीनता और स्वतंत्रता और परतंत्रता की बात चल रही है। आहा..हा...! अरे ! उसके घर की बात कभी भी सुनी नहीं है। और सुनी है तो दृष्टि में ली नहीं है। ज्यों की त्यों निकाल दी। भाई ! आहा..हा...! निश्चय की है, निश्चय की (बात) है ऐसा करके निकाल दी। भाई ! आहा..हा...! निश्चय की माने सत्य बात, ऐसा है। निश्चय अर्थात् सत्य। सत्य की बात यह है। व्यवहार की बात वह उपचार की असत्य की बात है। कुछ समझ में आया !

जो भूतार्थनय है वह सत्य की बात है। 'वह नहीं ! नहीं ! हमें अभी कहाँ (निश्चय की बात समझ में आयेगी ?) हम तो अभी गृहस्थ हैं; हमलोग ऐसे निश्चय (की बात) में कैसे पहुँच सकते हैं ?' (ऐसा माननेवाले) मिथ्यात्व में रहो, राग में धर्म मानो, (वह) मिथ्यात्व है। वह गृहस्थाश्रम में भी अघर्मी है।

आहा..हा...! वहाँ तो परमात्मा जिनेन्द्रदेव को 'कुंदकुंदाचार्य' सुनने गये (थे)। आठ दिन रहे, सुना और श्रुतकेवली के साथ चर्चा भी की। बाद में यहाँ आकर 'समयसार', 'प्रवचसार', 'नियमसार' आदि (शास्त्र) बनाये। उसमें से, 'अमृतचंद्राचार्य' एक हजार वर्ष बाद आये, दिगंबर संत। उन्होंने 'प्रवचनसार' की इस टीका की रचना की। इसमें

उन्होंने नय का अधिकार बनाया। कुछ समझ में आया ?

`**आत्मद्रव्य अनीश्वरनय से स्वतंत्रता भोगनेवाला है,...**' आहा..हा...! `कर्म बिचारे कौन ?' एक स्तुति में आता है। चंद्रप्रभु भगवान की स्तुति में आता है। `कर्म बिचारे कौन ? भूल मेरी अधिकाई, अग्नि सहे घनघात लोह की संगति पाई।' मैं अकेला शून्य शुद्ध चैतन्य रहूँ तो मुझे (दुःख नहीं होगा)। अग्नि अकेली हो तो उसमें घन के प्रहार नहीं होते। अग्नि लोहे में प्रवेश करे तो घन के प्रहार पड़ते हैं।

मैं अकेला राग से रहित रहूँ तो दुःख नहीं है। राग में आता हूँ तो दुःख है। कुछ समझ में आया ! अग्नि लोहे का संग करे, अग्नि उस में प्रवेश करे तो घनप्रहार होते हैं। उस प्रकार आत्मा ज्ञानस्वरूप, पर्याय में राग में घुसता है तो दुःख भोगना पड़ेगा। समकिती हो तो भी राग में प्रवेश करे उतना दुःख है। आहा..हा...! सम्यक्दृष्टि के पूर्ण सुख नहीं है। वे तो सच्चे (भावलिंगी) मुनि हैं, उनको भी पूर्ण आनंद नहीं है। स्वसंवेदन-आनंद का वेदन तो है। परंतु पूर्ण आनंद नहीं है। जितना राग है उतना दुःख का वेदन भी है। स्वतंत्ररूप से है। पर की अपेक्षा के बिना है, आहा..हा...! ३५ वाँ (नय) हुआ न ! किसकी भाँति ? हिरन को स्वच्छंद से, स्वतंत्ररूप से, स्वेच्छापूर्वक (सिंह) मार देता है (उस प्रकार)।

आहा..हा...! उस प्रकार भगवान आत्मा स्वतंत्ररूप से आनंद व ज्ञान की पर्याय का वेदन करे और स्वतंत्ररूप से अधूरी पर्याय राग की है, तो उस का भी वेदन करे। आहा..हा...! नय अधिकार सूक्ष्म बहुत। `समयसार' में ४७ शक्ति का वर्णन। `प्रवचनसार' में ४७ नय का वर्णन। आहा..हा...! अलौकिक वर्णन है। ऐसा अन्य किसी शास्त्र में (नहीं है)। जैनधर्म - दिगंबरधर्म के अलावा ऐसी बात कहीं भी नहीं है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! (दिगंबर संप्रदाय में है) उन्हें भी पता नहीं है कि क्या है ? यहाँ तो, सम्यक्दृष्टि के जरा राग भी है, आर्तध्यान भी होता है। उतनी निमित्त के अधीन परतंत्रता भोगते हैं। वे निमित्त के आधीन परतंत्रत (दिखते हैं) और यहाँ अपने अशुद्ध उपादान से करते हैं। यह स्वतंत्रता। आहा..हा...! मुनि के भी होता है कि नहीं? आहा..हा...! भरत चक्रवर्ती को लो। समकिती, क्षायिक समकिती, उस भव में मोक्ष जानेवाले। भगवान जहाँ मोक्ष सिधारे (तब) अष्टापद पर्वत पर गये। ऐसे जहाँ से मोक्ष सिधारे, भगवान का मोक्ष हो गया। देह छूट गया।

ऊपर से इन्द्रगण आये। भरत चक्रवर्ती रोते हैं। अरे ! भरतक्षेत्र का सूर्य - केवलज्ञान आज अस्त हो या। इन्द्र कहते हैं कि अरे भरत ! आप का तो यह परमशरीर है, और इसी देह से तो तुम्हारी मुक्ति होनेवाली है। और हम तो इन्द्र हैं। और हमें तो एक भव मनुष्य का करके (फिर) मोक्ष जाना है... (तब भरत कहते हैं) मालूम है इन्द्र ! हमें मालूम है। यह सब मालूम है। परंतु हमें भगवान प्रति के प्रेम का राग आये बिना रहता नहीं है। हम जानते हैं कि राग मेरी चीज नहीं है। परंतु कमजोरी-आसक्ति वश आँखें भर आती हैं। इन्द्र देख रहे हैं। इन्द्र रोक रहे हैं। फिर भी आँसुओं की धारा (चलती चली जा रही है)। उतना राग है कि निमित्त की अपेक्षा से ईश्वरनय से पराधीन है और अनीश्वरनय से स्वाधीनता भोगनेवाला है। आहा..हा...! ऐसा स्वरूप है।

परंतु अभी तो समझने में भी कठिन पड़ता है। सुनने तक में भी नहीं जचता है। उसे समझेगा किस दिन ? आहा..हा...! चौरासी के अवतार कर करके मर गया। आहा..हा...! देखो न ! वे २१३ लोग गिरकर मर गये। प्लेन में २१३ लोग बैठे थे। मुंबई से थोड़ चला और खाडी में गिर गया। २१३ (लोग) खत्म हो गये - मर गये। आहा..हा...! कैसी कैसी आशाएँ लेकर चले होंगे (सब लोग) ?!

आहा..हा...! बापू ! भगवान तूने भी ऐसे अनंत अवतार किये हैं। तूने अनंतकाल में ऐसे अवतार किये हैं। उसने किये, ऐसा नहीं है। आहा..हा...! भगवंत तूने अपनी चीज को जाने बिना ऐसे अनंत अनंत अवतार किये हैं। तू तो प्रभु भगवंतस्वरूप हो न ! वह जिनस्वरूप भगवंत, तेरी तुझे ख़बर नहीं है। राग और पुण्य-पाप के भाव अपने मानकर, मिथ्यात्व का सेवन करके (मर गया)। मिथ्यात्व अनंत संसार का बीज है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

मिथ्यात्व में अनंतभव पड़े हैं। और सम्यक्दर्शन के बाद थोड़ा राग है उतना दुःख भी है। और एक-दो भव करने पड़े तो भी ज्ञान में जानते हैं कि मेरी इतनी पराधीनता है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया !

अनीश्वरनय से (स्वतंत्रता भोगनेवाला है)। हिरन को स्वच्छंदतापूर्वक फाड़कर खानेवाले सिंह की भाँति। आहा..हा...! यह ३५ (वाँ नय) हुआ।

अब, ३६ (वाँ नय)। `**आत्मद्रव्य गुणीनय से गुणग्राही है,...**' (पर में) जो गुण

हैं उन्हें जानता है। गुणग्राही = पर में जितने गुण हैं उतने जानता है। - गुण ग्रहण करता है। ऐसा एक नय है। आत्मद्रव्य, गुणीनय से गुणग्राही है। किसकी भाँति ? `**शिक्षक के द्वारा जिसे शिक्षा दी जाती है ऐसे कुमार की भाँति।**' राजकुमार होते हैं। वे भी विद्यालय में जाते हैं। विद्यालय न ? क्या कहते हो ? स्कूल। ऐसा तो राजकुमार हो और एक ब्राह्मण आदि शिक्षक हो फिर भी उसके पास रहकर सीखते हैं। ऐसा नहीं कि हम बड़े राजा-राजकुमार हैं। और वह ब्राह्मण हमें सिखायेगा ?

हम चक्रवर्ती के पुत्र हैं। और यह साधारण ब्राह्मण। (ऐसा) नहीं। वह (स्वयं) राजकुमार हो, फिर भी उनके पास नरमी रखकर (विनयपूर्वक) सीखता है। आहा..हा...! है न ! राजकोट में है। राजकुमार की कॉलेज है। पहले बड़े बड़े राजालोग (जाते थे)। इस प्रकार आत्मा गुणग्राही (है)। जिसमें जितने गुण हैं, उन्हें जाननेवाला - ग्रहण करनेवाला (है)। गुण को जाननेवाला गुण है। उन्हें ग्रहण करता (है)। है ? `**आत्मद्रव्य गुणीनय से गुणग्राही है, शिक्षक के द्वारा जिसे शिक्षा दी जाती है ऐसे राजकुमार की भाँति।**'

उस प्रकार धर्मात्मा, धर्मी ऐसा है कि जिसमें जितने गुण हैं, उस का गुणग्राही होता है। आहा..हा...! अवगुण होते हैं उन्हें जानता है। परंतु गुण होते हैं उन्हें ग्रहण करता है। कुछ समझ में आया ! क्योंकि दूसरों के अवगुण हैं, उससे हमें क्या नुकसान है ? उसका नुकसान तो उसको (स्वयं को) है। उसके गुण हैं, उसका गुणग्राही होता है। कुमार-राजकुमार की भाँति। शिक्षक शिक्षा दे और जैसे शिक्षा ले, नरमीपूर्वक सीखे, (उस प्रकार)।

राजकुमार हो और चक्रवर्ती का पुत्र हो। और सिखानेवाला चाहे वह ब्राह्मण हो या चाहे वह मास्टर (हो), नरमीपूर्वक सीखता है। ऐसे नहीं कि, यह मेरी प्रजा है, हम राजा हैं, तो फिर हम प्रजा का विनय कैसे करें ? आहा..हा...! वहाँ राजकुमार भी विनय करता (है)। ऐसे धर्मी जीव के एक नय ऐसा है कि जिसमें जितने गुण यथार्थ हो, उतने जाने। गुण तो हैं। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! अवगुण होवे उन्हें छोड़ दे। उसका हमें क्या काम है ? ऐसा एक नय है। ऐसा उसका धर्म है। एक नय ऐसा है। आहा..हा...!

गुणी विशेषतावाले के पास से ग्रहण करते हैं। ऐसा नहीं कि, मैं बड़ा आचार्य

हूँ। और शिष्य इतना बढ़ गया ! आचार्य के ११ अंग का ज्ञान हो और शिष्य को चौदह पूर्व का ज्ञान हो जाय। कुछ समझ में आया ? उसमें क्या है ? (ज्ञान) हाँ ! वाह ! गुरु की तुलना में शिष्य (पहले) केवलज्ञान पा जाय। 'गुरु रहे छद्मस्थ और (विनय करे भगवान)।' शिष्य केवलज्ञान पा ले और केवलज्ञानी गुरु का (बाह्य) विनय करे, ऐसा नहीं। कुछ समझ में आया ? परंतु उसे गुण (प्रगट हुआ) कि आहा..हा...! ऐसा गुण ! ऐसे जानते हैं। कल का लकड़हारा हो, लकड़ी इकट्ठी करने का काम कर रहा हो और आज केवली हो जाय, दूसरे दिन। आहा..हा...! भगवान आत्मा में अंदर केवलज्ञान भरपूर भरा है। आहा..हा...! कल तो लकड़हारा हो, लकड़ी बेच रहा हो, आज अंदर में एकदम... वैराग्य... वैराग्य... (उठा) (और) अंतर आनंद की खान में... उतर गया अंदर में। आहा..हा...! एकदम मुनिपना आया और अंदर आनंद का वेदन और उग्र आनंद होकर केवलज्ञान हो गया। कल तो उसके पास से लकड़ी ली थी और आज केवलज्ञान ? (वाह... वाह) ऐसा यहाँ कह रहे हैं।

आहा..हा...! कुछ समझ में आया ! जिसमें जितने गुण हैं उन गुणों को जानता है। यह तो छद्मस्थ की बात है न ! यह कोई केवली की बात नहीं है। केवली के कुछ गुण ग्रहण करने का है नहीं। क्या ? यह तो साधक की बात है। श्रुतज्ञान द्वारा आत्मा को जाननेवाला, उसकी बात है।

सर्वज्ञ परमात्मा तो पूर्ण ज्ञानी हैं। उन्हें किसी का विनय क्या करना ?! उन्हें तो कोई गुणग्रहण है नहीं। यहाँ तो छद्मस्थ है, अल्पज्ञानी है, साधक है, सम्यक्ज्ञानी है, सम्यक्दृष्टि है (उसकी बात है)। उनके अनुभव में तो आत्मा के ऊपर दृष्टि है। वे पर में कोई गुण हो, तो ग्रहण करते हैं।

अरे भाई ! यह तो बालक है न ! कल का (तो) कहो, भले हो, आज केवलज्ञान प्राप्त किया है। आज चार ज्ञान हो गये। मेरे पास ऐसा नहीं है। मेरे पास मति व श्रुत दोनों हैं। उन्हें (उन के पास) चार हो गये। कुछ समझ में आया... ? (यह) तो गुणग्राहीपना भी (एक नय) है। कौन से नंबर का (नय) हुआ ? ३६ वाँ हुआ। राजकुमार की भाँति वह विनय से अर्थात् नरमाईपूर्वक गुण ग्रहण करता है... आहा..हा...! विशेष कहेंगे...

आत्मद्रव्य अगुणीनय से केवल साक्षी ही है (-गुणग्राही नहीं है), जिसे शिक्षक के द्वारा शिक्षा दी जा रही है ऐसे कुमार को देखनेवाले पुरुष (-प्रेक्षक) की भाँति। ३७।

आत्मद्रव्य कर्तृनय से, रंगरेज की भाँति, रागादि परिणाम का कर्ता है (अर्थात् आत्मा कर्तानय से रागादिपरिणामों का कर्ता है, जैसे रंगरेज रंगने के कार्य का कर्ता है)। ३८।

आत्मद्रव्य अकर्तृनय से केवल साक्षी ही है (-कर्ता नहीं), अपने कार्य में प्रवृत्त रंगरेज को देखनेवाले पुरुष (प्रेक्षक) की भाँति। ३९।

प्रवचन : दि. ५-१-१९७८

'प्रवचनसार', नय अधिकार, ३६ (नय) चले हैं। अब, ३७ (वाँ नय) आत्मद्रव्य। यह आत्मद्रव्य माने गुण व पर्याय को धारण करनेवाला - यह आत्मद्रव्य। साधक की बात है न ! कुछ निर्मलपर्याय भी है, कुछेक मलिनपर्याय भी है। इन पर्यायों का व अनंत गुण का धारक (आत्मद्रव्य)। गुण व पर्याय को धर्म कहा। और धर्म का धारण करनेवाला आत्मद्रव्य धर्मी। उस में ऐसा एक नय है, कि '**आत्मद्रव्य अगुणीनय से केवल साक्षी ही है (-गुणग्राही नहीं है),...**' पहले से विरुद्ध, ३६ वें (नय में) गुणग्राही था। पर का गुण होवे तो उसे ग्रहण करे और यहाँ साक्षी। पर में गुण होता है उसे साक्षीरूप से जानता है। ऐसा भी एक नय (अर्थात्) एक धर्म उसमें है।

उसकी पर्याय में एक गुणग्राही नय है। और एक साक्षीरूप धर्म दोनों ही साथ में हैं। दोनों ही एकसाथ हैं। गुणग्राही (अर्थात्) एक आत्मा गुणग्राही है। और दूसरा साक्षी है, ऐसा भी नहीं। वैसे ही वह जीव किसी समय गुणग्राही है और किसी समय

साक्षी है, ऐसा नहीं। उसी क्षण में - जिस समय वह गुणग्राही है, उसी समय वह साक्षी भी है, ऐसा योग्यता का एक धर्म है।

'**आत्मद्रव्य अवगुणीनय से केवल साक्षी ही है (-गुणग्राही नहीं है),...**' भाषा देखी ! केवल ज्ञाता - साक्षी है। आहा..हा...! केवलज्ञान हो या सामने चार ज्ञान हो या वीतरागता हो। फिर भी उसका यह आत्मा साक्षी है। जाननेवाला-देखनेवाला आत्मा साक्षी कहा जाता है। कुछ समझ में आया ? केवल साक्षी है। किस की भाँति ? '**जिसे शिक्षक के द्वारा शिक्षा दी जा रही है ऐसे कुमार को देखनेवाले पुरुष (-प्रेक्षक) की भाँति।**' उसे देखनेवाला होता है उसकी भाँति गिना जाता है।

कुमार को कोई शिक्षक शिक्षा दे रहा हो (और) तटस्थ व्यक्ति मानो देख रहा हो, उस प्रकार, एक नय आत्मा में ऐसा (है) कि सामने चाहे जितने गुण हो, फिर भी साक्षीरूप रहता है। परमार्थ से ऐसा एक नय है। है न ! शिक्षक द्वारा जिन्हें शिक्षा दी जा रही है उन कुमार (या) बालकों को, या राजकुमार को, शिक्षक कुछ शिक्षा दे रहा हो परंतु वह तटस्थ व्यक्ति साक्षीरूप रहकर उसे जानता है। ३७ वाँ (नय) हुआ।

अब, ३८ वाँ (नय)। (यह) अधिक समझने योग्य है। ऐसी उसकी पर्याय की योग्यता है कि, '**आत्मद्रव्य कर्तृनय से, रंगरेज की भाँति, रागादि परिणाम का कर्ता है...**' जिस प्रकार रंजरेज कपड़े का रंग करता है और रंग कपड़े पर चढता है उस भाँति। यह धर्मी जीव की बात है, हाँ! समकिती जीव जिसे अंतर में आत्मा के आश्रय से सम्यक्दर्शन-ज्ञान आदि प्रगट हुए हैं, उसे एक गुण ऐसा है कि, राग को वह करता है, परिणमित होता है, बराबर है न ? (इसलिए) देखो ! दूसरी जगह ऐसा कहा था कि सम्यक्दृष्टि राग करता नहीं है। कर्ता-कर्म अधिकार में ऐसा आया। धर्मी राग का कर्ता नहीं है, विकार का कर्ता नहीं है। अर्थात् दुःख का कर्ता नहीं है। वह दृष्टि के विषय का अवलंबन लेकर बात की गई थी। दृष्टि निर्विकल्प है। सम्यक्दर्शन का विषय भी अभेद है। उसकी प्रधानतापूर्वक कथन था।

उसकी पर्याय में राग है। और उस राग को गौण करके राग के उस परिणमन (का) करनेवाला नहीं है; ऐसा वहाँ कहा गया था। आहा..हा...! वह दृष्टि के विषय के लक्ष से (कहा), यहाँ दृष्टि के साथ में जो ज्ञान हुआ, सम्यक्दर्शन के साथ

में सम्यक्ज्ञान हुआ। वह समय समय पर राग का जो परिणमन (होता है); दया-दान-व्रत-भक्ति आदि के परिणामरूप परिणमन करता है (उसका कर्ता है)। आहा..हा...! यहाँ परिणमित होवे सो कर्ता। ऐसा मानकर कर्तृनय लिया है। अब, ऐसी बातें। इसलिए ये आपत्तियाँ उठी न ! कि सम्यग्दृष्टि के राग होता ही नहीं है। दुःख होता ही नहीं है। ऐसे एकान्तपूर्वक उठा। ऐसा चला न कि ज्ञानी को दुःख होता ही नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी के दुःख होता है। दर्शन अपेक्षा से वह राग है उसे गौण करके... (कहा) क्योंकि दृष्टि एवं दृष्टि के विषय में भेद नहीं है। उसके विषय में पर्याय भी नहीं है। इसलिए ऐसा मानकर वहाँ राग व दुःख, राग माने दुःख। चाहे तो दया-दान-व्रत का विकल्प उठे वह भी दुःख है... तो वहाँ उसे दुःख नहीं है। ऐसा कहा था। वरना सम्यक्दर्शन (हुआ) ज्ञानी को चौथे (गुणस्थान में) दो कषाय के राग का परिणमन है। छठे गुणस्थान में संज्वलन के भाव का परिणमन है। वह यहाँ ज्ञान के परिणमन में उसे गिना जाता है।

ज्ञान जानता है कि मेरे में राग का परिणमन है। और राग तथा दुःख बिल्कुल नहीं है ऐसा ज्ञान नहीं जानता। भारी चर्चा चली थी। उसका यहाँ इन्कार करते हैं। कि बात गलत है। आहा..हा...! ऐसी बात है।

वह तो जब सम्यक्दर्शन की मुख्यता से बात चल रही हो तब उसमें पर्याय की ओर का लक्ष नहीं है। इसलिए उसे राग नहीं है, ऐसा कहा गया है। किन्तु फिर भी सम्यक्दर्शन के काल में सम्यक्ज्ञान-श्रुतज्ञान हुआ। उस श्रुतज्ञान में एक नय ऐसा भी आया कि मेरा परिणमन राग का हुआ है। जितने अंश में मैं रागरूप परिणमन करता हूँ उतने अंश में मैं कर्ता हूँ। कुछ समझ में आया ?

ऐसी बातें, इसलिए लोगों को कठिन लगता है। कर्तृनय है। और यह नय श्रुतज्ञान के प्रमाण का अंश है। और वह श्रुतज्ञान प्रमाण द्रव्य को जानता है, गुण को जानता है, निर्मल पर्याय को जानता है और कर्तृनय को जानता है। मेरे अंदर उतना राग का परिणमन (है), दया का, व्रत का या विनय का जो राग आया। वह मेरा परिणमन मेरे में है। (वह) मेरा परिणमन है। ऐसा मानकर कर्ता कहा है। ऐसी बातें हैं। अब, कुछ समझ में आया ? करने लायक है इस दृष्टि से इसमें कर्तापना का निषेध

किया। आत्मा में जहाँ ऐसा कहा कि धर्मी समकिती जीव (को) किसी भी दया, दान या विकल्प का कर्ता हो जाय तो करने लायक है, ऐसी बुद्धि उसे रहती नहीं है। उस अपेक्षा से उसे कर्ता नहीं है, ऐसा कहा है।

परंतु यहाँ राग का परिणमन है। तब तक राग के परिणमन के कर्तापने का परिणमन मेरा है। वह कर्म को लेकर राग होता है, ऐसा नहीं। आहा..हा...! भारी सूक्ष्म ! कर्तृनय से धर्मी जीव को... अरे ! तीर्थंकर जब छद्मस्थ मुनि होते हैं, उन्हें भी जितना पंचमहाव्रत का विकल्प आदि जो राग उठा उसका कर्ता वह स्वयं पर्याय है। ऐसा यहाँ सिद्ध किया है। आहा..हा...!

और वास्तव में पर्याय पर्याय की कर्ता है। उस पर्याय (में) राग है उसका कर्ता द्रव्य नहीं है। वह राग है उसका कर्ता गुण नहीं है, राग है उसका कर्ता राग है। ऐसा एक नय का विषय है। सूक्ष्म बातें हैं। नय में बहुत कठिन पड़ता है। कुछ समझ में आया ?

सुबह तो आया था न ! पर्याय की बातें बहुत आयी थी। पर्याय का कर्तापना ज्ञानी के नहीं है। पर्याय का क्षेत्र भिन्न है, ऐसा कहा। वहाँ तो ऐसा कहा कि, जो राग की पर्याय होती है, उसके कर्तापने का नय है। ज्ञान की अपेक्षा से भी जो राग है उस का क्षेत्र भिन्न है। और गुण का क्षेत्र भिन्न है। अरे ! यह तो ठीक परंतु सम्यक्दर्शन की दृष्टि से पर्याय निर्मल हुई, सम्यक्दर्शन की या स्वरूप में स्थिरता की चारित्र की दशा हुई, वह पर्याय पर्याय की कर्ता हुई। उस पर्याय का कर्ता गुण (या) द्रव्य नहीं है। इतना लम्बा... इसमें क्या याद रखे और जो निर्मलपर्याय है वह शुद्ध उपयोग, वह पर्याय है। और वह निर्मलपर्याय है। उस का क्षेत्र भी द्रव्य-गुण से भिन्न है। आहा..हा...! क्योंकि पर्याय जितने क्षेत्रमें से उठती है, उसका पर्याय का क्षेत्र पर्याय है। उस पर्याय का क्षेत्र (भिन्न है)। वह गुण का क्षेत्र (है जो) वह पर्याय का क्षेत्र नहीं है। ऐसी बातें अब। कुछ समझ में आया...?

आत्मा अनंत गुण का पिंड (है) उसकी अनंती पर्यायें (हैं)। उस में सम्यक्दर्शन होने पर द्रव्य के अनुरूप दृष्टि हुई, इसलिए उसकी परिणति भी निर्मल हुई और मलिन दशा थोड़ी रही। उसे सम्यक्दर्शन की अपेक्षा (से) नहीं गिनकर मलिनता उसे है नहीं, उसे गौण करके निकाल दिया। जैसे ('समयसार') ११वीं गाथा में कहा

कि, पर्याय (है) सो व्यवहार है वह झूठा है। पाठ ऐसा है। `व्यवहारो अभूयत्थो' पर्यायमात्र - चाहे तो निर्मल चाहे तो मलिन - वह अभूतार्थ है, झूठी है, ऐसा कहा। आहा..हा...!

वहाँ पर (११वीं गाथा में) झूठा है, ऐसा कहने का आशय यह (है कि) पर्याय को गौण करके, व्यवहार कहकर झूठा कहा। अभाव करके झूठा नहीं कहा है। कुछ समझ में आया ? क्योंकि प्रयोजन(भूत) वस्तु जो त्रिकाली है, वह मुख्य है। उसे निश्चय कहा और वह सत्य है, वह सच्चा है, ऐसा कहा। भूतार्थ जो त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव - सत्यार्थ स्वभाव जिसमें गुण-भेद भी नहीं हैं और पर्यायभेद भी नहीं है, ऐसा जो त्रिकाली स्वभाव वह सच्चा है। और पर्याय है वह झूठी है, ऐसा कहा।

पर्याय झूठी है तो (ऐसा कहने से) वेदान्त हो जाता है... पर्याय झूठी है... क्या ! बात तो ऐसी है कि व्यवहार अभूतार्थ है। पर्यायमात्र झूठी है, अभूतार्थ (है) और असत्यार्थ है। पाठ तो ऐसा है। शब्दार्थ करके सीधा अर्थ करे, तो पर्याय नहीं है, ऐसा (अर्थ) होता है। पर्याय नहीं है तो ऐसा निर्णय करनेवाला कौन है ? कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! पर्याय झूठी है, ऐसा कहो और द्रव्य-गुण सच्चे हैं, ऐसा निर्णय किसने किया ? कुछ समझ में आया ?मार्ग बहुत गंभीर है, प्रभु ! आहा..हा...! बाहर की माथापच्ची में रुककर आत्मतत्त्व की दृष्टि को भूल गया। व्रत और तप और पूजा और... (इन सब) माथापच्ची में (पड़ गया)। आहा..हा...! भगवान आत्मा जो पूर्ण द्रव्य है वह सच्चा है और पर्याय है वह झूठी है, ऐसा कहा। पर्याय इस प्रकार (व्यय) हो जाती है। इसलिए गौण करके प्रयोजन सिद्ध करने हेतु, मूल चीज को मुख्य करके - निश्चय कहकर उस के आश्रय से सम्यक्दर्शन होता है। ऐसा प्रयोजन जानकर, त्रिकाली को सत्य कहा और पर्याय को असत्य कहा। बहुत लम्बी बात है, सेठ ! आहा..हा...!

वही के वही आचार्य ऐसा कह रहे हैं। (`समयसार' की) दूसरी गाथा से शुरू किया है। **`जीवो चरितदंसणणाणठिदो'** (स्वसमय) पर्याय है। दूसरी गाथा (से) शुरू करके ऐसा कहा कि, मैं समयसार कहूँगा (`समयसार' पाँचवीं गाथा) मैं अपने (निज)वैभव से कहूँगा। वैभव है वह पर्याय है। क्या ! क्या कहा ? मेरे वैभव से अर्थात् मेरी पर्याय में आनंद आदि गुण की उत्पत्ति हुई है, वह मेरा वैभव है। गुण एवं द्रव्य

की बात नहीं है। आहा..हा...! गुण एवं द्रव्य तो पर्याय में ज्ञात हुए हैं। और जो वैभव प्रगट हुआ है वह तो पर्याय है।

आहा..हा...! अपने वैभव से कहूँगा। अरे ! पहली गाथा में लिया है कि, `**वंदित्तु सव्वसिद्धे**' सिद्ध तो पर्याय है। क्या ! पर्याय को नमस्कार किया है और पर्याय को अपने हृदय में एवं श्रोता के हृदय में स्थापित करके बात कर रहा हूँ, ऐसा कहा है। मार्ग अजबगजब ! अलौकिक बात (है), परम सत्य है।

मैं सिद्ध को अपने हृदय में स्थापित करके एवं श्रोता के हृदय में स्थापित करके कहूँगा। सिद्ध तो पर्याय है। आप फिर ११वीं गाथा में (पर्याय अभूतार्थ है) ऐसा कहते हो। और दूसरी में ऐसा कहते हो कि, जीव अपने दर्शन, ज्ञान, चारित्र से (स्थित हो जाय वह स्वसमय)। जिस प्रकार अनादि से विकार में स्थित है, वह अपनी निर्मल पर्याय में स्थित हो जाय, उसे स्वसमय कहते हैं।

अब, पर्याय ली। कि गुण में - द्रव्य में स्थित है, (वह स्वसमय है) ऐसा। आहा..हा...! जो भगवान आत्मा, अनंत गुण का पिंड प्रभु, वह अपने आश्रय से हुई सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो आनंद की दशा, जो स्व के ज्ञान की दशा, स्व की प्रतीति की दशा, स्व अर्थात् अपनी आनंद की दशा, जीव उसमें स्थिर हो उसे आत्मा कहते हैं। लो, यहाँ तो पर्याय स्थिर हो उसे आत्मा कहते हैं। (उसे) स्वसमय कहा।

यह सब मिलाना पड़ेगा। ऊपर से (ऊपरी प्रयास से) कुछ भी हाथ आ जाय (समझ आ जाय) ऐसा नहीं है। जैसा कि थोड़ा सा सुन लिया, और जाओ, अब बाल-बच्चें सम्हालो। यह तो मार्ग निराला बहुत है, भाई ! बहुत फेरबदल हो गया है। इसलिए अन्यथा तो आहा..हा...! तीनलोक के नाथ के सामने तो इन्द्र और चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव आदि उनकी देशना सुनते हैं। इतनी व्यस्ततावाले थे, वे भी निवृत्ति लेकर भगवान की वाणी सुनने आते थे। अरे ! और अंदर में वे सम्यक्दृष्टि थे। अंदर निवृत्तिमय थे।

यहाँ एक तरफ ऐसा कहते हैं कि, पर्याय सब झूठी है। एक तरफ ऐसा कहते हैं कि, निर्मलपर्याय में स्थित है उसे आत्मा कहा जाता है। दूसरी गाथा में आया न (`समयसार') ! पहली गाथा में ऐसा कहा कि, मैं सिद्ध को नमस्कार करता हूँ। तुम्हारे आत्मा में और अपने आत्मा में सिद्ध की स्थापना करता हूँ। `**वोच्छामि समयसार**'

अब में समयप्राभृत कहूँगा। आहा..हा...!

`**वंदित्तु**' का अर्थ ही ऐसा किया। `**वंदित्तु स्वसिद्धे**' अर्थात् सिद्ध को नमस्कार करता हूँ, ऐसा नहीं लिया। `**वंदित्तु सव्वसिद्धे**' अर्थात् अनंत सिद्ध हैं, उनको आपकी (और) अपनी पर्याय में स्थापित करता हूँ। उसका नाम वंदन और आदर कहा जाता है। आहा..हा...! (इतने में) कितना समाविष्ट कर दिया है, ओहोहो !!! `समयसार' तो शब्दब्रह्म का अंश है। मेरे आनंद का ही वह अंश है। आहा..हा...!

उसकी गंभीरता, उसकी गहराई अलौकिक है। यहाँ अपने वैभव से कहूँगा। वहाँ पर्याय आयी और शुरू किया। अब पर्याय ली की गुण में - द्रव्य में स्थित है। ऐसा... आहा..हा...! जो भगवान आत्मा अनंत गुण का पिंड है। `**जीवो चरितदंसणणाणठिदो**' यह पर्याय आयी। `**एयत्तणिच्छयगदो**' (`समयसार' तीसरी गाथा) ऐसे देखो तो यह पर्याय (की बात) आयी। विभाव से भिन्न और स्वभाव में एकत्व यह पर्याय है। `**एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुन्दरो लोगे**' समय (आत्मा) सर्वत्र सुंदर है। किसे ? कि जिसे `एयत्तणिच्छयगदो' द्रव्यस्वभाव की ओर दृष्टि हुई है। इस प्रकार आत्मा त्रिकाल द्रव्य है, वह सुंदर है, ऐसा कहा। आहा..हा...!

इसी में ही इससे विरुद्ध फिर अभी दूसरा नय आयेगा। (`समयसार') ११वीं (गाथा) में ऐसा कहा कि, पर्याय तो झूठी है। सम्यक्दर्शन के विषय में कहा कि, सम्यक् दृष्टि के राग नहीं है, दुःख नहीं है, ऐसा कहा। यहाँ श्रुतज्ञान के प्रमाण में ऐसा कहा कि, वह जितने अंश में रागरूप परिणमित हुआ है, उतने अंश में वह राग का कर्ता है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? इसलिए कर्तृनय गंभीर है। आहा..हा...! सर्वज्ञ की वाणी है, बापू !

आहा..हा...! जिसे एक समय में केवलज्ञान हुआ, उसके अस्तित्व की क्या महिमा करें? आहा..हा...! केवलज्ञान की पर्याय है। पर्याय के बराबर ही (बड़ा) होवे तो (भूतार्थनय से) केवलज्ञान नहीं है ऐसा होता है। व्यवहारनय से तो केवलज्ञान (की) पर्याय को झूठी कहते हैं। समकिती को केवलज्ञानपर्याय का भी आश्रय नहीं करना है। इस हेतु से मुख्यता (करने के लिए) त्रिकाली को मुख्य करके उसे सत्य कहा। आहा..हा...! सिद्ध की पर्याय को भी वहाँ गौण कर दिया, अभाव नहीं। आहा..हा...! ऐसा सम्यक्दृष्टि का विषय चलता है तब कह रहे हैं। भगवान आत्मा आनंद स्वरूप प्रभु ! (सम्यक्दर्शन

में) जहाँ उसका अनुभव (हुआ), आनंदगुण के अंश की व्यक्तता का वेदन हुआ। आहा..हा...! वह सम्यक्दृष्टि जीव राग का कर्ता नहीं है। क्योंकि वह राग का स्वामी नहीं है। भाई ! वह राग का मालिक नहीं है। उस राग का स्वामी कर्म है। वहाँ ऐसा कहा। यहाँ कहा कि, कर्तानय से राग का परिणमन तेरे में है। धर्मी से ऐसा कहते हैं। कुछ समझ में आया ?

ऐसा मार्ग ! वह एकदम सरल था वहाँ (संप्रदाय में)... एकेन्द्रिया... द्वीन्द्रियाँ... कर लिया (पाठ पढ़ लिया) और सामायिक हो गई। बस ! यात्रा-फात्रा एकाध सम्मेदशिखर की करे, गिरनार की, शत्रुंजय की करे (वहाँ धर्म हो गया)। `शम्मेदशिखर एक बार वंदे जो कोई ताहि नरक पशु गति नहीं होइ' नरक एवं पशु गति न होवे, इससे क्या भला हो जायेगा...! ऐसा एक शुभभाव आये उसमें भव की कटौती कहाँ हुई...! आहा..हा...!

ये जो `महीवीरकीर्ति' आये हैं न ? कल आहार लेने के बाद घूम रहे थे, वहाँ कमरा था न ? एक रुम था न ? उसमें ठहरे थे। उस दिन (वे) कहते हैं कि, जो सम्मेदशिखर की यात्रा करे उसे ४९ भव शेष रह जाते हैं। भवकटी हो जाती है। हमारे पास ऐसा सम्मेदशिखर की महिमा का लेख है। जिस प्रकार श्वेतांबर में शत्रुंजय की महिमा का लेख है, कि शत्रुंजय की यात्रा करे और वहाँ (जो) साधु हैं उनको आहारदान करे तो महालाभ होता है। परितसंसार हो जाता है। खाक भी नहीं होता, सुन तो सही !

इस प्रकार ये लोग कहते हैं कि, सम्मेदशिखर की महिमा का हमारे पास साधन (है)। उसमें लिखा है कि, ४९ भव रह जाते हैं। वह शास्त्र भगवान का नहीं। सम्मेदशिखर की यात्रा से भव में कमी हो ऐसा लेख - शास्त्र भगवान का नहीं। यह तीनलोक का नाथ अंदर बिराजमान है। उस के आश्रय में जाय तो भव में कमी होवे। क्योंकि भव एवं भव का भाव उसमें नहीं है। उसमें आरूढ़ हो जाय तो भव में कमी हो। बाक़ी शत्रुंजय, सम्मेदशिखर और गिरनार... लाख बार और करोड बार जाय, शुभभाव होते हैं, अशुभ से बचने के लिए, परंतु भव में कमी हो जाय ऐसा नहीं है। यहाँ तो (जिसके) भव कम हो गये हैं ऐसे जीव की बात चल रही है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! जिसे एक-दो भव में मोक्ष जाना है, ऐसा पात्र जीव है। आहा..हा...!

ऐसा निश्चय हो गया कि, मेरा तो अल्पकाल में केवलज्ञान है। आहा..हा...!

ऐसा जीव - साधक - जब तक चौथे-पाँचवें-छठे (गुणस्थानक) में है तब तक उसे राग के परिणमन की अपेक्षा से राग का कर्ता ठहराया गया है। आहा..हा...! कितना याद रखें इसमें? बापू ! मार्ग कोई भिन्न-निराला है, नाथ ! आहा..हा...! भव के अभाव की बातें (हैं) !

सम्यक्दर्शन है वह भव का छेदक है। भवछेद आया है न ? भाई ! `अष्टपाहुड' (में)। आहा..हा...! भवछेद कर लिया है ऐसे जीव को भी केवलज्ञान नहीं है, वीतरागता नहीं है, तब तक राग के भाव का कर्तापना भी उसे है। करनेलायक (है) इस अपेक्षा से नहीं, परंतु परिणमन है सो कर्ता, यह कर्तृनय ज्ञान का एक अंश है।

कर्तापने का वह अंश आत्मा में (है), रागद्वेष जितने अंश में होते हैं, (उसका कर्ता है)। आहा..हा...! आचार्य ने तो तब तक कहा कि हम छद्मस्थ हैं, तो सत्य को स्थापित करने में भी राग आता है। और यह झूठा है, ऐसा स्थापित करने में ज़रा द्वेष का अंश आता है। आहा..हा...!

वह छद्मस्थ हैं न ? केवलज्ञान कोई राग नहीं है। इसलिए किसी भी रूप में राग आये। यह ऐसे है और ऐसे नहीं है। ऐसे है वहाँ भी अभी एक विकल्प का-राग का भाव उठा। ऐसे ही है वहाँ ज़रा द्वेष का अंश है। प्रशस्त (है), दोनों ही प्रशस्त हैं। (परंतु) राग है। आहा..हा...! आचार्य कहते हैं कि राग का ऐसा परिणमन हमें भी है। हम जानते हैं कि हम में कर्तापने का नय है। आहा..हा...!

कहा न ? बात तो पहले हो गई है : हम मुनि हैं। आहा..हा...! कल्माषित राग उत्पन्न होता है... फिर भी राग नया नहीं है, अनादि का है। छठे-सातवें गुणस्थान में हैं। परंतु राग है, वह अनादि का है, कोई नया नहीं है। अनादि का राग कम होते होते जो शेष रह गया है, वह (राग) अनादि का है। आहा..हा...! `**कल्माषितायाः**' (`समयसार' श्लोक-३) आहा..हा...! पहले बात हो गई है; यह फिर से लेते हैं। मोह के कारण पर्याय में राग होता है। मोह से माने (यहाँ) असावधानी (से) मिथ्यात्व से नहीं। पर की ओर का जो लक्ष जाता है, वहाँ राग होता है। इसलिए हमारी पर्याय कल्माषित है, मैली है। आहा..हा...! यह टीका करते हुए मलिनता मिट जाओ।

टीका करते हुए मलिनता मिट जाओ। इसका अर्थ इतना है। इसका मतलब

(यह) कि टीका करते समय लक्ष वहाँ (ध्रुवपर) रहता है। और उस काल में यह मलिनता मिट जाती है। ऐसा शब्द है न ?! पाठ में ऐसा (शब्द) है। इसी से ही, टीका से ही हमारी मलिनता का नाश हो। अरे ! टीका करने का तो विकल्प है। आहा..हा...!

इसका मतलब (यह है) कि हमारा घोलन, ध्रुव-ध्रुव पर लक्ष, (और) जोर है। उस जोर में हमें विकल्प आया है। और लिखा है। जोर के अनुसार विकल्प मिट जाओ। आहा..हा...! कुछ लोग कहते हैं कि समकिती के राग नाश होता जाता है न ! तो नाश होता जाता अर्थात् बिलकुल नाश हो जाता है... प्रथम ही समय में? (ऐसा नहीं)।

आहा..हा...! ऋषभदेव भगवान ९३ लाख पूर्व तक संसार में रहे। चारित्र नहीं आया, लो। सम्यक्दृष्टि थे। तीन ज्ञान लेकर आये थे। अब कोई ऐसा कहे कि, सम्यक्दृष्टि हुआ, उसे व्रत और तप लेने पड़े तो वह सम्यक्दृष्टि कहा जाता है, ऐसा कहते हैं। आजकल बहुत लेख आ रहे हैं। व्रत-तप करते हैं। वे सब धर्मी (हैं) और व्रत-तप बिलकुल ही नहीं करते (वे धर्मी नहीं हैं)। और हम धर्मी हैं और दिगंबर हैं (तो) कहते हैं कि नहीं, जाओ ! भगवान ने भी व्रत और तप ९३ लाख पूर्व तक नहीं किये थे। ९३ लाख पूर्व, हाँ !

एक पूर्व में ७० लाख करोड़ और ५६ हजार करोड़ वर्ष जाते हैं। भगवान के इतने वर्ष तक चारित्र नहीं था। बापू ! चारित्र (नहीं है), वह तो राग है। यह तो अंतर आनंद में रमणतारूप घोलनदशा, प्रचुर स्वसंवेदन। आहा..हा...! वह संतों का भावलिंग-वेष-चिह्न (है) आहा..हा...! प्रचुर स्वसंवेदन - यह इसका भावलिंग है। ऐसी दशा होने के बावजूद भी वीतराग नहीं हैं। इसलिए देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग रहता है। देव-गुरु-शास्त्र के विनय प्रति का राग रहता है। उस राग का परिणमन हमें है। अतः कर्तृत्वनय से हम कर्ता हैं। ऐसा हम जानते हैं। आहा..हा...! कहो ! अत्यंत गंभीरदशा !!

'**आत्मद्रव्य कर्तृनय से रंगरेज की भाँति, रागादि परिणमन का कर्ता है...**' रागादि... आदि शब्द है न ? द्वेष-क्रोध ज़रा आता है... आहा..हा...! सम्यक्दृष्टि दोनों हैं। युद्ध पर उतर आये। बाहुबली और भरत। दोनों सम्यक्दृष्टि थे। किसी ने फिर कहा।

देखो ! सोनगढवाले उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं। कोई कह रहा होगा। उसे यहाँ लागू कर दिया। अखबार में आया था। बापू ! सम्यग्दर्शन होने के बावजूद भी राग की ऐसी दशा होती (है)।

देखो, सीताजी को जब रावण ले गया फिर भी वह विचलित नहीं हुई। मेरे पति जब तक न आये, तब तक मेरे को अनशन है। मेरे राम, मेरे पति, इसके अलावा मुझे दूसरा (कोई) विकल्प है नहीं; नहीं तो फिर मैं सती हूँ। रावण दूर चला गया। कहो ! कुछ समझ में आया ? इतना राग आया। समकिती हैं न ! आहा..हा...! राम और लक्ष्मण समकिती हैं। राम भी उन्हें ढूँढ ने निकल पड़े। अर्थात् परिणमन... राग का कर्तृत्व है. क्या !

आहा..हा...! अरे ! वहाँ तक कि, सीताजी को जहाँ रावण ले गया, (तो) उसके विमानमें से सीताजी गहने डालती हुई गई। ऐसा (सीताजी को) ढूँढने के लिए निकले हुए (राम कहते हैं)। अरे ! सीताजी वहाँ से गुजरी हुई मालूम पड़ती है। कौन ले गया ? आहा..हा...! लक्ष्मण से पूछते हैं, भाई ! यह नेकलेस सीताजी का है ? (तब लक्ष्मण कहते हैं) बंधु ! एक बार मेरी नज़र (उनकी ओर गई थी), मेरी माता के रूप में। सीताजी, भाभी (थी) किन्तु माता के रूप में एक बार मेरी नज़र गई थी। बाक़ी मैंने उनका कोई शरीर-फरीर (तो) देखा नहीं है। आहा..हा...!

बाहर जंगल में तीनों जन साथ में (रहते थे)। आहा..हा...! (लक्ष्मण) भले वासुदेव थे। नरक में गये। परंतु उनकी नीति - उनकी लाइन तो ऐसी थी। प्रभु ! एक बार मैं इस प्रकार नीचे -सीताजी के चरण में दर्शन कर रहा था, और तब मैं ने देखा था कि यह पायल सीताजी की है। इस रास्ते से कोई सीताजी को ले गया है। यहाँ तो भाव का पता है। (कथा के बारे में) और कुछ पता नहीं है। आहा..हा...!

तो सारा राग है कि क्या है ? रामचंद्रजी समकिती हैं। और ऐसे ढूँढ रहे हैं। पेड़ से पूछते हैं। अरे सीता (कहाँ है) ? यहाँ से सीताजी गुजरी थी क्या ? ऐसा पूछ रहे हैं। ऐसा राग का परिणमन कर्तृत्वनय से समकिती को भी होता है। कोई एकान्त कर ले कि कर्तानय माने वह मिथ्यादृष्टि है। उसे वस्तु की ख़बर नहीं है। कुछ समझ में आया ?

हम सम्यक्दृष्टि हैं। इसलिए दुःख ज़रा भी नहीं है। तो उसका अर्थ ऐसा हुआ कि, पूर्ण आनंद है। (परंतु) पूर्ण आनंद नहीं है। और अपूर्ण आनंद माने तब अधूरा आनंद और साथ में दुःख भी है। पूर्ण आनंद तो मात्र परमात्मा हो जाय तब होता है। आहा..हा...! सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा हो जाय उन्हें पूर्ण आनंद है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...!

नीचे की दशा में जहाँ तक पूर्ण अतीन्द्रिय आनंद में लीन परिणमन नहीं है वहाँ तक अपूर्ण है। इसलिए दुःख भी है। जितना राग होता है, उतना दुःख है। आहा..हा...! मुनि छट्ठे गुणस्थान में आत्मा के आनंद में तीन कषाय के अभाव में - हैं। फिर भी जितना संज्वलन का कषाय, महाव्रत का राग, देव-गुरु के विनय का - यह विकल्प आता है उसका दुःख वेदन में आता है।

आहा..हा...! अब महाव्रत आदि के परिणाम जो दुःख(रूप) है, उन से आत्मा को समकित हो जाय, उससे आनंद हो जाय, समकित माने आनंद हो जाय, (ऐसा मानना - यह मिथ्यात्व है)। क्या करें प्रभु ! आहा..हा...! `**आत्मद्रव्य कर्तृनय से...**' आहा..हा...! `**रंगरेज की भाँति, रागादि परिणाम का कर्ता है...**' राग आदि है न ?! (इसलिए आदि से) द्वेष भी हो, ज़रा क्रोध भी हो, ज़रा मान भी हो। समझ में आता है ! उसका परिणमन है।

नेमनाथ भगवान तीन ज्ञान के स्वामी, क्षायिक समकिती आहा..हा...! सभी एकत्रित हुई। चर्चा चली। चर्चा करते करते (बात चली) कि बल किसका (ज्यादा) ? तो कोई कहे भीम का, कोई कहे अर्जुन का, किसी ने और किसी का बताया। उसमें से कोई बोला, किन्तु ये प्रभु बैठे हैं, उनका बल बहुत है। गृहस्थाश्रम में (हैं)। आहा..हा...! नेमनाथ भगवान का बल भीम एवं अर्जुन से भी बहुत ज़बर है। उसकी (उन के बल की) तुलना हो नहीं सकती। भगवान ने यूँ पैर नीचे रखा, `उठाओ मेरा पैर तुम', कृष्ण से कहते हैं कि, `उठाओ मेरा यह पैर'। लटक गये (कृष्ण स्वयं) परंतु उठा नहीं पा रहे। इतना तो बल शरीर का है। आत्मा का बल अलग है। नीचे पैर रखकर कहते हैं, उठाओ (अब)। आहा..हा...!

इतना अंश राग का आया। पूर्ण वीतराग नहीं हुए हो (तब तक रहता है)। वे तीर्थंकर हैं। उसी भव में मोक्ष जानेवाले हैं। परिणामों से ब्रह्मचारी हैं। आहा..हा...!

ऐसी कोई बात (चली)। स्वयं सभा में बैठे थे। खुद नहीं बोले। परंतु कोई और बोला कि, ये भगवान हैं। भीम और अर्जुन तो ठीक है, किन्तु इनका (भगवान का) बल तो देखो ! कृष्ण (वासुदेव) उनके भाई हैं फिर भी उनका बल तो देखो, आहा..हा...! फिर भी राग का ज़रा अंश आया, वह कर्तृत्वनय है, फिर भी मिथ्यादृष्टि नहीं हैं। आहा..हा...! कुछ समझ में आया !

भूमि का अनुसार रागादि आते हैं; अब राग आ गया इसलिए मिथ्यादृष्टि हैं (ऐसा नहीं है)। वह चारित्र का दोष है। कुछ समझ में आया ? क्षायिक समकिती - तीर्थंकर सरीखे, बलदेव समान बाहुबली और... आहा..हा...! वह (भरत चक्रवर्ती) पानी में गिरते हैं। बाहुबली इनसे (भरत से) ऊँचे हैं। जोर से हिलोरे लेकर पानी सिरपर चढ़ जाता है, उस में हार जाते हैं। गुथंगुथ्था उसमें (मल्लयुद्ध में) (भरत) हार जाते हैं, इसलिए चक्र उठाते हैं।

देखो (तो) सही ! आखिर में चक्र चलाया। (दोनों) सगेभाई, (क्षायिक) समकिती, उसी भव से मोक्ष जानेवाले... आहा..हा...! उन्हें मालूम है (कि) बाहुबली का यह अंतिम (चरम) शरीर (है)। (भरत) चक्र यूँ घूमाते हैं। चक्र भी गलत सिद्ध हुआ। फिर भी मिथ्यात्व नहीं है, हाँ ! आहा..हा...! वह बड़े लोगों की बड़ी बातें। जगत को स्वीकार करने पर ही छूटकारा है, बापू !

आहा..हा...! और बाहुबलीजी ऐसे कहते हैं (कि) चक्र मुझे मार नहीं सकता। एक कुल में है, चरम शरीरी हैं। तेरा गांधर्व चक्र मुझे नहीं मारेगा। मुनिराज कहते हैं, आहा..हा...! देखो! ये सारे राग के खेल समकिती के होते हैं। यह नय यहाँ सिद्ध करना है। फिर भी उसका परमार्थ से स्वामी नहीं हैं। परमार्थ से, हाँ ! यहाँ तो यह उसका स्वामी है, आहा..हा...!

वह राग का स्वामी है। यह (बात) तो पहले आ चुकी। इस राग का स्वामी मैं हूँ। राग का स्वामी कोई पर है और दूसरे के कारण मुझे राग हुआ ऐसा ज्ञानी नहीं मानते। आहा..हा...! क्या? वह समकिती, दृष्टि की अपेक्षा से, राग का स्वामी नहीं है। क्योंकि मेरे स्वरूप में नहीं है। परंतु ज्ञान की अपेक्षा से पर्याय में - मेरे में स्वरूप में है, इसलिए स्वामी है, ऐसी बातें हैं।

बापू ! मार्ग तो कोई निराला (अलौकिक) है, भाई ! आहा..हा...! है ? कौनसा

हुआ ? ३८वाँ। `**आत्मद्रव्य कर्तृनय से रंगरेज की भाँति रागादि परिणाम का करनेवाला है।**' राग आदि, हाँ ! राग हो, द्वेष हो, विषय वासना हो, आहा..हा...! (फिर भी) सम्यक्दृष्टि हैं। क्षायिक समकित है। ९६ हजार स्त्री भी चक्रवर्ती के हैं। उनके विषय की वासना भी उन्हें होती है। उस वासना का कर्तृत्वनय भी उन्हें होता है। आहा..हा...! फिर भी वह चारित्र का दोष है। फिर भी उस दोष का स्वामी स्वयं है। आहा..हा...!

बस, मेरे कर्म के कारण (दोष) हो गया, ऐसा नहीं। कर्म का उदय था, तो मेरे को ज़रा वासना आ गई, कर्म का जोर था इसलिए मुझे यह क्रोध हुआ, ऐसा ज्ञानी नहीं मानते। आहा..हा...! कुछ समझ में आया !

`**अर्थात् आत्मा कर्तानय से रागादि परिणामों का कर्ता है, जैसे रंगरेज रंगने के कार्य का कर्ता है।**' रंगरेज रंगकाम का कर्ता है। कपड़े डूबोता है कि नहीं ! ऊपर-नीचे करता है कि नहीं ? लाल-गर्म करके। हमने एकबार मुंबई में देखा है। वह रंगने के कार्य का कर्ता है। उस प्रकार समकिती के भी राग और द्वेष और पुण्य-पाप के विकल्प आते हैं। उन परिणामों का कर्ता है। आहा..हा...! अंदर वह राग है न !

यह तो दृष्टांत दिया। रंगरेज - रंगक, रंगकाम का कर्ता है, यह तो दृष्टांत है। रंगकाम को कर सकता है कि नहीं यह सवाल अभी (यहाँ) नहीं है। रंगकाम का कर्ता हुआ। उसका भाव है कि नहीं ? उस प्रकार धर्मी के भी रागद्वेष, विषयवासना, उस प्रकार से कर्तानय है। देखो! यह कर्तानय आया। बहुत सारा फेरफार है न ! इसलिए इसमें यह लम्बा चल गया। आहा..हा...!

ऐसे ही मान ले कि बस, समकिती के राग है ही नहीं। समकिती के राग नहीं है तो वीतराग होना चाहिए। समकिती के दुःख नहीं है तो फिर पूर्ण सुख होना चाहिए। इस मार्ग में ऐसा नहीं चलता। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! अभी रंगरेज का दृष्टांत दिया न ! रंगरेज - रंगारे की भाँति। ३८वाँ (नय) हुआ।

उसके सामने अब `**आत्मद्रव्य अकर्तृनय से केवल साक्षी ही है (-कर्ता नहीं),...**' एक नय ऐसा भी है कि, राग होता है। उस का साक्षी... (अर्थात्) जाननेवाला ही है, बस। निश्चय से ज्ञाता है। राग है उसका कर्तृत्व भी है। और राग है उसका

साक्षी भी है। एकसाथ, हाँ ! आहा..हा...! यह सारा नय एक साथ है। कर्ता के समय अकर्तापना साथ में ही है। राग के कर्तापने(रूप) परिणमन के साथ ही अकर्तापने का ज्ञान (भी) साथ में ही है। आहा..हा...!

ऐसा नय का मार्ग लोगों को सूक्ष्म पड़ता है। `**अकर्तृनय से केवल साक्षी ही है...**' भाषा देखी! आहा..हा...! केवल साक्षी ही है। राग का बिलकुल कर्ता नहीं है। आहा..हा...! एक तरफ कर्ता कहना और एक तरफ केवल साक्षी कहना। यह भी एक नय है। इन सभी नयों का समुदाय श्रुतप्रमाण है। और उस श्रुतप्रमाण से द्रव्य-गुण का प्रमेय माने ज्ञान होता है। इसके बिना सच्चा ज्ञान उसे होता नहीं है।

विशेष कहेंगे...



एक भी विपरीत अभिप्राय रहे तो ध्यान अथवा सम्यक्त्व नहीं होता । विपरीत अभिप्राय टल-कर, सात तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान होने पर स्व-ओर झूके, तभी अनुभव होता है - वही स्वानुभव है।

(परमागमसार - ९१७)

आत्मद्रव्य भोक्तृनय से सुखदुःखादि का भोक्ता है, हितकारी - अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगी की भाँति। (आत्मा भोक्तानय से सुखदःखादि को भोगता है, जैसे हितकारक या अहितकारक अन्न को खानेवाला रोगी सुख या दुःख को भोगता है)। ४०।

आत्मद्रव्य अभोक्तृनय से केवल साक्षी ही है, हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगी को देखनेवाले वैद्य की भाँति। (आत्मा अभोक्तानय से केवल साक्षी ही है - भोक्ता नहीं है; जैसे सुखदुःख को भोगनेवाले रोगी को देखनेवाले वैद्य वह तो केवल साक्षी ही है)। ४१।

प्रवचन : दि. ६-१-१९७८

'प्रवचनसार', नय अधिकार। अकर्तृत्वनय चल चुका है। फिर से थोड़ा (ले लें)। यह आत्मा है। आत्मा उसे कहते हैं कि (जो) अनंत गुण और अनंती पर्याय, विकारी पर्याय हो या अविकारी पर्याय, सभी का धारक, धर्म का धारक धर्मी आत्मद्रव्य। उसे यहाँ आत्मद्रव्य कहते हैं।

ऐसा '**आत्मद्रव्य अकर्तृनय से केवल साक्षी ही है (-कर्ता नहीं है)।**' कर्तृनय से ऐसा आया कि, रंगरेज जैसे रंगने का कार्य करता है, उस प्रकार यह रागरूप परिणमित होता है - अर्थात् (राग को) करता है। ऐसा कहकर यह धर्म एक नय से जानता है, एक नय उसे जानता है - उस धर्म को एक नय जानता है। परंतु सभी नय का समुदाय श्रुतप्रमाण वह पूरे द्रव्य को, गुण को तथा सभी पर्यायों का ज्ञान करता है। सभी का ज्ञान करता है। प्रमेय करता है उस का नाम सम्यक्ज्ञान। उसका नाम सम्यक्श्रुतप्रमाण। उसका नाम साधक जीव (का ज्ञान)। साधक जीव की

बात है। आहा..हा...!

उसे कर्तारूप हूँ। ऐसी एक धर्म पर्याय है। धर्म अर्थात् विकारी। उस प्रकार अकर्तृत्वनय भी साथ में ही है। एक नय से रागरूप परिणमित होता है, उस अपेक्षा से कर्तानय कहा। और एक अपेक्षा से अकर्ता कहा। क्योंकि उसका कर्ता नहीं है। उसका जाननेवाला ही है। आहा..हा...! दो नय इस प्रकार एक साथ होते हैं। उस अकर्तृत्व(नय के) अंदर एक दृष्टांत बताया न कि, `**अपने कार्य में प्रवृत्ति रंगरेज को देखनेवाले पुरुष (प्रेक्षक) की भाँति।**' कार्य में प्रवर्तमान है। वह तो रंगरेज प्रवर्त रहा है। कपड़े को रंगने के कार्य में प्रवृत्ति; परंतु देखनेवाले पुरुष की भाँति। देखनेवाला पुरुष होता है उस प्रकार `यह रंग कर रहा है', (ऐसा) देखनेवाले पुरुष की भाँति, राग का परिणमन है, उसको आत्मा देखनेवाला है, जाननेवाला है। आहा..हा...! (एक समय में दो हैं)। (उस प्रकार) एक समय में अनंत हैं।

अब, ४० वाँ (नय) आत्मद्रव्य... यह आत्मद्रव्य वह कि अनंतगुण और अनंत पर्यायों का समुदाय वह आत्मद्रव्य। अनंतगुण और अनंत पर्यायें (उनमें) विकृत एवं अविकृत का समुदाय पूरा द्रव्य। उस को विषय करनेवाला अनंतनय से, अनंत गुणपर्याय को जानता है, ऐसे अनंत नय का समुदाय (है) वह श्रुतप्रमाण (है)। अनंत धर्म का समुदाय वह आत्मद्रव्य।

अनंत नय का समुदाय वह श्रुतप्रमाण। उस श्रुतप्रमाण द्वारा अनंत धर्म का धारक द्रव्य-गुण व पर्याय, उसे जाना जाता है। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं।

`**आत्मद्रव्य भोक्तृनय से सुखदुःखादि का भोक्ता है,...**' ऐसा कह रहे हैं, सुखदुःख आदि का भोगनेवाला है। आहा..हा...!

पर्याय में ज़रा शुभराग हो, वह दुःखरूप है। फिर भी यहाँ व्यवहार से सुखरूप है। उसे जाने, भोगे, दुःख को भी भोगे। आहा..हा...! एक तरफ ऐसा कहना कि सम्यग्दृष्टि सुखदुःख का भोक्ता नहीं है। यहाँ कहना कि सुखदुःख का भोक्ता है। एक नय है। आत्मा अपने आनंद का ही भोगनेवाला है। निश्चयदृष्टि के विषय से उसे आत्मा कहते हैं। परंतु उस दृष्टि के साथ जो श्रुतज्ञान हुआ वह ऐसे जानता है कि, यह सुखदुःख पर्याय का भोग (मेरे में) है। उसका मैं भोक्ता-स्वामी हूँ। उसका मालिक हूँ। उस भोक्ता का मैं अधिष्ठाता हूँ। आहा..हा...!

अधिष्ठाता है, इसलिए आदरणीय हो जाय ऐसा नहीं है। सिर्फ उसे जानता है कि, मेरे में सुखदुःख की विकृत पर्याय (है), उसका भोगना (हो रहा है)। आहा..हा...! ऐसा एक नय से जानता है। और अनंत अनंत नय का समुदाय श्रुतप्रमाण वह द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों को जाने। ऐसा सब है।

भोक्तृनय से सुखदुःख आदि, आदि माने रति हो, अरति हो, विषयवासना का भोक्ता है। आहा..हा...! कोई आर्तध्यान हो, उसका भोक्ता होता है। चौथे-पाँचवें में रौद्रध्यान भी होता है, उसका भी भोक्त है। क्योंकि उसकी (अपनी) पर्याय में वह है न ! कोई पर के कारण तो है नहीं। पर का संबंध तो निमित्त है। वह उसे तो कोई छूता भी नहीं है। स्वयं ही स्वयं के आनंद का वेदन करता हुआ साधक जीव, अपने आनंद का वेदन करता हुआ, साथ में सुख-दुःख की कल्पना का भी वेदन करता है। आहा..हा...! मात्र आनंद का ही वेदन करता है, ऐसा नहीं। अपूर्ण आनंद है। अतः धर्मी को भी विषयवासना आदि राग (होता है), उसका वेदन करता है। आहा..हा...! यह भी एक नय है।

किसकी भाँति ? '**हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगी की भाँति।**' रोगी पथ्य आहार को खाता है। और कोई अपथ्य को भी खाता है न ! हितकारी - अहितकारी अन्न। अनुकूल अन्न होवे उसे भी खाय और कोई प्रतिकूल अन्न होवे उसे भी खाय। ऐसे अन्न को खानेवाले की भाँति। खानेवाले रोगी की भाँति। रोगी है इसलिए दवा ऐसी हो वह भी पीये। आहा..हा...!

इस पीलिया के लिए एक दवाई ऐसी आती है कि कुत्ते की विष्टा से भी (ज्यादा) गंध मारती है; ऐसी गंदी दवा भी वह पीलियावाला पीता है। पीलिया की दवा है। पीलिया होता है न ? उसमें एक दवा ऐसी आती है। अत्यंत गंध, बहुत गंध (दुर्गंध) वह गंध कुत्ते की जो विष्टा होती है, उस से भी ज्यादा गंध आती है; परंतु उसे भी पीता है, भुगतता है। और अहितकारी लड्डू या चूरमा उसे भी खाता है। खाय अर्थात् उसके राग को भोगता है और उसके द्वेष को भी भोगता है। आहा..हा...!

सुखदुःख की पर्याय का वेदन करता है ऐसी भी एक भोक्तानय है। इसमें से ऐसा ही निकाल दे कि ज्ञानी को दुःख का वेदन ही नहीं है। यह एकान्त है।

कुछ समझ में आया ! दृष्टि की अपेक्षा से ऐसा कहा जाता है। क्योंकि दृष्टि निर्विकल्प है। और उस का विषय गुण-पर्याय नहीं है। उसका विषय तो ध्रुव... ध्रुव है। सम्यक्दर्शन का विषय ध्रुव है। उसमें उसे संसार के सुखदुःख का वेदन (है) उसे गिना नहीं जाता। गौण करके नहीं भोगता है, ऐसा कहते हैं। यहाँ गौण-मुख्यता नहीं करके आनंद को और दुःख को एक साथ भोगता है।

आहा..हा...! आत्मा का आश्रय लेकर जितना अतीन्द्रिय आनंद प्रगट हुआ है, उसे भोगता है। और इन्द्रिय द्वारा जितनी सुख-दुःख की कल्पना होती है उसे भी भोगता है। आहा..हा...! इसमें क्या क्या याद रखें (लोग बेचारे) ? हमारे एक भाई (मुमुक्षु) कहते थे कि, सुबह कुछ आता है, दोपहर कुछ आता है। हम निर्णय क्या करे ? बापू ! दोनों ही बातें हैं। अपेक्षा कौनसी है, यह समझना पड़ेगा।

भोक्तानय से हितकारी और अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगी की भाँति। पुनश्च एक तरफ ऐसा कहें कि, आत्मा अन्न खा नहीं सकता। परंतु यहाँ तो दृष्टांत देना है। यहाँ सिर्फ ऐसा सिद्ध करने चले कि, यदि रोगी अन्न को खाता है, तो आत्मा दवा को या हितकारी - अहितकारी अन्न को खा सकता है, ऐसा यहाँ सिद्ध नहीं करना है। सिर्फ उसे जो हितकारी - अहितकारी अन्न को खाने का भाव है और (भाव) आता है, इतना सिद्धांत लेकर हितकारी - अहितकारी रोगी खाय, उसकी भाँति ज्ञानी भी सुखदुःख की कल्पना, हर्ष-शोक की कल्पना, उसका वह वेदन करता है। ऐसा जो व्यवहार है। उसे वेदन का व्यवहार है।

अतः वह तो निर्मल आनंद की अपेक्षा से व्यवहार है। परंतु आनंद के साथ तो रागद्वेष है, सुखदुःख है, वह निश्चय है। आनंद का भी वेदन करता है और सुखदुःख का भी वेदन करता है। यह निश्चय है। कुछ समझ में आया ? आत्मा भोक्तानय से दुःख आदि, रति हो, हर्ष हो जाय, हास्य हो जाये, ज़रा कुतूहल का भाव हो जाय उसको भोगता है। वह ऐसे ही जैसे हितकारी या अहितकारी अन्न को खानेवाला रोगी सुख या दुःख को भागता है। इसकी भारी आपत्ति इसी में ही आयी थी न ? कि समकिती आत्मा दुःख का वेदन करता ही नहीं है। ज्ञानी को दुःख होता ही नहीं है।

'सोगानीजी' ने द्रव्यदृष्टि में ऐसा लिखा कि, धर्मी को शुभभाव भट्ठी समान है।

भट्ठी... अग्नि (जैसा लगता है)। आहा..हा...! धर्मी जीव को अशुभभाव तो भट्ठी समान है ही, परंतु शुभभाव है, दया-दान-भक्ति आदि का जो कषाय है, वह भट्ठी है। आहा..हा...!

भट्ठी समान अग्नि को भोगता है। कषाय अग्नि है। आहा..हा...! यह बात नहीं बैठी। (ज्ञानी को) भट्ठी (दुःख) नहीं। ज्ञानी को भट्ठी (दुःख) नहीं होता। ज्ञानी को तो आनंद ही होता है। ऐसा नहीं है। दुःख भी है, जितना द्रव्य का आश्रय है उतना आनंद है और अभी जितना इन्द्रियों के आश्रय की ओर जो भाव जाता है उतना दुःख भी है। वह बात तो... मार्ग बापू ! ऐसा मार्ग है। एक-एक अंश का वेदन करता है। रागांश का भी और आनंद का वेदन करे वह ज्ञानी आत्मा (करता है), हाँ ! मिथ्यादृष्टि को सिर्फ दुःख का वेदन है। केवल दुःख का भोक्ता है। केवली भगवान सिर्फ आनंद के भोक्ता हैं। साधक जीव अतीन्द्रिय आनंद और रागद्वेष के दुःख का भोक्ता है। आहा..हा...! इसमें क्या क्या विचार करे ? फुरसत नहीं है न !

आहा..हा...! बापू ! यह तो वीतराग मार्ग है। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ की वह (जो) वाणी थी वह यह है। उस वाणी को आचार्य महाराज स्पष्ट करते हैं। आहा..हा...! वह अलग वस्तु है। परंतु दोनों ही दुःख हैं, अशुभभाव दुःख है और शुभभाव, दोनों ही दुःख हैं। भट्ठी (जैसी) अग्नि है। आहा..हा...! उसमें आया नहीं है... छह ढाला में ? `यह राग आग दाह दहै सदा, तातें समामृत सेईए ?' आहा..हा...! आता है। `राग आग दाह दहै सदा...' मुनि को भी जितना राग आता है वह दाह (है)। आहा..हा...!

राग आग है। वह अशुभराग ही आग है ! यहाँ तो रागमात्र - शुभ हो या अशुभ हो, (सारा ही आग समान है। भगवान आत्मा का रस शांत एवं अकषाय रस है। उसके सामने शुभराग भी आग है। आहा..हा...! भट्ठी है। यह (कुछेक लोगों को) नहीं जचा था।

अरे ! ये सोनगढवाले शुभभाव (को) भट्ठी (कहते) हैं। यह नया सीख लिया है। किससे ? तो कहते हैं ये `सोगानीजी' के पास से।' ऐसा लेख आया था। अरे भगवान ! वह कुछ नया नहीं है। समझ में आया ! प्रभु आनंद स्वरूप, अतीन्द्रिय मूर्ति आत्मा, उसका जितना आश्रय एवं अवलम्बन हुआ, उतना तो अतीन्द्रिय आनंद

है। परंतु पूर्ण आश्रय नहीं है, इसलिए इन्द्रिय के आश्रय की ओर लक्ष जाता है। यह (कहने का) आशय है। यह अभिप्राय सुखदुःख को (कहने का) है। आहा..हा...!

ये ज्ञानी राग में सुख मानते नहीं हैं। आनंद अर्थात् सुखबुद्धि उड़ गई है। धर्मी को विषयवासना का राग आता है परंतु उसमें से सुखबुद्धि उड़ गई है। परंतु आसक्ति रह गई है। आहा..हा...! ऐसा, बहुत सूक्ष्म !! आहा..हा...! धर्मी को तो परमात्मा की भक्ति के भावमें से भी सुखबुद्धि तो उड़ गई है। वह सुखरूप नहीं है। किन्तु फिर भी परिणाम में वह राग आये बिना रहता नहीं है। वह (बात) यहाँ बतायेंगे।

इसलिए यह कुछ लोग कहते हैं कि - इसलिए तो राग - शुभनय उपयोगी है। वह उपयोगी है। ऐसा कहते हैं। क्योंकि राग आता है न ! और सरागी समकिती भी है न ! सराग समकित में सरागपना भी परंपरा से मोक्ष का कारण है, ऐसा कहते हैं।

आज भी अखबार में (किसी पत्रिका में) आया है। सराग समकित परंपरा कारण है। परंतु कौनसी अपेक्षा से ? भाई, बापू ! परंपरा से (क्रमशः) उसका अभाव करके। मतलब वर्तमान में धर्मी को शुभराग आता है। उसमें अशुभराग टलता है। उतना वहाँ तक लाभ है। परंतु फिर शुभराग टलेगा और पूर्ण शुद्धउपयोग प्रगट करेगा। तब उसे आनंद होगा और मुक्ति होगी। परंतु उस शुभराग से परंपरा से मुक्ति होगी, उस राग से परंपरा (मुक्ति) होगी ऐसा नहीं। आहा..हा...! वह व्यवहारनय का कथन है। अर्थात् वर्तमान में शुद्ध पर दृष्टि है और शुद्ध का परिणमन भी है। परंतु जहाँ अशुभ से बचने के लिए शुभराग आता है, इसलिए शुभराग को परंपरा मोक्ष का कारण कहते हैं। परंतु उसका अर्थ यह (है) कि, यहाँ पर अशुभ मिटा है और फिर शुभ मिटेगा। आहा..हा...!

आज ही बड़ा लेख है। आहा..हा...! व्यवहारनय उपयोगी है। परंतु उपयोगी है, इसका क्या अर्थ ? वह हेय है। उसे उपयोगी कहना ? वह तो जानने के लिए उपयोगी है। कुछ समझ में आया...? १२वीं गाथा में ऐसा कहा। परंतु उसका अर्थ सभी ने यह पकड़ा। `**सुद्धो सुद्धोदेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं।**' और वहाँ तक यह एक अर्थ इस में किया है। `जयसेनाचार्य' में आता है न, भाई ! चौदह गुणस्थानों में पहला, दूसरा, तीसरा अशुभ है और चौथे से सातवें तक शुभ हैं और आठवें

से शुद्ध। इसलिए शुद्धउपयोग है ही नहीं, ऐसा कहते हैं।

वह तो वहाँ (व्यवहार की) मुख्यता से कथन किया है, भाई ! आहा..हा...! ऐसा कहें कि, सातवें तक तो शुभयोग ही है। अरे ! भगवान ! सम्यग्दर्शन में भी शुभयोग से ही सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा नहीं है। जब वहाँ शुद्ध उपयोग होता है, तब उसे सम्यग्दर्शन होता है। आहा..हा...! भाई! बहुत कठिन पड़े ऐसा काम है।

बुद्धिपूर्वक राग छूट जाता है तब अबुद्धिपूर्वक राग रहता है, फिर भी उसे वहाँ शुद्धोपयोग कहा जाता है। क्योंकि शुद्ध चैतन्य ध्रुव भगवान, उस में ढला हुआ व्यापार, उसे यहाँ शुद्ध(उपयोग) कहते हैं। इसलिए शुद्ध सातवें के बाद ही आता है और पहले नहीं होता ऐसा नहीं है। परंतु दूसरी जगह ऐसा कहा कि, गृहस्थ को हिताहित का ज्ञान है। 'योगसार' में नहीं आता ? 'गृहकाम करते करते हेयाहेय का ज्ञान। ' उपयोग अंदर जाता है। 'प्रवचनसार' की 'जयसेनाचार्य' की टीका में आता है कि गृहस्थ का भी सामायिक के समय में शुद्धोपयोग होता है। आहा..हा...!

वह तो पाँचवें गुणस्थान में हैं, ऐसा पक्ष रखते हैं। आहा..हा...! भगवान नित्यानंद प्रभु, उस के अवलम्बन से तो शुद्धोपयोग ही होता है। आहा..हा...! और उपयोग कदाचित राग में जाय तो भी उसे स्व अवलम्बन से प्रगट हुई शुद्ध दशा तो - शुद्ध परिणति तो होती ही है। कुछ समझ में आया...! वह शुद्धउपयोग है। उस समय ज्ञाता-ज्ञान और ज्ञेय छूट जाय और राग के उपयोग में जाय फिर भी आश्रय से जितनी पर्याय परिणति प्रगट हुई है - वह तो शुद्ध ही प्रवर्तमान है। उस समय राग चला जाता है। आहा..हा...!

इसमें कहा नहीं है ? 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी।' 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी' में आया है न ! ज्ञानी को विषयकषाय आ जाय तब (कषाय) है। कुछ समझ में आया ! है कि नहीं ? 'मोक्षमार्गप्रकाशक' है यहाँ पर ? धर्मी जब विषयकषाय में प्रवर्तमान रहता है तब कषाय है। आता है ? 'मोक्षमार्गप्रकाशक' यहाँ पास में कहीं नहीं है ? नहीं होगा। यहाँ रखते हैं। यहाँ रखते थे न ?

यहाँ तो कहते हैं कि, जब आत्मा स्वयं शुद्धउपयोग में ज्ञाता-ज्ञेय और ज्ञान तीन का भेद छूट जाता है। अब वह अंदर उपयोग में हो तो शुद्धउपयोग है। फिर जब वह उपयोग छूट जाय तब (भी) शुद्ध परिणति तो है। राग में विषयकषाय में

जाता है तब कषाय है। आहा..हा...! है न! `मोक्षमार्गप्रकाशक' में इस पृष्ठ पर है। आहा..हा...! सम्यग्दृष्टि क्षायिक समकिती हो, ९६ हजार स्त्री हैं, देखो ! भरत (चक्रवर्ती) तो हर रोज सैकडों स्त्रियों से शादी करते थे, वह अशुभभाव है। उस अशुभभाव का दुःख का वेदन है। आहा..हा...! क्यों एसा करते हैं ? ऐसे आत्मा को जाना है न ? परंतु प्रभु ! पर्याय में कमजोरी के कारण... आहा..हा...! पुरुषार्थ की हीनता को लेकर वह अशुभभाव आये बिना नहीं रहता।

आहा..हा...! जो ज्ञान मति-श्रुत रूप प्रवर्तमान है वह ज्ञान बढ़ते बढ़ते केवलज्ञानरूप होता है। अतः सम्यक्ज्ञान की अपेक्षा से तो जाति एक है। पुनश्च, सम्यग्दर्शन में वह परिणाम सविकल्प और निर्विकल्प होकर दो प्रकार से प्रवर्तमान है। वहाँ सम्यक्ज्ञानी के विषयकषाय रूप (परिणाम है) वह अशुभ और पूजा-दान आदि रूप (जो है) वह शुभ(रूप) प्रवर्तमान है, उसे सविकल्प जानना।

`रहस्यपूर्ण चिट्ठी' है। इस तरफ है, देखा ? ३०४ पृष्ठ है। दोनों ही लिये हैं। सम्यक्ज्ञानी का उपयोग विषयकषायरूप और पूजा-दान-शास्त्र आदि रूप प्रवर्तमान है उसे सविकल्परूप जानना। उसे रागरूप ही जानना। आहा..हा...! `टोडरमलजी' ने भी बहुत स्पष्ट किया है। परंतु वे गृहस्थ थे ऐसा कहकर (उनकी बात को) उड़ा देते हैं। गृहस्थ थे, किन्तु दृष्टि में फर्क कहाँ था ? आहा..हा...! वह तो स्थिरता और अस्थिरता में (चारित्र में) फर्क था।

मुनि के पूर्ण स्थिरता होती है। ऐसी स्थिरता यहाँ (चौथे गुणस्थान में) नहीं होती। आहा..हा...! भगवान के (जैसी) स्थिरता यथाख्यात की होती है, वैसी छट्ठे गुणस्थान में नहीं होती। मुनि को भी ऐसा शुभराग तो आता है। उसमें आता है न कि, अशुभ से बचने के लिए अथवा धर्म के लोलुपी आये तब धर्म का उपदेश करते हैं। ऐसा आता है न ? आहा..हा...! आचार्य धर्म को समझने के कामी, धर्म के लोलुपी ऐसे (लोग) आये तब, उपदेश (का) भी, राग (है) इसलिए कहते हैं। आहा..हा...!

उस उपदेश में विकल्प है - राग है। भले ही शुभ हो। आहा..हा...! क्या ! (शुभ-अशुभ) दोनों ही भट्ठी (हैं) - कषाय, (हैं), वे अग्नि ही हैं। व्रत और अव्रत की यहाँ बात नहीं है। वह तो व्रत कहा है। वहाँ तो शांति बढ़ी है। पाँचवें (गुणस्थान) में शांति बढ़ी है। इसलिए (एक) अपेक्षा से वहाँ शुभराग को छाया (छाँव) कहा है।

परंतु वह शांति बढ़ी है। कुछ समझ में आया ? और अशुभ से बचता है उस अपेक्षा से (कहा)। परंतु शुभराग स्वयं है - कषाय, आग (है)। कहा न? `राग दाह, दहै सदा।' ऐसा कहा है न ? वहाँ (मात्र) अशुभराग की बात नहीं की।

आहा..हा...! सूक्ष्म बातें, भाई ! कहा न ! विषयकषाय में ज्ञानी प्रवर्तन करते हैं। और पूजा-दान-शास्त्र के अभ्यास में प्रवर्तित होते हैं। वह सविकल्प अर्थात् कषायसहित उपयोग है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? यह तो शांति का मार्ग है। प्रभु ! निराग्रही वस्तु का स्वरूप जिस प्रकार है, उस प्रकार उसे जानना चाहिए। और स्वयं (आग्रह) छोड़ न सके इसलिए क्या बचाव करना ? जैसे कि शुभ को छोड़ नहीं पाता है इसलिए शुभ भी धर्म का कारण है। परंपरा कारण है। ऐसा नहीं है। परंपरा कारण तो इस अपेक्षा से कहा है कि, उस का (शुभ का) अभाव करेगा। आहा..हा...! सीधा कारण तो शुद्धोपयोग है। और (शुभ)राग हुआ है। वहाँ (पहले) अशुभ टलता है और फिर शुभ टल जायेगा तब उस की मुक्ति होगी। शुभराग का भोक्ता (है)। इस भोक्तापना से आगे (शुद्धता में जाकर) बढेगा। शुभराग के कर्तापने से आगे बढेगा। शुभराग के भोक्तापने से आगे (शुद्ध होकर) बढ़ेगा, ऐसा है भाई ! क्या करें ? कोष्टक में कहेंगे। `केवल साक्षी है।'

कोई भी शुद्धउपयोग (और) जिसे शुद्ध दृष्टि हुई है, उसके लिये यह बात है। उसे भी शुभराग है वह कषाय है - अग्नि है। आहा..हा...! भगवान (आत्मा) शांत, शांत, शांत, शांत... शांति का - अकषाय का सागर है। अकषाय का सागर (है)। शांत `उपशम रस बरसे रे, प्रभु तेरे नयन में...' आहा..हा...! उपशम (पूर्ण प्रगट हुआ है) रस जम गया है। भगवान के तो... अकषाय भाव... `उपशमरस बरसे रे, प्रभु तेरे नयन में ।'

आहा..हा...! (है) भगवान ! आपको तो उपशम रस पूर्ण प्रगट हुआ है। तो आपकी आँख में और शरीर में मानो उपशम रस (पूर्णतया) ढल गया हो, उपशम रस ढल चुका हो, ऐसे शांत(स्वरूपी) हो)। आहा..हा...! किसी चेष्टा और कुतूहल बिना का... शांत शरीर लगता है। आहा..हा...! शरीर और मुद्रा जैसे गंभीर... गंभीर। आहा..हा...! जिनपरमात्मा को उपशम रस पूर्ण प्रगट हुआ है।

नीचे (के गुणस्थान) में भी जितना उपशम रस प्रगट हुआ है, उतना मोक्ष का

मार्ग है, और जितना शुभभाव अंदर आता है उतना बंधमार्ग है। व्यवहार होता है वह जाना हुआ प्रयोजनवान है। जाना हुआ प्रयोजनवान है, किया हुआ प्रयोजनवान है, ऐसा नहीं। भोगा हुआ प्रयोजनवान है, ऐसा नहीं। भोक्तानय आता है न !

भोक्तानय से राग को भोगता है - वह प्रयोजनवान है, ऐसा नहीं। जाना हुआ प्रयोजनवान है। बराबर जानता है कि यह राग है। परंतु वह गाथा (१२) उसका अर्थ ऐसा है न ! `**ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे।**।' (पक्षवाले को ऐसा लगता है कि) देखो, इसमें ऐसा आया है...

जो अपरभाव - निर्विकल्प उपयोग में, वीतराग भाव में नहीं है वह व्यवहार का उपदेश करे। वे ऐसा कहते हैं कि इसमें उपदेश है न ? भाई ! इस का अर्थ ऐसा नहीं है कि उपदेश करना। उसकी टीका में तो देखो कि उस काल में जाना हुआ प्रयोजनवान है। उस `**व्यवहारदेसिदा**' का अर्थ उस टीकाकार ने किया है। परंतु क्या करें ? उस उस काल में राग आये और उस काल में जाना हुआ प्रयोजनवान है।

ऐसा क्यों ? कि एक समय में जो राग आया और दूसरे समय में फिर कोई मंद राग आया तो उस समय उतना जाना हुआ प्रयोजनवान है। पहले राग ज़रा तीव्र हो तो उस प्रकार से जाना हुआ प्रयोजनवान है। उस उस प्रकार से उस समय शुद्धि और अशुद्धि, उस समय में वह जाना हुआ प्रयोजनवान है। आहा..हा...! ऐसा मार्ग !

यहाँ भोक्तानय में आता है। `**आत्मा भोक्तानय से सुखदुःखादि को भोगता है, जैसे हितकारक या अहितकारक अन्न को खानेवाला रोगी सुख या दुःख को भोगता है।**' अब, ४१ अभोक्तानय से। स्वयं उसको ही अभोक्ता नय (है)। आहा..हा...! `**उभयनयविरोधध्वंसिनि**' कहा है न ! ('समयसार' श्लोक-४) निश्चय और व्यवहार (दोनों का) विरोध है। उस प्रकार इस भोक्ता और अभोक्ता का विरोध है। फिर भी एक समय में दो हो सकते हैं। आहा..हा...! अपेक्षा जाननी चाहिए। प्रसंगपर वस्तु की स्थिति जैसी हो वैसी जाननी चाहिए।

`**आत्मद्रव्य अभोक्तृनय से केवल साक्षी ही है,...**' ऐसा, देखा ! केवल राग का, कर्तृत्व का (तथा) राग का भोक्ता है। उस समय उसका साक्षी है। उसी समय,

हाँ ! ऐसा वहाँ क्या होगा?! आहा..हा...!

यह मार्ग प्रभु का बहुत सूक्ष्म, बापू ! सूक्ष्म है। आहा..हा...! एक-एक समय का कर्ता है और भोक्ता और वेदन की दशा भी उसमें है। उसको जानता है। आहा..हा...! यहाँ तो समय समय का नाप लिया है। प्रमाण है न ! श्रुतज्ञान प्रमाण है न ! तो प्रमाण में नाप आया है। प्रमाण(ज्ञान) में ऐसा होता है, इस प्रकार नाप आया है। आहा..हा...!

प्रमाण में द्रव्य का भी नाप आया, उसमें गुण का भी नाप आया, अविकारी पर्याय का भी नाप आया, विकारी पर्याय का भी नाप आया। इस प्रकार प्रमाण में प्रमेय का नाप आ गया है। आहा..हा...! ऐसी बातें। अभोक्तानय से फिर केवल साक्षी ही (है), हाँ ! आहा..हा...! फिर भोक्ता है और फिर साक्षी है। दोनों ही बात सच्ची है। पुनश्च `ही' रखा है। केवल साक्षी `ही' है। आहा..हा...! है न ! `**अभोक्तृनयेन हिताहितान्न...**' है ऐसा ? टीका में केवल साक्षी लेना है।

`**केवलमेव साक्षि**' ऐसा लेना है। संस्कृत (में है)। केवल साक्षी (है)। एक तरफ से विषय का वेदन करता है और दूसरी तरफ केवल साक्षी है। आहा..हा...! फिर `नियमसार' में कहा है कि हे नाथ ! तेरे नय तो इन्द्रजाल सरीखे हैं। है न ! `नियमसार' में है। इन्द्रजाल में जैसे रूपों को धारण करे, लाखों करोड़ों रूप और ज़रा सी देर में फिर समेट ले। आहा..हा...!

हे नाथ ! तेरे नय का वर्णन इन्द्रजाल सरीखा है। आहा..हा...! उन्हें भी ज्ञानी जानता है। आहा..हा...! वह राग का वेदन है और कर्तापना भी उसे है। (वह) कर्तानय से जानता है। और राग का अकर्तापना और भोक्तापना - केवल उसका साक्षी ही है। आहा..हा...! साक्षीरूप में भी रहना और कर्ता एवं भोक्तारूप भी होना। आहा..हा...! है ! ऐसा मार्ग है, भाई !

जैनशासन... बापू ! वीतराग... वीतराग... वीतराग। तीनकाल में (अन्य) किसी जगह नहीं मिलता। ऐसा यह मार्ग है। जैन परमेश्वर के अलावा (कहीं भी नहीं है)। इसने समय समय का नाप लिया है। आहा..हा...! त्रिकाल का - द्रव्य का नाप तो लिया; गुण का नाप भी लिया। प्रमाण माने नाप। परंतु समय समय की पर्याय, राग करे और न करे, भोगे और न भोगे। आहा..हा...!

सूक्ष्म पड़ता है न... फिर कहे, व्रत करो और तपस्या करो। आहा..हा...! अरे ! प्रभु ! हमने उपवास किया है न ! हमने आठ (उपवास) किये हैं न ! इसने महिने के किये हैं। इस बहिन ने युवान अवस्था में... (ऐसे व्रत किये)... और नौ साल की बच्ची ने अट्ठाई करी। ऐसा लेखों में बहुत आता है। श्वेतांबर में ऐसा आता है। उपधान (उपधानव्रत) का आता है। पाँच सौ लोग उपधान में बैठे थे। पाँच लाख का खर्च हुआ था। यात्रा निकली थी। हो चुका (सब)।

उसमें (यात्रा में) पन्द्रह पन्द्रह हजार लोग थे। दो हाथी आये थे। एक कुत्ता साथ में था। और कुत्ता भी साथ साथ चलता था। मतलब पूर्व के संस्कार (थे)। अरे मूढ ! अरे प्रभु ! क्या करें ? भाई ! जिसके पास वस्तु स्वभाव (नहीं है), त्रिकाली की जहाँ दृष्टि नहीं हुई है, उसके व्यवहार - राग आदि की मंदता को - व्यवहार भी नहीं कहा जाता। आहा..हा...!

जिसे निश्चय प्रज्ञा ब्रह्मस्वरूप भगवान अनुभव में आया है, उसकी साधक दशा में शुभाशुभ भाव आते हैं, उस शुभ को व्यवहाररूप (तो) गिना है, वह आदरणीय नहीं है। परंतु जानने लायक है। आहा..हा...! है ? इस प्रकार जानने लायक है जैसे निमित्त है वैसे। आहा..हा...!

यह यहाँ पर है, है ? वह (परमाणु) इसके आधार से नहीं है। आहा..हा...! वहाँ परमाणु परमाणु में (है), भगवान। अधिकरण उसका स्वभाव है, वह परमाणु अपने आधार से रहा है। उसमें वह निमित्त है। परंतु निमित्त का आधार है, ऐसा नहीं। आहा..हा...! कठिन काम ! चश्मा ने यह नाक की डंडी के कारण टिका है ? (तो कहते हैं) नहीं। (चश्मा उसे) छुआ तक नहीं है। चश्मा नाक को छुआ भी नहीं है।

आहा..हा...! प्रभु ! तुझे क्या कहना है ? प्रत्येक द्रव्य की पर्याय उस समय षट्कारकरूप अपने आप से परिणमन करती है। आहा..हा...! उस पर्याय की कर्ता पर्याय (स्वयं)। पर्याय का करण-साधन पर्याय (स्वयं), पर्याय का कार्य पर्याय (स्वयं), पर्याय का संप्रदान पर्याय (स्वयं), स्वयं रखे अपने से, पर्याय से पर्याय होती है। और पर्याय के आधार से पर्याय रहती है। आहा..हा...!

समवसरण स्तुति में कहा नहीं है ? भाई ! जैसे आत्मद्रव्य निरालम्बन (है)...

आहा..हा...! उस प्रकार भगवान राग एवं कर्म के आधार से रहे ही नहीं हैं। जैसा निरालम्बन आत्मद्रव्य, वैसी निरालम्बन भगवान की काया। (इस प्रकार) अंतरिक्ष है। इस प्रकार वह सिंहासन होता है और उसमें होता है कमल, परंतु रहे अधर में, कमल को स्पर्श नहीं करता। तो फिर सिंहासन व कमल किस मतलब के ? भगवान (तो) अंतरिक्ष (में) हैं।

यह अंतरिक्ष तीर्थ है न ? वास्तव में तो दिगंबरों का तीर्थक्षेत्र ही है। विवाद करते हैं लोग, क्या करें ? अरे ! कोई देव नहीं आते (आजकल)। कोई ऐसे पुरुष नहीं कि कोई देव आकर (रक्षा करे)।

भगवान (ऋषभदेव) समय में ऐसे देव आते थे। चार हजार राजाओं ने दीक्षा ली और फिर पालन नहीं कर पाये। भगवान तो छह - छह महीनों तक आहार के बिना रहे। (राजाओं ने) साथ साथ दीक्षा तो ले ली, परंतु पालन नहीं कर पाये। फिर हरी पत्तियाँ खाने लगे, फल-फूल खाने लगे। जंगल में देव आकर कहते हैं (कि) इस वेष में ऐसा कुछ नहीं किया जा सकता है। (हम) दंड देंगे। तुम इस नग्न मुनि के वेष में यह अमरुद या फल खाओ, यह नहीं चलेगा। वेष बदल लो। आहा..हा...! कहो ! कैसा काल था, देखो तो सही ! आहा..हा...! आजकल तो क्या अंधाधुंधी चल रही है। कोई देव नहीं आते, कोई (ऐसा) पुण्य नहीं होता। अपना देव है। आत्मा स्वयं स्वयं का ही देव है। आहा..हा...! उसे किसी परदेव की जरूरत नहीं है। आहा..हा...!

दुनिया चाहे जैसे करे। कैलाशचंदजी ने लिखा है। तुम इन लोगों को दिगंबर से बाहर करोगे, तो वे दिगंबर के (जो) मंदिर हैं वे श्वेतांबर के हो जायेंगे। उन्होंने दिगंबर मंदिर बनवाये हैं वे श्वेतांबर होंगे। उनकी (भगवान की) आँख में कुछ नहीं है, तो आँख डाल देंगे। इसका तुम क्या करोगे ? क्यों ? आहा..हा...! वह तो उसके लायक हो सो करे, उसमें क्या है ? आहा..हा...! सनातन दिगंबर यह है। उसे कोई आँच आ जाय ऐसा नहीं है। आहा..हा...!

'**आत्मद्रव्य अभोक्तृनय से केवल साक्षी ही है,...**' हितकारी भी परंतु एकान्त नहीं होता न! भगवान के मार्ग में ही नहीं होता, ऐसा आता है। क्षुल्लक में आता है। क्षुल्लक का पत्र आया है परंतु वह तो किस अपेक्षा से ? कि आत्मा नित्य ही है

कि आत्मा अनित्य ही है। आत्मा द्रव्य से शुद्ध है। उस प्रकार अनादि से पर्याय भी शुद्ध ही है। ऐसा एकान्त नहीं है। यह तो एकान्त है। आहा..हा...! परंतु अभोक्ता में तो साथ में रखकर दूसरी तरफ अभोक्ता है। आहा..हा...! उसमें भोक्ता में `ही' नहीं डाला था। (कि भोक्ता `ही' है)।

`**आत्मद्रव्य अभोक्तृनय से केवल साक्षी ही है,...**' ऐसा आया वहाँ `ही' का प्रयोग किया है। आहा..हा...! `**हितकारी - अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगों को देखनेवाले वैद्य की भाँति**' रोगी को देखनेवाला (है)। वह खानेवाला रोगी था। उसकी भाँति भोक्ता था। और यह तो रोगी को देखनेवाले वैद्य की भाँति। आहा..हा...! वैद्य तो रोगी को देखता है। ऐसा होता है और वैसा होता है।

वैद्य (भी) साथ में दवाई पीता है ? वह तो साक्षी है। क्या `अमृतचंद्राचार्य' (ने बात की है)!! अमृत के (झरने) लाये हैं। आहा..हा...! छद्मस्थ (थे), हजार वर्ष पूर्व (हुए)। प्रभु के विरह के पन्द्रहसौ वर्षों के बाद, आहा..हा...! भगवान परमात्मा का विरह पड़ने के बाद पन्द्रहसौं वर्ष पश्चात् `अमृतचंद्राचार्य' हुए। आहा..हा...! भगवान `कुंदकुंदाचार्य' तो दो हजार वर्ष पूर्व (हुए)। उन्होंने भी उनके (भगवान के) हृदय को पहचान लिया। आहा..हा...! भगवान का जो केवलज्ञान उसे पहचान लिया कि भगवान ऐसा कहना चाहते हैं, भाई...!

एक यह नय है और इन नयों का समुदाय श्रुतप्रमाण और श्रुतप्रमाण में कर्ता और अकर्ता, भोक्ता और अभोक्ता दोनों का ज्ञान है, उसमें - श्रुतप्रमाण में सभी नयों का ज्ञान है। आहा..हा...! है न !

`**आत्मद्रव्य अभोक्तृनय से केवल साक्षी ही है,...**' भोक्ता नहीं है। इस प्रकार सुखदुःख को भोगनेवाले रोगी को देखनेवाला जो वैद्य है वह तो केवल साक्षी ही है, उस प्रकार। आहा..हा...! एक तरफ भोक्ता है और एक तरफ साक्षी है। वही का वही जीव और उसी के उसी समय में। आहा..हा...! ऐसा उसका स्वरूप सूक्ष्म है। विशेष कहेंगे...

आत्मद्रव्य क्रियानय से अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि सधे ऐसा है, खम्भे से सिर फूट जाने पर दृष्टि उत्पन्न होकर जिसे निधान प्राप्त हो जाय ऐसे अंध की भाँति। (क्रियानय से आत्मा अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि हो ऐसा है; जैसे किसी अंधपुरुष को पत्थर के खम्भे के साथ सिर फोड़ने से सिर के रक्त का विकार दूर होने से आँखें खुल जायें और निधान प्राप्त हो, उस प्रकार ।) ४२।

आत्मद्रव्य ज्ञाननय से विवेक की प्रधानता से सिद्धि सधे ऐसा है; मुट्ठीभर चने देकर चिंतामणि-रत्न खरीदनेवाले घर के कोने में बैठे हुए व्यापारी की भाँति। (ज्ञाननय से आत्मा को विवेक की प्रधानता से सिद्धि होती है जैसे घर के कोने में बैठा हुआ व्यापारी मुट्ठीभर चना देकर चिंतामणि-रत्न खरीद लेता है, उस प्रकार।) ४३।

प्रवचन : दि. ७-१-१९७८

'प्रवचनसार', नय अधिकार। पहले कहा जा चुका है कि आत्मद्रव्य अनंत धर्मों का आधार-स्वामी वह आत्मद्रव्य है। यह अधिकार आत्मा कैसा है, उसका चलता है। कैसे प्राप्त होता है यह तो बाद में आयेगा। संक्षिप्त में कहा है। क्या कहा वह ? कि शिष्य का प्रश्न था कि, आत्मा कैसा है ? और कैसे प्राप्त होता है ? संक्षिप्त में कहा था कि, आत्मा अनंत गुण व पर्याय का आधिष्ठाता-स्वामी है। और उन अनंत नयों का एक समूहरूप श्रुतज्ञानप्रमाण उससे प्रमेय होता है।

यहाँ तो अभी श्रुतप्रमाण के नयों के भेदों का वर्णन है। बाद में कैसे प्राप्त

हो, उसकी बात बाद में आयेगी। इसके पश्चात् कहेंगे। यहाँ तो अभी नय का वर्णन करते हैं। ४२ वाँ (नय) आया है। (कैसे प्राप्त हो यह बात) बाद में है। यह अधिकार हुआ न ! है ? अंदर बाद के पृष्ठ पर है। ५३२(पृष्ठ पर)। `**इस प्रकार आत्मद्रव्य कहा गया। अब उसकी प्राप्ति का प्रकार कहा जाता है:-**' यह बाद में आयेगा।

यहाँ तो अभी नय का स्वरूप कहकर एक-एक नय से एक-एक धर्म को जाने इतनी बात करके फिर पूरे श्रुतप्रमाण द्वारा आत्मा को जानता है ऐसा कहेंगे। परंतु ऐसा आत्मा एक-एक नय से जानता है, ऐसा अनंत धर्मवाला है, ऐसा यहाँ सिद्ध कर रहे हैं। कुछ समझ में आया !

यहाँ तो अभी आत्मा वस्तु है। वह कैसी (वस्तु) है ? उसका वर्णन अभी चल रहा है। वह कैसा है ? उसका वर्णन चलता है। उसमें अनंत धर्म हैं। गुण एवं पर्याय (है)। उसका वह स्वामी है। तो उन गुण-पर्याय (को) अनंत नय (जानते हैं)। नय क्या है ? तो उसकी व्याख्या चल रही है। कुछ समझ में आया ? फिर उन्हें पूरा करके पढ़ना पड़ेगा। ४७ नय पूरे करके (ऐसे के ऐसे) (पढ़ने पड़ेंगे)। नहीं चलेगा। बाद में इसके साथ थोड़ा संबंध है। इसलिए यहाँ तो सिर्फ आत्मद्रव्य में एक समय में ऐसे धर्म की ऐसी योग्यता है। इसलिए उसका वर्णन करते हैं। कुछ समझ में आया ? भाई ! यह वर्णन है (किस विधि से प्राप्त हो वह विधि) बाद में आती है।

आत्मद्रव्य ऐसा है कि उसमें एक एक नय से एक एक धर्म अर्थात् धर्म शब्द से गुण एवं निर्विकारी पर्याय और अविकारी पर्याय एक एक नय से जानी जा सकती है। और ऐसे अनंत धर्म आत्मद्रव्य में हैं। इतनी यहाँ योग्यता बता रहे हैं। यह कारण है। आत्मद्रव्य अर्थात् अनंतनयों का विषय ऐसे जो धर्म, उनका - धर्म का धारक वह आत्मद्रव्य। आहा..हा...! उसमें एक नय (क्रियानय) ऐसा है। एक नय (है)। वह भी सभी नय एक साथ हैं, इसलिए कोई उसमें भड़क उठे कि इसमें देखो ! क्रियानय से भी धर्म है कि किसी को क्रिया से भी धर्म होता है, ऐसा यहाँ नहीं कहना है।

उस क्रिया(नय) में उसे एक योग्यता समझकर राग की मंदता के भाव की क्रिया (जो है) ऐसा एक आत्मा में योग्यता का धर्म माना। पुनःश्च उसी समय ज्ञानमय

भी है। यह तो पहले आ चुका न ? कि जिस काल में मुक्ति होवे, उस काल में ही मुक्ति है। परंतु उसीके उसी समय में भी अकाल में मुक्ति है। इस प्रकार अकाल में सिद्धि भी है, वह भी उसी समय में है। ऐसा उसे मुख्य धर्म है। परंतु उसी समय में अकाल माने स्वभाव-पुरुषार्थ-भवितव्यता और काललब्धि यह सब एक समय में ही है। ऐसा साथ में ही है। काल में मोक्ष जाय और फिर अकाल में आगे-पीछे भी जाय ऐसा वहाँ सिद्ध नहीं करना है। कुछ समझ में आया ? ऐसी सब बातें की हैं।

इसलिए यहाँ कहते हैं कि, `**आत्मद्रव्य क्रियानय से...**' क्रियानय माने राग की मंदता के व्यवहार धर्म द्वारा `**अनुष्ठान की प्रधानता से...**' (सिद्धि सधे ऐसा है)। अनुष्ठान-आचरण उसकी मुख्यता से। ज्ञाननय की मुख्यता से फिर कहेंगे। वह भी मुख्यता है और यह भी मुख्यता है। परंतु वह (एक) समय में है। आहा..हा...!

`**आत्मद्रव्य क्रियानय से अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि सधे ऐसा है,...**' एक ऐसी योग्यता मानी है। वह भी उस समय में। ज्ञाननय से - विवेक से भी उस समय में मुक्ति है (मुक्ति) सधती है। और उसी समय में ही है। यह बाद में आयेगा। कर्मकांड से ज्ञानकांड होता है। फिर उस में आखिर में बाद में आयेगा। उसका अर्थ ही (यह है कि) कर्मकांड राग की मंदता है। वहाँ भी एक योग्यता मानी। और उसी समय में भी ज्ञाननय से ही मुक्ति है। वह भी उसी समय में ही है। आहा..हा...!

किसीको क्रियानय के अनुष्ठान से मुक्ति होती है और किसीको ज्ञाननय की प्रधानता से मुक्ति होती है। इस प्रकार जीवद्रव्य (में) भेद भी नहीं है। और उसी जीव को भी किसी समय क्रियानय से मुक्ति हो और किसी समय ज्ञाननय से (मुक्ति हो) ऐसा भी नहीं है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? ऐसा मार्ग सूक्ष्म बहुत ! आहा..हा...! क्रियानय से अनुष्ठान की प्रधानता से, आचरण की प्रधानता से सिद्धि सधे ऐसा है।

दृष्टांत दे रहे हैं। `**खम्भे से सिर फूट जाने पर दृष्टि उत्पन्न होकर जिसे निधान प्राप्त हो जाय ऐसे अंध की भाँति।**' दृष्टि में यहाँ पर जो कुछ आचरण था, उसमें सिर खम्भे से टकराया। (और) अंदर से विकार निकल गया। आँख की

रोशनी खुल गई। उसमें यह दृष्टांत दिया है। `**खम्भे से सिर फूट जाने पर दृष्टि उत्पन्न होकर जिसे निधान प्राप्त हो जाय ऐसे अंध की भाँति**'। आहा..हा...! आँख से देख नहीं सकता था परंतु ऐसे ही ऐसे करने में सिर फूट गया। और आँख खुली तो वहाँ नीचे निधान देखा। यह तो दृष्टांत दिया है, हाँ ! ऐसे अंध की भाँति। (आदमी) अंधा है, आँख में खून का विकार था। इसलिए देखता नहीं था। परंतु उसमें सिर खम्भे के साथ टकराया तो विकार निकल गया। आँख खुली (तो वहाँ) नीचे निधान देखा।

इसमें व्यक्ति अटक जाता है। परंतु यह तो उसकी एक योग्यता मानी है। उससे हो ऐसी एक योग्यता और ज्ञाननय से बाद में कहेंगे।

मुट्ठीभर चने देकर रतन ले जाय, हीरे (ले जाय), यह बाद में कहेंगे। बाद में ज्ञाननय है न ? व्यापारी ऐसे होते हैं। ऐसा ज्ञाननय से कहेंगे कि, अंतर विवेक से राग से भिन्न करके सिर्फ ज्ञाननय से मुक्ति होगी। उस प्रकार ज्ञाननय से अंदर एक क्षण में राग से भिन्न कर के क्षणभर में मुक्ति ले लेवे। ऐसा भी एक योग्यता का धर्म है। कुछ समझ में आया ! परंतु उसके साथ एक ऐसा भी योग्यता का धर्म है। उसके साथ में है।

(किसी को) क्रियानय से मुक्ति हो और किसी को ज्ञाननय से होती है। अथवा उसे कभी ज्ञान से मुक्ति होती है और किसी समय क्रिया से (मुक्ति होती है) ऐसा नहीं है। आहा..हा...! ऐसी एक योग्यता गिनी कि क्रियानय से, अनुष्ठान माने आचरण की मुख्यता से उसकी सिद्धि सधे ऐसा है। कौन ? आत्मद्रव्य। आहा..हा...!

`**खम्भे से सिर फूट जाने पर दृष्टि उत्पन्न होकर जिसे निधान प्राप्त हो जाय ऐसे अंध की भाँति।**' अंधे को निधान मिल गया। आहा..हा...! उस प्रकार क्रियानय से मुक्ति मिल गई। क्या हुआ अब तक ? कि इन्कार किया। व्यवहार से निश्चय होता नहीं है... यह वही (बात) है। बात तो वही की वही है। परंतु उसकी एक योग्यता मानकर एक नय गिना गया परंतु एक नय से। यह तो अनंत नय से कहते हैं। आता है न ? बाद में आता है।

देखो ! `**आत्मा प्रचंड कर्मकांड द्वारा अखंड ज्ञानकांड को प्रचंड करने से अनादि-पौद्गलिक...**' है ? चौथी पंक्ति है। `**परंतु अब जब यही आत्मा प्रचंड कर्मकांड द्वारा...**'

देखा? कर्मकांड माने यह क्रिया। राग की मंदता के आचरण की क्रिया, उसे कर्मकांड कहा है। `**कर्मकांड द्वारा अखंड ज्ञानकांड को प्रचंड करने से...**' आहा..हा...! देखो ! ज्ञानप्रधान कथन है न ! कुछ समझ में आया ?

यह शब्द `धर्मदास' क्षुल्लक ने `सम्यक्ज्ञानदीपिका' में नहीं रखा है, भाई ! यह नयों का वर्णन किया है। परंतु यह नहीं रखा है। उसमें अन्य सब शब्द रखे हैं। ताकि कोई भ्रमणा में न उलझ जाय। इसलिए (नहीं रखा)। एक राग उनके साथ ज़रा रहता है, इसलिए `धर्मदास' क्षुल्लकजी है न ! कर्मकांड द्वारा अखंड ज्ञानकांड (यह शब्द) निकाल दिया है। (`सम्यक्ज्ञानदीपिका' में) कोई भ्रमणा में न चला जाय (इसलिए)। यह तो अपेक्षा से कथन है।

क्रिया के अनुष्ठान से (अर्थात्) एक नय से ऐसा भी कहा जा सकता है कि व्यवहार से निश्चय हुआ। `जयसेनाचार्य' की टीका में देखो तो सब बाह्य। ऐसा आता है। मालूम है न सब। परंतु वहाँ इस नय की अपेक्षा से (बात) है, `जयसेनाचार्य' की टीका में व्यवहार से निश्चय हो, व्यवहार से (निश्चय) उत्पन्न होता है, ऐसा पाठ आता है। वह इस अपेक्षा से। एक नय का हिस्सा मानकर कहा है। पूरा स्वरूप उससे प्राप्त हो, ऐसा नहीं। आहा..हा...!

शास्त्र के अर्थ करने में आपत्ति आती है। उसमें आपत्ति क्यों उठाते हैं ? आहा..हा...! तेरी चीज है। वह पवित्र शुद्ध भगवान अंदर है। अलिंगग्रहण के छट्ठे बोल में तो ऐसा कहा कि, आत्मा स्वभाव से प्राप्त हो, ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञाता है। यह शब्द आत्मा, अपना आनंद और ज्ञान और शांति(वाला) स्वभाव, उसकी परिणति से प्राप्त होता है। राग की परिणति से, अनुष्ठान से वह प्राप्त नहीं होता। आहा..हा...! यहाँ कहते हैं प्राप्त होता है। किस अपेक्षा से ? सब ध्यान रखना चाहिए न ? कि चारों ओर से पहलू क्या है ? वहाँ अलिंगग्रहण (में) तो ऐसा कहा है। लो ! भगवान आत्मा इन्द्रिय से ज्ञात नहीं होता। इन्द्रिय द्वारा जानता नहीं है। इन्द्रिय से प्रत्यक्ष का विषय नहीं है।

प्रभु ! आहा..हा...! दूसरों द्वारा अनुमान से ज्ञात नहीं होता। उसी तरह वह सिर्फ अनुमान से जाननेवाला भी नहीं है। ऐसा कहकर फिर छट्ठे बोल में लिया। आत्मा कैसे ज्ञात होता है ? कि स्वभाव, अपना स्वभाव शुद्ध चैतन्य, रागादि नहीं,

शुद्ध चैतन्य के स्वभाव द्वारा, प्रत्यक्ष ज्ञाता है। आहा..हा...! एक जगह कौनसी अपेक्षा? दूसरी जगह कौनसी अपेक्षा ? (यह सब) समझे नहीं तो ये झगड़े खड़े हो जाते हैं। आहा..हा...! उन्हीं 'अमृतचंद्राचार्य' की टीका है। १७२ गाथा की टीका है। उसमें आ चुका है, देखो !

'प्रवचनसार'। देखो ! है ? '**लिंग द्वारा नहीं, परंतु स्वभाव द्वारा...**' छठा बोल है। है ? '**लिंग द्वारा नहीं परंतु स्वभाव द्वारा जिसे ग्रहण होता है। वह अलिंगग्रहण है। इस प्रकार आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है।**' अपने यहाँ अभी अलिंगग्रहण में आ चुका है। वह स्वयं स्वभाव द्वारा प्राप्त होता है। 'अमृतचंद्राचार्य' कहते हैं (कि) भगवान चैतन्यस्वरूप शुद्ध... शुद्ध... शुद्ध... शुद्ध... वह शुद्ध की धारा - परिणति द्वारा प्राप्त होता है। अब यहाँ ऐसा कहते हैं। कुछ समझ में आया ?

यहाँ फिर दूसरे नय में कहेंगे। वह तो ज्ञाननय से प्राप्त होता है, ऐसी योग्यता कही गई है। और वह एक समय में सारी (योग्यता) मानी गई है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

'**खम्भे से सिर फूट जाने पर दृष्टि उत्पन्न होकर जिसे निधान प्राप्त हो जाय ऐसे अंध की भाँति।**' क्रियानय से आत्मा अनुष्ठान की मुख्यता से सिद्ध हो ऐसा है। ऐसी एक योग्यता है। जैसे किसी अंध पुरुष को पथ्थर के खंभे के साथ, सिर फूटने पर सिरमें से खून का विकार दूर होने के कारण आँख खुल जाय और निधान प्राप्त हो, वैसे। ऐसा एक धर्म माना है। धर्म उस के द्वारा होता है, ऐसा नहीं। ऐसा एक धारण किया हुआ भाव आत्मा में है। आत्मा ऐसे एक भाव का धारक है। आहा..हा...! अब ऐसी बातें हैं।

अब, यहाँ देखो न, आपत्ति उठते हैं न ? कहते हैं कि शुभयोग मोक्ष का मार्ग है। तब (और लोग) कहते हैं कि उसे जो उपादेय माने वह मिथ्यादृष्टि (है)। (शुभराग को) हेय कहा है। 'कुन्दकुन्दाचार्य' ने तो हेय कहा है। तो वे मिथ्यादृष्टि है क्या? ऐसी बातें खडी हुई। सोनगढ में ऐसा चला। फिर सब जगह चला। अन्यथा ये सब (ऐसे ही) पड़ा था। और बहुत सारे लोग ऐसा कहते हैं। हम तो पंडित लोग कहे ऐसा मानते हैं। और क्या करें ? भाई ! मार्ग पूर्वापर विरोधरहित होता है। कहीं भी विरोध आये वह वीतराग का मार्ग नहीं।

यहाँ सराग संयम को हेय कह रहे हैं। और अनुष्ठान से उसे मुक्ति बताते हैं। न्याय से समझना चाहिए न ? यह तो उसमें एक योग्यता मानी। बस ! उसी समय पर ही ज्ञान और उसी समय पर, वीतरागभाव से मुक्ति होती है। फिर भी उसे एक इस अनुष्ठान भाव की योग्यता का एक धर्म इस प्रकार का माना। धर्म माने भाव। ऐसी योग्यता का भाव माना। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

आखिर में कर्मकांड द्वारा ज्ञानकांड लिया। यहाँ शुभभाव हेय है। ऐसा कहा। यहाँ अनुष्छठान से मुक्ति होती है, ऐसा कहा। आहा..हा...! उसे जानना चाहिए न ? बापू ! आहा..हा...! यह तो खयाल में आ जाता है इसलिए आगे-पीछे (का) पूरा आधार (दे देते हैं)। यह तो सब एक दूसरे का (सभी प्रकार के शास्त्रों का) देखा हुआ है न ! चारों पहलुओं से देखे बिना कोई (यूँ ही) नहीं मान लिया है।

एक तरफ ऐसा कहे कि, जो शुभराग अनुष्ठान है, वह ज़हर का घड़ा है। 'समयसार' का मोक्ष अधिकार है। विषकुंभ (उसमें कहा है)। आहा..हा...! क्योंकि राग है। भगवान आत्मा तो अमृतस्वरूप है। अतीन्द्रिय आनंद के अमृतस्वरूप का पूंज प्रभु है। उसकी पर्याय में जो राग होता है, वह अमृतस्वरूप से विरुद्ध ज़हर है। आहा..हा...!

और दूसरी जगह कहते हैं कि, ज़हर से मुक्ति होती है। वह तो उस की (योग्यता मानी)। ये सारे बोल आ चुके हैं। यहाँ तो नया कुछ (नहीं है)। यहाँ तो बहुत वर्ष बीत गये हैं। बहुत (लम्बे) समय से कितनी-कितनी बार चारों ओर से सब मिलान किया हुआ है। यहाँ तो दूसरा धंधा ही कहाँ है ? क्या कहा ! (प्रश्न :- हमारे लिए नया है) नया। हाँ ! सच्ची बात (है)। आहा..हा...! वहाँ हेय कहा। वहाँ ज़हर कहा। वहाँ कर्मकांड से ज्ञानकांड कहा। यहाँ अनुष्ठान से मुक्ति कही। सब कुछ खयाल में तो (है)।

उसका अर्थ यह कि, एक योग्यता का धर्म मानकर अनंत धर्म में एक योग्यता मानी। ऐसी (बात) !! आहा..हा...! कहो, इसमें समझ में आ रहा है कि नहीं ? (बनियों को) हिसाब में (नामा में) तो जल्दी समझ में आ जाता है। बहुत सालों से निवृत्ति, निवृत्ति में सब लोगों ने बहुत कुछ सुना होगा। आहा..हा...! यहाँ कहते हैं कि ऐसी एक योग्यता मानी। यह ४२ वाँ नय हुआ।

(अब) ४३ (वाँ)। जिस समय पर यह (क्रिया)नय है उसी समय पर यह (ज्ञान)नय

है। इस का मतलब किसी को अनुष्ठान से मुक्ति होती है और किसी को विवेक से मुक्ति होती है इस तरह से दो प्रकार से भिन्न भिन्न नहीं है। एक ही समय में दो (धर्म) नय (हैं)। विवेक और अनुष्ठान। ऐसी एक समय में दो की योग्यता मानी गई हैं। आहा..हा...! यहाँ तो एकसाथ अनंत नय का समुदाय श्रुतप्रमाण (में) है। आहा..हा...! और श्रुतप्रमाण से पूरा द्रव्य प्रमेय होता है। पूरा द्रव्य माने द्रव्य-गुण और पर्याय, इसके द्वारा प्रमेय होता है। अकेले नय से तो एक ही धर्म की योग्यता प्रमेय (होती) है। आहा..हा...!

अरे ! झगड़े... झगड़े... झगड़े... मुश्किल से समय मिला। छोटी-छोटी उम्र के देखो न (चले जाते हैं)। सुनते हैं (हम)। आहा..हा...! यूँ जरा-सी देर में देह छूट जाता है। दर्द हुआ और यूँ चले गये। अरेरे !! उसे मनुष्यपना कब मिलेगा ? और ऐसे साधारण आदमी होवे तो बेचारे ममता में (ही) मरकर पशु हो जाते हैं। धर्म तो (उन के पास) होता नहीं है। पुण्य भी ऐसा होता नहीं है कि भाई, दो-चार घंटे हर रोज संत समागम करना, सत्शास्त्र सुनना, पढ़ना, तो पुण्य हो तो मनुष्य और देव भी होता है। परंतु ये तो अभी मुश्किल से बड़े (जवान) हुए हो, वहाँ उन बेचारों के पास तो कुछ नहीं होता। आहा..हा...!

वे बीस - बीस साल के, पच्चीस - पच्चीस साल की औरतें और बहुत से आदमी, अकस्मात (अचानक) मर जाते हैं। आहा..हा...! अरेरे...! क्या करें ? बहुत से ऐसे जीव तो पशु की योनि में अवतार लेते हैं। आहा..हा...! मनुष्य का अवतार मिले, तब फिर ऐसा समझने की जरूरत लगती नहीं है।

आहा..हा...! शास्त्र तो ऐसा कहते हैं कि तत्त्व का, वास्तविक तत्त्व का विराधक हो तो, निगोद में जाता है। आहा..हा...! ऐसा कहा न ? देखा न ! साधु। वस्त्र का एक तिनके के छिलके के बराबर कपड़ा रख लेवें और (अपने को) साधु माने, तो निगोद में जाता है। आहा...हा...! क्योंकि उसने तत्त्व की विराधना की। मिथ्यादृष्टि, नौ तत्त्व की विराधना करी। क्योंकि जहाँ वस्त्र का टुकडा (है) (वहाँ मुनिपना नहीं है)।

यहाँ तो फिर आया है, आजकल के साधु, साथ में मोटर रखते हैं, माल रखते हैं, बहुत (बाहर) आया है। (सच्चे मुनि) वस्त्र का टुकड़ा नहीं रखते और ये (तो)

सब कुछ साथ में रखते हैं, पुस्तकों के लिए पैसे लेते हैं, उनको सम्हालना - करना, और लिखना।

पहले के सब मुनि तो जंगल में थे न ? वहाँ ताड़पत्र मिल जाते थे। अंकलेश्वर के पास में आज (भी) बहुत सारे ताड़पत्र हैं। उस जंगल में रहते थे। (और) ताड़पत्र वहाँ मिल जाते थे और लकड़ी की साधारण कलम भी वहाँ मिल जाती थी। बेरिया के काँटे बहुत महीन होते हैं। छेद करे। स्याही वहाँ कहाँ थी ? संतों की दशा तो देखो !! उन्हें विकल्प आया कि शास्त्ररचना करूँ। मेरा मन तो वहीं का वहीं रहता है। ऐसा लिखा है न ! 'पद्मप्रभमलधारीदेव', 'नियमसार' में (कहते हैं)... मेरा मन आजकल शास्त्र की स्पष्टता करने में बार-बार बह जाता है - छलक जाता है, इसलिए करता हूँ। आहा..हा...! उस ताड़पत्र में छेद करके और फिर २५-५० पत्र लिख जाय तो वहाँ रख दे। रखकर (चले) जायें। फिर वे साथ में तो नहीं रख ले जायें। आहा..हा...!

गृहस्थों को मालूम रहता है (था) कि संतों ने यहाँ लिखना शुरू किया है। तो वहाँ जाकर ले आये। और फिर इकट्ठे करके शास्त्र बना लेवें। आहा..हा...! जिसने लिखा (उसे) पत्र की भी दरकार नहीं है। आहा..हा...! ऐसी जिन की दशा आनंद में रहती है। आहा..हा...! बाहर में उन्हें विकल्प आता है, तो दुःख लगता है। अरे ! हम अपनी (आनंद की) दशामें से कहाँ (बाहर) निकल आये ? आहा..हा...!

'नियमसार' में तो ऐसा कहा है, अरे ! हमारा विषय, मुनि का विषय तो आनंद का अनुभव करना, यह है। आहा..हा...! लिखना - करना यह हमारा विषय नहीं है। आहा..हा...! (यह तो) शब्द की रचना है। भाई ! आहा..हा...! है... पीछे देखो, आखिर में पृष्ठ ५३४ पर। '**वास्तव में पुद्गल ही स्वयं शब्दरूप परिणमित होते हैं, आत्मा उन्हें परिणमन करा नहीं सकता है,...**' आह..हा...! उन शब्दो को आत्मा कर नहीं सकता। आहा..हा...! '**तथा वास्तव में सर्व पदार्थ ही स्वयं ज्ञेयरूप-प्रमेयरूप परिणमित होते हैं,...**' आहा..हा...!

कहते हैं कि जो जो जीव हैं वे ज्ञेयरूप परिणमित होते हैं। वे कोई शब्द उन्हें ज्ञेयरूप परिणमन कराते हैं ऐसा नहीं है। आहा..हा...! '**शब्द उन्हें ज्ञेय बना - समझा नहीं सकते इसलिए...**' शब्द शब्द से परिणमित होते हैं। आत्मा से नहीं और शब्द

से उसे ज्ञान होता है ऐसा नहीं। आहा..हा...! है ? `**शब्द उन्हें ज्ञेय बना - समझा नहीं सकते इसलिए आत्मा सहित विश्व वह व्याख्येय** (समझाने योग्य) **है, वाणी का गुंथन वह व्याख्या है और अमृतचंद्रसूरि वे व्याख्याता हैं, इस प्रकार जन मोह से मत नाचो...**' आहा..हा...! गज़ब बातें हैं न !

संत ऐसा कहते हैं न कि, हे जीव ! यह शब्द रचना हम करते हैं, ऐसा मत मानो। इन शब्दों का परिणमन जड़ द्वारा (पुद्गल परमाणु द्वारा) स्वतंत्र होता है। और शब्द तुम्हें ज्ञान कराते हैं, ऐसा मत मानो। शब्दों से नहीं (करती) और मैं इन शब्दों की टीका की व्याख्या करनेवाला हूँ, ऐसा हे जीव ! मिथ्यात्वरूप परिणमन मत करो। आहा..हा...!

ऐसी बात है। है न ! हे जीवो ! `**इस प्रकार जन मोह से मत नाचो** (**- मत फूलो**) (**किन्तु**) **स्याद्वादविद्या के बल से विशुद्धज्ञान की कला द्वारा इस एक समस्त शाश्वत स्वतत्व को प्राप्त करके आज** (**जन**) **अव्याकुलरूप से नाचो** (**-परमानन्दपरिणामरूप परिणत होओ।**)' आहा..हा...! हम शब्द की रचना करनेवाले हैं, ऐसा मत मानो। शब्द से तुम्हें ज्ञान होता है, ऐसा मत मानो।

आहा..हा...! `**स्याद्वादविद्या के बल से...**' है न ! आहा..हा...! विश्व व्याख्येय है। इस प्रकार वाणी का गुँथन हमने किया और शब्द की व्यवस्था हमने करी, ऐसा मत मानो। आहा..हा...! भगवान आत्मा शास्त्र की व्याख्या किस प्रकार करे ! आहा..हा...! ऐसा स्वरूप है।

त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव जिनेन्द्रदेव ऐसा फरमाते हैं कि, शब्दों को हम परिणमित नहीं करते हैं। हमारे शब्द से तुम्हें ज्ञान नहीं होता है। आहा..हा...! और आत्मा और विश्व - इनकी व्याख्या हमने करी है, ऐसा नहीं है। आहा..हा...! ऐसी वस्तु है। और यहाँ तो जगह-जगह जहाँ-तहाँ हम करते हैं... हम करते हैं... हम करते हैं... आहा..हा...!

`**समस्त शाश्वत स्वतत्व को प्राप्त करके आज** (**जन**)...' आहा..हा...! इस के लिए क्षण का विलम्ब मत करो, प्रभु ! ऐसा कह रहे हैं। आहा..हा...! तेरी निधि अंतर में आनंद से भरी न ! आहा..हा...! अतीन्द्रय आनंद के निधान हैं न ! भगवान आज तू उन्हें परिणमित कर दे। ऐसा कह रहे हैं। आहा..हा...! `**अव्याकुलरूप से**

(**नाचो**)...' है न ! अव्याकुलरूप से माने आनंदरूप होकर। आहा..हा...! देखो तो, संत की बलिहारी !

भगवान अतीन्द्रिय आनंद का स्वरूप तेरा अंदर है न ! वर्तमान में प्रगट है न ! प्रगट को प्राप्त करके आनंदरूप परिणमित हो जा। आहा..हा...! यह (बात) कहाँ है ? ऐसी बात है कहाँ?! भगवंत तेरा स्वरूप तो अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप है न ! और बातें छोड़ दे। उन अनुष्ठानों से होगा, इस बात को भी छोड़ दे।

यहाँ तो... आहा..हा...! तुझे पसंद हो इसके लिए वायदे हो सकते हैं ? ऐसा कह रहे हैं। ऐसा आत्मा ! प्रभु ! अनादि अनंत, अनादि निधान, आनंद(मूर्ति) सत् चिदानंद प्रभु ! वह, तुझे रुचता है (फिर) उसके लिए वायदे (बहाने) हो सकते हैं ? रुच गया है उसी समय में ही आनंदरूप परिणमित हो प्रभु ! आहा..हा...! देखो ! संतों की वाणी !! दिगंबर संत !! आहा..हा...! उनसे वायदे नहीं किये जाते। पसंद की चीज के लिए वायदे नहीं होते। वायदे करे वह पागल, आहा..हा...! जहाँ अतीन्द्रिय आनंद पड़ा है, वहाँ जा न। तू राग में कहाँ रुक गया, प्रभु ! आहा..हा...!

टीका कर रहे हैं उस समय भी ऐसा कह रहे हैं। आहा..हा...! टीका के समय विकल्प है। फिर भी कह रहे हैं, तू यहाँ जा न। तू यहाँ अनुभव कर न, बापू ! आहा..हा...! और उसी समय भी अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव विद्यमान है ही। एक तरफ ऐसा कह रहे हैं और एक तरफ ऐसी अनुष्ठान की बात करते हैं। परंतु यहाँ उसके साथ '**आत्मद्रव्य ज्ञाननय से विवेक की प्रधानता से सिद्धि सधे ऐसा है,...**' यह तो विवेक चाहिए, बापू ! भेदज्ञान चाहिए, ऐसा कह रहे है। आहा..हा...!

राग से भी भिन्न हो जाय ऐसा विवेक चाहिए। आहा..हा...! आता है न ? धर्म तोलकर नहीं बिकता है। क्या आता है ? 'धर्म विवेक से नीपजता है, यदि करे तो हो। धर्म वाडी में नहीं नीपजता। धर्म दुकान में नहीं बिकता।' आहा..हा...! धर्म विवेक से होता है। करे तो होता है। आहा..हा...! बोलते हैं उसमें, फिर भी उल्टी-सीधी बातों में घुसता है ! देखो ! इसमें ऐसा कहा है और इसमें ऐसा कहा है, बापू ! कहा है, उसकी अपेक्षा समझ, भाई !

आहा..हा...! यह तो बिजली की चमक में मोती लो-सूई पिरो लो। बिजली चमक आयी है, बापू ! ऐसा मनुष्यपना मिला, ऐसा सुनने का योग मिला, जैनदर्शन में जन्म

हुआ। आहा..हा...! वहाँ बिजली की एक चमक में सूई में धागा पिरो लो। चमक हमेशा नहीं रहेगी। आहा..हा...!

यहाँ ऐसा कह रहे हैं। `**आत्मद्रव्य ज्ञाननय से विवेक की प्रधानता से सिद्धि सधे ऐसा है;...**' राग से भिन्न होकर विवेक से यह आत्मा साधा जाता है। उसमें अनुष्ठान से (सिद्धि) कहा। इसमें राग से भिन्न होकर। आहा..हा...! दुनिया चाहे जो माने, कहे उसके साथ मुझे क्या संबंध? आहा..हा...! दुनिया जो चाहे, उसके साथ संबंध क्या है ? प्रभु तो स्वयं अंदर निराला बिराजमान है। आहा..हा...! उस पर कहाँ आँच आती है ? वह तो विवेक से काम लेनेवाला है न ! ऐसा कहते हैं। आहा..हा...!

ज्ञाननय। विवेक की प्रधानता, मुख्यता प्रधानता, तो उसमें भी (क्रियानय में भी) थी। क्या! दोनों की मुख्यता हुई ? यह तो जानने की अपेक्षा से यह नय ऐसा है और यह नय ऐसा है, ऐसा कह रहे हैं। दोनों की क्रियानय की और ज्ञाननय की प्रधानता - दोनों की प्रधानता कहाँ से आ सकती है ? परंतु दोनों की प्रधानता कही। उस नय का ज्ञान कराने के लिए कहा और इसकी (विवेक की) प्रधानता कही परंतु एक क्रियानय का ज्ञान कराने के लिए कहा। आहा..हा...! दो की मुख्यता हो सकती है ? परंतु मुख्यता करके नय का ज्ञान करना है। इसलिए इसमें प्रधान शब्द का प्रयोग किया है। कुछ समझ में आया ?

ज्ञाननय से विवेक की प्रधानता से, भिन्नता की प्रधानता से, सिद्धि सधती है। (जैसे) `**मुट्ठीभर चने देकर चिंतामणि-रत्न खरीदनेवाले घर के कोने में बैठे हुए व्यापारी की भाँति।**' आहा..हा...! एक व्यक्ति को चिंतामणी-रत्न मिला। उसे (उसकी) कुछ कीमत पता नहीं। वह यहाँ (व्यापारी के पास) आया। भाई, (इसके बदले में) मुझे कुछ दोगे ? (व्यापारी ने) चने की मुट्ठी भरकर दी। क्योंकि चने खाये जाते हैं। चिंतामणि कोई खाया जाता है ? उसमें दृष्टांत आता है न ? एक छोटा लड़का था। अपने यहाँ `सम्यग्ज्ञानदीपिका' में आता है जैसे कि... बच्चे को हार पहनाया था। दस-बीस हजार का हार। खेल रहा था। एक आदमी निकला और पेड़ा दिया, पेड़ा खाया और इसका स्वाद आया उतने में उसने लाभ उठा लिया। इसमें उसे कुछ स्वाद आता था। वह पेड़े के स्वाद में गया। हार को खाया जाता है क्या ?

आदमी ने हार ले लिया।

आहा..हा...! तो यहाँ कहते हैं। आत्मा के ज्ञान के स्वाद के आगे सब कुछ भूल जाता है। किसी की कीमत उसे रहती नहीं है। कुछ समझ में आया ! ये तो शांति के (धैर्य के) काम हैं, बापू ! यह कोई वाद-विवाद और पंडितों के झगड़े इसमें (काम नहीं आ सकते)। पंडिताई का काम नहीं है। यह तो आत्मा के स्वभाव की दृष्टि और रुचि का काम है।

शब्दों का ज्ञान भी नहीं होता। पढ़ना भी नहीं आता। इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। आहा..हा...! '**मुट्ठीभर चने देकर चिंतामणी-रत्न खरीदनेवाले घर के कोने में बैठे हुए व्यापारी की भाँति।**' भाषा कैसी ! व्यापारी, दुकान शरू नहीं करी थी। घर के कोने में बैठा था। इतने में वह जाकर (ऐसा कहे) मुट्ठीभर चना मुझे दे दो जी। आहा..हा...! (घर के) कोने में बैठे हुए व्यापारी की भाँति।

भरूच में एक व्यापारी था। वह दुकान पर नहीं बैठता था। बाप-बेटा (थे)। घर में माल रखते थे। ऐसे काफी दूर नर्मदा नदी के किनारे पर बहुत दूर। किन्तु गरज होती थी वे सब वहाँ जाते थे। हम भी वहाँ माल लेने वहाँ जाते थे, और माल अच्छा देता था। (किन्तु) दुकान नहीं। घर में बैठकर (माल बेचता था), घर में माल पड़ा रहता था। जिसे गरज हो वह वहाँ लेने जाता था। यह तो सब ६५-६६ (साल की) बात है। आहा..हा...!

यहाँ कहते हैं। घर के कोने में जौहरी बैठा हो, वहाँ जाकर उसे चिंतामणी-रत्न दे दे। सेठ इसे लेकर कुछ माल दो। आहा..हा...! इस प्रकार विवेकपूर्वक (कहे)। कुछ क्लेश-कष्ट कुछ नहीं। ऐसा कह रहे हैं। सिर्फ अंदर राग से भिन्न होकर जहाँ ज्ञान का आनंद लिया वहाँ उसकी मुक्ति हो जाती है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया !

ऐसे कोने में बैठे हुए व्यापारी की भाँति। '**ज्ञाननय से आत्मा को विवेक की प्रधानता से सिद्धि होती है, जैसे घर के कोने में बैठा हुआ व्यापारी मुट्ठीभर चना देकर चिंतामणी-रत्न खरीद लेता है, उस प्रकार।**' इस प्रकार अंतर्मुहूर्त में आत्मा आनंद के धाम में जाता है। राग का विवेक करके, भिन्न होकर, अंदर में जाता है और क्षण में केवलज्ञान हो जाता है, ऐसा भी आत्मा का एक स्वभाव है। (विशेष कहेंगे..)

आत्मद्रव्य व्यवहारनय से बंध और मोक्ष में [१]द्वैत का अनुसरण करनेवाला बंधक है, (बंध करनेवाले) और मोचक (मुक्त करनेवाले) ऐसे अन्य परमाणु के साथ संयुक्त होनेवाले और उससे वियुक्त होनेवाले परमाणु की भाँति। (व्यवहारनय से आत्मा बंध और मोक्ष में (पुद्गल के साथ) द्वैत को प्राप्त होता है, जैसे परमाणु के बंध में वह परमाणु अन्य परमाणु के साथ संयोग को पानेरूप द्वैत को प्राप्त होता है और परमाणु के मोक्ष में वह परमाणु अन्य परमाणु से पृथक् होनेरूप द्वैत को पाता है, उस प्रकार)। ४४।

आत्मद्रव्य निश्चयनय से बंध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है, अकेले बध्यमान और मुच्यमान ऐसे बंधमोक्षोचित स्निग्धत्वरूक्षत्वगुणरूप परिणत परमाणु की भाँति। (निश्चयनय से आत्मा अकेल ही बद्ध और मुक्त होता है, जैसे बंध और मोक्ष के योग्य स्निग्ध या रूक्षत्वगुणरूप परिणमित होता हुआ परमाणु अकेला ही बद्ध और मुक्त होता है, उस प्रकार)। ४५।

प्रवचन : दि. ८-१-१९७८

'प्रवचनसार', नय अधिकार। ४३ नय चल चुके हैं न ! नय माने द्रव्य और पर्याय दोनों को विषय करनेवाला, ऐसा जो श्रुतप्रमाणज्ञान, उस का भेद (अंश) वह नय। भावश्रुतज्ञान वह द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों को विषय करता है, इसलिए उसे प्रमाणज्ञान कहते हैं। और प्रमाण के भेद को - नय - नय को प्रमाण का अंश (कहते हैं)। प्रमाण अवयवी है, और नय अवयव है।

एक एक नय का विषय बताकर फिर अनंत नय का समुदाय (ऐसा जो) श्रुतज्ञान,

उसके द्वारा आत्म का अनुभव करे, तो उसे द्रव्य-गुण-पर्याय का तीनों का ही सच्चा ज्ञान होता है। इस के लिए नयों का वर्णन है।

अब अपने यहाँ क्रियानय और ज्ञाननय आया (था)। इस क्रियानय में व्यवहार के दया-दान-व्रत-भक्ति के परिणाम (अर्थात्) अनुष्ठान उसे यहाँ क्रियानय कहा है। और इस (४४ नय में) जो व्यवहार आयेगा उस में वह नहीं। क्या कहा यह ? क्रियानय में अनुष्ठान (माने क्या ?) आत्मा में राग की मंदता में परिणाम का अनुष्ठान - आचरण उसे वहाँ क्रियानय कहा है।

(ऐसी) नय की एक योग्यता है; वहाँ दया-दान-भक्ति यह व्यवहारनय है। और उससे रहित निश्चय - वह (अपेक्षा) यहाँ नहीं है।

यहाँ तो देखो ४४ (वाँ नय) आत्मद्रव्य। (अर्थात्) भगवान आत्मा। वस्तु-द्रव्य-अर्थात् उसके गुण और विकारी-अविकारी पर्यायों का धारक जो आत्मद्रव्य, उसे यहाँ आत्मद्रव्य कहा है।

वह `**आत्मद्रव्य व्यवहारनय से...**' यह व्यवहारनय अर्थात् अनुष्ठान का व्यवहार - वह नहीं। यहाँ `**आत्मद्रव्य व्यवहारनय से बंध और मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करनेवाला बंधक है,...**' वह व्यवहार। वस्तु एक आत्मा। वह कर्म के अनुसरण करे तो द्वैत होता है। और उसके अनुसरण करने का अभाव हो जाय तो भी द्वैत होता है। इस अपेक्षा से यहाँ व्यवहारनय कहा है। कुछ समझ में आया ?

फिर से, दो-तीन बार कहें तब मुश्किल से चले (समझ में आये) ऐसा है। आत्मद्रव्य वस्तु है। उसे व्यवहारनय से बंध और मोक्ष में द्वैत (है)। द्वैत माने दोपना। व्यवहारनय से आत्मा के बंध के विषय में कर्म के साथ के संयोग की अपेक्षा आती होने के कारण द्वैत है। इस प्रकार द्वैत है। व्यवहार से निश्चय होता है, उस व्यवहार (की अपेक्षा से) यह (बात) अभी नहीं है। कुछ समझ में आया ?

व्यवहार से निश्चय होता है, यह क्रियानय में गया। एक नय की अपेक्षा (है)। यहाँ तो आत्मा वस्तु एक है। उसे कर्म के निमित्त का संबंध ग्रहण करना, वह द्वैत है। और उसका वियोग होना, वह भी द्वैत हुआ। द्वैत अपेक्षा आयी न ! इसलिए उसे आत्मा के मोक्ष में कर्म के वियोग की अपेक्षा है न !

बंध के विषय में कर्म के संयोग की अपेक्षा, मोक्ष के विषय में कर्म के वियोग

की अपेक्षा आती होने के कारण वहाँ भी द्वैत है। आहा..हा...! द्वैत माने आत्मा और पर्याय दो द्वैत ऐसा (यहाँ) नहीं है। और द्वैत माने व्यवहार से हो और निश्चय से हो वह भी द्वैत नहीं। यहाँ द्वैत की व्याख्या इतनी कि भगवान आत्मा वस्तु है - अनंतगुण और अनंती पर्याय का समुदाय, उन्हें कर्म के संबंध की अपेक्षा से कहें तो द्वैतपना आता है, और संबंध के वियोग की अपेक्षा से कहें तो भी द्वैतनपा आता है, ऐसा है। कुछ समझ में आया ?

नय का ज्ञान सूक्ष्म है। आत्मा वस्तु है। चैतन्य-भगवान आत्मा उसमें तो अनंत गुण हैं और उसमें अनंती विकारी-अविकारी पर्याय भी हैं। अब, वे सभी पर्याय (तथा) द्रव्य-गुण को विषय करे, वह जो भावश्रुत है। भावश्रुत है तो पर्याय परंतु वह पर्याय समूचे द्रव्य को विषय करती है। प्रमेय करे, ज्ञेय बनाये, उसे प्रमाण (कहते हैं)। पूरे द्रव्य को - समूचे द्रव्य का ज्ञान करे इसलिए उसे प्रमाण कहा है और उसके भेद को, एक नय को जाने उसे नय कहा है। एक नय ऐसा भी है। आहा..हा...! समझ में आ जाय ऐसा है। आत्मा स्वयं एक वस्तु है और कर्म दूसरी चीज है। उसके संबंध की अपेक्षा लेना, इसे द्वैत कहा जाता है और कर्म के संबंध के वियोग की अपेक्षा उसे भी द्वैत कहते हैं। आहा..हा...! आत्मा द्वैत है। अर्थात् आत्मा अनेकरूप है। कुछ समझ में आया ?

आत्मा वस्तु जो है - अनंत गुण एवं अनंत पर्याय का समुदाय, उस में एक नय की अपेक्षा ऐसी आयी कि कर्म का संबंध ऐसे मानना। एक का दूसरे के साथ संबंध (मानना) यह द्वैत - वह व्यवहारनय (है)। कुछ समझ में आया ! और उस संबंध का वियोग, वह भी एक स्वरूप का (तथा) पर का वियोग उसे भी यहाँ व्यवहार कहा गया है।

एक को निश्चय कहेंगे तथा उसके साथ संबंधवाले भाव की अपेक्षा से (व्यवहार) और उसके (स्वयं के) भाव की अपेक्षा से अद्वैत कहेंगे। आहा..हा...! ऐसा सूक्ष्म है। उसमें द्रव्य-गुण-पर्याय तीन होकर परमस्वरूप है। कुछ समझ में आया ? पर के साथ संबंध कहना वह व्यवहार है। तो `**आत्मद्रव्य व्यवहारनय से बंध और मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करनेवाला बंधक है,...**' भगवान एक, दूसरी चीज जो कर्म, इन का (दोनों का) अनुसरण करके जो कहा वह व्यवहारनय है। कुछ समझ में आया ?

किसकी भाँति ? `**बंधक (बंध करनेवाले) और मोचक (मुक्त करनेवाले) ऐसे अन्य परमाणु के साथ संयुक्त होनेवाले और उससे वियुक्त होनेवाले परमाणु की भाँति।**' एक परमाणु है - रजकण (उसे) अन्य रजकण के संबंध से, परमाणु का संबंध कहना वह बंध है। और एक परमाणु का दूसरे परमाणु से वियोग कहना, वह मुक्ति है। इस प्रकार दो हुए न ? दो-एक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ बंध कहना वह व्यवहार है और एक परमाणु दूसरे परमाणु से अलग हो गया, ऐसा कहना वह भी व्यवहार है। कुछ समझ में आया ?

बंध करनेवाला तथा मोचक (अर्थात्) मुक्त करनेवाला, ऐसे अन्य परमाणु के साथ संबंध होने से एवं उससे विमुक्त होने से, ऐसे परमाणु की भाँति व्यवहारनय से आत्मा बंध और मोक्ष में पुद्गल के साथ द्वैत को प्राप्त होता है। एक से दो होता है, ऐसा नहीं। परंतु उसका संबंध है इस प्रकार से द्वैत को प्राप्त होता है। ऐसा कह रहे हैं। आहा..हा...!

एक है - वह दो आत्मा हो जाता है, ऐसा नहीं। परंतु एक आत्मा है और कर्म का संबंध आया, इस अपेक्षा से द्वैत कहा जाता है। आहा..हा...! व्यवहारनय से वह आत्मा बंध एवं मोक्ष में, पुद्गल के साथ द्वैत को प्राप्त होता है। जैसे परमाणु के बंध के विषय में वह परमाणु अन्य परमाणु के साथ संयोग होनेरूप, एक (है वह) दोरूप होता है, उसरूप द्वैत नहीं। एक दोरूप हो जाय वह द्वैत नहीं। (परंतु) संयोग प्राप्त होनेरूप द्वैत। आहा..हा...! यह तो शब्द (है), शब्द की व्याख्या अलौकिक है।

आहा..हा...! आत्मा को जैसा है वैसा यथार्थरूप से जानना। अलौकिक बातें हैं !! जिस को प्रमाण से जानने पर उसे अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव हो। आहा..हा...! नय से जानने पर तो भेद पड़ता (है) परंतु सभी नयों के समुदाय से - श्रुतज्ञान से (अर्थात्) भावश्रुतज्ञान जो निर्मल ज्ञान का अंश प्रमाण उस से (आनंद का अनुभव होता है)। है तो वह अंश; श्रुतज्ञान है तो अंश, वह भी ज्ञान का एक अंश है। गुण एवं पर्याय को प्रमेय-ज्ञेय करता है। उसे कर्म की अपेक्षा से - संबंध की अपेक्षा से बंध कहा जाता है। और कर्म के वियोग की अपेक्षा से मुक्त कहा जाता है।

यह तो ठीक। अब, यहाँ निश्चय की बात है। एक तरफ ऐसा आता है कि,

आत्मा को बंध और मोक्ष, ऐसे दो पर्यायवाला मानना, वह व्यवहार है। क्या कहा ? आत्मा वस्तु है। उसे भावबंध और भावमुक्ति, ऐसी दो पर्यायवाला कहना वह व्यवहार है। और उस व्यवहार का आश्रय लेने पर उसे विकल्प होता है, आता है न ! बंध और मुक्त - एक ही पर्याय में बंध और मुक्त - इस प्रकार दो हिस्से करना यह व्यवहार है। और उसे लेकर विकल्प उठते हैं। अतः बंध एवं मोक्ष के दो भेदरूप पर्याय का लक्ष छोड़कर, अखंड द्रव्य की दृष्टि करना, तब निर्विकल्प सम्यक्दर्शन होता है। यहाँ दूसरी बात कहेंगे...

आहा..हा...! `**आत्मद्रव्य निश्चय से बंध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है,...**' देखा ? निश्चय इसे कहा। पर्याय में अपने से (ही) भावबंधरूप है और भावबंधरूप में पर्याय से छूटता है। उसे यहाँ निश्चयनय कहा। स्वपर्याय है। वह राग में आया - बंधन में आया और राग से छूट गया, ऐसी स्वपर्याय है। उसमें पर के संबंध की अपेक्षा नहीं है। उसे यहाँ निश्चय कहा जाता है। ऐसी सूक्ष्म बातें हैं, बापू ! एक तरफ इस प्रकार निश्चय कहे कि (दूसरी अपेक्षा से) आत्मा को अपने भाव में राग का बंध है और राग से मुक्त है। ऐसा कहना और ऐसा जानना वह व्यवहार है। क्योंकि दो द्वैत हो गया। कुछ समझ में आया ?वहाँ द्रव्यदृष्टि कराने हेतु वह बात की थी।

आहा..हा...! भाई ! सभी पहलू सच्चे (हैं)। आत्मा (को) बंध (है)। भावबंध, हाँ ! कर्म को एक तरफ रखा। आत्मा राग में रुका हुआ है। (वह) भावबंध (है) और राग से मुक्त हुआ है वह मोक्ष (है)। पर्याय की अपेक्षा से ही हुआ इसलिए वह व्यवहार हुआ। ऐसे दो पक्ष के विचार में तो विकल्प उठेगा, राग उठेगा, निर्विकल्प सम्यक्दर्शन नहीं होगा। आहा..हा...!

यहाँ ऐसा कहते हैं। इससे पूरा आत्मा ज्ञात होता है ऐसा यहाँ नहीं है। उस में तो बंध एवं मोक्ष (के बारे में द्वैत है)। (यहाँ से) भावबंध राग में स्वयं अटक गया, कर्म एक तरफ रखे। भगवान स्वयं शुद्ध चैतन्य वस्तु, वह राग में, संसार में, उदयभाव में अटक गया, वह व्यवहार। और वह मुक्त हुआ, वह भी व्यवहार। क्योंकि पर्याय के दो भाग हो गये। और दो भाग के आश्रय से तो राग ही होता है। वहाँ सम्यक्दर्शन - निर्विकल्पदर्शन नहीं होता है। अतः उसे उसी की ही दो

पर्याय मानकर, भेदयुक्त मानकर, व्यवहार कहा।

यहाँ उसकी पर्याय को बंध में और बंध से मुक्त हुआ वह निश्चय कहा। परंतु यह (जो) निश्चय है, वह एक नय है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! कितने पहलू जानने के हैं ! व्यापारी को फुर्सत तो मिलती नहीं है न ! आहा..हा...! यह तो भगवान सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ! वे द्रव्य के अनंत पहलुओं की जो पर्यायें हैं, उनका एक एक नय का ज्ञान करा के पूरे श्रुतप्रमाण द्वारा जीव को जानना, ऐसा कहा जा रहा है। कुछ समझ में आया ?

भावबंध है - राग का अंश, उदय का अंश, वह भी पर्याय है इस अपेक्षा से निश्चय है। और उस राग से मुक्त होकर वीतराग हुआ - केवल(ज्ञान) हुआ, वह भी एक निश्चय है। उसे पर्याय के स्वतः की अपेक्षा से निश्चय मानकर एक नय मानने में आया है। दोनों को एक नय मानकर, एक नय के आश्रय से सम्यक्दर्शन होता है, ऐसा नहीं है। कुछ समझ में आया ? निश्चय है न! आहा..हा...! कैसा प्रभु का मार्ग !! आहा..हा...!

यहाँ तो ऐसा कह रहे हैं कि, वह एक नय है। पूरे प्रमाण का विषय वह यह नहीं है। कुछ समझ में आया ? और जो निश्चयनय, जो शुद्ध निश्चयनय है, उस का विषय तो सिर्फ त्रिकाली द्रव्य है। उसके विषय में कर्म के संबंध का निमित्त और वियोग की बात तो नहीं; परंतु स्वयं राग में अटक गया है और राग से मुक्ति हुई, यह भी पर्याय के व्यवहारनय का विषय है। अतः उसका लक्ष छोड़कर, त्रिकाली ज्ञायक पर दृष्टि करने पर, उसे सम्यक्दर्शन - सच्चा दर्शन (कहा) है। जैसा सत्यस्वरूप है वैसा उसे भान होकर प्रतीति होती है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया?

ऐसी सब अपेक्षा से इन्द्रजाली कहा। भगवान ! हे नाथ ! तेरी बातें - नय इन्द्रजाल जैसे हैं। इन्द्रजाल (है)। इस प्रकार बताकर फिर समेट ले। एक एक अंश भी जानने का नय है। जैसे एक एक अंश, जैसे बंध एवं मोक्ष। एक एक अंश हुआ न ! तो उसे जानने में भी ज्ञान का एक अंश है। पूरा ज्ञान नहीं। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! यह `**आत्मद्रव्य निश्चयनय से बंध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है, अकेले बध्यमान और मुच्यमान ऐसे बंधमोक्षोचित स्निग्धत्वरूक्षत्वगुणरूप परिणत परमाणु की भाँति।**' चिकनाई के दो अंशवाला, अकेला परमाणु, वह स्वयं

ही मुक्त होता है और वह चिकनाई में बढ़ता है तो वह स्वयं ही बंधता है। वह परमाणु स्वतंत्र अपनी पर्याय में दो चिकनाईवाला मुक्त है। और चार चिकनाईवाला बंध में है। अपने भावबंध में, हाँ ! सूक्ष्म बात लेना, धीरे लेना, भाई !

एक कहा न ! देखो ! बंधक माने बंधक है न ! बंधक माने बंध करनेवाला और मोचक (माने) मुक्त करनेवाला। इस प्रकार दो शब्द हैं न ! आहा..हा...! बंध नहीं। बंधक (अर्थात्) बंध का करनेवाला परमाणु दो गुण की चिकनाईवाला स्वयं बंध को करने की योग्यतावाला है। और मोक्ष - मुक्त करनेवाला, उन्हीं दो (गुण की चिकनाईवाला) चाररूप होता है तो, बंधन को करने योग्य है। और दोरूप रहे तो मुक्ति के योग्य है।

अपनी पर्याय में पर के संबंध बिना, यह क्या कहा ? शास्त्र में ऐसा आता है। एक परमाणु, दूसरे परमाणु में चार अंश होता है। चार अंश चिकनाई के या रुक्षता के, उसके साथ दो अंश के परमाणु का बंध होता है। परंतु वह तो कहते हैं। पर के साथ बंध की अपेक्षा है, वह तो व्यवहार हो गया। परंतु स्वयं ही दो (अंशवाले) परमाणु का, चार (अंशवाले) परमाणु (मिलने से) दो अंश के चार हुए, वह बंध के योग्य हुआ। और चार का फिर दो हुआ (तो) मुक्ति के योग्य हुआ। स्वयं ही स्वयं की पर्याय में योग्य हुआ। उसे यहाँ निश्चय कहा जाता है। आहा..हा...!

स्व परमाणु ही दो गुण चिकनाईवाला रहे। तब मोचक है - मुक्त करनेवाला है - अलग रहता है। और चार अंशवाला हो तब बंध के योग्य होता है। अपने ही अपने में, पर की अपेक्षा उसमें नहीं। आहा..हा...! ऐसा सब सुनना। इसलिए लोगों को बेचारों को एकदम व्रत और तप (रूढ़ि) में चढ़ा दिया। परंतु कैसे (हित हो) बापू ! अभी यह वस्तु (स्वयं) ज्ञानमूर्ति है, चैतन्य के स्वभाव का सागर है, ऐसी अभेद दृष्टि के अनुभव बिना उसकी भूमिका ही उत्पन्न नहीं होती। धर्म की भूमिका ही उत्पन्न नहीं होती। भूमिका के बिना आगे धर्म और चारित्र - यह आये कहाँ से ? आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

यहाँ बंध में, आत्मा स्वयं राग में बंधा हुआ है, वह निश्चय है (और) स्वयं राग से मुक्त होता है वह निश्चय है। पर्याय के दो अंश में राग का संयोग और राग का वियोग अपनी अपेक्षा से वह निश्चय है। और कर्म के संयोग का वियोग, वह

द्वैतपना हुआ इसलिए व्यवहारनय की अपेक्षा में जाता है। और यह अद्वैत है। अद्वैत माने एक ही परमाणु स्वयं से बंध के योग्य और बंध के अयोग्य होता है। ऐसे आत्मा (को) कर्म के संबंध से कहना, वह द्वैत माने बंध है। द्वैत बंध है। और उसका वियोग होता है वह द्वैतरूपी मुक्ति कहलाती है। उसमें संबंध (अर्थात्) पर की अपेक्षा आयी न ! परंतु आत्मा स्वयं ही अपने द्वारा राग में अटका है वह निश्चय है। उस में अद्वैतपना आया। राग से मुक्ति हुई वह भी अद्वैतपना - एकपना आया। उसमें कर्म से मुक्त हुआ ऐसी अपेक्षा नहीं आयी। कुछ समझ में आया ?

आहा..हा...! यह 'प्रवचनसार' पढ़ ले तो भी क्या ? गोख में पुस्तक पड़ी रहे। यहाँ तो आत्मा के स्वभाव की पर्याय में कर्म के संबंधरूप जानना, वह द्वैत हो गया, ऐसा कह रहे हैं। और वह संबंध छूटा उसे द्वैत कहा जाता है। और आत्मा अपने राग में बंधा उसे अद्वैत कहा जाता है। निश्चय से आत्मा और राग तो द्वैत हो जाता है। वह द्रव्य की अपेक्षा से द्वैत हो जाता है। पर्याय की अपेक्षा से राग में अटका है। वह निश्चय हो जाता है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया?

वह मेट्रिक और एल. एल. बी. की बात सुनकर अंदर बहुत विचार करे। एम. ए. की और तुम्हारे डॉक्टर की... (बातों का विचार करे) आहा..हा...! यह मार्ग है प्रभु ! सूक्ष्म बहुत। यह कॉलेज निराला है। भाई ! यह भगवान का कोलेज है। पहले जो क्रियानय और ज्ञाननय कहा था उस में तो व्यवहार - राग की मंदता का व्यवहार आया था; उससे प्राप्त होता है ऐसा एक नय है, ऐसी एक योग्यता है। और ज्ञाननय में मात्र विवेक से राग और स्वभाव की भिन्नता के विवेक से ही आत्मा प्राप्त होता है। ऐसा भी एक नय है।

यहाँ दूसरी अपेक्षा कही। वह क्रियानय का व्यवहार, और यह व्यवहारनय का व्यवहार, वह भिन्न जाति का है। कुछ समझ में आया ! उसमें तो अनुष्ठान को व्यवहार कहकर और उसे प्राप्त हो अर्थात् ऐसी एक समय की योग्यता मानकर और पुनःश्च उसी समय ज्ञान से प्राप्त हो, ऐसी दूसरे नय से योग्यता उसी समय में है, कोई दूसरे समय में नहीं है। दूसरे व्यक्ति के लिए नहीं है। यह व्यवहार तो एक ही जीव को कर्म के निमित्त से कहे तो द्वैतपना होता है और निमित्त के वियोग से कहना, वह भी द्वैतपना होता है।

इतनी बात ज्ञान में आये और निश्चय से आत्मा अकेला, जिसे निमित्त की अपेक्षा ही नहीं है। क्योंकि चार गुणरूप चिकनाई का होना यह परमाणु स्वयं ही बंध के योग्य हुआ। और (दो) गुण चिकनाई रही वह (परमाणु) स्वयं ही मुक्ति के योग्य हुआ... उसमें पर की अपेक्षा नहीं आयी। इस प्रकार भगवान आत्मा में, आत्मा एक चीज है, उसे कर्म के संबंध की और वियोग की अपेक्षा लेने से द्वैतपना (अर्थात्) 'यह' और 'वह' इस प्रकार द्वैतपना आता है। 'यह' और 'वह', 'आत्मा' और 'कर्म' इस प्रकार द्वैतपना आता है। इसमें यह द्वैतपना आता है तो सही परंतु वह निश्चय का द्वैतपना है, आहा...हा...!

स्वयं ही राग से बंधा हुआ है और वह (स्वयं ही) राग से छूटता है। संसार की पर्याय में स्वयं है। उस संसार की पर्याय का (उससे छूटकर) मोक्ष होता है; वह स्वपर्याय की अपेक्षा से - पर की अपेक्षा बिना निश्चय कहा जाता है। आहा..हा...! कहो ! समझ में आता है कि नहीं ? भाई (कह रहे हैं) बड़ी मुश्किल से समझ में आ रहा है, ऐसा कह रहे हैं। भाषा तो सादी आ रही है। भाई ! आहा..हा...! उस मार्ग की ओर उसे जाना चाहिए, भाई !

किस अपेक्षा से नय कहे जा रहे हैं और किस अपेक्षा से स्वभाव का आश्रय कहा जा रहा है वह जानना चाहिए। जो व्यवहारनय से भावबंध और निश्चय से भावबंधरहित, यह तो पर्याय की अपेक्षा से दो प्रकार कहे। परंतु द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से तो दो पना व्यवहार है। जहाँ उसे निश्चय कहा। आत्मा राग के संबंध से बंधरूप स्व (स्वयं) है और बंध के अभावरूप से (भी) स्वयं है। अतः उसे पर्याय की अपेक्षा से निश्चय कहा। परंतु द्रव्य की अपेक्षा का निश्चय अलग (है)। भाई ! आहा..हा...!

द्रव्य - त्रिकाली (की) दृष्टि की अपेक्षा से बंध और मोक्ष दोनों ही व्यवहार और विकल्प का कारण है। आता है न ? श्लोक में नहीं आता ? कौन से श्लोक में ? उपादान-निमित्त में नहीं - दूसरे (किसी) में आता है। बंध और मोक्ष को जो मानता है, वह बंधता है। बंध एवं मोक्ष को माने वह बंधता है। आता है। किसमें आता है ? भूल जाते हैं। वह भाव याद रहता है। हाँ... 'योगसार' में आता है। 'योगसार' के दोहरे में आता है। देखो... 'योगसार' का दोहरा...

बंध एवं मोक्ष का - अपनी पर्याय में दो प्रकार का विचार करने पर उसे विकल्प

आता है। (इसलिए) बंधता है। वह वहाँ ऐसा कह रहे हैं। क्या कहा ? बंध एवं मोक्ष ऐसे अपने दो प्रकार से (विकल्प होने पर) वह बंधता है। आहा..हा...! और दोनों का अभाव करके एकरूप लेने से वह मुक्त होता है। कुछ समझ में आया ? कितने पहलू करने ?

वही का वही अपना साला होवे, (वही का वही) (फिर) जीजा हो जाय। वहाँ वह समझता है कि मेरी बहिन उसको दी है। उसकी बहिन मैंने ली है। वहाँ समझता है, सेठ ! बहिन दी है न ! अपनी बहिन दी हो और उसकी बहिन ली हो। साला-बहनोई होते हैं। होते हैं कई लोग संसार में। आहा..हा...! वहाँ अपेक्षा समझता है कि इस अपेक्षा से मेरा साला है। हमारी घरवाली उसकी बहिन होती है। मेरी बहिन उसको दी है। इस अपेक्षा से बहनोई होता है। वहाँ समझ लेता है। (परंतु) यहाँ नहीं देखता। आहा..हा...! है न ! (अपेक्षाएँ) सभी जगह हैं।

'योगसार' में ऐसा कहा कि, बंध और मोक्ष के विचार में अटकेगा वह पर्यायबुद्धिवाला राग करेगा। इसमें ज़रा आया है - उस में - ऐसा कि पर्यायबुद्धि नहीं रखना। परंतु वह तो पर्याय है, उसे जानना। ऐसा बराबर है। पुनःश्च पर्याय में राग है, वह पुस्तक आया था और उसमें यह शब्द है। चल चुका है। (कि) पर्यायबुद्धि नहीं होती। परंतु यहाँ तो राग पर्याय में है, उसे नय से जानना चाहिए। कुछ समझ में आया ?

पर्याय में मोक्ष है, ऐसा उसे जानना चाहिए। आहा..हा...! वह राग कर्म में है। और कर्म से छूटा इसलिए कर्म का मोक्ष हुआ ऐसा नहीं है। अपनी दशा का मोक्ष और अपनी दशा का बंध। ऐसी पर्यायबुद्धि का ज्ञान - नय का (ज्ञान) करने योग्य है। ऐसा यहाँ बता रहे हैं। उस में है, कही सामने ही है। स्वयं ने लेख लिखे हैं न... शशीभाई ने ! उस में ज़रा एक शब्द है। पर्यायबुद्धि निकाल देना। पर्यायबुद्धि निकाल देना, परंतु वह पर्यायबुद्धि किस अपेक्षा से ! समझ में आया ! कठिन काम है। बापू ! आहा..हा...! यह तो पहेली बूझे उसे समझ में आ जाय ऐसा है।

यहाँ पर क्रियानय कहा (और) एक ज्ञाननय कहा। वह भी एक नय है। फिर (जो पक्षपाती है वह) एक ही नय को लेकर चिपक जाता है। पहले क्रियानय कहा उसके साथ ज्ञाननय है। यहाँ योग्यता गिनी गई परंतु बंध का - कर्म का संबंध माना गया। संबंध तो निमित्त के साथ है। संबंध कोई एकरूप से नहीं है। परंतु

निमित्त के बंध की अपेक्षा से जीव का द्वैत कहा गया। यह पर्याय की बात हुई। वह भी एक नय है। यह समूची चीज देखने में नहीं (आती), वह (पर्याय) समूची चीज को नहीं देखती। वह तो एक अंश को देखती है। और सभी नय का समुदाय - श्रुतप्रमाण (वह) पूरे द्रव्य-गुण (और) सभी पर्याय को जानता है, तब उसे प्रमाण में प्रमेय ज्ञात हुआ कहा जाता है। आहा..हा...! ऐसा मार्ग !!

एक आत्मा, यह आत्मद्रव्य कौन ? जो निश्चयनय का आत्मद्रव्य - (११वीं गाथा) वह नहीं। जो ११वीं गाथा का भूतार्थ। (उसकी बात नहीं है)। भूतार्थ आश्रित सम्यग्दर्शन होता है वह द्रव्य तो त्रिकाली सत् ध्रुव, उसे द्रव्य कहकर उसके आश्रय से सम्यक्दर्शन होता है। यहाँ वह (बात) नहीं है।

यह आत्मद्रव्य (अलग बात है)। यह सभी पर्यायों को विषय करनेवाला एक एक नय और उन सभी नयों के विषय का धारक (द्रव्य)। सभी नय एक एक (धर्म) को विषय करनेवाला (है) जो कि एक नय का विषय है। ऐसे सभी विषय का धारक समूचा द्रव्य, कुछ समझ में आया ? नय का धारक नहीं। नय का विषय जो है, उन सभी विषय का धारक आत्मद्रव्य। अर्थात् व्यवहारनय के (विषय का) भी धारक आत्मद्रव्य, क्रियानय के अनुष्ठान का धारक आत्मद्रव्य, ज्ञाननय का धारक आत्मद्रव्य। पूरे नयों के समुदाय के प्रमाणरूप श्रुतज्ञान द्रव्य-गुण और पर्याय तीन का विषय करता है। ऐसे प्रमाण के भेद के अंश को नय कहा जाता है। आहा..हा...!

सामायिक करे और बैठ जाय, लो, हो गई उसकी सामायिक। खाक भी नहीं है। आहा..हा...! यहाँ इस निश्चयनय से आत्मद्रव्य - वह अनंते नय के विषयवाले गुण और पर्याय उसका धारक जो आत्मद्रव्य, उसमें निश्चय का एक अंश है। `**आत्मद्रव्य निश्चय से बंध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है,...**' वह बंध में भी स्व का अनुसरण करता है और मुक्ति में भी स्व का अनुसरण करता है। पर का नहीं, निमित्त का नहीं। अब ऐसी (बातें)। पहले ऐसा कहा कि बंध में निमित्त का अनुसरण करता है। उस द्वैत को व्यवहार कहना। निमित्त का अभाव करनेवाला ऐसा (जो) भाव (है) वह द्वैत का अनुसरण करता है, इसलिए व्यवहार कहना।

यहाँ कहते हैं कि पर के निमित्त का अनुसरण नहीं करता है। परंतु अपने ही कारण से बंध में अटकता है। ऐसा उसे द्वैत कहना। उसमें दूसरे के संबंध

का अभाव आता है। आहा..हा...! कहो, इसमें समझ में आता है कि नहीं ? ध्यान रखे तो समझ में आये ऐसा है। भाषा तो बहुत सादी आती है। भाव तो भाई, जो है सो है। परंतु क्या करें ? और वह भी निश्चय से राग से बंधा हुआ है। ऐसा जानने पर उसे अनुभव हो जाय ऐसा नहीं है। उसी प्रकार अपनी मुक्ति हो ऐसी पर्याय के आश्रय से कोई उसे धर्म नहीं होता।

आहा..हा...! उसे धर्म तो जब त्रिकाली द्रव्य का आश्रय करता है, तब धर्म होता है। यहाँ दृष्टि की अपेक्षा से पदार्थ को लेना। और प्रमाण की अपेक्षा से इन सभी नयों के विषय का समुदाय पूरा द्रव्य, गुण और पर्याय - इन सबको विषय करे उसे धर्म होता है। कुछ समझ में आया ? जिसे न समझ में आये वे रात को (चर्चा में) पूछ लेवें। ऐसे सब भेद बहुत प्रकार से हैं।

उस प्रकार यहाँ पर्याय के भाव से कौनसी बात चल रही है ? द्रव्य के भाव से कौन सी बात चल रही है ? उस समय पर्याय की बात करें तो कर्म के संबंध से उसे द्वैत कहना। कर्म के संबंध का वियोग हो उसे द्वैत कहना। अपनी पर्याय में अपने से अकेला कहना। उसे अद्वैत कहना - उसे निश्चय कहना। राग में स्वयं अपने कारण से अटके उसे निश्चय कहना। और राग से छूटकर मुक्त हो उसे निश्चय कहना। दूसरी तरह से कहें तो पर्याय के दो भेद पड़ते हैं। इसलिए व्यवहार है। अतः उसे निश्चय नहीं कहना।

पंडितजी ! यह तो विषय सामने आया है। तब उसे... थोड़ा बहुत सुनकर हो (जाय) कि बस ! हम समझ गये। और वह भी बिना अनुभव की (कोरी) बातें (समझकर)... बापू ! भारी पड़ जाता है। अहंकार हो जाता है, अहंकार ! बहुत लोग जानपने के अहंकार में चढ़ जाते हैं न? समझते हैं कि हम जानते हैं, जानते हैं। जानना तो उसे कहते हैं कि पर्याय में पर के संबंध की अपेक्षा से द्वैत का ज्ञान करना। बंध और मुक्ति में (इस प्रकार से ज्ञान करना) और स्व की अपेक्षा से अद्वैत का (अर्थात्) स्वयं ही बंधा हुआ हूँ (ऐसा) नक्की करना और फिर भी उसमें नहीं अटककर पूरे द्रव्य और गुण को साथ में लेकर, पर्याय का ज्ञान करना। यहाँ तो प्रमाण है न! दर्शन के विषय में तो एकरूप द्रव्य आता है, परंतु यहाँ ज्ञान के विषय में (अनेकरूप आता है)। दर्शन है - वह निर्विकल्प अभेद है, अतः उसके विषय में भेद नहीं आता,

यह सामान्य है और मैं विषय करता हूँ, ऐसा भेद भी उसमें नहीं है। परंतु उसे सिर्फ सामान्य द्रव्य का आश्रय क्यों कहा कि लक्ष में ऐसे पर्याय जाती थी उसे इस तरफ पलट लिया। इसलिए वह द्रव्य का ध्येय हुआ। अतः यह द्रव्य है और मैं दृष्टि करता हूँ, ऐसे भेद भी वहाँ कहाँ हैं ? वह भेद तो ज्ञान का विषय बन जाता है। कुछ समझ में आया ?

यहाँ ज्ञान के विषय में तो इतने सारे भेद करे कि राग में स्वयं अपने आप अटक जाता है, उसे निश्चय कहना। और राग से मुक्त हो जाय, केवलज्ञान हो जाय, सिद्ध हो जाय, उसे पर्याय की मुक्ति अपनी है इसलिए उसे निश्चय कहना। इस प्रकार श्रुतज्ञान में दो भेद करते हैं। (कि) जीव के दो भेद - संसारी और सिद्ध - वह व्यवहार हो गया। श्रुतज्ञान में दो भेद करे, संसारी और सिद्ध तो वे दो भेद हो गये - व्यवहार हो गया।

एकरूप त्रिकाली ज्ञायकभाव है, वह निश्चय है। वह दृष्टि के विषय का भूतार्थ है। वह ज्ञान के विषय में भूतार्थ, गुण और विकारी पर्याय (सारे) विषय श्रुतज्ञान में आते हैं। एक भी पर्याय विकारी है (वह) इसमें नहीं है इस प्रकार निकाल दे तो श्रुतप्रमाण सही नहीं होगा। कुछ समझ में आया ? नये व्यक्ति को तो ऐसा लगेगा कि यह क्या (लेकर) बैठ गये हैं ! यह कहाँ का मार्ग होगा !!

आहा..हा...! (लोग) सामायिक और पच्चखान (प्रत्याख्यान) (करते हैं), (लो), हो गई सामायिक। कुछ भान तो है नहीं ! शब्द जड़ हैं उनकी ओर का लक्ष्य रखते हैं वह राग और राग में मुझे सामायिक हो जाय, वह तो मिथ्यात्व है। आहा..हा...! उस सामायिक को सामायिक नहीं कहा जाता। उसे विषमभाव कहा जाता है, विषमभाव। समभाव तो उसे कहा जाता है कि दृष्टि द्रव्य पर जाने से, वीतरागता प्रगट होती है। या तो श्रुतप्रमाण से तीनों को ही देखने से वीतरागता होती है उसे धर्म कहा जाता है। उसे यहाँ भूतार्थ (कहा जाता है)। लो ठीक, यह भूतार्थ है।

दृष्टि के विषय में अकेला द्रव्य भूतार्थ था। (और) पर्याय अभूतार्थ थी। और इस श्रुतप्रमाण के विषय में तीनों ही हैं। द्रव्य है, गुण है (और) विकारी या अविकारी पर्याय हैं। हैं ! आहा..हा...! तीनों ही भूतार्थ हो गये। क्योंकि वे (तीनों) वस्तु है न ! उसकी वस्तु है न !

('समयसार') ७वीँ गाथा में कहा नहीं है कि गुण और पर्याय (के) भेद तो उसके (अपने) हैं। उसे आप व्यवहार क्यों कह रहे हो ? उसमें है और आप व्यवहार क्यों कह रहे हो ? उसमें है और रागी प्राणी है। अतः भेदपर लक्ष होगा तो राग होगा। रागी है इसलिए भेदपर लक्ष्य जायेगा तो राग होगा, ऐसा नहीं। परंतु रागी है इसलिए भेद पर लक्ष्य जाने से राग होगा, इसलिए कह रहे हैं कि भेद पर का लक्ष्य छोड़ दे ! जिस मोक्ष (को) यहा निश्चय कहा और जिस बंध (को) यहाँ निश्चय कहा और जिस बंध (को) यहाँ निश्चय कहा, उसका लक्ष्य भी छोड़ दे।

आहा..हा...! ऐसी बातें हैं। समझ में आये उतना समझना बापू ! वीतराग मार्ग ऐसा है। आहा..हा...! बहुत सुक्ष्म, बहुत बारीक, बहुत अपूर्व। और उसका लाभ भी महा अपूर्व !!

'**अकेले बध्यमान और मुच्यमान ऐसे बंधमोक्षोचित स्निग्धत्वरूक्षत्वगुणरूप परिणत परमाणु की भाँति।**' देखा ! बंध और मोक्ष के लायक दो परमाणु हैं। दो चिकनाई है वह मोक्ष के लायक है। और चार चिकनाई है वह बंध के लायक है। अपने से, हाँ ! बंध और मोक्ष के उचित। है न उचित !

स्निग्धत्व - रूक्षत्व, दो गुण स्निग्धत्व और दो गुण रूक्षत्व ऐसे चार गुण स्वयं मोक्ष के योग्य हैं और चार गुण स्निग्धत्व और चार गुण रूक्षत्व वे बंध के योग्य हैं। वह अपने कारण से बंध-मोक्ष (के लिए) उचित परमाणु की भाँति। निश्चयनय से आत्मा अकेला ही बद्ध और मुक्त होता है।

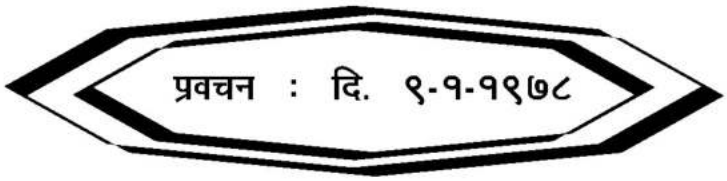
आहा..हा...! यह पर्याय की अपेक्षा से निश्चय है, हाँ ! स्व की पर्याय है न ! इसलिए निश्चय है। '**निश्चयनय से आत्मा अकेला ही बद्ध और मुक्त होता है, जैसे बंध और मोक्ष के योग्य स्निग्ध या रूक्षत्व गुणरूप परिणमित होता हुआ परमाणु अकेला ही बद्ध और मुक्त होता है, उस प्रकार।**' आहा..हा...! दो नयें हुई।

बंध और मोक्ष जीव को पकड़ में नहीं आता। व्यापारी को धंधे के मारे फुरसत नहीं मिलती और ऊपर से (इसमें) ऐसा सब आये। क्या ? (इसमें) परिचय की जरूरत है। बहुत परिचय चाहिए। बापू...! बड़ी मुश्किल से थोड़ा समय निकाले। पूरा मार्ग बहुत बदल गया है। क्या फर्क हो गया है ? भाई... यह समझने योग्य है। विशेष कहेंगे...



आत्मद्रव्य अशुद्धनय से, घट और रामपात्र से विशिष्ट मिट्टीमात्र की भाँति, सोपाधिस्वभाववाला है। ४६।

आत्मद्रव्य शुद्धनय से, केवल मिट्टीमात्र की भाँति, निरुपाधिस्वभाववाला है। ४७।



'प्रवचनसार', नय अधिकार है। दो नय (बाकी) हैं। बाकी हैं न ! ४५ हुए हैं। नय माने ज्ञान का एक अंश। उसके द्वारा आत्मा में अनंत गुण और अनंती पर्याय, उनको - एक एक नय को विषय करे और जाने, उसे नय कहते हैं। इतने सारे नयों द्वारा एक साथ जान नहीं सकता। परंतु उसका मतलब ही यह होता है कि अनंत धर्म हैं, गुण और पर्याय (हैं) उनके सन्मुख देखने पर... (सारी चीज का) जोड़ तो यह है। जो आत्मद्रव्य है, उसे अंतर्मुख देखने पर, वह नय का विषय और प्रमाण का विषय सब कुछ उसमें ज्ञात होता है। कुल मिलाकर जोड़ तो यह है न!

सब कुछ जाने, पढ़े चाहे (जो करे) परंतु बात तो यह कि अंतर्मुख तत्त्व है। इस अतर्मुख (तत्त्व के) सन्मुख होकर, अतर्मुख देखना अर्थात अनुभव करना यह इन सबका सार है।

प्रश्न :- अनुभव क रना माने ?

पूज्य गुरुदेवश्री :- आनंद का वेदन करना।

अनंत गुण एवं अनंती पर्यायों के अनंत नय लिये। और अनंत नयों (का) विषय

अनंत धर्म हैं। परंतु उसका समुदाय जो श्रुतप्रमाण है वह तो अंतर्मुख (होकर) सबको देखता है। अर्थात् उसका अर्थ (यह है)। कि द्रव्य के सन्मुख होता है, यानी वह द्रव्य का अनुभव करता है। गुण और पर्याय का ज्ञान भी उसमें आ जाता है। बात ऐसी है कि पर्याय वर्तमान है, वह बाहर देखने के लिए भटकती रहती है। यह बहिरात्मबुद्धि। बाह्य (में) भटकने की बुद्धि हुई। अंतर्मुख भगवान अंदर एक समय की पर्याय में, अंतर में पूरा आत्मा ज्ञात होता है, ऐसा उसका स्वभाव है।

इसलिए ये सारी (चीजें) जाने, सुने, किन्तु करना तो उसे अंतर्मुख देखने का (कार्य ही) है। आहा..हा...! अर्थात् अंतर्मुख होकर अनुभव करने योग्य है। बात यह है।

बाद में यह सभी झगड़े खड़े हुये कि, व्यवहार करो और व्यवहार करो। वह व्यवहार तो जब स्वरूप की अंतर्मुख दृष्टि हुई, अनुभव हुआ और अनुभव में जब विशेष प्रचुर आनंद का वेदन हो उस काल में उसे उस प्रकार के व्रत के और तप के विकल्प होते हैं, उसे व्यवहार कहा जाता है। फिर भी वह बंध का कारण है। सिर्फ जितना अंतर्मुख होकर भगवान अनुभव करे उतना मोक्ष का मार्ग है। कुछ समझ में आया ? इसलिए ४७ नय कहे। परंतु ऐसे अनंत नय हैं।

(अब) ४६ (वाँ) नय। आत्मद्रव्य... यह आत्मद्रव्य माने अनंत गुण-पर्याय का पिंड... आहा..हा...! अशुद्धनय से यह भी एक नय है। अर्थात् `**आत्मद्रव्य अशुद्धनय से, घट और रामपात्र से विशिष्ट मिट्टीमात्र की भाँति, सोपाधिस्वभाववाला है।**' वजन यहाँ है। अशुद्धता में वजन विशिष्ट के ऊपर है। मतलब क्या ? कि (मिट्टीमें से) घट और रामपात्र (होते हैं), मिट्टी में अनेक प्रकार की योग्यता होती है, वह खास-उसे विशिष्ट कहा। मिट्टीमें से रामपात्र आदि होता है, घड़ा (होता है) इत्यादि। रामपात्र से खास (विशिष्ट) मिट्टीमात्र की भाँति। मिट्टी में इतने भेद पड़ते हैं - वह अशुद्धनय का विषय। यह तो दृष्टांत कहा।

आहा..हा...! मिट्टीमें से घड़ा - रामपात्र - सकोरा इत्यादि (होते हैं), ये विशिष्ट मिट्टी के भेद हैं। और ये भेद हैं वे अशुद्धनय को बताने के लिए दृष्टांत दिया है। कुछ समझ में आया? आहा..हा...! `**आत्मद्रव्य अशुद्धनय से घट और रामपात्र से विशिष्ट...**' खास-विशिष्ट, मिट्टी की भाँति, विशिष्ट विशेष `**मिट्टीमात्र की भाँति,**

सोपाधिस्वभाववाला है।' आहा..हा...!

इस आत्मद्रव्य की अनेक पर्यायें - भेद ये सब उपाधि हैं। यहाँ तो ऐसा कहते हैं। अंतिम दो नय (हैं)। जिस प्रकार एक ही मिट्टी है। उसके विशेष, घड़े और रामपात्र इत्यादि। यहाँ क्या लिया ? रामपात्र, इस प्रकार आत्मा वस्तु एक है। उसके पर्याय के भेद वह भी एक नय है। आहा..हा...! पर्याय के भेद खास, एक के पर्याय के विशेष खास। वह अशुद्धनय का विषय है।

आहा..हा...! क्या कहा यह ? मिट्टी एकरूप है। उसकी अनेक पर्यायें - भेद - विशेष होते हैं। एक में अनेकता की विशेषताएँ यह उपाधि (है)। आहा..हा...! आखिर के नय बहुत अच्छे लिये हैं। उस प्रकार भगवान आत्मा एकरूप है। उसमें पर्याय की खासियत, - विशेष प्रकार, यह सब उपाधि है। भेद है वह (उपाधि है)।

('समयसार') १६वीं गाथा में कहा था, 'मेचक है।' सब भेद बनते हैं - वह मेचक; उसके लक्ष्य से तो मलिनता खड़ी होती है। यहाँ तो पर्यायभेद की चर्चा, गुणभेद की चर्चा, (सब चर्चाएँ) आ गई। एक को विशेष प्रकार से - खास देखना, उसे अशुद्धनय कहते हैं। आहा..हा...! आखिर के दो नय अलौलिक कहे - रखे हैं। यह भी एक नय है, हाँ ! ४६ और ४७ नय, इस प्रकार दो नय होकर समूचा द्रव्य है, ऐसा भी नहीं। ऐसे तो अनंत नय होकर समूचा आत्मद्रव्य है। क्या कहा यह ? आहा..हा...!

मूल भगवान आत्मा एकरूप है। जैसे मिट्टी एकरूप है। उस के विशेष-भेद, पात्रों का होना, उस एक में अनेकता होना, यह उपाधि गिनी गई है। आहा..हा...! इस एक में शरीर, वाणी, कर्म, स्त्री (और) बच्चें (ये) अनेक, यह बात यहाँ नहीं है। एक आत्मा में अन्य अनेक द्रव्यों को गिनना, इस अशुद्धनय की यहाँ बात नहीं है। भगवान आत्मा (को) परद्रव्य के साथ क्या संबंध है ? कुछ समझ में आया ? आहा..हा...!

यहाँ नय का अधिकार है। फिर भी शुद्धनय और अशुद्धनय दो मिलकर समूचा द्रव्य है, ऐसा भी नहीं। आहा...हा...! यह तो एक अंश को एक नय गिना। यह नय है - यह जानने लायक है। और यह नय श्रुतज्ञानप्रमाण में समूह में वह नय आ जाता है। किन्तु आ जाने के बावजूद भी, श्रुतप्रमाण द्वारा तो आत्मा का अनुभव करना। उसके ज्ञान में वह सब आता है, फिर भी अनुभव आत्मा का करना। ज्ञान

में ये सब बातें खयाल में रहती हैं। श्रुतप्रमाण में ये अनेक नयों के प्रकार, खयाल में होते हैं। फिर भी उस श्रुतप्रमाण में पूरा द्रव्य प्रमेय होता है। द्रव्य-गुण और पर्याय तीनों ही, उससे तीनों का एकपना अंदर लक्ष में आना, उसे यहाँ प्रमाण का प्रमेय कहते हैं।

प्रमाण (अर्थात्) श्रुतप्रमाण और उसका विषय, अनंत नय के अनंत धर्म और पर्यायें, यह सब श्रुतज्ञान के प्रमाण में उसका विषय होता है। परंतु इस आत्मा का अनुभव करने से वह विषय ज्ञान में होता है। इतना ज्ञात होता है। आहा..हा...! मार्ग ऐसा बड़ा भारी (है) !! मार्ग की प्रथम शरूआत ही अलौकिक होती है।

वहाँ कहा न ? (यहाँ से किसी ने) कुछ भाषण-व्याख्यान दिया है, तब दूसरा भाषण उसने दिया कि, तुम निश्चयाभासी हो, और हम व्यवहाराभासी है, (ऐसा) हमसे जब कहो तो... अर्थात् तुम व्रत और तप तो करते नहीं हो, इस प्रकार। किन्तु व्रत और तप का यहाँ सम्यक्दर्शन के साथ क्या संबंध है ? इन व्रत-तप के विकल्प तो आगे गुणस्थान की विशेष स्थिरता हो तब वह व्यवहार होता है। परंतु चौथे (गुणस्थान में) उन व्रत-तप का व्यवहार नहीं होता। इस के कारण सम्यक् दर्शन में निश्चयाभास है, ऐसा नहीं है।

इसमें कुछ समझ में आया ? ऐसा वस्तु का स्वरूप है। तेरे आत्मा के हित के लिए तो यह है, प्रभु ! तुझे वह दोष लगे (तू भले) एकान्त कहे। ऐसे कि हम बिना सम्यक्दर्शन के व्रत और तप करते हैं तो हमें व्यवहाराभास कहो, तो तुम सम्यक्दर्शन की बात करते (हो) तो तुम्हारे पास भी व्रत और तप तो कुछ है नहीं। इसलिए तुम निश्चयाभासी हो। भगवान ! इस प्रकार उसकी व्याख्या नहीं होती। सम्यक्दर्शन की भूमिका में व्रत-तप नहीं होते।

व्रत-तप नहीं होते इसलिए द्रव्य का अनुभव किया और निश्चय हुआ इसलिए वह निश्चयाभास है, ऐसा नहीं है। आहा..हा...! अरेरे ! क्या करें ! ऐसा कहते हैं - कायाक्लेश - यों व्रत करते हैं और तप करते हैं, नंगे पैर चलते हैं और सिर के लोच (केशलोचन) करते हैं, ऐसी व्यवहारक्रिया तो हमारे पास है। तुम्हारे पास ऐसा व्यवहार कहाँ है ? इसलिए तुम निश्चयाभासी (हो)।

बापू ! वह व्यवहार कहाँ होता है ? पहले आत्मा (का) अंतर स्वभाव स्पर्श होता

है, अनुभव होता है और फिर उसमें स्थिरता के अंश बढ़ते हैं, अर्थात् द्रव्य का आश्रय विशेष लेता है, उस (गुण)स्थान में ऐसे विकल्प (अर्थात्) पाँचवें (गुणस्थान) में उसके योग्य, और छठे (गुणस्थान में) उसके योग्य विकल्प होते हैं। परंतु यह व्यवहार चौथे में नहीं। इसलिए (वहाँ, चौथे में) निश्चयाभास है (ऐसा नहीं)। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

यह हित का मार्ग तो बहनों-माताओं इस प्रकार है। मैंने तो दिल्ही में कहा था। (वे लोग) बातें कर रहे थे। (मैंने कहा) माता ! जो सम्यक्दर्शन चाहिए वह भिन्न चीज है। (तब) वे लोग बाहर की बातें करने लगे। क्या कहते हैं ? त्रिलोकसारप्रज्ञप्ति की ऐसी बातें करने लगे। उन बातों में कुछ दम नहीं। दो साधु बैठे थे और तीन अर्जिकाएँ... पाँच। बाकी और कोई व्यक्ति नहीं बैठा था। हमारे जाने के बाद ये सब बातें करने लगे कि, ये ऐसे हैं और ये वैसे हैं। मैंने तो (कहा) माताजी ! सम्यक्दर्शन अलग चीज है। हाँ...! ऐसा कहा था।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि श्रुतज्ञानप्रमाण है। वह द्रव्य को जाने, गुण को जाने, पर्याय को जाने। उसमें उसे निर्विकल्पता भी होती है और उसमें आनंद का अनुभव भी होता है। और उसमें उसे सभी नयों का विषय ज्ञान में ज्ञात भी होता है। कुछ समझ में आया ? किन्तु व्रत और तप का व्यवहार उसे होता है, इस विषय की बात यहाँ नहीं है। आहा..हा...! समझ में आया ?

और मुनि छठे गुणस्थान में हो, उन्हें अंतर में - आत्मा में सातवें में न जाय तब तक उन का व्यवहार (उस भूमिका के) विकल्प का होता है। कुछ समझ में आया ? यदि वह व्यवहार न हो तो वह भी निश्चयाभास हो जाता है। आहा..हा...! परंतु चौथे गुणस्थान में - जो छठे और पाँचवें के व्रत-तप के भाव की बातें करें, और न हो तो वह निश्चयाभास है, (तो) ऐसा नहीं है, प्रभु ! वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...!

अरे ! जान बूझकर सब करकरके करना तो प्रभु ! अंतर वस्तु है, वहाँ जाने का है। समझ में आ गया यह ! पहली भूमिका वहाँ है। बाद में भूमिका के आगे बढ़ने पर अंदर में स्थिर न हो सके तब ऐसे व्रत-तप और समिति, गुप्ति, व्यवहार का विनय और वैयावृत्त और भक्ति ये सब भाव होते हैं। उसे व्यवहार कहते हैं।

परंतु सम्यक्दर्शन में उस व्यवहार को देखने जाय (तो) वहाँ वह व्यवहार नहीं है। इसलिए निश्चयाभास है, ऐसा नहीं है। कुछ समझ में आया ? ऐसा है।

यहाँ पर्याय में विशेष भेद लिये, आत्मा में भी पर्याय के भेद हुए, वह भी अशुद्ध है। ऐसा कहते हैं। मिट्टी में जैसे रामपात्र और घटादि पर्यायें - भेद अशुद्ध कहा। उस प्रकार भगवान आत्मा में पर्याय की विशेषताएँ... आहा..हा...! उसे अशुद्धनय का एक विषय कहा। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! पर्याय के भेद को अशुद्धनय का विषय कहा। (परंतु) है उसकी पर्याय में। आहा..हा...! इसलिए ऐसा लिया न कि `**आत्मद्रव्य अशुद्धनय से, घट और रामपात्र से विशिष्ट मिट्टी...**' देखो ! वहाँ है। रामपात्र से, घट से खास विशिष्ट मिट्टी माने विशेष मिट्टी, विशेष मिट्टी की भाँति सोपाधिस्वभाववाला आत्मा है।

पर्याय, पर्यायमात्र को उपाधि कहा। क्योंकि वह है तो सही। पर्याय है। नय का विषय है। आश्रय करने लायक है या नहीं यह प्रश्न यहाँ नहीं है। यहाँ तो ऐसा एक नय का विषय है। उसमें, उस श्रुतप्रमाण में सभी नयों का समूह इकट्ठा होकर (प्रमाण होता है)। प्रमाण द्रव्य-गुण-पर्याय (और) अशुद्धता आदि को भी जानता है।

प्रश्न :- श्रुतपर्याय भी उसमें आ जाती है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री :- भेदमात्र को (जानता है)। आहा..हा...! वह पर्याय है। वह सारा भेद है। क्योंकि वह तो व्यवहार में आ चुका है।

क्रियानय से वह आ चुका है। व्यवहारनय में निमित्त का संबंध आ चुका है। क्रियानय में अनुष्ठान आ चुका है। भाई ! क्रियानय में अशुद्ध अनुष्ठान का आ चुका है। और व्यवहारनय में कर्म के निमित्त के संबंध की अपेक्षा आ चुकी है। भाई... अब यहाँ तो अपने द्रव्य में पर्याय का भेद पड़े तो आहा..हा...! उसे इस अशुद्धता का विषय कहा है।

सूक्ष्म बात है, बापू ! अनंतकाल से उसने इस वास्तविक तत्त्व को देखा नहीं है, जाना नहीं है। अनंतकाल से भटक-भटककर मर गया। आहा..हा...! बड़ी मुश्किल से अवसर आया तब कुछ न कुछ उल्टा करता है। आहा..ह...! क्या ! कुछ समझ में आया ? `**आत्मद्रव्य.... मिट्टीमात्र की भाँति, सोपाधिस्वभाववाला है।**' आहा..हा...!

नय में भी यह डाला। अनुष्ठान का एक नय लिया, एक कर्म के निमित्त का संयोग और वियोग का नय लिया और एक यह मिट्टी के भेद की-पर्याय का, इस प्रकार द्रव्य की पर्याय के भेद का एक विषय भी लिया। आहा..हा...!

शुद्धनय का विषय लेंगे, केवल आत्मा (उसमें) पर्यायभेद नहीं। आहा...हा...! इसमें लोगों को कहाँ फुरसत (मिले) ? विषय इतना बारीक... इसलिए लोग एकान्त करके फिर घोटाला करते हैं। विकारी पर्याय पहले नय में गई। यहाँ तो उसका भेद (अर्थात्) पर्याय। शुद्धपर्याय का भेद (भी) सोपाधि है। रामपात्र की भाँति। कहा न ! एक नय वह भी लिया। आहा..हा...! यह ४६ (वाँ) हुआ।

(अब) ४७ (वाँ नय)। `**आत्मद्रव्य शुद्धनय से केवल मिट्टीमात्र की भाँति, निरुपाधिस्वभाववाला है।**' उसमें `विशेष' शब्द था - खास - इसमें `केवल' शब्द है। दोनों में यह फर्क है। उसमें विशिष्ट मिट्टी की भाँति था। यहाँ केवल मिट्टीमात्र की भाँति; केवल मिट्टी जिस में भेद नहीं। आहा..हा...! केवल मिट्टीमात्र की भाँति। आहा..हा...! निरुपाधिस्वभाववाला है। अर्थात् सिर्फ द्रव्य ही, बस... (अन्य कुछ नहीं)। यह एक नय है। यह जो आत्मद्रव्य है, उसमें अनंत नय और इस नय का प्रमाण और उसका विषय सो आत्मद्रव्य है। और यह है वह एक नय का विषय है, भाई !

पहले तो आत्मद्रव्य कहा वहाँ तो सभी नयों और गुणों को तथा धर्मों को धारण करनेवाला आत्मद्रव्य है। यहाँ वह आत्मद्रव्य नहीं। यहाँ तो एक अभेद आत्मद्रव्य का एक भाग - पर्याय के भेद बिना का केवल भाग, शुद्ध, अकेला। यह भी एक भाग-नय लिया है। आहा..हा...! पूरा शुद्ध एकरूप जो द्रव्य है, जो सम्यक्दर्शन का विषय जो शुद्ध है, वह यहाँ नहीं लेना है।

आत्मद्रव्य में तो सभी नयों का समूह, उसमें सब है। आहा..हा...! समझ में आये उतना समझना ! यह तो प्रभु का मार्ग, गंभीर ! गंभीर मार्ग है ! भाई !

अनंत-अनंत काल से भटक-भटक कर मर गया है। आहा..हा...! सुबह नहीं आया था ? एक श्वास में निगोद के अठारह भव ! आहा..हा...! कौन देखे उसे ? कौन माने उसे ? निगोद में वह आत्मा है, ऐसा कौन माने ? आहा..हा...! वह भी भगवान है ! निगोद में अनंत आत्माएँ, एक अंगुल के असंख्यातवें भाग में पड़ी हैं। फिर भी उनका स्वरूप है, वह तो भगवान स्वरूप है। द्रव्यरूप में, हाँ ! उस द्रव्यरूप

की बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो एक द्रव्य का एक अंश लेना है। एक पर्याय बिना का, बेद बिना का एक अभेद अंश लेना है। इस एक नय में पूरा शुद्ध द्रव्य आ जाता है, ऐसा नहीं। क्या कहा, समझ में आया ?

एक नय का एक अंश आता है। प्रमाण में यह सब मिलकर फिर पूरा द्रव्य (है)। आहा..हा...! यहाँ ऐसा नहीं लेना है। वह तो पूरा द्रव्य है। अनंतगुण के पिंड का एक द्रव्य और वह पूरा एक सम्यक्दर्शन का विषय। यहाँ तो एक शुद्ध का एक अंश लेना है। अभेद-पर्याय का भेद नहीं। ऐसा जो द्रव्य, ऐसा एक नय का वह विषय (है)। आहा..हा...!

अरेरे...! नय का विषय बहुत गंभीर है। आचार्य महाराज ने ह्रदय खोलकर बातें की हैं। आहा..हा...! पहले नय में (भी) एक ही नय है। वह भी समूचा द्रव्य नहीं है। परंतु वह तो द्रव्य और पर्याय इस प्रकार दो नय लिये हैं। यहाँ तो शुद्ध और अशुद्ध लिया है। पहला नय आया है न !

द्रव्य और पर्यायनय। वैसे तो द्रव्य के तीन प्रकार आ चुके हैं। (यह) बात हो चुकी है। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का द्रव्य, द्रव्य-पर्याय का द्रव्य और तीसरा आया था - नाम - स्थापना - द्रव्यभाव। उसमें भी द्रव्य। (इस तरह) तीन प्रकार से द्रव्य आ चुका है। आहा..हा...! उसे भी एक नय का विषय मानकर, उस प्रकार नाम - स्थापना - द्रव्य माना। सूक्ष्म बात है, भाई ! यह तो शांति की बात है। आहा..हा...!

आत्मद्रव्य... वह आत्मद्रव्य। अर्थात् सम्यक्दर्शन का विषय है, वह यह नहीं। गुण एवं पर्याय का समुदाय ऐसा द्रव्य इस प्रकार (लेना है)। उसमें से एक नय का विषय। एक नय का एक विषय (है)। '**केवल मिट्टीमात्र की भाँति...**' यहाँ केवल के ऊपर वजन है। एक मिट्टी है। इस प्रकार एकरूप है, बस ! पूरे श्रुत का यह भी एक नय (है) जो सम्यक्दर्शन का विषय (है) वह नहीं। आहा..हा...!

आत्मद्रव्य शुद्धनय से, एक नय से (निरुपाधिस्वभाववाला है)। शुद्धनय तो वहाँ भी ('समयसार') ११वीं गाथा में कहा। '**भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।**' वहाँ भूतार्थ को, त्रिकाली को, शुद्धनय कहा। नय ही उसे कहा। यह नहीं। यहाँ तो एक अंश अभेद का लेना है। आहा..हा...! वीतराग मार्ग बहुत गंभीर है। वह ऊपर ऊपर से हाथ में आ जाय ऐसा नहीं है। उसमें गहरा उतरना पड़ेगा। गहराई में जाना पड़ेगा।

आहा..हा...! यह अपने हित के लिए है न, बापू !

चौरासी के अवतार कर-करके मर गया, बापू ! उसके दुःख, ऐसे ऐसे दुःख का वेदन किया है, उसे - उसके दुःख को देखनेवाले को रोना आ गया। ऐसे दुःखों का वेदन किया, भाई ! भूल गया वह।

ज़रा मनुष्यपना मिला, पाँच-पच्चीस लाख पैसे मिले और युवानी आयी, कुछ पत्नी-बाल बच्चे मिल गये और धंधा ठीक-अच्छा चला, भूल गया। (सब) भूल गया। आहा..हा...! यहाँ तो श्रुतप्रमाण उसका एक भाग नय उसे यहाँ शुद्धनय में गिना है, भाई !

ग्यारहवीं गाथा में कहा कि, `**ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।**' यह नहीं। वहाँ तो त्रिकाली वस्तु ध्रुव है, उसे शुद्धनय (कहा)। विषय एवं विषय का करनेवाला इस प्रकार भेद नहीं करके, पुनःश्च कहा कि `**भूयत्थमस्सिदो खलु**' त्रिकाली भूत स्वरूप-एकरूप, उसका आश्रय करने से सम्यक्दर्शन होता है।

यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है। आहा..हा...! इसलिए यहाँ शुद्धनय के अभेदपने का एक अंश है। त्रिकाली भूतार्थ है वह यह नहीं। एक अंश जो अंदर अभेद है, भेद नहीं ऐसा एक लेना। आहा..हा...! सूक्ष्म है, भाई !

आहा..हा...! अरे ! प्रभु ! सत्यमार्ग और ऐसा मार्ग बाहर आया (यह) उसे नहीं रुचता, नहीं जचता है। तो क्या करें ? भाई ! हित का मार्ग है, बापू ! जन्म-मरण, जन्म-मरण कर के सोथा निकल गया। आहा..हा...! एक एक श्वास में अठारह भव निगोद के। ऐसा एकबार नहीं। अनंत-अनंतबार !! आहा..हा...!

माता के पेट में नौ-नौ महीने तक, उल्टे सिर से, संकुचित होकर, श्वास नहीं आता। क्या होगा ! बारह वर्ष चोबीस वर्ष (रहा)। माता के पेट में, बारह वर्ष रहा, मरकर फिर से गया तो (फिर) बारह वर्ष रहता है। आहा..हा...! ऐसे चौबीस चौबीस साल तक माता के पेट में उल्टे सिर से। श्वास ले नहीं सकता। संकोच में अनंतकाल बीता। ऐसे चौबीस वर्ष अनंतबार किये। एक बार, दो बार नहीं, आहा..हा...! उन सबको टालने का उपाय, बापू ! यह है। आहा..हा...!

महान चमत्कारिक चीज है। आगे कहेंगे। क्या कहें ? जीव को चाहे जितनी प्रशंसा हमने करी, ऐसा... और ऐसा... (परंतु) उसमें समाती नहीं। उसमें - एक श्लोक में अभी कहेंगे। `प्रवचनसार' में हमने भगवान आत्मा के चाहे जितने बखान

किये, अनंत दिव्य-चिंतामणि चेतनस्वरूप और आनंदमय और रत्नमय और यह और यह, परंतु वे सब कथन, जैसे अग्नि में चीज समा जाती है, उस प्रकार उसमें स्वाहा हो जाता है। उसका अंत न आये ऐसी चीज है। आहा..हा...!

दुनिया चाहे जो बोले, (चाहे जो) माने, मार्ग तो यह है। `**आत्मद्रव्य शुद्धनय से, केवल मिट्टीमात्र की भाँति, निरुपाधिस्वभाववाला है।**' यह आखिर का ४७ (वाँ) कहा। अनंतबार तो कहा नहीं जा सकता। यह बात कर के फिर समेट लेते हैं। पुनःश्च `**इसलिए कहा है कि :-**

जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया।।
परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होदि सव्वहा वयणा।
जइणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचि वयणादो।।'

`**जितने वचनपंथ हैं...**' वचन के प्रकार हैं। भाषा में वचन के अनेक प्रकार कहने में आते (हैं)। `**उतने वास्तव में नयवाद हैं;...**' वचन के अनंत प्रकार हैं। आहा..हा...! जीव को जड़ कहा जाता है। किस अपेक्षा से उसे जड़ कहा जाता है, यह देखना चाहिए न ! पर का इन्द्रियज्ञान नहीं। उसे जड़ भी कहा जाता है। आहा..हा...! कथन के अनेक प्रकार आते हैं, भाई !

भगवान आत्मरत्न अनंत गुण का सागर है। अनंत अनंत गुण का सागर (है)। क्षेत्र छोटा है ऐसा मत देखो ! ऐसे भाव की परिमितता मत देखो ! उसके भाव में अपरिमितता है। क्षेत्र से परिमितता लगती है। अतः ऐसा मत देखो ! आहा..हा...! (आत्मा) असंख्य प्रदेश में, इतने में ही है न! ऐसे परिमित मत देखो। उसके अंतर में स्वभाव के सामर्थ्य की अपरिमितता, अलौकिकता है। उस का तो क्या बयान करें !! कहते हैं कि, जितना कहेंगे वह सब स्वाहा हो जायेगा। इतने से (इतना कहने से) उसका नाप नहीं आयेगा... प्रभु !! आहा..हा...!

तू अंतर में देखने के लिए जा और अनुभव कर तब (उसका) पार पा सके, ऐसा है। आहा..हा...! है ? जितने वचन के मार्ग उतने वास्तव में नयवाद हैं। अनंत हुए, अनंत ! `**और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय (परमत) हैं।**' एकान्त एक ही नय को माने और दूसरे नय को न माने तो वह परमत है। अनंत नयों को

उस उस अपेक्षा से जैसा है उस प्रकार वह जाने तो वह नयवाद सच्चा है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...!

यहाँ तो अभी चौथे गुणस्थान की बात चल रही है। क्या ! उसे नय लागू होते हैं और उसे प्रमाण होता है। यहाँ तो दूसरी चीज कहनी है। उसे वे व्रत-तप नहीं होते। अतः उस का नयवाद झूठा है, ऐसा नहीं है। भाई... आहा..हा...! (सम्यग्दृष्टि के) स्वरूपाचरण चारित्र का अंश होता है, परंतु वे बाहर के व्रत और पंचमहाव्रत और देखकर चलना ऐसी समिति और गुप्ति और यह (सब) नहीं होता। आहा..हा...! और बंध अधिकार में कहा नहीं है ? मुनि का दृष्टांत क्यों दिया? कि जिसे समिति है, इसलिए दिया, भाई ! बंध अधिकार में कहा न ! बाकी तो मुनि समकिती भी अबंध परिणामी ही हैं। आहा..हा...! ऐसा कहा न ?

बंध अधिकार में आया था। ऐसा कि, देखकर चलो। और इसमें हिंसा हो तो, हिंसा उसे लागू नहीं होती। समितिपूर्वक (चलते) हैं न ! हिंसा होती है इसलिए - हिंसा हो रही है, ऐसा नहीं है। तब कहा। परंतु यह उदाहरण क्यों दिया ? कि समिति जिसे सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है और जिसे व्यवहार समिति है, उसका उदाहरण दिया। समकिती को समिति नहीं है परंतु सिद्धांतरूप से तो वह भी अबंध परिणामी है। आहा..हा...!

अब उसे ऐसा लागू कर दे कि तुम्हारे व्रत और तप नहीं है इसलिए एकान्त है। भाई ! व्रत-तप का व्यवहार तो आगे पाँचवी-छठी भूमिका में होता है। कुछ समझ में आया ? वह व्यवहार नहीं है इसलिए वह नयाभास है, ऐसा नहीं है। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं। पचानी चाहिए, बापू! यह तो बात ऐसी है। आहा..हा...! जितना नयवाद है, उतना परमत है। यहाँ तो ऐसा ही कह दिया।

मिथ्यामतियों का वचन सर्वथा परसमय है। फिर उसका खुलासा किया। `**सव्वहा वयणा**' वरना जितने नयवाद हैं उतने मिथ्यावाद (हैं)। तो सारे नयवाद तो ज्ञानी को हैं। परंतु सर्वथा एक नय को माने और दूसरे नय को न माने, उसे परसमय कहा है। `**परसमयों (मिथ्यामतियों) का वचन सर्वथा (अर्थात् अपेक्षा बिना) कहा जाने के कारण वास्तव में मिथ्या है; और जैनों का वचन कथंचित् (अर्थात् अपेक्षा सहित) कहा जाता है इसलिए वास्तव में सम्यक् है।**' सर्वथा अपेक्षारहित कहा जाता है।

अरे भगवान ! आहा..हा...! व्यवहार छठे गुणस्थान में होता है। चौथे गुणस्थान में उस प्रकार का व्यवहार नहीं होता है अतः उसे इसमें एकान्त नय (है) ऐसा कहना ठीक नहीं है। आहा..हा...! और सम्यक्दर्शन बिना व्यवहार तप-व्रत आदि करे, तो वह भी एक नय में है, ऐसा नहीं है। क्या कहा ? कुछ समझ में आया ?सम्यक्दर्शन के बिना व्यवहार और व्रत-तप आदि (करके) नौवीं ग्रैवेयक में गया, अनंतबार गया, उसे नय लागू नहीं होता। आहा..हा...! जहाँ वस्तु (प्रत्यक्ष) नहीं है, वहाँ उसे फिर नय कौन से ?

फिर भी भाषा ऐसी बोली जाती है। बंध अधिकार में जाता है न व्यवहार करता है। भगवान का कहा हुआ व्यवहार अभव्य भी करता है। यह तो एक बात समझने (के लिए) है। आती है, ख़याल में है, सभी बातें जानते हैं। जहाँ जहाँ जो है वह (जानते हैं)। आहा..हा...! बहुत गंभीरमार्ग भाई ! आहा..हा...! गहरा गहरा मार्ग... पाताल में पड़ा है, भगवान ! आहा..हा...! जिसमें अनंत चैतन्य रत्नाकर (है ऐसा) भगवान है।

अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... जिसके अनंत का अंत नहीं। आहा..हा...! क्षेत्र का जैसे अंत नहीं। उस प्रकार (इस) भाव की - शक्ति की संख्या का अंत नहीं। क्या है यह ! ऐसा यह भगवान ! रतन, निर्मलानंद प्रभु ! चैतन्य, उसमें पर्यायसहित के अनेक नय लागू होते हैं। परंतु चौथे गुणस्थान में उसे व्यवहार, व्रत और वह (सब) नहीं है। अतः नयाभास है, ऐसा नहीं है। और सम्यक्दर्शन के बिना व्रत-तप करे, इसलिए वह व्यवहारनय है, तो ऐसा भी नहीं है। कुछ समझ में आया ?

आहा..हा...! गज़ब बातें हैं !! उसमें अपने यहाँ `छहढाला' में आया था न ! `मोक्षमहल की परथम सीढ़ी। ये बिन ज्ञान चरिता' ऐसे आया था न ? सम्यक्दर्शन के बिना सब ज्ञान-चारित्र झूठे हैं। और मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी वहाँ आयी, समझ में आया ! एक बात दूसरी याद आयी, आहा..हा...! और सम्यक्दृष्टि, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (सहित) सम्यक्दृष्टि को शिवमार्ग में कहा। `छहढाला' में शिवमगचारी कहा, समझ में आया ? दो (बात)। तीसरा याद (आया)। ज़रा कि लाख बात की बात। ऐसी मुद्दे की रकम है। `लाख बात की बात, निश्चय उल आणो, छोड़ी सकल जग द्वंद-फंद, निज आतम उर ध्याओ।' आहा..हा...! यहाँ व्रत करो, ऐसा नहीं कहा।

वह तो अस्थिरता को लेकर बीच में आता है। आगे भूमिका में लेकर आ जाता है। आहा..हा...!

यह झगड़े का विषय नहीं है, भाई ! यह तो शांति का विषय है। इसलिए एक ही नय को खींचे कि सम्यक्दृष्टि हो उसे चारित्र होना ही चाहिए। व्रत-नियम उसे होने ही चाहिए (तो ऐसा नहीं है)।

ऋषभदेव भगवान को ९३ लाख पूर्व तक चारित्र नहीं था। क्षायिक समकिती थे। (मिथ्यादृष्टि) नौवीं ग्रैवेयक तक गया। उसे (चारित्र) करोड़ों पूर्व, आठ वर्ष से पहले होता है। आठ वर्ष से मुनि हुआ और करोड़ पूर्व व्रत-नियम का पालन किया। तो भी मिथ्यादृष्टि रहा और इनको (ऋषभदेव भगवान को) ९३ लाख पूर्व (तक) चारित्र नहीं और फिर भी क्षायिक समकिती रहे। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

बहुत पहलू बनते हैं। मार्ग गंभीर (है)। जैनदर्शन माने... (अलौकिक है)। आहा..हा...! जैनशासन (है) उसमें से मोक्ष के महल पकते हैं। आहा..हा...! मोक्ष कहा न ? मोक्ष का महल। मोक्षमहल की पहली सीढ़ी। आहा..हा...!

यहाँ कहते हैं कि, एकान्त नय है, वह सर्वथा एकान्त कहे, तो वह मिथ्यानय है। उस में ऐसा नहीं लेना कि, चौथे गुणस्थान में भी व्रत-तप नहीं होते, तो वह एकान्तनय है। ऐसा नहीं लेना। और सम्यक्दर्शनरहित जीव को व्रत-तप है इसलिए उसे नय है, ऐसा भी नहीं लेना। आहा..हा...! इस प्रकार बहुत सारे भंग हैं। आहा..हा...! ऐसा मार्ग है। भगवान !

'**परसमयों (मिथ्यामतियों) का वचन सर्वथा (अर्थात् अपेक्षा बिना) कहा जाने के कारण वास्तव में मिथ्या है;...**' आहा..हा...! '**और जैनों का वचन कथंचित् (अर्थात् अपेक्षासहित) कहा जाता है इसलिए वास्तव में सम्यक् है।**' जैनदर्शन का वचन तो सम्यक् (होता है)। दूसरे नय की अपेक्षा रखकर, जिस जिस भूमिका में, जो जो होता है, उसकी अपेक्षा रखकर होता है। परंतु उसे सम्यक्दर्शन में चारित्र और व्रत नहीं है तो वह नयाभास है। ऐसा कहे कि यह तो एकान्त मिथ्यादृष्टि है। (तो वह ठीक नहीं है)।

और सम्यक्दर्शन बिना व्रत और तप धारण करे, क्योंकि यह तो हमारा व्यवहार है। वह भी मिथ्यादृष्टि एकान्त है। ऐसा कठिन काम है। '**और जैनों का वचन कथंचित्**

(अर्थात् अपेक्षासहित) कहा जाता है इसलिए वास्तव में सम्यक् है।'

'**इस प्रकार इस (उपरोक्त) सूचनानुसार (अर्थात् ४७ नयों में समझाया है उस विधि से) एक-एक धर्म में एक-एक नय (व्यापे), इस प्रकार अनंत धर्मो में व्यापक अनंत नयों से...**' लीजिए है '**अनंत नयों से निरूपण किया जाय तो,...**' देखा ! वह शुद्धनय कहा वह भी एक नय है। शुद्धनय माने इस द्रव्य को, नित्य को विषय करता है। ऐसा यहाँ नहीं लेना। उस द्रव्य को अद्वैत जानता है, ऐसा एक नय लेना है। आहा..हा...!

वास्तव में '**अनंत नयों से निरूपण किया जाय तो, समुद्र के भीतर मिलनेवाले श्वेत-नील गंगा-यमुना के जलसमूह की भाँति,...**' क्या कहा ? गंगा का पानी सफेद है और यमुना का (पानी) हरा होता है। दोनों साथ मिलते हैं। '**अनंत नयों से निरूपण किया जाय तो, समुद्र के भीतर मिलनेवाले श्वेत-नील गंगा-यमुना के जलसमूह की भाँति, अनंत धर्मों को परस्पर अतद्भावमात्र से पृथक् करने में अशक्य होने से,...**'

जैसे वह पानी भी समुद्र में मिला हुआ है न ! गंगा का पानी और यमुना का पानी, दो रंग में फर्क (है), परंतु मिला हुआ है। उस प्रकार नय हैं, उनका विषय भेद है, परंतु हैं साथ में। प्रमाण में सब साथ में हैं। आहा..हा...! उस प्रकार उस विधि से '**एक-एक धर्म में एक-एक नय (व्यापे), इस प्रकार अनंत धर्मों में व्यापक अनंत नयों से निरूपण किया जाय तो, समुद्र के भीतर मिलनेवाले श्वेत-नील गंगा-यमुना के जलसमूह की भाँति, अनंत धर्मों को परस्पर अतद्भावमात्र से पृथक्...**' एक धर्म दूसरे धर्मरूप नहीं होता। अतद्भाव पर्याय है। पर्याय (पर्याय) के बीच, गुण-गुण के बीच, भी अतद्भाव है।

'**पृथक करने में अशक्य होने से, आत्मद्रव्य अमेचकस्वभाववाला...**' है। अभेद विविधता रहित एक (है)। '**अमेचकस्वभाववाला, एक धर्म में व्याप्त होनेवाला, एक धर्मी होने से यथोक्त एकान्तात्मक (एकधर्मस्वरूप) है।**' और एक एक धर्म को देखनेवाले, एक एक नय को देखो तो एकान्तात्मक है। समुच्चय देखो तो अनेकान्त है। और एक एक को देखो तो एक है। परंतु सूक्ष्म है ज़रा। विशेष लिया जायेगा...



('प्रवचनसार') फिर से वह लेंगे। इस प्रकार है न ? '**इस प्रकार इस (उपरोक्त) सूचनानुसार (अर्थात् ४७ नयों में समझाया है उस विधि से) एक-एक धर्म में एक-एक नय (व्यापे),...**' सूक्ष्म बात है। ज़रा ध्यान रखो। एक नय से एक ही धर्म ज्ञात होता है। '**इस प्रकार अनंत धर्मो में व्यापक अनंत नयों से...**' है, आहा...हा...! अनंत धर्म आत्मा में हैं। अनंत गुण और अनंत पर्याय, यह अनंत उसने धारण करके रखा है। (इसलिए) धर्म कहा जाता है।

'**अनंत धर्मों में व्यापक अनंत नयों से निरूपण किया जाय तो, समुद्र के भीतर मिलनेवाले श्वेत-नील गंगा-यमुना के जलसमूह की भाँति,...**' गंगा का पानी सफेद है और यमुना का पानी हरा है - आसमानी है। आसमानी रंग के '**जलसमूह की भाँति, अनंत धर्मों को परस्पर अतद्भावमात्र से...**' अंदर अंदर अतद्भाव है। कोई एक नहीं है।

अतद्भाव माने ? एक धर्म दूसरे धर्मरूप नहीं है। अतद्भावरूप है। प्रत्येक भिन्न भिन्न है। '**अतद्भावमात्र से पृथक् करने में अशक्य होने से आत्मद्रव्य अमेचकस्वभाववाला,...**' है, अभेद है। एक नय से देखे तो भी यों पृथक् करना अशक्य होने से अभेद है, ऐसा कह रहे हैं।

'**एक धर्म में व्याप्त होनेवाला,...**' है। समूचा द्रव्य एक नय से देखने पर एक धर्म में व्याप्त होनेवाला है। '**एक धर्मी होने से यथोक्त एकान्तात्मक (एकधर्मस्वरूप) है।**' एक नय से देखो तो एक धर्मस्वरूप है। कुछ समझ में आया ? सूक्ष्म है ज़रा। '**परन्तु युगपत् अनंतधर्म में व्यापक ऐसे अनंत नयों में व्याप्त होनेवाला एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण से निरूपण किया जाय तो, समस्त नदियों के जलसमूह के**

समवायात्मक (**समुदायस्वरूप**) **एक समुद्र की भाँति,...**' वहाँ अतद्भाव था। (अभेद) उस उस भावरूप अभेद वह नहीं था।

यहाँ '**एक समुद्र की भाँति, अनंत धर्मों को वस्तुरूप से पृथक करना अशक्य होने से आत्मद्रव्य मेचकस्वभाववाला,...**' भेदवाला होने के बावजूद '**अनंत धर्मों में व्याप्त होनेवाला, एक धर्मी होने से, यथोक्त अनेकान्तात्मक** (**अनेक धर्मस्वरूप**) **है।**' एक एक नय से अनेकात्मक है। और अनंत नय से देखो तो अनेकान्तात्मक है।

दृष्टांत समुद्र का देंगे। समुद्र में जिस प्रकार एक नदी और दूसरी नदी में अलग रंग है अब एक का सफेद और (दूसरा) वह... (नीला)। एक एक से देखो तो, समुद्र पूरा (एक एक रूप) दिखता है और सभी से देखो तो सब समूहरूप दिखता है। एक से देखो तो एकात्मक और अनेक से देखो तो अनेकात्मक। ऐसी सब भाषा होती है।

एक नय से देखे तो भी आत्मा को पृथक नहीं किया जाता। अतद्भाव है। एक भाग होने के बावजूद पूरा दिखता है और अनंत नय से देखो तो भी पूरा दिखता है। ऐसा पूरे का जोड़ आगे लेंगे। शुद्ध चैतन्यमात्र देखते हैं। देखने का यह जोड़ है। बाद का श्लोक यह आयेगा। एक नय से देखो तो भी आत्मद्रव्य शुद्ध चैतन्यमात्र दिखता है। अनंत नय से देखो तो भी आत्मा पूरा शुद्ध (चैतन्य)मात्र दिखता है।

अनंत धर्मों में व्यापनेवाला एक धर्मी (अर्थात्) वस्तु एक होने से यथोक्त अनेक स्वरूप है। अनेकान्तात्मक है। '**जैसे एक समय नदी के जल को जाननेवाले ज्ञानांश से देखा जाय तो समुद्र एक नदी के जलस्वरूप ज्ञात होता है,...**' है ! एक जलस्वरूप पूरा समुद्र ज्ञात होता है। आहा..हा...! '**उसी प्रकार एक समय एक धर्म को जाननेवाले एक नय से देखा जाय तो आत्मा एक धर्मस्वरूप ज्ञात होता है;...**' एक नय से देखे तो आत्मा एकरूप एकान्त दिखता है। अनंत से देखे तो, आत्मा अनेकान्तमय दिखता है, परंतु दिखता है आत्मा। आहा..हा...!

'**परंतु जैसे एक ही साथ सर्व नदियों के जल को जाननेवाले ज्ञान से देखा जाय तो समुद्र नदियों के जलस्वरूप ज्ञात होता है, उसी प्रकार एक ही साथ सर्वधर्मो को जाननेवाले प्रमाण से देखा जाय तो आत्मा अनेक धर्मस्वरूप ज्ञात होता है। इस**

प्रकार एक नय से देखनेपर आत्मा एकान्तात्मक है।' यह इसका जोड़। एक नय से देखने पर भी यह आत्मा (ही) ज्ञात होता है और अनेक नय से देखो तो भी आत्मा ज्ञात होता है।

क्योंकि एक नय से देखो तो भी सभी धर्मो के स्वभाव भिन्न होने के बावजूद एकरूप हैं, आत्मद्रव्य में एकरूप है। इस प्रकार एक नय से देखो तो भी आत्मद्रव्य ज्ञात होता है। और अनंत नय से देखो तो भी आत्मा ज्ञात होता है। एक जल के एक प्रकार से देखो, तो समुद्र ज्ञात होता है। जल के अनेक प्रकार से देखो तो भी समुद्र ज्ञात होता है। कुछ समझ में आया ?

`**इस प्रकार एक नय से देखने पर आत्मा एकान्तात्मक है...**' परंतु आत्मा, हाँ ! एक नय से देखने पर एक ही धर्म ऐसा नहीं। एक नय से देखने पर आत्मा एकान्तात्मक है - एक नय स्वरूप है। `**और प्रमाण से देखने पर अनेकान्तात्मक है।**' आहा..हा...! सूक्ष्म पड़े।

समुन्दर है न समुन्दर, और गंगा के और यमुना के पानी में रंगभेद है। तो एक रंग से देखो तो भी पूरा समुन्दर दिखता है, और दो रूप, सभी नदियों के रंग से देखो तो भी समुन्दर अनेकरूप दिखता है; तो आत्मा की माफिक समुन्दर एकरूप दिखता है, उस प्रकार अनेकरूप दिखता है। वैसे (ही) आत्मा एक धर्म से भी पूरा दिखता है और अनेक धर्म से भी पूरा दिखता है। आहा..हा...! एकरूप दिखता है। एकरूप से एकरूप दिखता है, ऐसा नहीं।

एक नय से देखो तो भी आत्मा पूरा दिखता है। क्योंकि दूसरे धर्मो को पृथक् करना अशक्य होने से ऐसा कहा। और समुद्र में गंगा नदी का पानी सफेद, यमुना का पानी नीला (है) परंतु एक जल से देखो तो उसमें वह पृथक् किया नहीं जा सकता। अतः एक जल से देखो तो भी समुद्र ऐसा दिखता है और सभी पानी को इकट्ठा देखो तो (भी) समुन्दर एकरूप दिखता है - पृथक् नहीं, वहाँ पृथक नहीं है। अतः एक नय से देखो तो आत्मा पूरा दिखता है और अनेक नय से देखो तो आत्मा पूरा दिखता है। ऐसा कह रहे हैं। भाई ! कुछ समझ में आ रहा है ?

कभी ऐसा सुना भी नहीं होगा कि आत्मा ऐसा है। वह तो अनंत धर्मरूप है। अनंत धर्म माने अनंत भाव। अनंत भाव माने अनंत गुण और अनंती पर्याय। यह जो

आत्मद्रव्य है, वह अनंत धर्मस्वरूप है। धर्मस्वरूप माने अनंत भावस्वरूप है। अनंत भावस्वरूप है माने अनंत गुण और अनंत पर्यायस्वरूप है। हो चुका, अब उसे एक नय से देखो।

समुद्र... जैसे समुद्र को गंगा के और यमुना के विधविध पानी से एक साथ देखो तो भी समुद्र है। और एक एक पानी से (अलग) देखो तो भी पूरा समुद्र दिखता है। उस प्रकार आत्मा में अनंत भाव (अर्थात्) गुण और पर्याय, उन्हें एक नय से देखो तो भी अन्य गुण अलग किये नहीं जा सकते। अतः एक नय से देखो तो आत्मा है। अनेक नय से देखो तो अनेकान्तात्मक आत्मा है। एक नय से देखो तो एकान्तात्मक आत्मा है। अनेक नय से देखो तो अनेकान्तात्मक आत्मा है। ऐसा सूक्ष्म है।

सुबह सूक्ष्म (आया था)। फिर अभी (भी) सूक्ष्म (आ गया)। बनियों को समय तो मिलता नहीं। आहा..हा...! अंदर, एक (धर्म) देखे तो (भी) देखना वहीं पर है न ! एक धर्म देखो तो भी पूरा (आत्मा) दिखता है। ऐसा कहते हैं। आहा..हा...! अनेक से देखो तो भी पूरा आत्मा है। एक नय से एक ही अंश को नहीं देखना है। ऐसा कह रहे हैं। आहा..हा...!

एक प्रकार के पानी को देखने पर एक ही प्रकार के पानीवाला समुद्र ऐसा नहीं। परंतु एक जल के पानी को देखने पर पूरा समुद्र और दोनों प्रकार के नीले और सफेद रंग से देखो तो भी (पूरा) समुद्र। कुछ समझ में आया ! विचार करे, तो सोचने का समय भी साथ में रहता है। अब उसकी टीका - गाथार्थ कर रहे हैं। गाथा है न !

स्यात्कारश्रीवासवश्यैर्नयौधैः पश्यन्तीत्थंचेत् प्रमाणेन चापि।
पश्यन्त्येव प्रस्फुटान्तर्धर्मस्वात्मद्रव्यः शुद्धचिन्मात्रमन्तः।।

'**इस प्रकार स्यात्कारश्री (स्यात्काररूपी लक्ष्मी) के...**' अर्थात् कथंचित् प्रकार की लक्ष्मी द्वारा, स्यात्कार - स्यात् - कदाचित् है न ? स्याद्वाद। '**निवास के वशीभूत वर्तते नयसमूहों से (जीव) देखें तो भी और प्रमाण से देखें तो भी स्पष्ट अनंत धर्मोंवाले निज आत्मद्रव्य को भीतर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखते ही हैं।**' आहा..हा...! वैसे देखो तो पर्याय में राग है। वह भी एक नय था। राग है वह भी एक नय का धर्म था। फिर भी उसे जानकर भी जानना है (आत्मद्रव्य)। यह क्या कहा ? आहा..हा...!

ऐसा तो कहा था कि एक नय रागवाला है, एक नय कर्तावाला है, (एक) भोक्तावाला है। है न ? एक नय अनुष्ठानवाला है। वह नय का धर्म भले हो ! उसे जानकर भी झुकना किधर है? आत्मा की ओर... आहा..हा...! है ? `**इस प्रकार स्यात्कारश्री के निवास के वशीभूत वर्तते नयसमूहों से (जीव) देखें तो भी और प्रमाण से देखें तो भी...**' नयसमूह द्वारा देखें तो भी `**स्पष्ट अनंत धर्मोंवाले निज आत्मद्रव्य को भीतर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखते ही हैं।**' इस प्रकार लेना। क्या कहा ?

नयसमूह से देखें तो भी निज आत्मद्रव्य में शुद्ध चैतन्यमात्र देखते ही हैं। प्रमाण से देखो तो भी स्पष्ट अनंत धर्मोंवाले निज आत्मद्रव्य को भीतर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखते ही हैं। क्या ! (ऐसा) आत्मा भीतर (है) ! बाहर पर्याय में राग है और निर्मलता (का भेद) है - ऐसा नहीं देखकर, अंदर में (ऐसे) देखना, ऐसा कह रहे हैं।

द्रव्य में देखना। द्रव्य ! द्रव्य ! वह द्रव्य कैसा ? कि है तो अनंत धर्मात्मक। इस का ज्ञान करके भी अंदर में देखने के लिए जाना है। आत्मद्रव्य जो वस्तु है उसे देखना। आहा..हा...! आत्मद्रव्य अंदर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखता ही है। आहा..हा...! वहाँ वह, पहले जो आत्मद्रव्य लिया था, वह अनंत गुण और अनंत पर्याय विकारी और अविकारी का समूह लिया था, परंतु इस समग्र समूह द्वारा देखे तो अंदर में देखना है। भीतर गहराई में आत्मा जो शुद्ध चैतन्यघन है उसे देखना है, ऐसा कहते हैं। आहा..हा...! अनंत पर्यायों में अनंत नय होने के बावजूद और अनंत पर्याय में विकार होने के बावजूद और उस विकार को जाननेवाला नय होने के बावजूद (यह सब) देखकर, देखना (तो) है भीतर में द्रव्य की ओर। शुद्ध चैतन्य द्रव्य की ओर (देखना है)। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

ऐसी बात जचना कठिन पड़ता है। (लोगों को तो) वह व्रत और तप (करना) अनुकूल (लगता है)। आहा..हा...! आत्मद्रव्य जो ४७ नय में पहले आता था वह आत्मद्रव्य अनंत गुण और अनंती विकारी-अविकारी पर्याय का धारक आत्मद्रव्य।

अब कहते हैं कि एक एक गुण को एक एक नय से (देखा) फिर भी देखना तो वहाँ आत्मा में है। आत्मा शुद्ध चैतन्यमात्र है उसे देखना है और पूरे प्रमाण द्वारा देखो तो भी आत्मा शुद्ध चैतन्यमात्र है उसे देखना है। इस प्रमाण द्वारा देखना है (तो) यह आत्मद्रव्य (को)। प्रमाण में ज्ञान लिया। विकारी-अविकारी का ज्ञान लिया।

वह प्रमाण में आया। आने के बावजूद भी उसे देखना है भीतर में, आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

प्रमाण में (सब का) ज्ञान किया। त्रिकाली द्रव्य का किया, गुण का किया, पर्याय का किया, परंतु यह सब करके देखने के लिए कहाँ जाना है ? आत्मद्रव्य त्रिकाली शुद्ध है, वहाँ जाना है। देखो ! है ? आत्मद्रव्य - निज आत्मद्रव्य को - अपने आत्मद्रव्य को; भगवान को नहीं। आहा..हा...! ऐसी सूक्ष्म बातें हैं। अंदर में शुद्ध चैतन्यमात्र, शुद्ध चैतन्यमात्र (ही) देखते हैं, ऐसा लिया। प्रमाण में वह जो पर्याय में विकार है, फिर भी वह ख़याल में रहता है। फिर भी झुकना तो यों (भीतर में), आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

ऐसा मार्ग है, भाई ! क्योंकि वह द्रव्य - आत्मद्रव्य जो ४७ (नय) में कहा था, वह तो अनंत गुण और अनंत पर्यायें, विकारी-अविकारी उसका धारक आत्मद्रव्य। इतनी व्याख्या करके फिर उसमें से एक एक नय से समझाया, फिर प्रमाण से समझाया। परंतु यहाँ तो कहते हैं कि, भले एक नय से - एक धर्म को समझाया किन्तु फिर दृष्टि कहाँ डालनी है ? प्रमाण में उस विकार को देखने का ज्ञान हुआ। परंतु उस ज्ञान को वहाँ तक (सीमित) नहीं रखना है। कुछ समझ में आया ! आहा..हा...! भाषा तो देखो न कि क्या है ? इस प्रकार '**आत्मद्रव्य को भीतर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखते ही हैं।**' आहा..हा...! क्या ! प्रयोजन यह है। इसे कहने का फल यह है।

भले अनंत गुणों का, एक एक गुण का एक एक नय कहें और अनंती पर्यायों में निर्मल पर्याय को एक एक नय कहें और विकारी पर्याय को भी एक एक नय कहें और उस नय का ज्ञान भी श्रुतप्रमाण आये। किन्तु आने के बावजूद भी ढलना है शुद्ध चैतन्य के ऊपर। आहा..हा...! इस में कुछ समझ में आया ? इसमें - (जो) कहा उसमें समझ में आया ?

फिर से, यह जो आत्मद्रव्य है वह पर से भिन्न, पर के साथ कुछ (संबंध नहीं) और अपने से अभिन्न। अपने से माने अपने गुण जो स्थायी और पर्याय जो पलटती (है) विकारी और अविकारी, इन सभी पर्याय (और) गुण का धारक आत्मद्रव्य धर्मी। ऐसा एक नय से देखो तो भी उस शुद्ध चैतन्य को देखना है (ऐसा) कहते हैं। ज्ञान (सबका) भले हो ! कुछ समझ में आया? विकार का ज्ञान हो, अविकारी पर्याय

का ज्ञान हो, फिर भी उसे देखना है भीतर - शुद्ध चैतन्यमूर्ति के ऊपर नज़र करनी है। आहा..हा...! भगवान आत्मा त्रिकाल पर से भिन्न ही है। और वह यहाँ साधकभाव की अपेक्षा का वर्णन है। एक बात। एक बात क्या हुई ? कि पर - कर्म, शरीर, वाणी, मन - इनसे तो भिन्न है। एक बात और पर से भिन्न है। वह स्वयं अनंत गुण और अनंत पर्याय का समुदाय (है)। साधकपने की अपेक्षा से बात है। यहाँ बाधकपने की अपेक्षा से बात नहीं है। कुछ समझ में आया ! बाधकपना माने ? क्या ! जिसकी - अज्ञानी की दृष्टि सिर्फ राग में ही पड़ी है, उसकी बात यहाँ नहीं है। जिसके ज्ञान में राग का ज्ञान है, एक एक नय का, एक एक धर्म का ज्ञान है, ऐसे साधक जीव के लिए यह बात है। आहा..हा...!

यह बीच में यह 'साधक' डाल दिया। अब जब साधक है तो दर्शन की अपेक्षा से उसकी दृष्टि तो द्रव्य ऊपर ही है। परंतु ज्ञान की अपेक्षा से, अनंत गुणों को जानने के बावजूद अनंती पर्याय को - विकारी, अविकारी (को) जानने के बावजूद - एक नय से देखो तो भी पूरे शुद्ध चैतन्य के ऊपर उसे नज़र करनी है और अनंत नय के समूह - प्रमाण द्वारा देखो तो भी उसे शुद्ध चैतन्य के ऊपर दृष्टि करनी है।

कहो, समझ में आता है कुछ ? भाई ! यह तो समुन्दर है - समुद्र (है)। आहा..हा...! शाम को ये (व्यापारी) पूरे दिन का नामा (हिसाब-किताब) लिखते हैं, खाताबही में खतौनी करते हैं कि नहीं ! शाम को अलग अलग नामा लिखते हैं फिर शाम को खाताबही में पूरी खतौनी कर देते हैं। (इस प्रकार) यह खाताबही में खतौनी कर दी अब। आहा..हा...!

समुद्र का दृष्टांत देखा नहीं ! कि समुद्र में गंगा और यमुना का पानी रंगभेदवाला है। फिर भी उस रंगभेदवाले एक एक (अलग) जल से देखो तो भी समुद्र को ही देखता है। क्योंकि समुद्र की माफिक उसके पानी का रंग सफेद और हरा अलग नहीं किया जा सकता। अतः उसे एक से देखना है तो भी समुद्र देखना है। और इन दोनों रंग से देखना है तो भी समुद्र देखना है। उस प्रकार भगवान आत्मा में एक एक गुण और एक एक पर्याय के एक एक धर्म के नय से देखो तो भी उसे आत्मद्रव्य शुद्ध चैतन्यद्रव्य है वही जानना है और अनंतनय के समूहरूप

प्रमाण(ज्ञान) द्वारा देखो तो पर्याय भले उसके ज्ञान में आये तो सही परंतु उसकी दृष्टि का ज़ोर वहाँ शुद्ध द्रव्य के ऊपर है। कुछ समझ में आया ?

आत्मा स्वयं पर से भिन्न होने पर भी, उसमें अनंत गुण है और अनंत पर्याय है और वह भी यहाँ निर्मल पर्याय(वाले) साधक जीव की बात लेनी है। नय की बात लेनी है न ! अज्ञानी को नय कहाँ से (लागू होते हैं) ? और प्रमाण कहाँ (लागू होता है) ? आहा..हा...! जिसे एक नय के एक धर्म से साधक देखे, तो भी वह धर्म, वस्तु धर्मी जो शुद्ध चैतन्य (उसे ही) अनुभव करता है। और अनेक धर्म के अनेक समूह से - प्रमाण से देखे तो भी वह शुद्ध चैतन्य को देखता है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया !

कहो ! झूठ-मूठ लग रहा है अभी सब। कठिन लग रहा है। हाँ करनेपर फिर जवाब क्या देना ? कितनी बार तो यह फेरबदल कर बात होती है। आहा..हा...! अंतर में उसका ध्रुवपना है उसमें अनंत गुण हैं, उसकी पलटती हुई दशा में अनंत पर्यायें हैं। अब, जब उस पूरे को देखना है; तो कहते हैं कि पूरे प्रमाण द्वारा वह देखा जाता है और एक धर्म और दूसरे धर्म अलग नहीं किये जा सकते अतः एक धर्म से भी वहाँ आत्मा को शुद्ध ही देखना है। आहा..हा...! और अनंत नय को अनंत धर्म द्वारा देखो तो फिर भी सारे भाव भिन्न भिन्न हैं, फिर भी वहाँ एकरूप दिखता है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप से अनेकान्तात्मक आत्मा अनेक धर्म (उस में) दिखने के बावजूद, वस्तुरूप से शुद्ध चैतन्य द्रव्य दिखता है। है न यह !

यह तो आचार्य महाराज ने गज़ब काम किये हैं। ऐसी बात कहीं मिल नहीं सकती। आहा..हा...! '**इस प्रकार स्यात्कारश्री के...**' स्यात् माने अपेक्षा। अपेक्षा की लक्ष्मी द्वारा देखो तो '**निवास के वशीभूत वर्तते नयसमूहों से (जीव) देखें तो भी...**' नयसमूह से देखें तो - ऐसा कहा न पहले ? भले एक एक नय को देखने पर भी ऐसे अनंत नय साथ में आते हैं और वहाँ भीतर सब कोई भिन्न नहीं होते हैं। '**और प्रमाण से देखें तो भी स्पष्ट अनंत धर्मोंवाले निज आत्मद्रव्य को भीतर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखते ही हैं।**'

आहा..हा...! गज़ब काम किया है न ! तीन पंक्ति में तो बारह अंग का सार भर दिया है। आहा..हा...! एक एक वाक्य में, 'श्रीमद्' कहते हैं कि ज्ञानी के एक

एक वाक्य में अनंत आगम भरे हैं। आहा..हा...!

कितनी अपेक्षा से उसमें कितने कथन भरे होते हैं। उसमें हो या न हो, उसकी बात नहीं है। भगवान (आत्मा) तो अनंत अनंत धर्म का समुन्दर-सागर है। कितने अनंत ? कि आकाश के प्रदेश का जहाँ अंत नहीं है। आहा..हा...!

वह आया था। सुबह नहीं आया था ? अनंतः... असंख्य प्रदेशी ऐसा आया था। असंख्य प्रदेशी। स्थिर शाश्वत ! आया था न ? फिर लसत भाव, प्रत्यक्ष विशद, विशद रह गया। लसत तो चौथा बोल है 'अन्तः स्थिर विशद लसत' आह..हा...! अंतर में असंख्य प्रदेशी है। यह हुआ। फिर सर्वकाल शाश्वत हुआ। फिर उसका स्वरूप शुद्ध हुआ। फिर उसका स्वरूप प्रत्यक्ष हुआ। आहा..हा...! चारों में आत्मा को पूरा समा दिया। यहाँ अनंत (धर्मात्मक) आत्मा को प्रमाण में समा दिया। आहा..हा...!

'अमृतचंद्राचार्य' की टीका भरतक्षेत्र में (अजोड़ है) ! दिगंबर में भी बहुत टीकायें हैं परंतु ऐसी टीका ! यह (तो) अलौकिक है !! भाई ! यहाँ तो कहते हैं कि, भले हमने अनंत(नयों) से बात की, परंतु एक एक नय से एक धर्म वहाँ कोई अलग नहीं है। एक नय से देखो तो अनंत धर्म इकट्ठे हैं। और पूरे प्रमाण से देखो तो, पर्यायों का ज्ञान भले उस में हो ! प्रमाण में प्रमाण है न ! वह कोई नय नहीं है। इसलिए प्रमाण में और विकार में भी, नय में एक विकारनय है कि नहीं ? नयों में भी एक विकारनय है कि नहीं ? परंतु विकारनय होने के बावजूद, उस के ज्ञान में यों अंदर झुकने पर अनंत नय के समूहरूप आत्मा को शुद्ध देखना है। आहा..हा...! और अनंत धर्म के अनंत नय के समूहरूप प्रमाण से देखो तो भी उसे अंतर में शुद्ध चैतन्य स्वरूप का अनुभव करना है। आहा..हा...! समझ में आया इसमें ? क्या ? आहा..हा...!

यह लोगों को बाहर से दया का पालन करना और व्रतपालन करना, यह एकान्त - एक अंत हो गया। अन्य अनंते धर्म हैं। और अनंती निर्मल पर्यायें हैं; वे तो रह गई। तो वे तो बाधक में जाती हैं - मिथ्यादृष्टि में जाती हैं। क्या कहा यह ?

व्यवहार, भक्ति, पूजा, दान, दया का भाव यह विकृत है। यह विकृत भी एक नय का विषय है। और उसके साथ निर्मल पर्याय भी संग में है। वह तो आयी नहीं। और उसके साथ उस पर्याय को धारण करनेवाला धर्म, कौनसा है ? यह

तो आया नहीं। और उस गुण का धारक द्रव्य यह तो आया नहीं। आहा..हा...! भाई ! आहा..हा...! क्या करें, प्रभु ! मार्ग तो ऐसा है। सब ऐसा कहते हैं।

जगत से मध्यस्थ होकर यथार्थ स्वरूप क्या है ? मैं कौन हूँ ? और किस प्रकार होऊँगा? इसे जाने बिना सब इकट्ठी खतौनी कर देते हैं। यह सब बात विपरीत हो जाती है। आहा..हा...

`अमृतचंद्राचार्य' महाराज ! आहा..हा...! वे चलते-फिरते सिद्ध !!और एक हजार वर्ष पहले, पंचमआरा(काल) कितना निकल गया ? आहा..हा...! फिर भी उसे वहाँ काल कहाँ लागू पड़ता है ? आहा..हा...! उसे काल कहाँ आड़े आता है ? आहा..हा...! स्वयं कहते हैं यहाँ, सुख है, देखते हैं !! आहा..हा...!

वर्तमानकाल, पंचमकाल होने के बावजूद, हमारा जन्म पंचम(काल) में होने के बावजूद, आहा..हा...! हमें अपने एक गुण को एक नय को देखने पर सभी नयों का समूह (दिखता है)। गुण हैं वे अलग नहीं किये जा सकते। अतः वह भी एक साथ शुद्ध द्रव्य ही दिखता है। और प्रमाण द्वारा... वह एकान्तात्मक लिया, और ऐसे सभी नयों के समूह द्वारा, प्रमाण द्वारा कहा। और यों सभी नयों के समूह से, प्रमाण से देखें, तो भी वह शुद्ध द्रव्य ही देखता है। ऐसा कहा। देखें तो भी वह शुद्ध द्रव्य ही देखता है। ऐसा कहा। देखें तो भी वह शुद्ध द्रव्य ही देखता है, ऐसा कहा। आहा..हा...! फिर भी निज आत्मद्रव्य को अंदर में, (ऐसे देखता है) इसलिए बाहर पर्याय का लक्ष नहीं रहा। कुछ समझ में आया ? पर्याय का ज्ञान भले हुआ। कुछ समझ में आया? आहा..हा...! पर्याय का ज्ञान भले हो ! राग है, निर्मल (पर्याय) है, फिर भी उस का निष्कर्ष कहाँ ले जाना है ? (तो) कहते हैं, उसे निज आत्मद्रव्य भगवान अंदर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखा! अंदर में लिया है न? फिर वे पर्यायें सब आयी उनका ज्ञान भले ही रहा। आहा..हा...!

अंदर में शुद्ध चैतन्यमात्र !! वहाँ फिर ऐसा नहीं कहा कि वहाँ साथ में विकार भी ज्ञात होता है। आहा..हा...! देखो तो शैली !! आहा..हा...! देखो तो शैली !! प्रमाण में ज्ञान तो भले आया... परंतु प्रमाणज्ञान झुका है कहाँ ? ! आहा..हा...! वह तो शुद्ध चैतन्यमात्र !! चैतन्यमात्र में कोई राग भी नहीं आया ! और वास्तव में तो पर्याय नहीं आयी। आहा..हा...! `देखते ही हैं' यह पर्याय आयी। निर्मल... निर्मल...

आहा..हा...! भाई ! आहा..हा...! भगवान यह समझ में आये ऐसी बात है, प्रभु !

आत्मा को ऐसे मत मानना कि हम स्त्री हैं, हम बच्चें हैं, हम अनजान हैं, हम सुजान हैं, ऐसा भगवान ! ऐसा नहीं मानना, यह (बात अंदर से) निकाल देना। आहा..हा...! हममें संस्कार नहीं है, हम अनजान हैं, हम बच्चें हैं, यह कोई भी वस्तु तेरी वस्तु में नहीं है। यह तो (जो) है; उसकी बात चल रही है।

बालकपना और वृद्धपना और युवानपना, शरीर का यह सुंदर और असुंदर(पना), स्त्री-पुरुष और नपुंसकपना, प्रभु ! यह तेरे में है ही नहीं। उसकी तो यहाँ बात ही नहीं कर रहे। आहा..हा...! प्रभु ! तू ऐसा छोटा तो नहीं है। वृद्ध नहीं है और बालक भी नहीं है; (जो) नहीं है उसकी बात नहीं कर रहे। तेरे में क्या है ? उसकी बात अब करते हैं।

कहते हैं कि, तेरे में प्रभु ! अनंत गुण और अनंती पर्याय, निर्मल और विकारी, यह सब तेरे में है। आहा..हा...! प्रभु ! तू छोटा नहीं और बालक नहीं। वह हरिजन नहीं, वह बनिया नहीं, खोजा नहीं, कनबी-पटेल नहीं। आहा..हा...! यह 'नहीं' की बात तो करी ही नहीं है। वह तो नहीं... नहीं... नहीं... आहा..हा...!

अब, अस्तिरूप में क्या है ? नयरूप की बात तो छोड़ दी। मुझे पचास साल हो चुके हैं, मुझे साठ साल हो चुके हैं, मुझे सत्तर हुए हैं। और बापू ! (यह सब) बात तो है ही नहीं। यह बात तो तेरे में है ही नहीं। आहा..हा...! भगवंत ! तेरे में है, इसकी बात हम करते हैं। वह भी है, ऐसा ज्ञान है और वह हम करते हैं। पर नहीं है और मैं हूँ ऐसा जिसे ज्ञान है। मैं हूँ, पर नहीं है - ऐसा जिसे ज्ञान है, उससे हम कह रहे हैं।

आहा..हा...! है। उसमें क्या है ! तेरा उसमें क्या है ? कहते हैं - उसमें अनंते गुण हैं, उसमें अनंती पर्याय भी निर्मल हैं और उसमें मलिनपर्याय भी हैं। ऐसे आत्मा की हम बात कर रहे हैं। आहा..हा...! और यह आत्मा... आहा..हा...! अपने एक धर्म को अर्थात् एक नय को देखने चले तो भी अन्य धर्म भी उससे अलग नहीं हो पाते। एक धर्म को अर्थात् एक नय को देखने जाय तो अंदर से शुद्ध चैतन्य को ही देखता है। आहा..हा...!

और अनंत नयों के समूह द्वारा, अर्थात् उस में विकारी पर्यायों का समूह आ

गया। परंतु वह तो ज्ञान में रह गया। अब उसे अंदर से कहाँ देखना है ? आहा..हा...! '**भीतर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखते ही हैं।**' आहा..हा...! गज़ब काम किया है न ! क्या ! 'है' के तीन प्रकार, 'नहीं है' का एक भी प्रकार तेरे में नहीं है। 'है' तो द्रव्य-गुण और पर्याय। उसके भी (पर्याय के) दो भेद। विकार और अविकार। ऐसे जीव को ही यहाँ लिया है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया? बहुत समाया है ! बहुत समाया है ! आहा..हा...! उसकी (जितनी) गंभीरता भासित हो उतनी वाणी (में) नहीं आती। आहा..हा...! बड़ा समुन्दर (है)। वह तो अनंत गुण का निर्मल समुन्दर है। समुन्दर निर्मल और गुण भी निर्मल। पर्याय में, सुननेवाले साधक जीव सुनने के लिए आये हैं। और उन्हें ख़याल में है।

कुछेक निर्मल पर्याय हुई और गुण निर्मल है, ऐसा ख़याल में है। साथ में विकारी पर्याय का ज्ञान कराया न ! आहा..हा...! भले तू विकार को - एक नय को देख परंतु उसे इस तरह देखना है न ! और फिर कहाँ देखना है ? कि ऐसे देखना है। यह विकार है। उसका नय ज्ञान का अंश है। तो ज्ञान के अंश को ऐसे मोड़ना है। आहा..हा...!

ऐसा मनुष्य को कठिन लगता है। फिर सोनगढ (की बात) एकान्त है, एकान्त है। अरे ! प्रभु ! बापू, सुन तो सही ! तू भगवान है ! हाँ ! तू भी भगवान है ! बापू ! तू चाहे जितना विरोध कर परंतु तेरा भगवानपना मिट सके ऐसा नहीं है। आहा..हा...! पर्याय में चाहे जितनी विपरीतता हो। आहा..हा...!

क्या 'अमृतचंद्राचार्यदेव' की दशा !! क्या उनका क्षयोपशम ! क्या उन की कथनी ! अहो! उनका ज्ञान ! अहो ! उन का द्रव्य ! अहो ! उनकी पर्याय !! अहो ! उनकी कहने की शैली - कथनी ! अहो !! अहो !! है ? आहा..हा...! दूसरा सब भूलकर तेरे में है, उसे जान। आहा..हा..! और तेरे में है उस जाननेवाले को जानने की बात करते हैं। कुछ समझ में आया...? आहा..हा...!

'**स्यात्कारश्री के...**' इसकी अनंत गंभीरता का कोई अंत नहीं है - ऐसी तीन पंक्ति है, ऐसी तीन पंक्ति ! अपेक्षा से वस्तु का जो स्वरूप लिखा है उसे '**स्यात्कारश्री के निवास के वशीभूत वर्तते नयसमूहों से...**' देखा ! और प्रमाण के वशीभूत वर्तते नय - एकान्तरूप से वर्तते नय नहीं। आहा..हा...! '**स्यात्कारश्री के निवास के वशीभूत**

वर्तते नयसमूहों से (जीव) देखें तो भी... निज आत्मद्रव्य को भीतर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखते ही हैं।' ऐसे लेना। आहा..हा...! और प्रमाण द्वारा देखें (तो भी शुद्धचैतन्यमात्र देखते ही हैं)।

उसमें एक ही नय क्यों नहीं लिया ? 'नयसमूह' उसमें लिया है (क्यों)कि एक नय से देखने पर, अनंत नय साथ में ही होते हैं। अर्थात् एक धर्म को देखने पर सारे अनंत धर्म साथ में होते ही हैं। आहा..हा...! एक धर्म को देखने पर अनंत धर्म साथ में हैं। एक नय को देखने पर अनंत नय साथ में हैं। आहा..हा...! कुछ समझ में आया...? और प्रमाण द्वारा इकट्ठा करके देखो तो (भी शुद्ध चैतन्यमात्र देखते हैं)। आहा..हा...!

इसमें पंडिताई का कुछ काम नहीं है, बापू ! इसमें बहुत पढ़ाई हो, व्याकरण और संस्कृत हो उसे यह समझ में आये, ऐसी यह चीज नहीं है। आहा..हा...! भाई ने कहा न ? 'टोडरमलजी' ने... व्याकरण और संस्कृत और यह सब। (कोरी) पंडिताई है। ऐसा भी कहा है और व्याकरण और संस्कृत आदि न जाने, तो बड़े-बड़े शास्त्रों के सूक्ष्म अर्थ ज्ञात नहीं होते, ऐसा भी कहा है। आहा..हा...! परंतु ये (सब) बहुत जानने-जानने में पूरी जिंदगी निकल जाय और कर्तव्य (करने का है वह) हो नहीं, ऐसा मत करना। ऐसा कहा है न ? आहा..हा...! करने का (यह है)।

यह भगवान आत्मा ! अस्ति-सत्ता-होनेरूप-अनंत गुण के होनेरूप, अनंत पर्याय के होनेरूप (है)। उस पर्याय में विकार भी होनेरूप (है)। आहा..हा...! और यह सब एक विकारनय से देखो तो भी सभी नयों का समूह साथ में रहता है। उसमें कुछ अलग नहीं हो जाता।

उसे एकान्तात्मक भले कहा। परंतु सभी नय के समूह से देखें तो भी निज आत्मद्रव्य को भीतर में शुद्ध चैतन्यमय देखते ही हैं। आहा..हा...! कहो। इतना अर्थ हुआ, भगवान ! इस प्रकार आत्मद्रव्य कहा गया। आत्मा कैसा है ? कौन है ? यह प्रश्न किया था और कैसे प्राप्त हो ? ऐसा प्रश्न किया था। आहा..हा...! तो आत्मा ऐसा है। इस एक बात का उत्तर अपना (हुआ)। आहा..हा...! यह कहा गया।

अब उसकी प्राप्ति का प्रकार कहा जाता है। दूसरा प्रश्न था न ? इसमें आ तो चुका है। परंतु विस्तार से दूसरी तरह फिर कहेंगे। यह तो कैसा है ? (तो)

कि, ऐसा है और ऐसे प्राप्त होता है। यह साथ में तो आ चुका है। परंतु वह कैसा है ? यह इसमें आया है। आहा..हा...! '**इस प्रकार आत्मद्रव्य कहा गया। अब उसकी प्राप्ति का प्रकार कहा जाता है :-**'

शुरूआत तो कर दे... पांच मिनट (बाकी) है न ! प्रथम तो '**तावदात्मनो**' है न ? '**तावदात्मनो**' - '**प्रथम तो, अनादि पौद्गलिक कर्म जिस का निमित्त है...**' क्या कह रहे हैं ? भगवान आत्मा में मोह का जो भाव है, मोह का जो अनुभव है। आहा..हा...! मोह मानो मिथ्यात्व, राग-द्वेष, उस का जो पर्याय में अनुभव है। उसमें मोहकर्म का निमित्त है, (मात्र) निमित्त है। निमित्त से मोहकर्म का अनुभव है, ऐसा नहीं। कर्म जिसका निमित्त है। अर्थात् वज़न फिर वहाँ देते हैं।

मोहकर्म जिसका निमित्त है। अर्थात् निमित्त को लेकर हुआ है, ऐसे वज़न दे दे तो, ऐसा नहीं है। होने में सिर्फ निमित्त है। अपनी अपने से मिथ्यात्व की और राग की पर्याय होती है। पर्याय में अपने से अपने द्वारा षट्कारकरूप (परिणमित होते हैं)। षट्कारकरूप। आहा..हा...! उसमें परकारक की अपेक्षा नहीं है। इस बात को रखकर यहाँ निमित्त कहा है।

आहा..हा...! यहाँ वज़न जाता है कि, देखो ! यहाँ निमित्त से होता है। (परंतु) होता है ऐसा नहीं कहना है। प्रभु ! उसका सिर्फ स्वलक्ष्य नहीं है इसलिए वह विकार परलक्ष्य से है। इसलिए निमित्त को वहाँ लक्ष्य बनाया, परंतु करा है लक्ष्य स्वयं ने और स्वयं से विकार अपने से हुआ है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! '**तावत्**' प्रथम बात तो यह है कि... ऐसा कहते हैं।

प्रथम बात विकार में भी यह है कि... ऐसा। विकार में भी मुद्दे की रकम (मूलभूत बात) यह है कि... '**तावत्**' शब्द है। '**अनादि पौद्गलिक कर्म जिसका निमित्त है ऐसी मोहभावना के (मोह के अनुभव के)...**' अनादि से है न ? इसलिए। '**ऐसी मोहभावना के (मोह के अनुभव के)...**' पर के प्रति का अनुभव राग-द्वेष-मोह-मिथ्यात्व का। उसके '**प्रभाव से...**' मोह के प्रभाव द्वारा '**आत्मपरिणति सदा चक्कर खाती है, इसलिए...**' चक्कर खाती है। आहा..हा...! बिलकुल फिरकी की माफिक घूमती है, फर, फर, फर, फर विकार किया करती है।

आहा..हा...! भगवान आत्मा एकरूप - द्रव्य और गुणरूप होने के बावजूद, पर्याय

में मोह के निमित्त द्वारा - `**मोह के अनुभव के प्रभाव से...**' आत्मा की पर्याय... पर्याय हाँ ! द्रव्य-गुण तो है सो है (ही)। `**आत्मपरिणति सदा चक्कर खाती है, इसलिए...**' फिर ऐसा नहीं है कि विरह नहीं है। अनादि से सदा विकार की चक्कर खाती रही है। आहा..हा...!

`**यह आत्मा समुद्र की भाँति अपने में ही क्षुब्ध होता हुआ...**' भाषा देखो। देखा ? निमित्त भले कर्म हो, किन्तु क्षुब्ध अपने से होता है। मिथ्यात्व और अज्ञान से क्षुब्ध (होता है)। आकुलता-अस्थिरता (होती है)। `**अपने में क्षुब्ध होता हुआ क्रमशः प्रवर्तमान अनंत ज्ञप्तिव्यक्तियों से परिवर्तन को प्राप्त होता है,...**' आहा..हा...! विशेष कहेंगे...



ज्ञानीको प्रत्येक समय अपने से ही हुए ज्ञेय-सम्बन्धी ज्ञानकी प्रसिद्धि की मुख्यता है; ज्ञेयकी प्रसिद्धिकी मुख्यता नहीं। अहा ! ज्ञान तो ज्ञानको ही प्रसिद्ध करता है, परन्तु ज्ञेय भी ज्ञानको ही प्रसिद्ध करता है - यह सत्की पराकाष्ठा है। (परमागमसार - ६१६)

❁

स्वयंने स्वयंकी दया न की अर्थात् ? अपना अनन्त चैतन्य-ज्योतिरूप जीवका (नित्य) उद्योतमय जीवन है उसको तो न माना; परन्तु मैं रागादिरूप हूँ - ऐसा स्वीकार किया ऐसी मान्यता ही स्वयंकी हिंसा है । जैसा है-वैसा न मानना ही स्वहिंसा है ।

(परमागमसार - ६१७)



(`प्रवचनसार', नय अधिकार चल रहा है)। `**अब उसकी प्राप्ति का प्रकार कहा जाता हैः**' यहाँ तक लिया जा चुका है। (अब) क्या कह रहे हैं ? देखो ! `**इस प्रकार आत्मद्रव्य कहा गया।** आत्मद्रव्य कैसा है ? यह कहा। `**अब उसकी प्राप्ति का प्रकार कहा जाता हैः-**' आत्मद्रव्य अनुभव में प्राप्त किस प्रकार हो ? यह बात चल रही है।

प्रथम तो यह बात है कि, थोड़ी सूक्ष्म बात है। `**प्रथम तो, अनादि पौद्गलिक कर्म जिसका निमित्त है ऐसी मोहभावना के (मोह के अनुभव के) प्रभाव से...**' क्या कह रहे हैं ? आत्मा पर तरफ का लक्ष्य करके मोहभाव उत्पन्न करता है। मिथ्यात्वभाव और रागद्वेष भाव (होते हैं)। उसमें मोहकर्म निमित्त है। निमित्त से होता नहीं है, निमित्त है। ऐसे अनादि मोहकर्म के प्रभाव से - `**मोहभावना के प्रभाव से आत्मपरिणति सदा चक्कर खाती है, इसलिए...**' आत्मा की पर्याय जो है वह चक्कर-घूमरी खाती है, फिरती रहती है, फिरती रहती है, फिरती रहती है, एकरूप नहीं रहती।

सूक्ष्म बात है। आत्मा तो द्रव्य, गुण से शुद्ध ध्रुव (है), परंतु उसकी पर्याय की जो प्रगटता है; उसमें मोहकर्म निमित्त होने से अपने में मोहभाव की परिणति की उत्पत्ति होती है। मिथ्यात्वभाव की दशा उत्पन्न होती है। उस मोहभावना के प्रभाव से (अर्थात्) राग और द्वेष और मिथ्यात्व के प्रभाव से, कर्म से नहीं, कर्म तो निमित्त है।

अपने में अपने स्वभाव को नहीं जानकर अपना शुद्ध, चैतन्य आनंदकंद ऐसा, अनुभव अथवा लक्ष्य नहीं करके, कर्म के निमित्त की और मोह-मिथ्यात्व की भावना से परिणमित होता है। आहा..हा...! चक्कर खाती है। एकरूप परिणति रहती नहीं

है। पर्याय विकार और मिथ्यात्व परिणाम में चक्कर खाता है। द्रव्य-गुण तो जैसा है वैसा है। कुछ समझ में आया ?

इसलिए `**यह आत्मा समुद्र की भाँति अपने में ही क्षुब्ध होता हुआ...**' नोकर्म तो निमित्तमात्र है। परंतु अपनी पर्याय में क्षुब्ध (होता है) मिथ्यात्व - भ्रांति को लेकर क्षुब्ध होता है। स्थिर न होकर क्षुब्ध होता है। आहा..हा...! `**क्रमशः प्रवर्तमान अनंत ज्ञप्तिव्यक्तियों से परिवर्तन को प्राप्त होता है,...**' मिथ्यात्व... मिथ्यात्व... मिथ्यात्व... मिथ्यात्व... मिथ्यात्व उसमें परिवर्तित होता है। सूक्ष्म बात है, भाई ! आखिर की बात है न !

द्रव्य और गुण तो शुद्ध हैं ही। अनादि से पर्याय में मोहकर्म का निमित्त और अपनी अनंत पर्यायें जो प्रगटती हैं, उसमें मोहभाव के कारण एकरूप परिणमन रहता नहीं है। बारंबार पर्याय में फेरबदल होता है। आहा..हा...! भ्रमणा... भ्रमणा... भ्रमणा... भ्रमणा... है। (इस प्रकार) प्रवर्तमान अनंती ज्ञप्तिव्यक्तियाँ - इसका अर्थ प्रगट जाननेवाली पर्याय, (वे) परिवर्तन को प्राप्त होती हैं। बारंबार चक्कर-घूमरी खाती हैं। मिथ्यात्व के कारण भ्रमणा... भ्रमणा... भ्रमणा... इसलिए `**ज्ञप्तिव्यक्तियों के निमित्तरूप होने से...**' उस जानने की पर्याय में जो प्रगटता है, उसमें `**निमित्त(रूप)**' होने से (जो) ज्ञेयभूत (है) - परपदार्थ, अपनी ज्ञप्तिक्रिया में, - परिवर्तन में निमित्त है। दो बात करी।

एक तो अपनी पर्याय में मोहभाव से परिणति परिवर्तन करती है - उसमें मोहकर्म का निमित्त है। दूसरी बात अपनी ज्ञान की व्यक्त पर्याय में बाह्यपदार्थ निमित्त होने से उसका ज्ञप्तिपरिवर्तन और निमित्त में राग वर्तता है। कुछ समझ में आया ? अंतर का लक्ष्य नहीं है, इसलिए प्रगट जो जाननेवाली पर्याय है, उसमें बाह्यपदार्थ निमित्त है। उस में उसका राग वर्तता है। आहा..हा...!

देखो ! दो प्रकार के निमित्त कहे, क्या ? एक तो (अंदर में) जो अपने को मोहभाव उत्पन्न करता है, मिथ्यात्व-भ्रांति, पर में सुख है, पुण्य में धर्म है, पाप में मिठास-ठीक है, ऐसी मिथ्यात्व-प्रकृति के (उदय में) पर्याय की प्रगट अवस्था, जो पर्याय होती है, उसमें मोहकर्म निमित्त है। और (ज्ञान की) प्रगट अवस्थाएँ जो हैं उनमें बाह्यपदार्थ निमित्त है, क्यों ? कि उसका लक्ष्य बाह्यपदार्थ के ऊपर जाता है तो जानने की पर्याय की प्रगटता में बाह्यपदार्थ निमित्त है, उसमें उसे प्रेम वर्तता

है। कुछ समझ में आया ?

सूक्ष्म विषय है, भाई ! इस प्रकार होता है। अब उसे सुल्टा (अर्थात्) आत्मा की प्राप्ति कैसे हो ? यह बात बताते हैं। '**ज्ञप्तिव्यक्तियों के निमित्तरूप होने से**' आत्मा की ज्ञानपर्याय में अथवा अनंत पर्यायों में जानने लायक जो पदार्थ है उसमें निमित्त है। तो जानने की पर्याय में (जीव को) निमित्त में प्रेम वर्तता है। इस तरफ (आत्मा की तरफ) प्रेम नहीं है तो इस तरफ प्रेम वर्तता है। कुछ समझ में आया ? भाव तो भाई ! सूक्ष्म है। चाहे जो भाषा बनाओ। हिन्दी बनाओ तो भी भाव तो जो है, सो है। आहा..हा...!

इस '**ज्ञप्तिव्यक्तियों के निमित्तरूप होने से जो ज्ञेयभूत हैं ऐसी बाह्यपदार्थव्यक्तियों के प्रति उसकी मैत्री प्रवर्तती है,...**' जानने की पर्याय में बाह्यपदार्थ निमित्त है तो उसमें प्रेम वर्तता है। स्त्री-कुटुम्ब, शरीर, परिवार, मन, वाणी, देह, देव-गुरु-शास्त्र आदि सभी पदार्थ। (उसमें प्रेम वर्तता है)। आहा..हा...!

समुद्र जैसे अपने में क्षुब्ध होता है - समुद्र अपने में क्षुब्ध होता है, वैसे अंतर में आत्मा अपनी पर्याय में मोहभाव - मिथ्यात्वभाव प्रगट करता है। इस मिथ्यात्वभाव में पूर्व का मोहकर्म निमित्त है और वर्तमान भ्रांति की पर्याय में - परिवर्तन में बाह्यपदार्थ निमित्त होने से उस पर्याय में निमित्त के प्रति प्रेम वर्तता है। कुछ समझ में आया ?

यहाँ प्रेम माने राग (अर्थात्) अनुकूल लगता है इसलिए प्रेम वर्तता है, इतनी बात हुई। क्योंकि उसके ऊपर लक्ष्य जाता है न ! इसलिए प्रेम वर्तता है। यह निमित्त है न इसलिए मेरी पर्याय उत्पन्न होती है। ऐसा प्रेम (वर्तता है)। आहा..हा...! पहले तो मेरे में विकार होता है, मोह(प्रकृति का उदय) है तो विकार उत्पन्न होता है, ऐसा भ्रम है। दूसरा अपने में (ज्ञान में) निमित्त जो परवस्तु है उसका प्रेम है तो उससे मुझे राग होता है। इस कारण से दृष्टि निमित्त के ऊपर जाती है तो निमित्त में प्रेम वर्तता है। क्योंकि तेरी ज्ञान की पर्याय में वह जानने में आता है।

जानने में आया तो उस (ज्ञेय) के कारण से वह जानने में आया, इसलिए पर में राग वर्तता है (ऐसा नहीं)। आहा..हा...! सूक्ष्म विषय है, भाई ! है ? जो ज्ञप्तिव्यक्तियों की जानने की अनंत पर्याय प्रगट है - विशेष जो है, उसमें ज्ञेयभूत परपदार्थ निमित्त है। है न ? '**निमित्तभूत होने से जो ज्ञेयभूत हैं...**' अपनी ज्ञानपर्याय में जो सिर्फ जानने

लायक चीज है। परचीज चाहे तो स्त्री-कुटुम्ब-देश, देव-गुरु-शास्त्र चाहे जो परचीज (वह) ज्ञेयभूत है, फिर भी उस के प्रति उसे प्रेम वर्तता है कि, यह है तो मुझे ज्ञान होता है। कुछ समझ में आया ?

'**ज्ञप्तिव्यक्तियों के निमित्तरूप होने से जो ज्ञेयभूत हैं...**' अपनी ज्ञान की पर्याय में है तो जानने लायक चीज, परवस्तु अनंत है वह है तो ज्ञेयभूतज्ञान में (मात्र) जानने लायक (है)। ऐसा नहीं करके पर में प्रेम करता है। कुछ समझ में आया... है न? शास्त्र के अंदर है कि नहीं ? आहा..हा...! '**इसलिए आत्मविवेक शिथिल हुआ होने से...**'

क्योंकि अपनी ज्ञानपर्याय, जो अनंत प्रगट अवस्था, उसमें बाह्यपदार्थ निमित्त है। तो उसमें प्रेम वर्तता है। तो आत्मविवेक शिथिल हो गया। जिस आत्मा में जाना है, उसमें नहीं जाकर, पर के प्रेम में वर्तता है। अनादि से पर के प्रेम में ही वर्तता है। आहा..हा...! शिथिल की व्याख्या (अर्थ) यहाँ विपरीत है। '**आत्मविवेक शिथिल हुआ...**' शिथिल होने का अर्थ विपरीत हुआ।

यहाँ जो आत्मा आनंदकंद है। उसमें प्रेम करना चाहिए। उसका प्रेम नहीं करके, ज्ञप्तिक्रिया अर्थात् वर्तमान जानने की प्रगट पर्याय में जो बाह्यपदार्थ ज्ञेयभूत है उसमें प्रेम करता है; तो उसमें प्रेम करने की अपनी पर्याय में आत्मा का विवेक (अर्थात्) पर से भिन्न करना, वह विपरीत हो गया। कुछ समझ में आया ? यहाँ तो ध्यान रखे तो पकड़ में आये ऐसा है, बापू ! आहा..हा...!

यह भगवान आत्मा ! वस्तुरूप में तो अनादि अनंत द्रव्य और गुण (का पिंड) है। गुण माने शक्ति। शक्ति और शक्तिमान तो अनादि अनंत एकरूप है। उस की पर्याय-अवस्था में परिवर्तन, फेरबदल... फेरबदल... फेरबदल... परिवर्तन होता है। तो उस परिवर्तन में मोहभावना से उसमें मोहकर्म निमित्त (है)। पर में सावधानी के कारण - मोहभावना का अर्थ यह (है)। पर की सावधानी के कारण मोहकर्म निमित्त (है)। इस कारण से जानने की जो पर्याय है वह चक्कर खाती है - घूमरी खाती है, फिरती है। मिथ्यात्व... मिथ्यात्व... मिथ्यात्व और वह चक्कर खाती है उस में ज्ञप्तिपर्याय विशेष है, बाह्यपदार्थ (उस में) निमित्त है, तो उसमें उसे प्रेम वर्तता है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? यह अपने आपसे पढ़ लेवे तो जल्दी से समझ में आये ऐसा

नहीं है। आहा..हा...! `**ऐसी बाह्यपदार्थव्यक्तियों के प्रति उसकी मैत्री प्रवर्तती है,...**' ऐसा है न ? यह निमित्त है - वह मेरा मित्र है। क्योंकि निमित्त है तो मुझे ज्ञान होता है, शास्त्र है तो मुझे ज्ञान होता है, तो इस निमित्त के प्रति मैत्री वर्तती है। ज्ञान मेरे में, मेरे से होता है। ऐसा नहीं मानकर निमित्त से ज्ञान होता है, इसलिए निमित्त में उसे मैत्री वर्तती है। आहा..हा...! यह तो बहुत बार पढ़ा जा चुका है। यह कोई पहली बार नहीं है।

यहाँ तो ऐसा कहा कि, यह आत्मद्रव्य है - यह कैसा है ? कि उसके अनंत गुण और अनंत पर्याय - साधक की बात है न ? पर्याय में कुछ निर्मलता और कुछ विकृतता भी (है), सभी का आधार यह आत्मद्रव्य है। इस आत्मद्रव्य का भान होने से उसे सम्यक्दर्शन और सम्यक्ज्ञान और अनुभव होता है। अब यह तो आत्मद्रव्य की बात हुई।

अब उसकी प्राप्ति कैसे हो ? तो अप्राप्ति कैसे है ? यह बात पहले बता रहे हैं। आत्मा आनंदस्वरूप भगवान। अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप होने पर भी उसमें दुःख क्यों वर्तता है? आनंद... आनंद... स्वरूप होने पर भी उसकी प्रगट दशा में मोह, राग-द्वेष और दुःख कैसे है ? कि उस मोह में (अर्थात्) भावकर्म में, मोह(द्रव्य)कर्म निमित्त है। और यहाँ भावकर्म में, - ज्ञप्तिक्रिया में बाह्यपदार्थ निमित्त है - तो बाह्य निमित्त है - तो इस बाह्यपदार्थ में मैत्री वर्तती है। वह समझता है कि मेरी चीज है और उससे मुझे लाभ होगा। आहा..हा...!

यहाँ तो वहाँ तक लिया है (कि) स्त्री, कुटुम्ब, देखकर वह समझे कि (यह) मेरी स्त्री है, मेरा पुत्र है। (यह) मेरा है, उस संबंधित यहाँ ज्ञान होता है तो निमित्त के प्रति उसे मैत्री वर्तती है। इस प्रकार देव-गुरु-शास्त्र के प्रति भी ज्ञान में मैत्री वर्तती है। (अन्य पदार्थों की अपेक्षा से) अलग है और प्रशस्त है - परंतु परपदार्थ है। ज्ञेयभूत कहा न ? क्या कहा ? वह तो ज्ञेयभूत है। ज्ञेयभूत में मैत्री कैसी ?

अपने ज्ञायक स्वभाव में प्रेम होना चाहिए, उसके बजाय ज्ञप्तिक्रिया में ज्ञेयभूत वस्तु है वह अपने में निमित्त है तो ज्ञेयभूत में मैत्री प्रवर्तती है, (और) वहाँ रुक गया। कुछ समझ में आया ? ऐसा मार्ग है। जानने की पर्याय में बाह्यपदार्थ निमित्त होने के कारण बाह्यपदार्थ के प्रति मैत्री वर्तती है। इसलिए आत्मविवेक (अर्थात्) राग से

(और) निमित्त से भिन्न अपनी चीज है - यह विवेक विपरीत हो गया है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया...?

आज तो हिन्दी चल रहा है। परंतु भाव तो जो है सो है। आहा..हा...! भगवान आत्मा !! वह बाह्यपदार्थ (अर्थात्) निमित्त से भी रहित है और मोहकर्म के निमित्त से भी रहित है। और मोहकर्म के निमित्त से अपने में जो क्षुब्ध मोहकर्म उत्पन्न होता है, उससे भी रहित है। तो इस रहितपने के विवेक में विपरीतता हो गई। बाह्य ज्ञेयभूत पदार्थ में मैत्री के कारण विवेक शिथिल हो गया। शिथिल माने विपरीत हो गया। शिथिल का अर्थ विपरीत है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! सूक्ष्म बात है, भाई !

यहाँ आत्मा की प्राप्ति कैसे हो ? यह बताने में पहले प्राप्ति क्यों नहीं है ? यह बताते हैं। कुछ समझ में आया ? सूक्ष्म बात है। अनादिकाल से समझा नहीं। समझने की चीज कौनसी है? उसकी जरूरत भी की नहीं। ऐसे बाहर ही बाहर में, यह किया और वह किया। पूजा की और व्रत किये और यात्रा करी, ये तो सब राग की क्रिया है। और उसमें प्रेम वर्तता है।

आत्मा के प्रति प्रेम माने राग से भिन्न (आत्मा) है, ऐसा विवेक शिथिल हो गया। विपरीत हो गया। कुछ समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई ! अनंतकाल गया वहाँ... ! आहा..हा...! और उसे भी अनंत गुण हैं न ? तो अनंत गुण की पर्याय भी अनंत हैं। जो ज्ञप्तिव्यक्ति कही न ? अनंत अनंत गुण हैं। तो पर्याय भी अनंत... अनंत... अनंत हैं। तो अनंत अनंत पदार्थ ज्ञेयभूत हैं। तो उनमें हमें मैत्री वर्तती है। आहा..हा...!

क्योंकि निमित्त है - वह तो ज्ञान हुआ। यह शास्त्र है तो (इससे) यह ज्ञान हुआ। उस प्रकार यहाँ ज्ञान की पर्याय में व्यक्त प्रगट निमित्त है। तो इस से मुझे ज्ञान हुआ। ऐसा करके (समझकर) उससे मैत्री वर्तती है। अपने आत्मा के प्रति उसे द्वेष वर्तता है। आहा..हा...! सूक्ष्म बहुत भाई ! ऐसा है।

अनंतकाल हुआ, उसे सत्य क्या है, यह चीज मिली नहीं। आहा..हा...! राग तो आस्रव तत्त्व है। नौ तत्त्व में वह (स्वयं) आत्मतत्त्व है। शरीर-वाणी-मन अजीव तत्त्व हैं। बाह्यपदार्थ हैं - वे बाह्य तत्त्व हैं। पुण्य परिणाम आस्रव तत्त्व हैं, पाप परिणाम आस्रव तत्त्व हैं। भगवान आत्मा ज्ञायक तत्त्व है। आहा..हा...! तो एक तत्त्व को दूसरे

तत्त्व में मिलाना वह मिथ्यात्वभाव है। पुण्यभाव दया-दान-भक्ति आदि है। तो इस पुण्यभाव एवं पुण्यभाव से मेरा कल्याण होगा (इस प्रकार) आत्मा का विवेक विपरीत हो गया। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? आत्मविवेक विपरीत हुआ। यहाँ शिथिल का अर्थ विपरीत हुआ, हाँ !

'श्रीमद्' में (एक) शब्द आता है न ? '**श्वेतांबर की शिथिलता के कारण...**' आता है। आहा..हा...! श्वेतांबर की ढीलास (ढील) को लेकर रस ठंडा हो गया। ऐसा शब्द 'श्रीमद्जी' (के लेख) में है। परंतु उसका अर्थ यह है। विपरीत होने से - '**अत्यंत बहिर्मुख...**' (है)। देखा ? बाह्य निमित्तों के ऊपर जिसे प्रेम है, वह अत्यंत बहिर्मुख (है)।

अब बस, अंतर भगवान आनंदकंद प्रभु है। सत् चिदानंदस्वरूप आत्मा ! निरंजन-निराकार-अखंडानंद प्रभु ! ज्ञानलक्षण से लक्षित होनेवाली चीज - उसे भूलकर ज्ञान की पर्याय में अनंती व्यक्तता जो बहिर्मुख अनंती पर्याय है। उसमें निमित्त चीज है - वह ज्ञेयभूत है। ज्ञेयभूत होने के बावजूद भी मैत्री वर्तती है। जानने लायक है - ऐसा नहीं मानकर प्रेम-मैत्री करता है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

आत्मा में (अर्थात्) आत्मा की पर्याय में-अवस्था में अनंत व्यक्त पर्यायें-विशेष व्यक्त-प्रगट है। बाह्यपदार्थ निमित्त है तो निमित्त के प्रति मैत्री वर्तती है। निमित्त के प्रति मैत्री वर्तती है, उसे स्वभाव के प्रति विपरीतता हो गई। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं। यह 'प्रवचनसार' अभी का है या पहले का है ? भगवान की वाणी है। यह तो 'कुंदकुंदाचार्य' की वाणी और 'अमृतचंद्राचार्य' की टीका है या (फिर) सोनगढ की ?

यह पढ़ना नहीं, अंदर सोचना नहीं, समय मिले नहीं, चीज अंदर क्या है ? और किस प्रकार मैं पर्याय में कार्य कर रहा हूँ ? उसका कुछ भी विवेक नहीं। यही अज्ञान और (यही) मिथ्यात्वभाव परिभ्रमण का कारण है।

'**अत्यन्त बहिर्मुख ऐसा वह पुनः पौद्गलिक कर्म के रचयिता रागद्वेषद्वैतरूप परिणमित होता है...**' एकरूप ज्ञातादृष्टारूप परिणमन होना चाहिए। मैं तो एकरूप ज्ञातादृष्टा हूँ - ऐसा परिणमन होना चाहिए, उसके बजाय रागद्वेषद्वैतरूप परिणमन होता है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया...?

अब आया द्वेष। मैत्री में आया द्वेष। अनुकूल निमित्त देखे तो वहाँ प्रेम है और

प्रतिकूल देखे, वहाँ द्वेष है। आहा..हा...! है तो ज्ञेयरूप (अर्थात्) ज्ञान में जाननेलायक चीज है। यहाँ तो स्त्री-कुटुम्ब-परिवार-देश-वाणी-मन और देव-गुरु-शास्त्र है तो ज्ञान में परज्ञेयभूत। स्वज्ञेय तो आत्मा (है) (वे सब) परज्ञेयभूत होने के बावजूद भी उसमें मैत्री वर्तती है।

इस कारण से, उसका आत्मा पर से भिन्न है, यह विवेक विपरीत हो गया, और करुणा आये यह तो राग है, वह भी भिन्न चीज है। करुणा (का) भाव आता है। कहा था न ? राग है, वह हिंसा है, सूक्ष्म बात है। पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय में कहा है कि आत्मा पर की दयापालन कर नहीं सकता क्योंकि परज्ञेयभूत वस्तु है। परंतु पर की दया का भाव होता है, वह राग है - वह हिंसा है। आहा..हा...! ऐसा आत्मा है।

बड़ा भारी कठिन पड़े ऐसा है, हाँ ! वस्तु तो यह है। प्रभु ! आहा..हा...! पुरुषार्थ-सिद्धि-उपाय में दया के भाव को हिंसा कहा है। पर की दया के (भाव को) हिंसा कहा है। (और) स्व की दया अहिंसा है। 'अहिंसा परमो धर्मः' राग की अनुत्पत्ति होना और स्व के आश्रय से वीतराग पर्याय होना, यह 'स्व अहिंसा परमो धर्मः' है। आहा...हा...!

क्या करें ? व्यवहार ऐसा बीच में आता है। परंतु वह है बंध का कारण। कुछ समझ में आया? भाव आता है... सम्यक्दृष्टि को भी बीच में दया का भाव आता है। परंतु वह हेय है। आहा..हा...! उसके बजाय, उससे - व्यवहार से लाभ होगा, (ऐसा माने) वह मिथ्यादृष्टि है। आहा..हा...! ऐसी बात है। देखो ! फिर '**रागद्वेषद्वैतरूप परिणमित होता है...**'

इसलिए क्या कह रहे हैं ? आत्मा तो आनंद और ज्ञान स्वरूप ज्ञाता-दृष्टा है। तो उसे ज्ञाता-दृष्टा की एकरूप जानने की परिणति होनी चाहिए। ऐसे एकरूप न होकर बाह्यपदार्थ में, निमित्त के प्रेम से अनुकूलता में (राग) और प्रतिकूलता में द्वेष (होने से) दो द्वैत हो गया। आहा..हा...!

द्वैतरूप परिणमन होता है। पर्याय में राग और द्वेषरूप अवस्था करता है। '**और इसलिए उसके आत्मप्राप्ति दूर ही है।**' देखो ! इस कारण से आत्मा की प्राप्ति उसे दूर ही हो गई है। यह कारण दिया। आहा..हा...! अंदर भगवान आत्मा ज्ञान

लक्षण से... यह आत्मा अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... ज्ञानानंदस्वरूप (है), उस तरफ दृष्टि जानी चाहिए - उस तरफ लक्ष-ध्येय होना चाहिए, ऐसा नहीं होकर ज्ञप्ति (अर्थात्) वर्तमान व्यक्त-प्रगट अवस्थाओं में बाह्य ज्ञेयभूत में मैत्री वर्तती होने के कारण, राग और द्वेष (रूप) द्वैतपने की मैत्री होती है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

दो बात करी। आत्मा जो है वह द्रव्य से - गुण से तो शुद्ध है। पर्याय में मोह का (अर्थात्) पर की तरफ का सावधानी (का भाव है)। (पर)पदार्थ है। तो उन प्रगट पर्यायों में बाह्यपदार्थ निमित्त होने से बाह्यपदार्थ के प्रति उसे मैत्री वर्तती है। आहा..हा...! स्त्री-कुटुम्ब-परिवार, यह देश आदि (सब) ज्ञेयभूत है। जानने लायक (है) ऐसा नहीं मानकर मोहभाव के कारण अनुकूलता में राग और प्रतिकूलता में द्वेष (करता है)। एकरूप दशा में द्वैत उत्पन्न करता है। ज्ञाता-दृष्टा की पर्याय में नहीं आना, यह द्वैत उत्पन्न करता है। यह अनादि परंपरा भटकने की चीज है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

है ? '**रागद्वेषद्वैतरूप परिणमित होता है और इसलिए उसके आत्मप्राप्ति दूर ही है।**' यह अनादिकाल से आत्मा क्यों प्राप्त नहीं हुआ, यह बात करी। आहा..हा...! बात रही भाषा की। भाषा तो भाई ! (होने योग्य हो सो हो जाय)। सिद्धांत तो जो है सो है। आहा..हा...!

ज्ञप्तिव्यक्ति माने समझ में आया ? जानने की जो पर्याय अनंत (है), अनंत गुण की जो अनंत पर्याय है, उसे यहाँ ज्ञप्तिव्यक्ति कहते हैं। अनंती पर्याय की विशेषता प्रगट है यह ज्ञप्तिव्यक्ति (है) उसमें बाह्यपदार्थ ज्ञेयभूत है। ऐसा नहीं मानकर, बाह्यपदार्थ के प्रति (लक्ष है)। स्वभाव की ओर का लक्ष नहीं है, इसलिए परपदार्थ की ओर मैत्री वर्तती है। मैत्री के कारण रागद्वेष उत्पन्न होता है। आहा..हा...! इस कारण से आत्मप्राप्ति दूर ही है।

पहले यह बात करी। पहले तो यह बात करी थी। शिष्य का प्रश्न था कि, भगवंत ! आत्मा कौन है ? कैसा है ? और किस विधि से प्राप्त होता है ? टीका में शिष्य के ये दो प्रश्न थे। आत्मा कैसा है ? और किस विधि से प्राप्त होता है ? तो पहले उत्तर दिया कि आत्मा... पहले आ चुका न ? पहले आ चुका है। नय (शुरू करने से) पहले आ चुका है।

नय की शुरूआत हुई न... देखो ! यह आत्मा कौन है ! हिन्दी (पुस्तक) में ४०२ नंबर का पृष्ठ है। आत्मा कौन है ? और किस प्रकार से प्राप्त होता है ? इस तरह दो प्रश्न हैं। यह सब उसकी बात चल रही है। कुछ समझ में आया ? आत्मा कौन है ? कैसा है ? और किस प्रकार प्राप्त होता है ? ऐसा प्रश्न किया जाय तो... फिर... गुरु ऐसा कहते हैं कि, ऐसा प्रश्न किया जाय तो... (उससे ऐसा कह रहे हैं)। औरों को हम नहीं कह रहे हैं। बेगार भुगतने के लिए सुनते हैं, उनके लिए यह नहीं है।

जिसे अंतरमें से ऐसा प्रश्न उठता है कि यह आत्मा है कौन ? और कैसे प्राप्त होता है ? ऐसा प्रश्न उठता है, तो उसको उत्तर दे रहे हैं। आहा..हा...! तो पहले तो यह कहा कि, आत्मा अनंत गुणरूपी उसके धर्म, धर्म माने धारण करके रखना, और अनंती पर्यायोंरूप धर्म धारण करके रखे (ऐसा धर्मी पदार्थ है)। पर्याय में भी विकार और अविकार दोनों ही लेना। यहाँ साधक लेना। साधक की बात है तो गुण भी अनंत निर्विकार लेना। वह धर्म लेना। धर्म माने आत्मा ने धारण करके रखे हैं। अनंत धर्म वे, और पर्याय में भी दो लेना। निर्मल पर्याय और विकारी पर्याय। उन सबको धारण करनेवाला आत्मा धर्मी है। सभी को धारण करनेवाला (धर्मी) आत्मा धर्मी है। इतना ऐसा प्रश्न किया। आहा..हा...!

फिर कहा। धर्मी कैसा है ? तो उसमें नय चले। ४७ नय। तो एक एक नय, एक एक गुण को, एक एक पर्याय को विषय करता है। और सभी नय का समूह श्रुतप्रमाण, पूरे द्रव्य-गुण-पर्याय को प्रमेय करता है। सिर्फ द्रव्य को नहीं। समझ में आया ? ज्ञानप्रधान कथन है न! तो अनंत नयों का समुदाय - नय माने ज्ञान का एक अंश। नय(ज्ञान) का एक अंश, एक धर्म माने एक पर्याय के गुण को जानता है।

एक ज्ञान का एक अंश एक पर्याय को, एक गुण को जानता है। ऐसे अनंत नय, अनंते गुण और अनंती पर्याय को, प्रत्येक नय, एक एक नय, एक एक गुण को और पर्याय को जानता है। परंतु अनंत नयों (का) समूह श्रुतज्ञानप्रमाण है। तो श्रुतप्रमाणज्ञान है। तो पर्याय भी प्रमाण क्यों कहा ? कि वह द्रव्य को, गुण, (पर्याय) तीनों को प्रमाण जानता है। सम्यग्दृष्टि में (जो) द्रव्य (कहा), वह द्रव्य यहाँ नहीं

लेना। कुछ समझ में आया ? सम्यग्दर्शन (का) विषय जो द्रव्य है वह यहाँ नहीं लेना।

यहाँ आत्मद्रव्य इसे कहा कि अनंत गुण और अनंती पर्याय, विकारी और अविकारी सभी को आत्मद्रव्य कहा गया है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? तो फिर कहा। उस आत्मा को एक नय से देखो तो भी पूरा शुद्ध चैतन्य पदार्थ देखने में आता है। और अनंत नय का समूह श्रुतप्रमाण से देखो तो भी शुद्ध चैतन्य पदार्थ देखने में आता है। तब फिर यह पूरा होने के बाद प्रश्न हुआ कि यह तो आत्मा क्या है, यह बात कही। अब प्राप्त कैस हो, यह बात चल रही है, तो प्राप्त कैसे हो ऐसा प्रश्न पहले क्यों नहीं हुआ, यह बात पहले करी। आहा..हा...!

प्राप्त क्यों नहीं हुआ ? तो अप्राप्त कैसे रहा ? कि अपनी पर्याय में जो पर तरफ का मोहभाव है, उसमें मोहकर्म का निमित्त है। और मोहभाव में अनंती पर्याय व्यक्त-प्रगट है। उसमें परपदार्थ निमित्त है। तो परपदार्थ के प्रति (मैत्री है)। व्यक्त पर्याय अनंती है, उसे बाह्यपदार्थ के प्रति मैत्री वर्तती है। आहा..हा...!

इतने सारे भंग और भेद हैं। वे बाह्य ज्ञेयभूत हैं। चाहे तो अरिहंत तीनलोक के नाथ वीतराग तीर्थंकर हो, या शास्त्र हो, या वाणी (हो) ज्ञेयभूत होने के बावजूद भी ज्ञप्तिक्रिया में जो व्यक्त पर्याय में है, उन बाह्यपदार्थों को-निमित्तो को देखकर, उनमें मैत्री वर्तती है कि इनसे मुझे ज्ञान हुआ, इनसे मुझे ज्ञान हुआ... इनसे मुझे ज्ञान हुआ इस तरह मैत्री वर्तती है। इस कारण से आत्मा का विवेक विपरीत हो गया। कुछ समझ में आया ? शिथिल हो गया। परंतु शिथिल का अर्थ (है) विपरीत हो गया। आत्मा का विवेक विपरीत हो गया। पर में प्रेम गया - अपना प्रेम छोड़कर पर में प्रेम गया, इस कारण से राग और द्वेष, द्वैत उत्पन्न हुआ, ऐसा कहा।

ज्ञाता-दृष्टा की एक पर्याय उत्पन्न होनी चाहिए। इस कारण से - आत्मा की अप्राप्ति के कारण से, राग और द्वेष दो प्रवृत्ति हुई। आहा..हा...! इस कारण से `**अत्यन्त बहिर्मुख ऐसा वह पुनः पौद्गलिक कर्म के रचयिता...**' नवीन कर्म के कारणभूत-निमित्तरूप `**रागद्वेषद्वैतरूप परिणमित होता है और इसलिए उसके आत्मप्राप्ति दूर ही है।**' आहा..हा...! इतना कहा। परंतु अब सुल्टी बात ले रहे हैं। आहा..हा...!

`**परन्तु अब जब यही आत्मा प्रचंड कर्मकांड द्वारा...**' ज्ञानप्रधान कथन है न ?

व्यवहारनय द्वारा, इसलिए एक शब्द लिया है। प्रचंड कर्मकांड अर्थात् राग की मंदता की उग्रता विशेष होने से उसका अभाव करके ज्ञानकांड होता है, परंतु प्रचंड ज्ञानकांड से ज्ञानकांड होता है। ऐसा यहाँपर कहा। कुछ समझ में आया ?

वह 'सम्यक्ज्ञानदीपिका' है न ? 'धरमदास क्षुल्लक' ने उस में ज्ञानकांड से कर्मकांड ऐसा निर्मल लिया है। लोग गड़बड़ कर देते हैं। यह तो सिर्फ निमित्त था, वहाँ राग की मंदता हो, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र, उनकी श्रद्धा (अर्थात्) राग, वह कर्मकांड है। देव-गुरु-शास्त्र की व्यवहार श्रद्धा यह भी कर्मकांड है। आहा..हा...!

'**कर्मकांड द्वारा अखंड ज्ञानकांड को प्रचंड करने से...**' आहा..हा...! इसमें गड़बड़ उत्पन्न कर देते हैं। यह तो ज्ञानप्रधान कथन है न ! इसमें गड़बड़ उत्पन्न करते हैं। जैसे ज्ञप्तिक्रिया में बाह्यपदार्थ निमित्त थे, तो मैत्री थी। तो वहाँ इस तरफ लिया तो इस तरफ भी वहाँ राग की मंदता, निमित्तरूप है, (ऐसा लिया) कुछ समझ में आया ?

राग की मंदता को व्यवहार कहकर, उसे निमित्त में लेकर उसका अभाव करके होता है। परंतु उससे हुआ... यह व्यवहार का कथन है। आहा..हा...! यह तो नयी चीज नहीं है। यह तो बहुत बार कहा जा चुका है। 'सम्यक्ज्ञानदीपिका' में ऐसा लिया है। कर्मकांड को निकाल दिया। लोग भ्रमणा में पड़ जाते हैं।

सिर्फ यहाँ इतना बताना है कि, जब सम्यक्दर्शन होता है, तब उसे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा होती है। भाई ! 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में आया है न ! चार लक्षण आये हैं न ! देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा, भेदज्ञान, स्व-पर की श्रद्धा। ये बोल आये हैं। कुछ समझ में आया ?

तो उसमें देव-गुरु की श्रद्धा पहली होती है। सच्चे देव - सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्र। उसकी श्रद्धा का विकल्प प्रथम होता है। तो उस विकल्प से निर्विकल्प होता है। ऐसा व्यवहार से कथन किया गया है। 'समयसार', 'जयसेनाचार्य' की टीका में भी ऐसे बहुत बोल आते हैं। व्यवहार से निश्चय होता है, व्यवहार से निश्चय होता है, (उसमें) बहुत आता है।

'जयसेनाचार्य' की टीका में ज्ञानप्रधान कथन में निमित्त बताना है। परंतु उससे होता है, ऐसा कहना तो एक अभूतार्थनय का कथन है। आहा..हा...! अभाव करता

है। उसकी ओर का लक्ष्य छोड़ता है। परंतु लक्ष्य किसकी ओर (था जहाँ) से छुडाया, इसकी बात पहले डाली है। किसकी ओर से लक्ष्य छोड़ा ! आहा..हा...!

`**परंतु अब जब यही आत्मा...**' यही आत्मा (जो कि) इस तरह उल्टा पड़ा था और अप्राप्त था, यही आत्मा। ऐसा ले न ! `**यही आत्मा प्रचंड कर्मकांड...**' अर्थात् सुदेव, सुगुरु, सुशास्त्र, उस की श्रद्धा, जोरदार श्रद्धा। इस श्रद्धा के राग को प्रचंड कर्मकांड कहते हैं। आहा..हा...!

`**अखंड ज्ञानकांड को...**' इसमें भाषा कैसी ली है ? `**प्रचंड कर्मकांड द्वारा अखंड ज्ञानकांड को...**' भगवान आत्मा, अखंड ज्ञायकस्वरूप पूर्ण शुद्ध है। ऐसा अनुभव होना। यह वास्तविक चीज है। परंतु उस में देव-गुरु-शास्त्र के निमित्त से उस बात को करना है न ! निमित्त यही होता है, इसके सिवा अन्य निमित्त नहीं होता। यह बताने के लिए उससे हुआ ऐसा कहा गया है। क्योंकि देव-गुरु-शास्त्र यह बताते हैं (कि) अखंड परिपूर्ण प्रभु तू है।

वर्तमान में ज्ञानलक्षण से लक्ष्य करने में उसका लक्ष्य किया तो वह चेतन है। तो उसमें राग है, वह चेतन नहीं है। वह अचेतन है। कर्मकांड अचेतन है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया? परंतु वह अचेतनपना जो देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग होता है, ऐसा मानकर उसे प्रचंड कर्मकांड, प्रचंड (अर्थात्) देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का ज़ोर हुआ। उससे ज्ञानकांड प्रगट हुआ।ऐसा कहा गया है, कथन है। उस शैली में ऐसा कथन है। कुछ समझ में आया ?

इसका मतलब उसे छोड़कर होता है - उसका लक्ष छोड़कर होता है। तो उस से हुआ ऐसा कहा जाता है। ऐसा व्यवहारनय का कथन है। यहाँ तो ज़रा सच्चे देव-गुरु-शास्त्र का निमित्त बताना है। सच्चे देव केवलज्ञानी परमात्मा, सच्चे गुरु निर्ग्रंथमुनि, सच्चे शास्त्र भगवानने (जो) परमागम कहे हैं (वे), उनकी मुख्यता बतानी है। आहा..हा...!

`श्रीमद्' में आता है न, `त्याग विराग न चित्त में, होवे न उसको ज्ञान।' उसका अर्थ यह है। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा - इसमें कुदेव-कुगुरु की श्रद्धा छूटनी चाहिए। त्याग होना चाहिए। और पर से वैराग्य होना चाहिए। कुछ समझ में आया ? इसलिए निमित्त कहा है, प्रचंड कर्मकांड लिया है। वहाँ सिर्फ कर्मकांड नहीं (कहा, प्रचंड

कहा)।

प्रचंड का अर्थ ही सच्चे - सत्य देव-गुरु बतानेवाले भगवान सर्वज्ञ और वाणी (और) गुरु, उसकी श्रद्धा का विकल्प आता है। उसे छोड़कर यहाँ आता है। तो इसकी जगह कहा कि, उसे ज्ञानकांड अखंड हुआ है। ऐसा कहा, ऐसे है, भाई ! आहा..हा...! `**अखंड ज्ञानकांड को प्रचंड करने से...**' देखा ? वहाँ भी फिर अखंड ज्ञानकांड को प्रचंड करने से भगवान अखंड अभेद, जिसमें गुणगुणी का भी भेद नहीं है, ऐसे अखंड ज्ञायक प्रति, प्रचंड !! आहा..हा...! ज्ञान के समूह को प्रचंड करने से !! आहा..हा...! ज्ञान की पर्याय को एकदम द्रव्य में मोड देने से। सूक्ष्म बात है, भाई ! क्या करें ?

ऐसा तो अनंतबार किया। परंतु जिसे हुआ, उसकी बात है। वैसे तो अनंतबार नौवीं ग्रैवेयक (गया), पंच महाव्रत धारण किये। `मुनिव्रत धार अनंत बेर ग्रैवेयक उपजायो...' फिर भी कुछ हुआ नहीं। परंतु जिसे हुआ, वहाँ ऐसा होता है। निमित्त द्वारा बताने के लिए ऐसा कहते हैं। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

किसे ? यह कहा न ? परंतु विकल्प है न ! किन्तु वह विकल्प है देव-गुरु-शास्त्र का, गुण-गुणी के भेद का भी विकल्प है न ! विकल्प से निर्विकल्प होता है, ऐसा कहना है न यहाँ ? आखिर में आखिर यह गुण-गुणी का भेद ऐसा जो विकल्प है, वह कर्मकांड है। यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है न ! निमित्त का ज्ञान साथ में कराते हैं।

पहले कहा न कि, श्रुतज्ञानप्रमाण में द्रव्य, जो सम्यक्दर्शन का द्रव्य है, वह (नहीं है)। यहाँ श्रुतप्रमाण है तो वह प्रमाण पर्याय भी प्रमेय को विषय करती (है)। तो प्रमेय कौन ? कि द्रव्य-गुण और पर्याय। पर्याय कौन ? कि विकारी और अविकारी दोनों। आहा..हा...! ऐसा है। सम्यक्दर्शन में तो अकेला भूतार्थ द्रव्य लिया। यहाँ आत्मद्रव्य माने अनंत गुण और अनंत पर्याय और उसमें विकृत पर्याय भी साथ में लेनी है। है न ?

यहाँ इस साधक पर्याय की विकृत और अविकृत, उसका धारक जो आत्मद्रव्य वह प्रमाण का विषय है। श्रुतप्रमाण का ऐसा विषय (अर्थात्) ध्येय है। आहा..हा...! सम्यक्दर्शन का ध्येय और श्रुतप्रमाण का ध्येय, दोनों में फर्क है। क्योंकि सम्यक्दर्शन

निर्विकल्प है। तो उस का विषय भी निर्विकल्प लेना है। और ज्ञान सविकल्प है। सविकल्प अर्थात् राग ऐसा नहीं। स्व और पर को जानने का स्वभाव, इसलिए सविकल्प है - तो उसे पर्याय विकृत है वह भी प्रमाण में - एक नय का विषय भी आ जाता है। आहा..हा...! (प्रमाणज्ञान के) ये तीनों ही ध्येय हुए। प्रमेय कहो या ध्येय कहो। तीनों ही प्रमेय हुए। श्रुतप्रमाण के तीन प्रमेय हैं। एक द्रव्य अकेला नहीं। आहा..हा...!

द्रव्य भी ज्ञेय है। गुण भी प्रमेय अर्थात् ज्ञेय, द्रव्य भी (ज्ञेय) है और गुण भी ज्ञेय है, विकारी पर्याय भी ज्ञेय है और अविकारी पर्याय भी ज्ञेय है। आहा..हा...! ऐसी बात है... भाई...! कुछ समझ में आया ?

'**ज्ञानकांड को प्रचंड करने से अनादि-पौद्गलिक कर्मरचित मोह को...**' आहा..हा...! अनादिकाल से जो मोह था। कैसा है मोह ? '**वध्य-घातक...**' आत्मा वध्य (है)। आत्मा वध्य का अर्थ ? आत्मा की पर्याय वध्य। आत्मा तो द्रव्य अर्थात् त्रिकाल (है) परंतु आत्मा वध्य (अर्थात्) पर्याय वध्य और मोह घातक ऐसे '**वध्य-घातक के विभागज्ञानपूर्वक...**' दो का विभाग कर डाला। अब मोह और स्वभाव (इन) दो का विभाग किया। आहा..हा...! इससे '**विभक्त करने से (स्वयं) केवल आत्मभावना के (आत्मानुभव के) प्रभाव से परिणति निश्चल की होने से...**' यह विशेष होगा... समय हो गया...



अभेदके अनुभवमें भेद नही दिखता और यदि भेद दिखे
तो अभेदका अनुभव नहीं रहता । (परमागमसार - ६१८)

प्रवचन : दि. १२-१-१९७८

`प्रवचनसार', आखरी अधिकार है न ! `**अब जब...**' है न बीच में ? अनादिकाल से भटका। यह बात पहले कही। अब कैसे छूटे ? इसकी बात कर रहे हैं। इस गाथा में स्वयं आत्मविवेक से शिथिल अर्थात् विपरीत था। राग के भाव के साथ आत्मा के स्वभाव की एकता मानता था। तब आत्मा में राग से अभिन्नता (एकत्व) करके विवेक में विपरीत था। क्या कहा ? कोई भी राग - शुभराग या अशुभराग, आत्मा ज्ञानानंद स्वभाव, उसे भूलकर अनादि से वह शुभराग आदि राग-विकार-दुःख (है) उसमें एकत्वबुद्धि कर के मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान से नये कर्म बांध रहा था और भटकता (था)। अब यह भटकना कैसे छूटे इस की बात है। पहली बात यह रखी। कुछ समझ में आता है ? `**अब जब यही आत्मा प्रचंड कर्मकांड द्वारा...**' अर्थात् राग की मंदता, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र, उसकी श्रद्धा, ऐसा जो मंदराग होता है। उस के द्वारा - ऐसा कहा गया है। परंतु वह बात तो उसको छोड़कर कहनी है। वह बात कल आ चुकी है।

प्रचंड कर्मकांड द्वारा (अर्थात्) राग की मंदता द्वारा। जिसमें सत्य देव-गुरु-शास्त्र, सर्वज्ञ परमात्मा, जिनेन्द्रदेव की श्रद्धा का राग, यह देव-गुरु-शास्त्र का ज्ञान, यह भी एक विकल्प और राग है। ऐसी राग की मंदता उसे प्रथम होती है। उसे छोड़कर, उसके स्थान पर `कर्मकांड द्वारा ज्ञानकांड' - ऐसे एक निमित्त से कथन है। क्योंकि राग द्वारा आत्मा जिनस्वरूपी है (वह ज्ञात नहीं होता)।

आत्मा तो `घट घट अंतर जिन बसे।' जिनस्वरूपी भगवान उसका स्वभाव, जिन वीतराग स्वरूपी प्रभु आत्मा तो है !! उसे प्राप्त करने के लिए यहाँ तो प्रथम राग की मंदता होती है। अतः इस निमित्त को सिद्ध करके, उसके द्वारा अंदर ज्ञानकांड

में जाता है (ऐसा कहा)।

ज्ञान अर्थात् आत्मा। आनंदस्वरूप ज्ञानानंद अमृतस्वरूप ! ज्ञान आनंद अमृत स्वरूप उस की परिणति की क्रिया में आता है, तब इस प्रचंड ज्ञानकांड को प्रगट करने से, आहा..हा...! अखंड ज्ञानकांड माने ? ज्ञान शब्द से आत्मा है। यहाँ वह ज्ञानस्वरूपी सर्वज्ञस्वरूपी है। यह सर्वज्ञस्वभाव उस का त्रिकाल है। अतः वह जो सर्वज्ञस्वभावी आत्मा, उसे ज्ञानकांड द्वारा अर्थात् ज्ञान की एकाग्रता द्वारा। सूक्ष्म बात है। भगवान ! बहुत काल में (भी) ग्रहण नहीं की ऐसी तो सूक्ष्म बात है न !

आहा..हा...! वह ज्ञानकांड माने ज्ञान की परिणति द्वारा। अर्थात् शुद्ध आत्मा की परिणति अर्थात् वीतरागी दशा द्वारा, प्रचंड-अखंड है। आहा..हा...! `**अखंड ज्ञानकांड को प्रचंड करने से...**' पर तरफ से हटकर कर्म को, शरीर को, वाणी को, वह तो परचीज है। उसमें से तो खिसका हुआ ही है। परंतु पर तरफ के प्रेम में उसे रागद्वेष का भाव, जो पुण्य-पाप का (भाव) होता है, उससे हटकर, आहा..हा...!

भगवान आनंदस्वरूप प्रभु ! उसके ज्ञान को, आनंद की परिणति को प्रचंड करके, जैसे जलहल ज्योति होती है, वैसे आत्मा के आनंद को, ज्ञान की परिणति को प्रचंड-उग्र करके। आहा..हा...! ऐसी बातें हैं। प्रभु ! `**अखंड ज्ञानकांड को प्रचंड करने से अनादि-पौद्गलिक कर्मरचित मोह को...**' जो अनादि से कर्म के निमित्त से मोह-मिथ्यात्वभाव, जो उसे भ्रमणा थी कि `पुण्य के परिणाम - राग वह मैं हूँ।'

अपना अखंड ज्ञानानंदस्वरूप अस्तिरूप है। उस का - (उसकी) मौजूदगी का ज्ञान नहीं होने से उसे राग में मौजूदगी मालूम पड़ी कि राग (है) सो (ही) मैं हूँ। आहा..हा...! दूसरी भाषा में कहे तो, पर्यायबुद्धि में उसे राग जो (अपनेरूप) सूझता है। क्या ! क्योंकि द्रव्यबुद्धि (नहीं है)। वस्तु है - सत्चिदानंद प्रभु ! अनंत आनंद का नाथ, जिनस्वरूपी प्रभु भगवान आत्मा है, उसका ज्ञान नहीं होने के कारण, उसकी मौजूदगी का - अस्तित्व का अनुभव नहीं होने से, उसके अस्तित्व से विरुद्ध जो राग - चाहे तो दया-दान-व्रत-भक्ति का राग हो - परंतु उस राग का अनुभव करने से एकताबुद्धि का मोह है; वह कैसा है ?

वध्य-घातक (भाव से) आत्मा की निर्मल पर्याय हनन के योग्य है। भाषा ऐसी है कि आत्मा वध्य (है)। आत्मा वध्य का अर्थ, आत्मा द्रव्यस्वरूप है, वह तो कोई,

कभी हनन नहीं हो पाता, आहा..हा...! भगवान आत्मा द्रव्यस्वरूप जो स्वभाव वह तो चाहे किसी - एकेन्द्रिय निगोद की पर्याय में हो या सर्वार्थ सिद्धि की पर्याय में हो, या केवलज्ञान की पर्याय में हो। द्रव्य तो शुद्ध त्रिकाली निर्मलानंद प्रभु है। आहा..हा...! ऐसे आत्मा की घातक नहीं। किन्तु ऐसे आत्मा की वर्तमान पर्याय जो निर्मल होनी चाहिए (उसका घातक) है।

कर्ता-कर्म में ६९-७० गाथा (में) आता है न ? कि निर्मल पर्याय को प्रगट नहीं करके, प्रगट नहीं करते हुए (अर्थात्) वह है, ऐसा नहीं। जो उदासीन दशा है, उसे नहीं करके, राग को करता है। सूक्ष्म बात है, प्रभु ! भगवान आत्मा ज्ञान और आनंदस्वरूप, उसकी दशा की परिणति और अवस्था उसका मोह घात करता है। और वह पर्याय हनन होने योग्य है। पर्याय, हाँ ! द्रव्य तो है सो है। परंतु भाषा में ऐसा कहा जाता है।

आत्मा घात्य है। हनन होने योग्य है। और मोह घातक है। किन्तु इसका अर्थ ऐसा नहीं लिया जा सकता कि आत्मा द्रव्य है, वह घात्य है, द्रव्य है, वह तो त्रिकाली शुद्ध चिदानंद, अखंडानंद प्रभु है। आहा..हा...! चाहे जिस अवस्था में हो। निगोद की अवस्था में, अक्षर के अनंतवें भाग की विकास की पर्याय में हो, फिर भी द्रव्य तो परिपूर्ण शुद्ध, आनंदकंद ही है।

वह चैतन्य हीरा, पूर्णानंद का नाथ प्रभु ! तो पूर्ण आनंद से भरा हुआ ही है। परंतु उसकी वर्तमान पर्याय-अवस्था वध्य-हनन योग्य और मोहघातक (ऐसे) उसके विभागज्ञानपूर्वक, उसकी भिन्नता के विवेकपूर्वक - वह मोहराग है, वह भिन्न है। इस प्रकार दो के विभागपूर्वक - दो के विवेकपूर्वक - दो की भिन्नतापूर्वक - दो को दो प्रकार से (भिन्न) करने पर। आहा..हा...! और वह राग और भगवान आत्मा के बीच संधि है - संधि है। राग चाहे तो दया-दान-व्रत-भक्ति-तप का हो, परंतु उस विकल्प को - राग को, राग है वह दुःखरूप है और (आत्मा) भगवानस्वरूप, आनंदस्वरूप है। वह आनंद, अतीन्द्रिय आनंद और दुःख के बीच संधि है। संधि है, वह कभी निःसंधि हुई नहीं है।

परंतु यहाँ संधि को भिन्न नहीं करके जो वध्य-घातकपना खड़ा करता है, वह राग घातक है और आत्मा की पर्याय जो भिन्न है, वह हनन योग्य (नष्ट होने योग्य

घात्य) हुई। ऐसा जो भाव (वह) अनादि का था। आहा..हा...! सूक्ष्म मार्ग प्रभु का ! बहुत सूक्ष्म, भाई !

वर्तमान में तो बाहर में बहुत रुकावट (हुई है) राग करके रुक गया है। या तो भक्ति कर के, या तो उपवास करो और व्रत करो और यात्रा करो और... अरे ! भगवान ! ये सब तो विकल्प की और राग की क्रियाएँ हैं। आहा..हा...! उस राग को और आत्मा को, विभागपूर्वक है न ? है ? `**वध्य-घातक के विभागज्ञानपूर्वक...**' उसके भिन्न ज्ञानपूर्वक, आहा..हा...! अर्थात् राग में जो एकत्वबुद्धि की थी, उस ज्ञान की पर्याय को अंतर में मोड़ने से, उस राग और आत्मा के बीच, विभागपूर्वक ज्ञान हुआ। अरेरे ! ऐसी ऐसी तो बातें... इस `**विभागज्ञानपूर्वक विभक्त करने से...**' है न ? भिन्न करने से, यह तो भाषा है। यह तो वाचक है। वाच्य तो अंदर है। विकल्प जो परसन्मुख की दशा, पर की तरफ की दिशा, वह राग है। पर तरफ की दिशा वह राग है। और स्व तरफ की दशा, उस स्व तरफ की दशा की दिशा, वह वीतरागता है। ऐसे `विभागज्ञानपूर्वक' आया है। साधारण आदमी को तो पकड़ में न आये...बेचारे... यों ही व्रत करो और उपवास करो और भगवान की भक्ति करो और शत्रुंजय और गिरिनार की यात्रा करो... आहा..हा...! यह तो बापू ! पर के प्रति का प्रेम है। वह तो राग है; वह कोई धर्म नहीं है। आहा..हा...!

इस राग को मोह जो घातक है और पर्याय घात होने लायक थी। उसे विभागपूर्वक ज्ञान करके आहा..हा...! (अर्थात्) उसे अंतर्मुख होकर; राग बहिर्मुख है, ऐसे विभागपूर्वक ज्ञान करके... ये ऐसी बातें हैं। भाई ! `**केवल आत्मभावना के (आत्मा के अनुभव के) प्रभाव से...**' है ? केवल आत्मभावना। अर्थात् ? भावना - अर्थात् आत्मा का अनुभव। आहा..हा...!

जो अनादिकाल से जिनस्वरूप प्रभु आत्मा का स्वरूप है। उससे विरुद्ध विकल्प, चाहे तो शुभ-दया-दान-व्रत-भक्ति का हो, अरे ! गुण-गुणी के भेद का विकल्प हो, परंतु वह राग (है) उस का जो अनुभव है वह ज़हर का अनुभव है। यह राग है वह ज़हर है, `मोक्ष अधिकार' में विषकुंभ कहा है न ! सूक्ष्म बात है, प्रभु ! वह राग है, वह अमृतस्वरूप भगवान अतीन्द्रिय आनंद का रसकंद, उससे उल्टा वह राग - वह विष माने ज़हर का घडा है। आहा..हा...!

उससे `**विभागज्ञानपूर्वक विभक्त करने से (स्वयं) केवल आत्मभावना के...**' अर्थात् आत्मा के अनुभव के कारण। आहा..हा...! `आतम भावना भावता...' `श्रीमद्' में आता है। परंतु इस भावना का अर्थ अनुभव है। कुछ समझ में आया ? इस प्रकार आतमभावना (अर्थात्) आत्मा... आत्मा... आत्मा... ऐसा कहकर आत्मा ऐसा है। वे तो सब विकल्प है। आहा..हा...!

`**आत्मभावना के (आत्मानुभव के) प्रभाव से...**' भगवान पूर्णानंद का नाथ प्रभु ! परमेश्वर ! है ? इस परमेश्वर की अनुभवदशा द्वारा। आहा..हा...! स्वयं परमेश्वर है। भगवान तीर्थंकर आदि तो परभगवान है। वे कोई (अपने) आत्मा के भगवान नहीं हैं। यह तो स्वयं भगवानस्वरूप, परमेश्वरस्वरूप, स्वयं ही अंदर (है)। उसकी भावना अर्थात् अनुभव द्वारा - उसके अनुभव के प्रभाव द्वारा, है ? `**प्रभाव से...**' है न ? आहा..हा...!

`**प्रभाव से परिणति निश्चल की होने से...**' है न ? भाई ! यह तो अध्यात्म की बात है। प्रभु! बहुत सूक्ष्म बात है, बापू ! अनंतकाल चौरासी के अवतार में भटकता है न ! उससे भिन्न होना, अलौकिक बातें हैं। यह शब्द से समझ में आये ऐसा भी नहीं है। और शब्द का यह सब ज्ञान हो, इससे अंतर में भिन्न हो जाय, ऐसा भी नहीं है। आहा..हा...!

वह राग के विकल्प से भिन्न होकर, आत्मभावना अर्थात् आत्मा के अनुभव के प्रभाव से परिणति निश्चल करके (अर्थात्) अपनी वीतरागदशा निश्चल करके। आहा..हा...! बहुत संक्षिप्त में और बहुत मर्म से भरी हुई यह वीतरागवाणी है। जिनेश्वर की - त्रिलोकनाथ परमात्मा जिनेन्द्रदेव की वाणी, संत आढ़तिया होकर जगत को माल देते हैं। आहा..हा...!

भगवान आत्मा का यह माल है कि वह राग से भिन्न होकर अर्थात् उसका लक्ष्य छोड़कर, आत्मा ज्ञानानंद स्वरूप, उसके लक्ष्य के ध्येय में आकर और इस `**आत्मानुभव के प्रभाव से परिणति निश्चल की होने से...**' आहा..हा...!

`**परिणति निश्चल की होने से समुद्र की भाँति अपने में ही अति निष्कंप रहता हुआ...**' समुद्र जैसे अपने में निष्कंप रहता है। उस प्रकार भगवान आत्मा रागरहित अपनी वीतराग परिणति प्रगट करके निष्कंपरूप से अपनी परिणति में रहता है। आहा..हा...! इसे मोक्ष का मार्ग कहते हैं। `**समुद्र की भाँति अपने में ही अति निष्कंप रहता हुआ**

एक साथ ही...' क्या कहते हैं ? अब... अज्ञान में अनंत गुण की जो व्यक्त पर्यायें थी, उन व्यक्त पर्यायों में ज्ञेयभूत वस्तु है - वह निमित्त थी और उनसे मुझे जानने की ज्ञप्तिक्रियाएँ होती है, ऐसे पर के प्रेम के कारण, अंतर में आ नहीं सकता था।

आहा..हा...! चाहे तो देव-गुरु-शास्त्र हो, परंतु उसके प्रति का प्रेम भी बहिर्मुख है।

शशीभाई ! बात ऐसी है, प्रभु ! मार्ग तो ऐसा है। लोगों को एकान्त लगे। किन्तु सम्यक् एकान्त तो यह है। इसके बिना इसका निस्तार हो जाय, ऐसा नहीं है। प्रभु !! आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

`**एक साथ ही अनंत ज्ञप्तिव्यक्तियों में व्याप्त होकर...**' देखा ! क्या कह रहे हैं ? जो पहले अनंत गुण की अनंत व्यक्त पर्याय में बाह्यपदार्थ निमित्त होने से, निमित्त में उसकी मैत्री रहती थी, उसे छोड़कर अपनी जानने की पर्याय में व्याप्त होकर, पर से छूटकर, अपनी अनंती निर्मल पर्याय में व्याप्त होकर। आहा..हा...!

`**अनंत ज्ञप्तिव्यक्तियों...**' (अर्थात्) जानने की अनंत प्रगट दशाएँ उन `**में व्याप्त होकर...**' रहकर। `**अवकाश के अभाव के कारण...**' अब पर तरफ के `**अवकाश के अभाव के कारण सर्वथा विवर्तन (परिवर्तन) को प्राप्त नहीं होता,..**' आहा..हा...!

अपनी, राग से भिन्न आत्म-अनुभव की परिणति कर के, अंदर निष्कंपरूप से रहता हुआ, सर्वथा परिवर्तन अर्थात् राग में एवं परपरिणति में आता नहीं है। इस शुद्ध परिणति में निष्कंपरूप से रहना। आहा..हा...! इसका नाम मोक्षमार्ग है। `**अवकाश के अभाव के कारण, सर्वथा विवर्तन (परिवर्तन) को प्राप्त नहीं होता,...**' अर्थात् राग बिलकुल नहीं है। अर्थात् राग का परिवर्तन नहीं है, ऐसा कह रहे हैं। परिणति सिर्फ अपनी ओर है। आहा..हा...!

प्रभु ! यह तो धीरे से समझने की बात है। यह कोई पंडिताई की चीज नहीं है। आहा..हा...! कि बहुत पढ़ा हो और, बड़े भाषण दे, लाखों लोगों का रंजन करे, वह कोई ज्ञानी है या समकिती है ! वह कोई चीज ही नहीं है। यह कोई अलग ही चीज है।

आहा..हा...! है ? यह प्रथम चौथे से शुरू करने की, (राग से) भिन्न होकर पूरा करने की अंतिम गाथाएँ हैं न ! पहले (राग से) भिन्न कर के परिणति... पूर्ण

करने की, आहा..हा...! '**सर्वथा विवर्तन (परिवर्तन) को प्राप्त नहीं होता, तब ज्ञप्तिव्यक्तियों के निमित्तरूप होने से...**' ज्ञप्ति-व्यक्ति (अर्थात्) जानने की दशाओं में परपदार्थ निमित्तरूप होने से, जो परपदार्थ निमित्तरूप है। मात्र जानने में '**जो ज्ञेयभूत हैं ऐसी बाह्यपदार्थव्यक्तियों के प्रति उसे वास्तव में मैत्री नहीं प्रवर्तती।**'

आहा..हा...! पहले इस (आत्म)वस्तु की दृष्टि नहीं थी। राग से भिन्न विवेक नहीं था। तब उसकी अनंती पर्यायों में बाह्यपदार्थ निमित्त होने से निमित्त की मैत्री थी। उसे वहाँ से हटना नहीं था। जैसे कि इन निमित्तों से मेरे अंदर ये सब पर्यायें होती हैं, ऐसा कर के उसकी मैत्री (थी)। निमित्त में (थी)। चाहे तो देव-गुरु-शास्त्र हो, स्त्री-कुटुम्ब-परिवार ये सभी बाह्यपदार्थ ज्ञेयभूत हैं। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

'**जो ज्ञेयभूत हैं ऐसी बाह्यपदार्थव्यक्तियों के प्रति...**' बाह्यपदार्थ की प्रगटता की ओर '**उसे वास्तव में मैत्री नहीं प्रवर्तती।**' आहा..हा...! उसकी मैत्री भगवान आत्मा के प्रति चली गई। सूक्ष्म है, मार्ग तो यह है, प्रभु ! कोई दूसरे व्यक्ति इसे हल्का (सरल) करके विपरीत करे, इससे मार्ग कोई अन्यथा नहीं हो जायेगा। आहा..हा...!

भगवान (आत्मा) परमानंद प्रभु है, स्वयं ईश्वर है। उसमें वस्तु में कमजोरी नहीं है। आहा..हा...! ऐसी प्रभुता को पकड़कर, उसकी ज्ञप्ति पर्याय में, बाह्यपदार्थ निमित्त होने के बावजूद उनके प्रति उसकी मैत्री नहीं है। आहा..हा...! '**वास्तव में मैत्री नहीं प्रवर्तती...**' थोड़े में बहुत कहा ! बहुत कहा !

ऐसा उपदेश लोगों को (कठिन लगता है)। साधारण लोगों को ऐसा लगे कि इस में क्या करना ! इसमें तो (करने का) कुछ नहीं आता। यह राग से भिन्न करने का नहीं आ रहा है। आहा..हा...! राग से भिन्न करना आता है कि नहीं ? क्या ? तो फिर ज्ञान से भिन्न करना - (इतना) करना नहीं आता ? आहा..हा...! यह तो बाह्य में कुछ ऐसा करूँ और वैसा करूँ, ये मंदिर बनाने,और रथयात्रा निकालनी, धामधूम (आडंबर) करना, भजन करने और ये... बापू ! ये सभी क्रियाएँ जड़ की और उनकी तरफ लक्ष्य रखे तो राग की क्रिया है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

एक साथ, कहा न ? एक साथ जानने की क्रिया में एक साथ सब जानना है। उस में बाह्य में एक साथ मैत्री प्रवर्तती थी। निमित्त की मैत्री के करण... यहाँ

निमित्त की मैत्री नहीं है। ज्ञप्तिक्रिया - अनंती शुद्ध परिणति एक समय में एक साथ प्रवर्तन करती है। आहा..हा...!

पकड़ में (समझ में) आये इतना पकड़ना... आहा..हा...! प्रभु ! भगवान हो, प्रभु ! तू भगवान हो ! आहा..हा...! पर्याय में तूने पामरता की कल्पना करी है। कल्पना करी है - वह पामरता तेरे में है नहीं। आहा..हा...! उसका पर की ओर से निवर्तन कर के और अनंती ज्ञप्तिक्रियाओं में, निष्कंपरूप से परिणमित होता हुआ, उसमें बाह्यपदार्थ निमित्त होने के बावजूद, उनमें उस की मैत्री और प्रेम रहता नहीं है। आहा..हा...!

'**मैत्री नहीं प्रवर्तती...**' है ? '**वास्तव में मैत्री नहीं प्रवर्तती और इसलिए आत्मविवेक सुप्रतिष्ठित (सुस्थित) हुआ होने के कारण...**' आहा..हा...! आत्मविवेक पहले शिथिल था उसमें... यह विधि तो पहले सीख लेवे। आहा..हा...! भगवान आत्मा राग से भिन्न होकर, विवेक से जो अंतर एकाग्र हुआ। वहाँ आत्मविवेक सुप्रतिष्ठित हुआ। राग से भिन्न होकर, पर्याय में सुप्रतिष्ठित - बराबर स्थित हुआ। आहा..हा...!

वहाँ आत्मविवेक शिथिल था। राग में एकता के कारण और पर में मैत्री के कारण पर्याय में शिथिल था। अनादि से शिथिल माने विपरीत था। आहा..हा...! उसे अपने आत्मा में मोड़कर आहा..हा...! मैत्री नहीं है। इसलिए आत्मविवेक सुप्रतिष्ठित (हुआ) ज्ञान स्वभाव में सुप्रतिष्ठित (हुआ)। भले वह विकल्प हो ! फिर भी उसका यहाँ ज्ञान करके आत्मा में सुप्रतिष्ठित है। ऐसा कह रहे हैं। आहा..हा...! क्योंकि वहाँ से भिन्न किया है।

आहा..हा...! सुबह की बात भी सूक्ष्म और अभी की बात भी सूक्ष्म है। आखरी अधिकार बहुत सूक्ष्म है। क्या ! आत्मा ही ऐसा (सूक्ष्म) है न ! हमारे जीवराज (एक अंतेवासी भाई) तो (व्याख्यान) सुनकर, कल... सुबह में... आहा..हा...! फिर श्वास चड़ा था। कमजोरी का... वह (दम का) नहीं... बारह... साढ़ेबारह बजे तो देह छूट गया...!

वह तो (आयुष्य) पूर्ण हो जाय तो वहीं का वहीं हो जाय। अंदर... आहा..हा...! स्थिति पूरी हो जाय उस समय देह छूट जाय... खटाक से... यह देह और आत्मा कहाँ एक है ? अभी भी कहाँ एक है ? वह तो आकाश के क्षेत्र में एक है। अपने और राग के क्षेत्र में एक नहीं है। अरे! इस समय भी राग का क्षेत्र और आत्मा का क्षेत्र एक नहीं है। क्या कहा वह ?

राग है न ? दया-दान-व्रत-भक्ति-पूजा-काम-क्रोध का राग। यह राग का क्षेत्र और वीतराग स्वरूप आत्मा का क्षेत्र, दोनों भिन्न हैं। आहा..हा...! उसके असंख्य प्रदेश में एक अंश, जिसमें से विकृति उत्पन्न हो, वह द्रव्य-क्षेत्र भिन्न है। आहा..हा...! भाव भिन्न है वैसे क्षेत्र भी भिन्न है। आहा..हा...! ऐसा... (ऐसा) समझना सब (कितना कठिन) !

अरे ! बापू ! भगवान, ये व्रत और तप तो अनंतबार किये। बापू ! भाई ! आहा..हा...! यहाँ कहते हैं। भावनगरवाले भी आये हैं। आहा..हा...! यह भाव... नगर (भावों की नगरी) आत्मा है। अपने अनंत आनंद ज्ञान स्वभावी अनंत गुणों का नगर है। नगर माने जिस में 'कर' नहीं है। नकर... नगर। नकर - राग का कर उसमें नहीं है। ऐसी वह चीज़ है। आहा..हा...! आहा..हा...! ऐसे राग के भाग से भिन्न करके अपने स्वभाव के अनुभव द्वारा, '**सुप्रतिष्ठित (सुस्थित) हुआ होने के कारण अत्यंत अंतर्मुख हुआ ऐसा...**' आहा..हा...!

'**अत्यंत अंतर्मुख हुआ...**' जो राग में बहिर्मुख था... आहा..हा...! चाहे तो देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का राग है। प्रभु ! उससे आत्मा का कल्याण हो सके ऐसा नहीं है। निमित्त का ज्ञान कराना, ऐसा कर्मकांड कहा है। कुछ समझ में आया ? '**अत्यंत अंतर्मुख हुआ...**' आहा..हा...! ज्ञान की वर्तमान पर्याय, उसे द्रव्य की ओर अंतर्मुख हुआ होने से - ऐसा आत्मा - अत्यंत अंतर्मुख हुआ ऐसा यह आत्मा। आहा..हा...! यह आत्मा, ऐसा करके प्रत्यक्ष बताते हैं। 'यह आत्मा।' मनुष्य कहते हैं न 'यह आया'।

यह आत्मा... आहा..हा...! भगवान स्वरूप ! प्रभु स्वरूप ! प्रभु ! परिणति में '**अत्यंत अंतर्मुख हुआ ऐसा यह आत्मा पौद्गलिक कर्मों के रचयिता रागद्वेषद्वैतरूप परिणति से दूर होता हुआ...**' आहा..हा...! नवीन कर्मबंधन में (निमित्त) जो रागद्वेष द्वैत था वह तो दूर हुआ। शुद्ध परिणति का अद्वैतपना-एकपना रहा। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ?

भाषा तो सादी है। भाव तो बापू, जो है सो है। प्रभु ! आहा..हा...! पर्याय प्रगट है, उसमें अनादि से उसमें रमता है। एक समय की भले (हो), अनंत गुण की अनंत पर्यायें हैं। किन्तु एक समय पर्यंत की है न ? और उससे (पूर्व) साधु हुआ, मुनि हुआ, भाई! आहा..हा...! पंच महाव्रत धारण किये, हजारों रानियाँ छोड़ी, परंतु उसकी रुचि पर्यायबुद्धि में रह गई है।

क्योंकि पर्याय में राग की मंदता करी, इसलिए उसे ऐसा हो गया कि जाने, मैंने बहुत कर लिया ! परंतु उस पर्याय के पीछे पूरा तत्त्व, भगवान पूर्णानंद ध्रुवस्वरूप है। उसके सन्मुख हुए बिना उसे आनंद का अनुभव नहीं आयेगा। उन पंच महाव्रत के परिणाम में भी दुःख का अनुभव है। आहा..हा...! यह पंच महाव्रत है, वह राग है, आस्रव है, दुःख का अनुभव है। पर्यायबुद्धि होने से उसे दुःख का अनुभव है। आहा..हा...! और उससे छूटकर, भगवान, पूर्णानंद का नाथ प्रभु! उसके सन्मुख जाने से उसे आनंद की पर्याय का वेदन आता है। आत्मज्ञान होने पर उसे यहाँ पूर्ण मोक्ष का मार्ग कहा जाता है। उसे सच्चा दर्शन है, ज्ञान भी है। और सुप्रतिष्ठित कहा न ? चारित्र भी (है), स्थिर है। पूर्ण बात ली है न ! कुछ समझ में आया ?

आत्मा पौद्गलिक कर्मों का रचनेवाला, रागद्वेष, पुण्य और पाप के भाव, द्वैतरूप था, जो पुद्गल के रचने में निमित्त था। वह परिणति से दूर हुआ। आहा..हा...! इस रागद्वेष की दशा से दूर हुआ। और भगवान आनंद के स्वरूप के नज़दीक हुआ। आहा..हा...! भाषा तो बहुत संक्षिप्त (है) परंतु भाव (तो) बापू... बहुत मुश्किल। आहा..हा...! इसमें अनंत पुरुषार्थ की जरूरत है।

'**रागद्वेषद्वैतरूप परिणति से...**' परिणति माने पर्याय, उससे '**दूर होता हुआ पूर्व में अनुभव नहीं किये गये...**' आहा..हा...! अनंतकाल में तो राग का ही अनुभव किया था। 'मुनिव्रत धार अनंत बेर ग्रैवेयक उपजायो, पण आतमज्ञान बिन लेश सुख न पायो।' आहा..हा...!

'**पूर्व में अनुभव नहीं किये गये अपूर्व ज्ञानानंद स्वभावी भगवान...**' देखो, भगवान आया यहाँ। भगवान, भग माने ज्ञान की लक्ष्मी और आनंद की लक्ष्मीवाला। भग + वान जिसका रूप (अर्थात्) रंग, ज्ञान और आनंद जिसका रूप और रंग है। आहा..हा...! ऐसा जो ज्ञानानंद स्वभावी, उसका स्वभाव ही यह है। आहा..हा...! लोगों को कठिन लगे। निश्चय... निश्चय... एकान्त लगे।

रामजीभाई के पास कई लोग आये थे। एक व्यक्ति ऐसे कहता था। यह निश्चय है ! भगवान ! निश्चय माने सत्य। यह सत्य हो वहाँ रागादि आये, उसे व्यवहार कहा जाय। परंतु जहाँ निश्चय का स्वरूप सम्यक् नहीं है। उसके राग की क्रिया को व्यवहार भी कहा नहीं जाता।

आहा..हा...! क्या करे ? पूरा मार्ग उथल-पुथल कर डाला है। आहा..हा...! किसी ने व्रत-तप में धर्म मनाया, किसी ने भगवान और गुरु की भक्ति में धर्म मनाया, किसी ने शास्त्र का वांचन-सुन करके उपदेश देना, उसमें धर्म मनाया। यहाँ कह रहे हैं। '**पूर्व में अनुभव नहीं किये गये अपूर्व ज्ञानानंद स्वभावी भगवान आत्मा को...**' ज्ञान और आनंद जिसका स्वभाव है। भगवान स्वभावी है।

आत्मा भगवान स्वभावी है। और (अतीन्द्रिय) ज्ञान (और) अतीन्द्रिय आनंद जिसका स्वभाव है। आहा..हा...! उस व्यवहार रत्नत्रय को, दया-दान और देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा और शास्त्र का ज्ञान या नौ तत्त्व की श्रद्धा और भेद की श्रद्धा, पंचमहाव्रत का आचरण ये सब राग हैं। आहा..हा...! यह उसका - आत्मा का स्वभाव नहीं है। वह तो विभाव है। आहा..हा...! बात बात में (हर बात में) फर्क, 'आनंद कहे परमानंदा, मनुष्य मनुष्य में फर्क। एक लाख में भी न मिले, एक तांबिया के तेरह।' भगवान कहते हैं कि प्रभु ! तूने अनादिकाल में (जो) श्रद्धा मानी है, वह तेरी श्रद्धा (और) वस्तु की श्रद्धा में बात बात में (हर बात में) फर्क है। आहा..हा...! कैसा है भगवान?

ज्ञानानंद स्वभावी भगवान। जो राग का कर्ता और राग उसका स्वरूप, यह स्वरूप में है ही नहीं... व्यवहार-रत्नत्रय जिसे कहा जाता है - वह उसका स्वरूप नहीं है, उसका वह कर्ता नहीं है, उसके स्वभाव में वह है नहीं। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ! फिर भी पूर्ण स्वभाव प्रगट न हो तब तक ज्ञानानंद स्वभाव की दृष्टि - अनुभव होने के बावजूद राग की ऐसी भक्ति-पूजा का भाव आये फिर भी वह हेयबुद्धि से आता है। आहा..हा...! उपादेयबुद्धि से नहीं आता। आदरणीयबुद्धि से नहीं आता - छोड़ने की बुद्धि से आता है तो उसे व्यवहार कहा जाता है। परंतु उसे आनंद का अनुभव होता है, (वह) ऐसा जानते हैं।

अज्ञानी राग को उपादेय जानकर उससे लाभ होता है ऐसा माने, तो मिथ्यात्व है। आहा..हा...! '**ज्ञानानंद स्वभावी !! अनुभव नहीं किये गये अपूर्व ज्ञानानंदस्वभावी**' ऐसा अपूर्व माने पूर्व में अनुभव नहीं किया गया ऐसा '**ज्ञानानंदस्वभावी भगवान आत्मा को आत्यंतिक रूप से ही प्राप्त करता है।**'

आत्यंतिकरूप से ही प्राप्त होता है। आहा..हा...! यह तो वस्तु की एक स्थिति

कही। अब कहते हैं कि, हे जगत के प्राणी ! आहा..हा...! चूल का - समूहरूप से न्योता है। वह आत्मा को अत्यंतरूप से ही प्राप्त करता है। राग के प्रति अर्पणता बिलकुल रहती नहीं है। आहा..हा...! '**जगत...**' जगत माने जगत में रहे हुए जीव, आहा..हा...! हे जीवों ! आहा..हा...! '**जगत भी ज्ञानानंदात्मक परमात्मा को अवश्य प्राप्त करो।**' अवश्य करो ! आहा..हा...! हे प्रभु ! तू ज्ञानानंद आत्मा (हो), जगत के जीव, सभी जीव... आहा..हा...! अत्यंत इस विधि से प्राप्त करते हैं। ऐसी यह विधि बताई और अत्यंत प्राप्त होता है यह वस्तुस्थिति बताई। तो जगत भी (अवश्य प्राप्त करो)। आहा..हा...!

'अमृतचंद्राचार्य' मुनि दिगंबर संत, जिनके आनंद के संवेदन में भावलिंग प्रगट हुआ है - मुनि का भावलिंग, नग्नपना और पंच महाव्रत - यह उनका - मुनि का भावलिंग नहीं है। वह तो द्रव्यलिंग है। उसका द्रव्यलिंग हो तो ऐसा हो... परंतु भावलिंग तो अतीन्द्रिय आनंद - स्वसंवेदन - प्रचुर स्वसंवेदन(रूप) आनंद, सच्चे संत का वह भावचिह्न और लिंग है। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ! चूल का - समूहरूप से न्योता है। समग्र जगत का, हाँ ! आहा..हा...!

वे लोग कंदोराबंध कहते हैं न ? कंदोराबंध माने पुरुषों की दावत। (और) गोयणी माने कन्याओं की दावत। कह रहे हैं, चूल का माने सभी का। कोई बीमार हो वह न आ सके, परंतु दावत सभी की। आहा..हा...! ऐसा भगवान आत्मा ज्ञानानंदस्वभावी (है)।

ऐसे जगत के जीव भी (प्राप्त करो) ! आहा..हा...! हमने तो प्राप्त किया है। (ऐसा) कह रहे हैं। आहा..हा...! देखो ! ये दिगंबर संत, आहा..हा...! हमने तो (स्वभाव) प्राप्त किया है। परंतु हे जगत के जीवों ! '**जगत भी...**' ऐसा भी लिया न ! स्वयं ने (प्राप्त) किया है और ये भी (जगत के जीव भी प्राप्त करो)। आहा..हा...!

हमने मांगलिक किया है। ज्ञानानंदात्मक, ज्ञानानंद-आत्मक, अर्थात् स्वरूप ज्ञानानंद आत्मक (है)। अर्थात् ज्ञान और आनंद जिसका स्वरूप ऐसा जो स्वयं परमात्मा। आहा..हा...! ज्ञानानंदात्मक - आत्मक है न ! ज्ञानानंद आत्मा ऐसा नहीं। ज्ञानानंदात्मक माने स्वरूप, ज्ञानानंदस्वरूप परमात्मा को अर्थात् उसके आत्मा का स्वरूप ही ज्ञानानंद है।

अन्य अनंत गुण भले उसके साथ हो। परंतु मुख्य ज्ञान और आनंद। आहा..हा...!

ऐसे ज्ञानानंदस्वरूप परमात्मा को प्राप्त करो, ऐसा नहीं। `**अवश्य प्राप्त करो।**' यहाँ तो अभव्यों को भी (ले लिया)। यहाँ अभी वह (बात) नहीं है। सभी ज्ञानानंदस्वभावी हैं न ! ज्ञानानंदस्वभाव प्राप्त करो। कोई बीमार हो और चूल के न्योते में न आ सके, यह अलग बात है।

एक तो उपदेश सुनने को मिलना कठिन। समझना कठिन। आहा..हा...! सुनने के बावजूद भी कौनसी पद्धति है यह समझना कठिन और पद्धति समझने के बाद अंतर में भिन्न करना कठिन। आहा..हा...! भिन्न करने के बाद आत्मा के अनुभव में (स्थिर) रहना, यह कठिन। आहा..हा...! चाहे तो आज करो, या (बाद में करो)।

यहाँ तो कह रहे हैं। आगे कहेंगे, हाँ... आज ही करो, ऐसा कहेंगे। बाद के श्लोक में है। बादवाला श्लोक है न ? आज ही `**जनाः**' आखरी शब्द है। है ? हाहा... दोनों जगह कहेंगे, है? `**आज (जन) अव्याकुलरूप से नाचो।**' एक बात। दूसरे श्लोक में, नीचे से दूसरी पंक्ति। `**आत्मा का आज अत्यंत अनुभव करो।**' आहा..हा...! जिसे जिसका पोषण-रुचि है। उसे वायदे क्या? आहा..हा...! जिसे जिस बात का पोषण है उसे वायदे क्या ? वायदा प्रमादी करता है... आहा..हा...!

संतों की यह वाणी तो (अमृत है)। देखो ! दिगंबर मुनियों की वाणी अन्यत्र कहीं है नहीं। आहा..हा...! कहीं भी नहीं, (हाँ)। (आजकल) काल-क्षेत्र सब बदल चुका (है)। आहा..हा...! दो गाथाओं में कहेंगे। यहाँ है न ? जगत (समग्र) आत्मा को प्राप्त करो ही। ऐसा कहा न ? क्यों! `**अवश्य प्राप्त करो।**' बादवाले श्लोक में दो बार `**आज**' ही शब्द डाला है।

आहा..हा...! भाई ! तुझे रुचता है तो उसमें वायदा क्या ? तुझे यह बात जचती है न ? जचे और `बाद में करेंगे... बाद में करेंगे', तो बाद में करेंगे (वह) रह जायेगा। यह `**आज**' शब्द दोनों में (है)। `**आज**' शब्द है। आहा..हा...! यह श्लोक पूरा हुआ। विशेष कहेंगे...



आनंन्दामृतपूरनिर्भरवह त्कैवल्यकल्लोलिनी-
निर्मग्नं जमदीक्षणक्षममहासंवेदनश्रीमुखम्।
स्यात्काराङ्कजिनेशशासनवशादासादयन्तूल्लसत्।
स्वं तत्त्वं वृतजात्यरत्नकिरणप्रस्पष्टमिष्टं जनाः।।

प्रवचन : दि. १३-१-१९७८

आहा..हा...! आखरी कलश है न ! २०-२१-२२ तीन कलश हैं। कह रहे हैं कि यह भगवान आत्मा जहाँ पूर्ण आनंद प्रगट होता है। ज्ञानानंद स्वरूप ऐसा आत्मा का स्वरूप है। उसका प्रथम भान होनपर, अनुभव होने पर, उसकी पूर्ण ज्ञानानंद दशा जहाँ प्रगट होती है। आखरी स्थिति है न ? आहा..हा...!

उसका आनंद किसी बाह्य चीज से नहीं है। अपने मुकाबले किसी बाह्य चीज की विशेषता भासित हो तो उसका अर्थ यह हुआ कि वह अधिक है और मैं हीन हूँ। परंतु बाह्य किसी भी चीज में विशेषता, अधिकता, उल्लसित वीर्य रुका रहे वह स्वभाव ही नहीं है। आहा..हा...!

यहाँ तो ज्ञानामृत प्रभु, ज्ञान का अमृत सुख, `**आनंदामृत के पूर से भरपूर बहती हुई कैवल्य,सरिता में** (**मुक्तिरूपी सरिता में**)...' आखरी बात है न ! मुक्त दशा किसे कहे ? कि ज्ञानामृत के पूर से भरपूर बहती हुई केवल्यसरिता-नदी-मुक्तिरूपी सरिता-मुक्तिरूपी नदी। आहा..हा...! जिसका पूर्ण स्वभाव प्रगट होने पर ज्ञानामृत से भरा भगवान - उसके आश्रय से - अवलम्बन से पर्याय में पूर्ण आनंद की दशा, ज्ञानामृत (से) पूर्ण बहती हुई सरिता (प्रगट हुई)। जैसे नदी का प्रवाह बहता है... वैसे आत्मा

की पर्याय में अनंत ज्ञान और अमृतरूपी मुक्ति बहती है। आहा..हा...! है ? `**आनंदामृत का पूर** !' पूर्ण दशा जहाँ प्रगट होती है - वैसे (उससे) भरा हुआ तो है ही - आनंदामृत से भरा हुआ तो है ही। परंतु अब बहती हुई सरिता (की भाँति) ज्ञानसरिता (बह रही है)। आहा..हा...! इसलिए केवलज्ञान और केवलआनंद स्वरूप वह प्रभु है। परंतु उस का अनुभव होकर कैवल्यसरिता यह पूर से भरपूर बहती हुई ज्ञान और आनंद के पूर से भरपूर बहती नदी (की माफिक बह रही है)। आहा..हा...! यह मुक्ति (है), आत्मा की मोक्षदशा (है)। आहा..हा...!

यह ज्ञानामृत के वाढ़ से भरपूर !! वह पूरा पूर है। ज्ञान और आनंद की पर्याय में संपूर्ण पूर है। जो अंतर पूर था - चैतन्य पूर ! वह पर्याय में चैतन्य के पूर से भरपूर बहती कैवल्यसरिता - कैवल्यरूपी नदी - आहा..हा...! ऐसी मुक्ति में `**जो डूबा हुआ है,...**' अर्थात् इस दशा में पूरा तत्त्व स्थित है। आहा..हा...! इस समय पर्याय की बात है।

ज्ञानामृत के स्वभाव में - अतीन्द्रिय आनंद के भाव से भरपूर भरा हुआ तत्त्व तो है। किन्तु यहाँ तो भरपूर बहती (सरिता) पर्याय में - अवस्था प्रगट हुई। कैवल्यसरिता - उस में यह चैतन्य डूबा हुआ है। उसमें वह स्थित है। आहा..हा...! ऐसी भाषा है। ज्ञान जिसका स्वभाव परिपूर्ण है। आनंद जिसका - प्रभु का स्वभाव परिपूर्ण है।

जिस आत्मा का (स्वभाव) (परिपूर्ण) है, उस की रमणता करने पर कैवल्यसरिता में केवल - सिर्फ ज्ञान की नदी में, प्रवाह में, वह आत्मा अंदर बसता है। इस का नाम मुक्ति। क्योंकि मुक्ति एक पर्याय है। वह कोई द्रव्य-गुण नहीं है। द्रव्य-गुण तो त्रिकाली है। त्रिकाली शक्तिरूप जो पूर था, अनंत ज्ञान, अनंत आनंद, अनंत वीर्य, अनंत प्रभुता, ऐसा जो चैतन्य पूर, ध्रुव में पड़ा था, उसका स्यात्कार (अर्थात्) जैनशासन की शैली से स्वपने से है और परपने से नहीं है। ऐसी शैली से, उसका अनुभव करने पर जिस की दशा में आनंद की - ज्ञान की सरिता भरपूर बहती है। जिसमें आत्मा डूबा हुआ रहता है।

`**सिद्धा सिद्धं मम दिसंतु**' - कहते हैं न ! लोगस्स में आता है न ? वह सिद्धि यह (है)। आहा..हा...! उसके शब्द (ये) परंतु वाच्य-भाव बहुत सूक्ष्म। जिसे अपने ज्ञान और आनंद का भरपूर पूर बहता है। आहा..हा...! यह मोक्षतत्त्व ! नौ तत्त्व में मोक्षतत्त्व

की श्रद्धा कहते हैं न ?

मोक्षतत्त्व - केवल (इसे) कहते हैं। संवर-निर्जरा की श्रद्धा यह तो साधक जीव की (है) परंतु उसे - साधक जीव के भी मोक्ष कैसा है ? उसकी श्रद्धा है न कि मोक्ष कैसा है ? कि ऐसा है। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! मोक्ष में जो निर्मल पर्याय है। मुक्ति कही है न ? दुःख से मुक्त हो गया, अपूर्णता से मुक्त हो गया है। सुख से भरी हुयी बाढ़ की तरह, आनंद और ज्ञान की पर्याय में बहता है। आहा..हा...! उस में आत्मा डूब गया है। उसमें स्थित है, ऐसा कह रहे हैं। आहा..हा...!

मोक्षतत्त्व माने क्या ? अज्ञानी मोक्षतत्त्व का अनेक प्रकार से वर्णन करता है। यह उससे अलग चीज है। आहा..हा...! उस '**मुक्तिरूपी नदी में जो डूबा हुआ है, जगत को देखने में समर्थ ऐसी...**' जो ज्ञानलक्ष्मी प्रगट हुई है, वह कैसी है ? आहा..हा...! '**जगत को देखने में समर्थ ऐसी महासंवेदनरूपी श्री (महाज्ञानरूपी लक्ष्मी) जिसमें मुख्य है,...**'

आहा..हा...! केवल ज्ञान की परिपूर्ण पर्याय में वह मुख्य है। आहा..हा...! आहा..हा...! जगत को देखने में अर्थात् तीनकाल तीनलोक को, जिस की कैवल्य दशा में '**जगत को देखने में समर्थ ऐसी महासंवेदनरूपी श्री (महाज्ञानरूपी लक्ष्मी), जिसमें मुख्य है, जो उत्तम रत्न-किरण की भाँति स्पष्ट है।**' आहा..हा...! उत्तम रत्न के जैसे निर्मल किरणें होती हैं, ऐसे उत्तम रत्न के किरणों की भाँति, जो आत्मतत्त्व पर्याय में मोक्षदशा में स्पष्ट है। आहा..हा...! '**और जो इष्ट है...**' प्रत्यक्ष है और आनंद है, प्रिय है। आहा..हा...! ज्ञान स्पष्ट है और जो इष्ट है। उसमें आनंद है (वह) इष्ट है, प्रियकर है, ज्ञान की पूर्ण लक्ष्मी प्रगट हुई वह प्रियकर-आनंदकर है। आहा..हा...! उस ज्ञानानंद दोनों को इस प्रकार डाला। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...! ऐसा है। बहुत संक्षिप्त - परंतु '**जो इष्ट है ऐसे उल्लसित (प्रकाशमान, आनंदमय)...**' इस प्रकार दोनों ही, ज्ञान और आनंद दोनों की जिसकी पर्याय में पूर्ण प्रकाशमान दशा हुई।

आहा..हा...! उसका उपाय तो कहा। सुबह कहा था न ! सम्यक्दर्शन - आत्मा का अनुभव करना वह सम्यक्दर्शन, फिर उसकी पूर्ण दशा प्रगट होना वह मोक्ष। परंतु वह पूर्ण दशा, पूर्ण वस्तु जो परिपूर्णवस्तु का सत्त्व जो है, उस के आश्रय से व्यक्तता, परिपूर्णता प्रगट होती है। शक्ति जो परिपूर्ण आनंद और ज्ञान, ईश्वरता और

प्रभुता, स्वच्छता, अनंत गुण का जो शक्तिरूप, सामर्थ्यरूप तत्त्व, उसे क्षेत्र के विस्तार की जरूरत नहीं है। उसके स्वभाव के सामर्थ्य को विस्तार की जरूरत है। आहा..हा...! (अनंत महिमावंत स्वभाव है)।

आठ वर्ष के देह में भी केवलज्ञान होता है। कुछ समझ में आया ! वह केवलज्ञान देह के कारण से नहीं है। अंदर ज्ञानानंद में लीन होते होते अंदर उसकी आनंद की पर्याय में जहाँ स्थिरता हुई। ज्ञान ही जिसका मुख्य संवेदन (है)। तीनकाल और तीनलोक को (जानता है)। यहाँ तो जगत शब्द प्रयोग किया है। किन्तु तीनकाल तीनलोक को - सभी को जानने में जो समर्थ है और जो स्पष्ट है, उत्तम रत्न के किरण के समान प्रत्यक्ष है। आहा..हा...! और जो इष्ट अर्थात् इष्ट ऐसे उल्लसित ज्ञान और आनंदमय जो इष्ट ऐसे तत्त्व का उल्लसित होना, पर्याय में उल्लसित होना - प्रगट होना। आहा..हा...! `**स्वतत्त्व को जन...**' हे जीवों ! ऐसे `**स्वतत्त्व को जन स्यात्कारलक्षण...**' अपेक्षा से जो कथन है।

नित्य-अनित्य-स्व से-अस्तिरूप, पर से नास्ति - ऐसा जो स्यात्कार अंग जिसका लक्षण है। पाठ में `**अंऽक**' शब्द है न ! आहा..हा...! कथंचित् स्वरूप से है - कथंचित् पररूप नहीं है... आहा..हा...! है वह एक अपेक्षा, ऐसा जो नहीं (वह भी एक अपेक्षा) ऐसा कह रहे हैं। पर की अपेक्षा से नहीं भी है, स्व की अपेक्षा से है (भी) सही।

ऐसा जो जैनशासन का स्यात्कार का लक्षण... आहा..हा...! यह बात जैनशासन के अलावा अन्यत्र कहीं नहीं है। आहा..हा...! यह यहाँ पर कहते हैं कि हे जनों ! स्वतत्त्व को... हे जनों ! स्वतत्त्व को - स्वभाव को... हे जनों !! `**स्यात्कारलक्षण जिनेश शासन के वश से प्राप्त हों।**' वीतराग सर्वज्ञ कथित भावना होगी। आहा... प्राप्त हों (प्राप्त हों, प्राप्त हों)।

आहा..हा...! सुबह भी आया था। जगत प्राप्त करो... अनुभव करो... ऐसा आया था। आहा..हा...! पर से सदा उदासीन होकर और स्व की परिपूर्णता के अस्तित्व को हे जनों ! जैन शासन के लक्षण के वश से - इसके अलावा (अन्य प्रकार से) यह प्राप्त हो सके ऐसा नहीं है, ऐसा कह रहे हैं।

वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो आत्मा देखा और कहा और जिस प्रकार से पाने की विधि कही, उस के वश अर्थात् आत्मा वीतराग भाव के अधीन होकर... आह..हा...!

आहा..हा...! प्राप्त हों (प्राप्त हों, प्राप्त हों)।

आहा..हा...! आचार्य महाराज तो कह रहे हैं कि हे जनों ! जो मिठास तुझे प्रिय होवे, वह मिठास दूसरों को बताता है। घर में भी उसे बनाया-करता है। स्वयं को प्रिय हो, दूधपाक-मैसूब आदि तो लोग मेहमानों के लिए भी वह बनाते हैं। उस प्रकार यह प्रिय है तो जगत से भी वे कहते हैं कि तुम प्राप्त करो... भाई ! आहा..हा...! दुनिया को भूल जाओ ! और भगवान को परिपूर्णरूप से परिणमित करो, ऐसा कह रहे हैं, ऐसा है। स्यात्कार जिसका लक्षण है, चिह्न है न ! ऐसे जिनेश्वर भगवान के शासन का आश्रय करके इसे प्राप्त करो। इसके अलावा यह प्राप्त हो सके ऐसा नहीं है। आहा..हा...!

वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो एक एक आत्मा परिपूर्ण स्वभाव से भरा हुआ (देखा है), आहा..हा...! निगोद के जीव, अंगुल के असंख्यवें भाग में अनंत जीव हैं। वह एक (एक) जीव परिपूर्ण आदि गुण से भरा हुआ द्रव्यस्वभाव है। उसका क्षेत्र अंगुल के असंख्यवें भाग में है यह मत देख। आहा..हा...!

पूरा लोक निगोद के अनंत जीवों से भरा हुआ (है) यहाँ भी द्रव्यस्वभाव भगवान पूरा - पूरा (है)। आनंद और ज्ञान आदि गुणों के पूर से भरा हुआ यह (पदार्थ) द्रव्य है। पर्याय भले अक्षर के अनंतवें भाग की (निगोद की) रह गई। आहा..हा...! परंतु उसका जो शक्ति का सामर्थ्य है। यह क्षेत्र भले (उस का) अंगुल के असंख्यवें भाग में (हो), अनंत अनंत आत्माएँ आकाश के असंख्य प्रदेश में विद्यमान हैं। और उसके प्रदेश भी - एक एक जीव के प्रदेश, आकाश के असंख्यवें प्रदेश में एक जीव का प्रदेश है।

असंख्य ऐसे असंख्य, अंगुल के असंख्यवें भाग में। आहा..हा...! क्या कहा यह? अंगुल के असंख्यवें भाग में असंख्य आकाश के प्रदेश हैं। उसमें एक एक जीव, असंख्यवें प्रदेश में विद्यमान है। ऐसे असंख्य प्रदेश में अनंते (जीव) विद्यमान हैं। क्षेत्र देखो तो अंगुल का असंख्यवाँ भाग। परंतु उसका द्रव्य देखो, तो - वस्तु देखो तो, भगवानस्वरूप परमात्मा स्वयं जिनस्वरूप है।

आहा..हा...! ऐसे परमेश्वर को तुम जिन शासन की आज्ञानुसार ध्यान करके प्राप्त करो। ऐसा कह रहे हैं। ऐसा एकदम संक्षिप्त में (कहा)। शक्ति उसकी अनंत हैं।

क्षेत्र भले छोटा हो। परंतु उसकी शक्ति, जो स्वभाव, अनंत ज्ञानानंद पूर से भरा हुआ, जो चैतन्य पूर है, उस पूर को पर्याय में प्रगट कर। यह कहना है। ऐसा कहीं भी सुनने को मिले, ऐसा नहीं है। और ऐसा विश्वास होना (कठिन है)।

इतने क्षेत्र में इतने जीव। अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... अनंत... गुण का अमाप समुद्र (है)। वह क्षेत्र उसका इतना शरीरप्रमाण हो। परंतु वह अनंत... अनंत... अनंत... अनंत और अनंत। अनंतगुना करके वर्ग करो तो भी उस अनंत का अंत न आये उतने तो उस में गुण भरे हैं। वह गुण का पिंड है। आहा..हा...! उसे वीतराग की आज्ञा से जानना। आहा..हा...! उसे मानना और उसका आनंद लूटना। अनुभव करो, इस प्रकार। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...!

यह कोई बड़ी विद्वत्ता का काम है, ऐसा नहीं। वह तो बहुत जाना। भगवान स्वयं परिपूर्ण है। ऐसा जिसे अंतर में विश्वास - प्रतीति (आयी), ज्ञान की पर्याय में वह द्रव्य नहीं आया, परंतु पर्याय में द्रव्य का जितना सामर्थ्य है, उतना पर्याय में प्रतीति में आ गया है।

आहा..हा...! वह वस्तु प्रतीति(वाली) पर्याय में आयी नहीं है। परंतु प्रतीति में अनंत आनंद बेहद स्वभाववाला सामर्थ्य तत्त्व, जिसके आकाश के प्रदेश से भी अनंतगुणे गुण उसमें भरपूर भरे हैं। ऐसा जिनशासन की आज्ञानुसार मानकर, आहा..हा...! आज्ञा तो यह कि अंदर में जाकर उसका अनुभव करो। आहा..हा...! ऐसा मार्ग है।

उसमें बाहर के व्यवहार के झगड़े उत्पन्न किये। यहाँ तो कहते हैं कि वह वस्तु है। उस में लीनता कर, और है उसे प्राप्त नहीं है, उसे प्राप्त करना (है), ऐसा नहीं है।

यहाँ बहिन का (पू. बहिनश्री का) वचन है, उस में देखो। `**जागृत जीव खड़ा है न** !' मतलब क्या ? ज्ञायकभाव ध्रुव है न ? भाषा तो सादी गुजराती (है)। वह कहाँ जाय ? वह वस्तु जाय कहाँ? ध्रुव विद्यमान है, वह जाय कहाँ ? आहा..हा...! कहाँ जाय ? अर्थात् (जहाँ) है वहीं रहता है। वह यहाँ पर्याय में भी नहीं आता। परंतु पर्याय में उसकी प्रतीति आती है। वह वस्तु पर्याय में नहीं आती। आहा..हा...! परंतु उस की प्रतीति, निर्विकल्प आनंद के वेदन के साथ (आती है)। आहा..हा...! प्रतीति में ज्ञान का वह स्वरूप पूर्ण है। ऐसा उसे पूरे द्रव्य का सामर्थ्य है - इतना

प्रतीति में और ज्ञान में आ जाता है।

वस्तु भले उसमें न आये। आहा..हा...! इस प्रकार प्रगट होकर, वस्तु कोई पर्याय में नहीं आती। सरिता बहती है वह भी पूर्ण पर्याय प्रगट होती है, वह बहती है। वह द्रव्य कोई उसमें नहीं आता। द्रव्य तो द्रव्य में ही है। आहा..हा...! पूर्ण पर्याय - दशा हुई, फिर भी द्रव्य में कमी है और अल्पज्ञ दशा थी तब द्रव्य में विशेषता थी - ऐसा कुछ नहीं है। ऐसी ही कोई (अनन्य) चैतन्य चमत्कारी वस्तु है। आहा..हा...!

यह जैन शासन द्वारा समझ में आये ऐसा है। अन्यत्र कहीं (तो) है भी नहीं। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? पहले तो कहा न यह (कि) चेतना त्रिकाल है। ऐसा कहकर उसे व्यापक कहा। आत्मा व्याप्य कहा। इसका अर्थ यह हुआ, नहीं तो दोनों ही त्रिकाल हो जाय। आहा..हा...! परंतु जो आत्मा वह चेतना और साथ में अनंतगुण इकट्ठे हैं, वे चेतना के साथ हैं। (चेतना की) प्रधानता से जीव को भिन्न किया जा सकता है - इसलिए चेतनामात्र से (कहकर) बात करी। परंतु चेतना ज्ञानदर्शन दो ही है, ऐसा नहीं है।

यहाँ तो ज्ञान और आनंद दो से बात करी है। किन्तु दो ही है, ऐसा नहीं है। इस प्रकार ज्ञान है... है... उसका अस्तित्व भी पर्याय में आया है। ऐसा तो कहा नहीं ? जो अनंत गुण हैं, प्रत्येक गुण में अनंत गुण का रूप है, अर्थात् ? ज्ञान है, उसमें अस्तित्व गुण (का रूप) भी है। अस्तित्व गुण अलग है - वह ज्ञान में नहीं आ जाता, परंतु अस्तित्व का रूप आता है कि ज्ञान है वह स्वयं से है, ऐसा अस्तित्व ज्ञान में आता है। आहा..हा...!

आहा..हा...! यह सूक्ष्म पड़ता है। इतना कि वह आनंत अस्तित्व का, वह आनंद ज्ञान का आनंद, सत्ता-अस्तित्व का आनंद। क्योंकि आनंद में अस्तित्व का रूप और अस्तित्व में आनंद का रूप, अनंत गुण का एक गुण में रूप, उसमें अंदर इस प्रकार सूक्ष्मता पड़ती है कि यह अस्तित्व गुण है उसमें आनंद गुण नहीं आ जाता; परंतु आनंद गुण का रूप आता है। यह कोई अलौकिक चमत्कारिक बात है। कुछ समझ में आया ?

प्रमेय गुण है उसमें, आनंद गुण का रूप है। एक गुण में दूसरा गुण नहीं होता, गुण द्रव्य के आश्रय से होता है, गुण, गुण के आश्रय से नहीं होता। फिर

भी एक गुण में दूसरे गुण का रूप, एक गुण में अनंत गुण का रूप, ऐसे अनंतगुण में अनंतगुण का रूप (होता है)। आहा..हा...! गज़ब बात है।

उसका चैतन्य पूर है। यह जैनदर्शन वीतराग परमात्मा ने कहा है। उसे जानकर, मानकर, उस का अनुभव करके, केवलज्ञान प्रगट करो। जिससे भव न रहे। आहा..हा...! फिर भ्रमण न रहे। आहा..हा...! कठिन लगे। दुर्लभ लगे, परंतु इस विधि से है। कुछ समझ में आया? आहा..हा...!

इस प्रकार इस भगवान की चेष्टा बाहर में कहीं भी दिखती नहीं है। प्रभु (तो) जहाँ है, वहाँ है। वह बाहर में कहीं देखने जाय तो आँख से दिखे ऐसा है ? वह तो ज्ञानानंद प्रभु ! भगवान परिपूर्ण, उसके सन्मुख होकर, उसका आश्रय ले, तो दिखे ऐसा है। पर्याय होने के बावजूद त्रिकाल को स्वीकार करे इतनी ताक़त है। आहा..हा...!

ज्ञान की पर्याय में वह त्रिकाली ज्ञेयरूप में ज्ञान(स्वभाव) ज्ञात हो फिर भी उस पर्याय में ज्ञेय आया नहीं है। आहा..हा...! फिर भी उसकी पर्याय में पूरा, जैसा (और) जितना परिपूर्ण है उतना (परिपूर्ण) ही उसकी ज्ञान की पर्याय में ज्ञात हुआ है। उसके साथ प्रतीत में आया है। उसकी प्रतीति कितनी ! और उसमें स्थिरता कितनी ?!

आहा..हा...! अनंत। अनंत। अनंत गुणों में स्थिरता, आत्मा की अनंत स्थिरता, उस चारित्रदशा की स्थिरता कितनी ? आहा..हा...! `अष्टपाहुड' में चारित्र पाहुड का अधिकार है। वहाँ ऐसे लिया है कि वह चारित्र है, वह अक्षय; अमेय है। आहा..हा...! पर्याय, हाँ ! स्थिर पर्याय जो प्रगट हुई है, वह अनंत... अनंत... गुण में स्थिर हुई है। उस स्थिरता में भी कितना पुरुषार्थ है !!

वह स्थिरता अक्षय है, अमेय है, मर्यादा नहीं है। आहा..हा...! चारित्र के लिए अक्षय और अमेय कहा, उस प्रकार वस्तु जो त्रिकाली भगवान, अनंत गुण का नाथ, उस का ज्ञान किया, वह पर्याय भी अक्षय और अमेय है। और उसकी प्रतीति करी वह भी अक्षय और अमेय है। आहा..हा...! यहाँ च्युत हो जाय, यह बात लेने की है ही नहीं। कुछ समझ में आया ? आहा..हा...!

यह स्थिरता चारित्र की हुई, उससे (तो) च्युत होंगे। क्योंकि पंचमकाल के साधु हैं न, स्वर्ग जाना है। चारित्र को अक्षय और अमेय कहा। उसकी मर्यादा कही।

परंतु वह रहे इतनी स्थिति प्राणांत पर्यंत की है। यहाँ से स्वर्ग में जाना है। परंतु केवल तो है नहीं। फिर भी उसे अक्षय और अमेय कहकर, प्रतीति और ज्ञान में सुरक्षित रही है। यह चीज इतनी (बड़ी) होती है, वह चीज स्वर्ग में जाकर, (मनुष्य होकर) केवल(ज्ञान) पाकर, मोक्ष जायेंगे। आहा..हा...! संतों की वाणी ऐसी है। दिगंबर संतों की वाणी ऐसी है। आहा..हा...! अप्रतिहत भाव से वाणी है। `प्रवचनसार' में ९२वीं गाथा में, कहा। हमें आनंतकुशल आत्मा के अनुभव की जो प्रतीत हुई है, वह प्रतीत अब नष्ट होनेवाली नहीं है।

प्रभु ! आप पंचमकाल के साधु, भगवान का विरह हो गया पंचमकाल में, उनसे पूछे बिना आप यह निश्चय कर रहे हो ? परंतु मेरा भगवान ऐसा बोल रहा है। आहा..हा...! मेरा भगवान ऐसा बोल रहा है कि, यह सम्यक् हुआ वह अब नष्ट होनेवाला नहीं है। क्षायिक लेनेवाले हैं। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? यह सरिता की बात चल रही है। सरिता प्रगट होनेवाली है। आहा..हा...!

बहिन के (पू. बहिनश्री के) जातिस्मरण(ज्ञान) में भी यह बात आयी है न ? एक क्षायिक सीधा है। और एक क्षायिक जोडणी (संधियुक्त) है। आहा..हा...! इस चीज की - इसकी (सम्यक्) प्रतीति और ज्ञान की (सम्यक्) पर्याय जागी वह भले क्षयोपशमरूप हो ! परंतु क्षयोपशममें से क्षायिक होनेवाली ही है। आहा..हा...! देखो ! संतों की वाणी !!

पंचमकाल के पन्द्रह सौ वर्ष होने के बाद `अमृतचंद्राचार्य' यह पुकार कर रहे हैं। भले ही भगवान (विदेह में) बिराजमान हैं। परंतु हमारा भगवान तो हमारे पास है न ! हमारा भगवान पुकार कर रहा है कि, यह सम्यक्दर्शन (हमें हुआ है)। वह क्षायिक को लेनेवाला है। च्युत होने की बात (ही) नहीं है। द्रव्य का नाश हो तो पर्याय का नाश हो, इस प्रकार से प्रगट हुआ है। (ऐसा) कह रहे हैं। आहा..हा...! यह यहाँ ज़ोर मार रहा है, तुम केवलज्ञान प्राप्त करो ही करो, ऐसा कह रहे हैं। आहा..हा...!

हे जनों ! जैन शासन के आश्रय से जो विधि कही, वह वस्तु के स्वरूप में है। आहा..हा...! उसके आश्रय से तुम कैवल्य सरिता को प्राप्त करो। जिसको कि तीनकाल और तीनलोक क्षण में ज्ञात होते हैं। आहा..हा...! और इष्ट, जो ज्ञान और

आनंद उल्लसित हुआ है, जिस में ऐसी चीज को प्राप्त करो। आहा..हा...! स्वरूपलक्ष वही जिनआज्ञा है। आहा..हा...! यहाँ पूर्णानंद के नाथ को पर्याय में प्राप्त करो ! ऐसी बात है।

यहाँ पंचमकाल के जीव हैं। इसलिए उन्हें केवलसरिता अभी नहीं है। ऐसा यहाँ नहीं कहना है। इस समय तो केवलज्ञान नहीं है। केवलीप्रभु का विरह हुआ, बापू ! तेरे भगवान का विरह तुझे कहाँ है ? आहा..हा...! उसकी प्रतीति और ज्ञान में रहने पर ऐसी पर्याय प्रगट होगी ही। उसमें तू डूब जा। उसमें तू रह।

पंचमकाल है। इसलिए यह नहीं होगा, यह बात यहाँ याद नहीं की है। आहा..हा...! यह तो सिद्धांत कहा जाता है। उसमें अनंत अनंत मर्म भरा है। एक एक वाक्य में (मर्म है)।

`श्रीमद्' कहते हैं न ? ज्ञानी के एक वाक्य में अनंत आगम भरे हैं। आहा..हा...! यथार्थ है, इसलिए उन्होंने कहा न ? `अशेष कर्मनो भोग छे, भोगववो अवशेष रे... पण तेथी देह एक धारीने, जाशुं स्वरूप स्वदेश रे।' वह मनुष्य का देह, हाँ ! मनुष्यमें से मनुष्य नहीं जाया जाता। देह में मनुष्य देह धारण करके (स्वदेश जायेंगे)। आचार्य महाराज जगत को यह बात यहाँ कह रहे हैं, आहा..हा...!

महाकल्याण के दिन हैं, हाँ ! महा पंचकल्याणक में केवलकल्याणक है न ? आहा..हा...! तो तुम केवलकल्याणक को प्राप्त करो। आहा..हा...! संदेह न करो, शंका न करो, प्रभु ! पूर्णानंद का नाथ अंदर पड़ा है। उसका विश्वास और अनुभव आया। अब उसकी पूर्णदशा प्रगट होगी। आहा..हा...! उसे प्राप्त करो। जिनशासन के वश से प्राप्त करो। आहा..हा...! इतना तो पाँच पंक्तियों में समाया है। इस में अंत न आये इतना भाव है।

दिगंबर संतों की वाणी। गंभीर गंभीर सर्वज्ञ की अनुसारिणी, केवलज्ञान के केडायत ! आहा..हा...! केवलज्ञान के केडायत !! इस पथ पर चलनेवाले, उनके केवलज्ञान की पूर्णता होगी ही। स्वयं ने अपने लिये तो कहा। परंतु तुम प्राप्त करो, प्रभु ! तुम हो और ऐसे हो, उसे प्राप्त करना है। हो नहीं उसे प्राप्त करना मुश्किल है। आहा..हा...!

`अब, `अमृतचन्द्रसूरि इस टीका के रचयिता है' ऐसा मानना योग्य नहीं है...' ऐसी माहात्म्यभरी टीका करी, इसलिए हम उसके रचयिता हैं, ऐसा मत मानना।

आहा..हा...! **`ऐसा मानना योग्य नहीं है ऐसे अर्थवाले काव्य द्वारा यथार्थ वस्तुस्वरूप को प्रगट कर के स्वतत्त्वप्राप्ति की प्रेरणा की जाती है :-`** श्लोक-२१।

व्याख्येयं किल विश्वमात्मसहितं व्याख्या तु गुम्फे गिरां
व्याख्यातामृतचन्द्रसूरिरिति मा मोहाज्जनो वल्गतु।
वल्गत्वद्य विशुद्धबोधकलया स्याद्वादविद्याबलात्
लब्ध्वैकं सकलात्मशाश्वतमिदं स्वं तत्त्वमव्याकुलः।।२१।।

आहा..हा...! ऐसी टीका करनेवाले ! और यहाँ (अज्ञानदशा में) जहाँ थोड़ा-सा आ जाय, वहाँ हमें कुछ लोग देखे, हमें कुछ माने, बापू ! तुझे अंतर में (अपना) मूल्य करना है या बाहर में (अपना) मूल्य करवाना है ? आहा..हा...! ऐसी टीका आजकल भरतक्षेत्र में, दिगंबर शास्त्र में अन्यत्र कहीं नहीं है। अन्यत्र कहीं हो ही कैसे सकती है ? आहा..हा...! वे कहते हैं कि प्रभु ! हमने व्याख्या-टीका करी है, ऐसा (तुम) मत मानो। आहा..हा...!

`वास्तव में पुद्गल ही स्वयं शब्दरूप परिणमित होते हैं,...` इस टीका के शब्द - परमाणु स्वयं ही परिणमित होते हैं। मैंने टीका की नहीं है। आहा..हा...! अरे ! पुनःश्च एक जगह ऐसा कि, अपनी निर्मानता बताते हैं। टीका की नहीं जा सकती, ऐसा कह रहे हैं। शब्द की रचना का, अनंत परमाणु का एक अक्षर, कौन उस की रचना करे ? भाई ! आहा..हा...!

एक `क्` अनंत स्कंध का बना (है)। अनंत परमाणु - एक एक परमाणु (का) उस समय स्वतंत्ररूप से उत्पत्ति का काल है, वह निजक्षण है। इसलिए वे परमाणु शब्दरूप में बाहर आये। हम कोई उस के कर्ता नहीं हैं। आहा..हा...! कुछ समझ में आया ? **`पुद्गल ही`** है न ! एकान्त? कथंचित् आत्मा परिणमन कराये और कथंचित् पुद्गल परिणमन कराये, ऐसा नहीं। आहा..हा...!

`वास्तव में पुद्गल स्वयं...` स्वयं। मेरे निमित्त की अपेक्षा रखे बिना... आहा..हा...! मेरा सूक्ष्म ज्ञान है। उसमें वह निमित्त है। परंतु फिर भी उस सूक्ष्म ज्ञान की भी अपेक्षा रखे बिना आहा..हा...! **`स्वयं शब्दरूप परिणमित होते हैं,...`** शब्दरूप स्वयं पुद्गल

परिणमित होते हैं। आहा..हा...! तो फिर इससे पहले ऐसी टीका क्यों नहीं थी ? इसलिए `अमृतचन्द्राचार्य' कर्ता कहे जायेंगे... ! नहीं... नहीं... भाई ! ऐसे कारण को रहने दे। इस काल में शब्द इस प्रकार से परिणमित हुए हैं। आहा..हा...! है ?

`**आत्मा उन्हें परिणमित नहीं कर सकता,...**' इस शब्दों को आत्मा नहीं कर सकता। आहा..हा...! भगवान ज्ञानस्वरूप (है)। शब्द में... शब्द तो ज्ञेय है। इन शब्दों की - इन ज्ञेयों की रचना ज्ञान कैसे करे ? आहा..हा...! `**तथा वास्तव में सर्व पदार्थ ही स्वयं ज्ञेयरूप-प्रमेयरूप परिणमित होते हैं,...**' यह क्या कह रहे हैं ? कि जीव जाननेवाला है। वे शब्द हैं। इसलिए ज्ञानरूप परिणमन हो रहा है, ऐसा नहीं। शब्द तो शब्दरूप परिणमित होते हैं, ऐसा कहा।

अब, जाननेवाले को ये शब्द निमित्त होते हैं और (इनसे) ज्ञान होता है, ऐसा नहीं। है ? `**सर्व पदार्थ ही स्वयं ज्ञेयरूप-प्रमेयरूप परिणमित होते हैं, शब्द उन्हें ज्ञेय बना - समझा नहीं सकते इसलिए...**' आहा..हा...! गज़ब है न !

वे शब्द स्वयं परिणमित होते हैं और शब्दों का निमित्त है इसलिए वहाँ सामनेवाले को ज्ञान होता है, ऐसा भी नहीं है। शब्द उसे ज्ञान कराते हैं, ऐसा नहीं है। आहा..हा...! उस उस श्रोता की उस उस समय की पर्याय अपने कारण से शब्द और निमित्त की अपेक्षा के बिना उस ज्ञेयरूप - ज्ञान का परिणमन होता है।

आहा..हा...! है ? `**स्वयं ज्ञेयरूप-प्रमेयरूप परिणमित होते हैं, शब्द उन्हें ज्ञेय बना-समझा नहीं सकते...**' आहा..हा...! क्या ? यह व्याख्या आयेगी...

